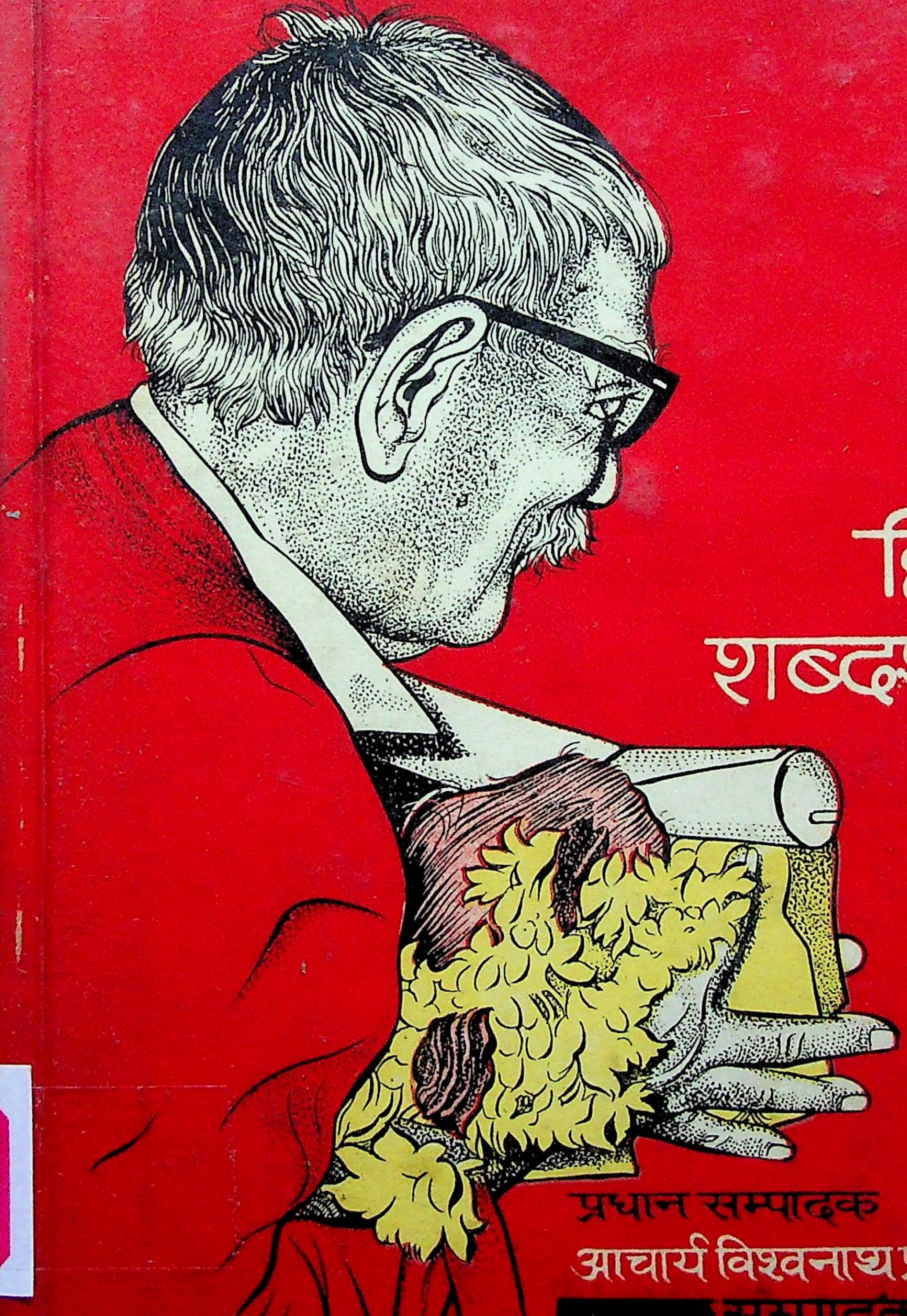
आचार्य किशोरीदास वाजपेयी और हिन्दी शब्दशास्त्र



प्रधान सम्पादक
आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

सम्पादक
डा॰ विष्णुदत्त राकेश

पाणिनि प्रकाशन, कनखल (उत्तर प्रदेश)

122

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी

और

हिंदी शब्दशास्त्र

[वाजपेयी जी के चिंतन का हिंदी के मूर्द्धन्य विद्वानों द्वारा मूल्यांकन]

प्रधान संपादक

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

अभ्यागत आचार्य, हिंदी विभाग,

काशी विद्यापीठ, वाराणसी

संपादक

डा० विष्णुदत्त राकेश

वरिष्ठ प्राध्यापक, हिंदी विभाग,

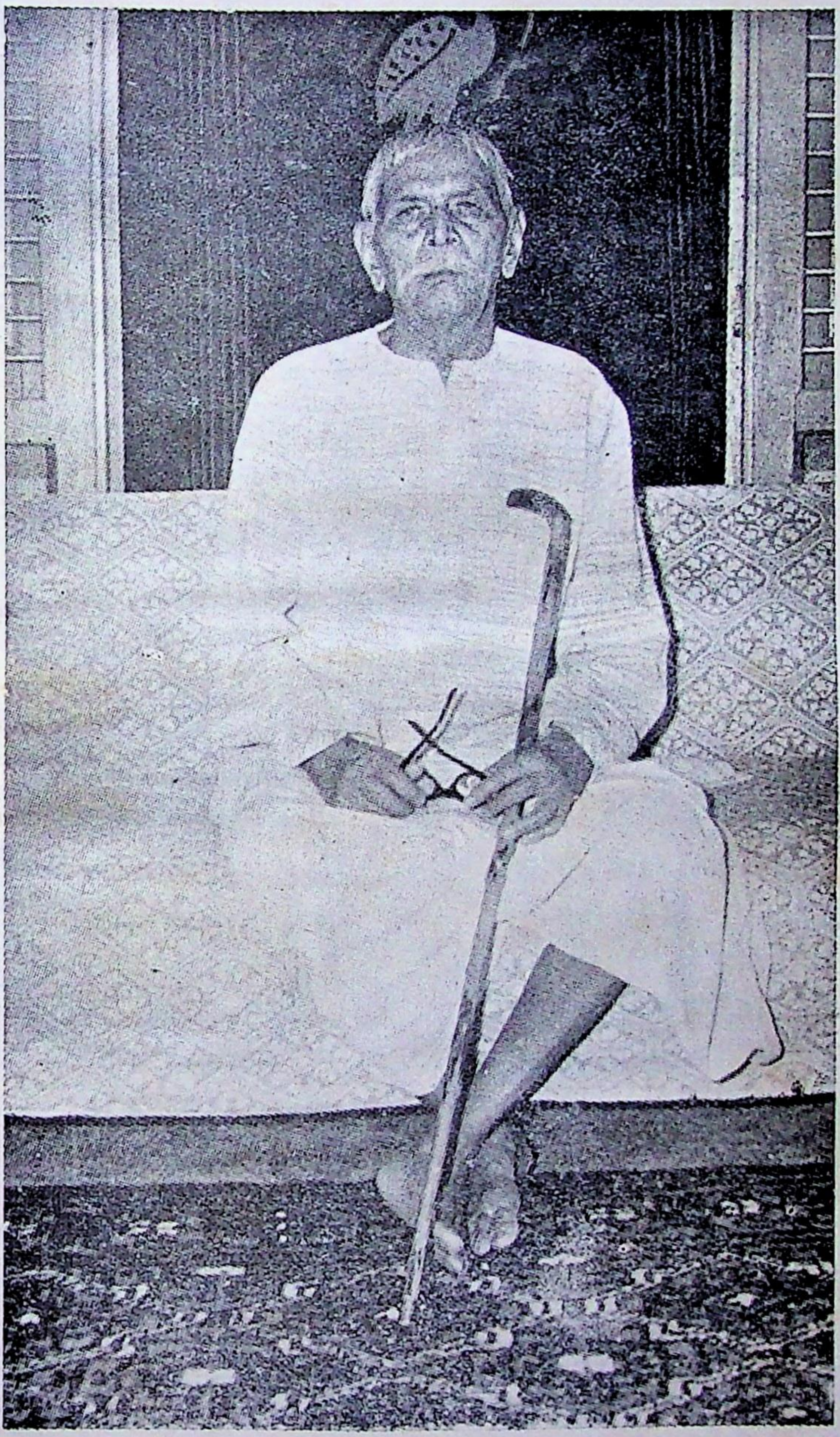
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रकाशक

पाणिनि प्रकाशन, कनखल (उ० प्र०)

प्रकाशक	पाणिनि प्रकाशन, कनखल (उ० प्र०)
मुद्रक	शंभुनाथ वाजपेयी,
	नागरीमुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मूल्य	२५०.००,
प्रथम संस्करण	१९७८ ई०

250



आचार्य श्री किशोरीदास वाजपेयी जी

ग्रंथ समिति के घटक

अध्यक्ष	श्री स्वामी चन्द्रशेखर गिरि देवाश्रम मठ, लार, देवरिया (उ० प्र०)
उपाध्यक्ष	वैद्य रामनारायण शर्मा वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, झाँसी (उ० प्र०)
मंत्री	डा० विष्णुदत्त राकेश गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

संपादन परामर्श समिति

१. पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी	५३, खुर्शेद बाग, लखनऊ
२. डा० विजयेन्द्र स्नातक	आचार्य, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्व-विद्यालय, दिल्ली
३. श्री अमृतलाल नागर	चौक, लखनऊ
४. डा० उदयनारायण तिवारी	अभ्यागत आचार्य, भाषाशास्त्र, श्री सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
५. डा० नित्यानन्द शर्मा	अध्यक्ष हिन्दी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय
६. श्री विष्णु प्रभाकर	८१८, कुंडेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली
७. डा० विद्यानिवास मिश्र	निदेशक, के० एम० मुंशी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा

—:०:—

प्रकाशकीयम्

कभी-कभी अप्रत्याशित, अकल्पित और विचित्र उत्तम घटनाएँ भी सामने आ जाती हैं। पिता जी अपने साहित्यिक जीवन के आरंभ में काव्य-शास्त्र पर कुछ लिखना चाहते थे; सो तो धरा ही रह गया और सामने आ गया शब्दशास्त्र। काव्यशास्त्र भी शब्दशास्त्र ही है और वह सर्वोपरि भी है; परन्तु पिता जी उलझ गए हिन्दी परिष्कार में, व्याकरण में और भाषाविज्ञान में। एक और झमेला सामने आ गया था;—हिन्दी की वर्तनी का। उसे भी सुलझाया। अब तो शब्दशास्त्री के वयस् का ८३वाँ वर्ष चल रहा है और अब आगे कुछ कोई नई चीज हिन्दी को मिलेगी इसकी संभावना कम है।

भाषा विषयक चिंतन मनन के कीर्तिस्तंभ के रूप में पिताजी का जो कार्य हिन्दी संसार के समक्ष आया वह है 'हिन्दी शब्दानुशासन' का प्रणयन और प्रकाशन जिसे नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के तत्कालीन सभापति स्व० डा० झा महोदय तथा प्रधान मंत्री स्व० डा० राजबली पांडेय महोदय ने उनसे आग्रह-पूर्वक संपन्न कराया। इसमें सभा के तत्सामयिक साहित्य मंत्री स्व० डा० श्रीकृष्णलाल का योगदान भी अविस्मरणीय रहा। इसकी अवांतर कथा लंबी है। पर अंततः एक बहुत बड़ा काम संपन्न हो गया जिसके लिये हिंदीजगत् पिताजी के प्रति सर्वदा कृतज्ञ रहेगा।

पाणिनि प्रकाशन

ऐसा सुयोग मिला कि 'पाणिनि प्रकाशन' का नाम सामने आया और उसका प्रथम प्रकाशन यह ग्रंथ है। आगे हम अन्य गंभीर शब्दशास्त्रीय ग्रन्थों का भी प्रकाशन करेंगे। इसके लिए प्रबुद्ध हिन्दी-जगत् का सहयोग अपेक्षित है।

आवश्यक जानकारी यह कि 'पाणिनि प्रकाशन' की नींव लगी है परि-व्राजक परम श्रद्धेय स्वामी श्री चन्द्रशेखर गिरि जी महाराज तथा वैद्य (मेरे पूज्य चाचा जी) श्री रामनारायण शर्मा (वैद्यनाथ) के बल पर।

जिस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के प्रकाशन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है, उसके लेखकों का, सम्पादक का तथा प्रधान सम्पादक महोदय का मैं कृतज्ञ हूँ और जिनके आशीर्वाद तथा शुभकामनाएँ इसमें छपी हैं, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के प्रकाशन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है, अतः उसके लेखकों का, सम्पादक बन्धुवर डा० विष्णुदत्त 'राकेश' का तथा प्रधान सम्पादक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र का मैं कृतज्ञ हूँ और जिनके आशीर्वाद तथा शुभकामनाएँ इसमें छपी हैं, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ।

मधुसूदन वाजपेयी

पाणिनि प्रकाशन,
कनखल (उ० प्र०)
३० दिसंबर, १९७८.

विषय-सूची

कविता-कुसुमांजलि

व्यक्तित्व खण्ड

† पुनर्मुद्रित लेख।

मूल्याङ्कन खण्ड

प्रमुख साहित्यिकों के पत्र

❀

चित्रावली

—:०:—

संपादकीय

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी प्रातिभ हैं। इनमें कारयित्री और भावयित्री दोनों ही प्रतिभाएँ समतुल्य हैं। यद्यपि हिंदी के अधिकतर जन यही जानते हैं कि ये वैयाकरण हैं तथापि ये कवि भी हैं तथा समर्थ कवि हैं। दोनों ही प्रतिभाओं के धनी कम ही महापुरुष होते हैं। संस्कृत में पंडितराज जगन्नाथ ही ऐसे हैं जिन्होंने परम मनोरम कविता भी की और रसशास्त्र का रसगंगाधर सदृश प्रौढ़ ग्रंथ भी प्रणीत किया। संस्कृत में सामान्यतया शास्त्र-कर्ता कवि नहीं हुआ करते थे। काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने दूषणोल्लास के अंतर्गत बड़े बड़े कवियों के दोष दर्शाए तो उनके श्रद्धालु जन आचार्य-प्रवर की रचना का इसलिए संधान करने में प्रवृत्त हुए कि उसकी भी धज्जियाँ उड़ा दी जाएँ। अन्वेषण-अनुसंधान में एड़ी का पसीना चोटी तक पहुँचाकर भी जब विफलता ही हाथ लगी, तब काव्यप्रकाश के एकमात्र मंगल-पद्य की ही धुर्री उड़ाकर उन्होंने संतोष की साँस ली। इससे यही संकेत मिलता है कि शास्त्र के चिंतन-मंथन में प्रवृत्त हो जाने पर कविता-सर्जन की रुचि प्रायः नहीं रह जाती या क्षीण हो जाती है। पर आचार्य वाजपेयी के संबंध में ऐसा नहीं है। कहना चाहिए कि इनमें बहुविधवस्तुस्पर्शिणी प्रतिभा है। प्रतिभा ऐसी कि वह जिस वस्तु को स्पर्श करती है वह चमक उठती है। कुवर्ण हो तो सुवर्ण बन जाती है। इनकी सूझ-बूझ एवम् शैली ही ऐसी है।

एक बार बंधुवर डाक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने अपनी पुस्तक 'हिंदी में गद्यशैली का विकास' का परिवर्धन करते समय मुझसे परामर्श किया कि इसमें किन किन की गद्यशैली का विवेचन और नियोजनीय है। मैंने तत्काल उत्तर दिया कि किन्हीं और की गद्यशैली पर विवेचन आप बढ़ाएँ चाहे न बढ़ाएँ, मुझे तो दो की गद्यशैली में व्यक्तित्व की जैसी छाप दिखती है, वैसी अन्यों में नहीं। एक हैं आचार्य किशोरीदास वाजपेयी और दूसरे हैं आचार्य चंद्रबली पांडेय। दोनों की शैली प्रथम पदन्यास से ही नवीनता का उद्घोष करने लगती है। किसी में प्रत्यभिज्ञान की कुछ भी शक्ति हो तो वह तुरंत पहचान जाता है कि ये हैं आचार्य किशोरीदास वाजपेयी और वे हैं आचार्य चंद्रबली पांडेय। मेरा सुझाव सुझाव था। सन्मति उससे विमति प्रकट ही कैसे करती।

हिंदी में शैली की विशिष्टतावाले गिने-चुने ही हैं। भारतेंदु-युग में पंडित प्रतापनारायण की शैली बोलती थी। द्विवेदी-युग में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की शैली चमचमाती थी। अधुना आचार्य किशोरीदास वाजपेयी की शैली चुटीली होती है और दमदमाती है। ये शत-सहस्र-लक्ष में ही नहीं कोटि-कोटि में शैली से सत्वर पहचाने जा सकते हैं। इनका व्यक्तित्व निराला है, इनकी आन-बान अनोखी है। अदृष्टपूर्व ही नहीं अश्रुतपूर्व भी है। ये किसी विषय पर लिखते-बोलते हैं तो कोई बात कहते हैं। बिना बात की बात नहीं करते। तर्क भी ऐसा ही देते हैं कि उसकी काट नहीं। इस प्रकार इनमें उपज्ञा (उपज) भी है और प्रज्ञा भी। इन्हीं से इनकी पैंठ काव्य एवम् शास्त्र में एक सी तथा उभयतोमुखी है। ये किसी विषय को जिस कोण से निरखते हैं, तदनंतर अंकित करते हैं, वह इनका अपना होता है। सर्वत्र नई बात, नया ढंग इनकी विशेषता है। निरुक्त हो, व्याकरण हो, भाषाविज्ञान हो, साहित्य हो—कोई विषय हो सब कहीं यही ठवनि। भाषाविज्ञान की इनकी

सूझ आजकल के नए भाषावैज्ञानिकों को भले ही न जमे, पर इनकी स्थापना है तर्क से पुष्ट। ये नपा-तुला ही कहते-लिखते हैं। इनकी यह विशिष्टता है। निरुक्त में 'काम-धाम' को 'कर्म-धर्म' का विकास बताया है। 'कर्म'-अर्थ में 'काम' का व्यवहार तो प्रकाम होने लगा, फिर 'धाम' का क्यों नहीं होता। इसलिए कि 'धाम' शब्द अन्य अर्थ (गृह) में पहले से ही चल रहा था। भ्रांति से बचने-बचाने के लिए हिंदी ने 'धर्म' अर्थ में उसका प्रयोग वरज दिया। हिंदी मार्ग को सरल और निर्भ्रांत रखने का यत्न निरंतर करती आई है।

इनकी मनीषा यद्यपि विविध मंचों पर खेलती रही है तथापि व्याकरण-रंग में उसके रंग-ढंग अभूतपूर्व हैं। मम्मटाचार्य ने वैयाकरणों को 'बुध' कहकर स्पष्ट घोषित कर दिया है कि भाषा एवम् साहित्य में उनकी महत्ता सर्वोपरि है। 'विद्वान्' और 'बुध' में अंतर है। जो विद्वान् मात्र होता है वह 'बुध' नहीं होता। विद्वान् का अर्थ ज्ञानवान् है। विद्वान् को 'विषय' की जानकारी तो होती है, पर उसमें पैठ नहीं होती। विद्वान् किसी 'विषय' के विषय में तो सब कुछ जान जा सकता है, पर वह 'विषय' को गहराई से नहीं जानता। जो किसी 'विषय' के विषय में जाने वह विद्वान् तथा जो 'विषय' को सांगोपांग जाने वह 'बुध' या 'पंडित' होता है। वह विषय रूपी यंत्र को खोल खोल कर पृथक् कर सकता है, फिर ज्यों का त्यों जोड़ भी दे सकता है। विद्वान् पंडित नहीं हुआ करता, पर पंडित विद्वान् भी होता है। वह बाहर-भीतर से विषय को जानता है। विद्वद्वर किशोरीदास वाजपेयी पंडित किशोरीदास वाजपेयी भी हैं।

संस्कृत में व्याकरणों की बहुतायत थी। वैयाकरणों के एक से एक अनेक संप्रदाय थे। प्राकृत के भी शब्दानुशासन लिखे गए। अधिकतर संस्कृत भाषा के माध्यम से ही। इनको संस्कृत के से संप्रदायों से लगभग मुक्त कर दिया गया। उत्तरप्राकृत या अपभ्रंश में पहुँचकर तो संप्रदायों का मेला-झमेला रहा ही नहीं। देश्यभाषा के स्तर पर तो व्याकरणों के निर्माण का बखेड़ा ही एक प्रकार से उठसा गया। पूर्ववर्ती कर्ताओं की कृतियों के अध्ययन-मनन एवम् अपनी बोलचाल के व्यवहार के आधार पर सर्जक स्वयम् भाषा के स्वरूप की, उसके व्याकरण की कल्पना करके अपनी रचना करने लगा। कहा जा सकता है कि प्रत्येक कवि व्याकरण की मन में ही कल्पना करके रचना करने लग गया। कबीरदास, जायसी, सूरदास, तुलसीदास, बिहारी, घनआनंद के सामने कौन सा व्याकरण था। घनआनंद को तो भाषा-प्रवीण और व्रजभाषा-प्रवीण दोनो ही कहा गया है। व्रजभाषा के व्याकरण की निर्मिति की ओर पिछले काँटे एक मुसलमान बंधु का ध्यान गया और आधुनिक युग के क्षितिज पर भारतेंदु के पिताश्री ने व्याकरण या वर्तनी पर एक टीप भर लिखी। उसका परवर्ती कर्ताओं ने क्या उपयोग किया, इस पर इतिहास मौन ही है। अवधी में लिखनेवाले प्रेमाख्यानक कवियों ने सूफी मुसलमान होते हुए भी कोई व्याकरण या टीप लिखी थी इसका पता आज तक अनुसंधान को नहीं चल पाया। अवधी और व्रजभाषा के व्याकरण पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपनी बुद्ध-चरित की भूमिका में इधर आकर विस्तृत टिप्पणियाँ दीं। श्री धीरेंद्र वर्मा ने व्रजभाषा-व्याकरण फ्रांसीसी भाषा के माध्यम से लिखकर डाक्टर की उपाधि पाई, फिर उसका हिंदी में उल्था प्रकाशित करवा दिया। उससे असंतुष्ट होकर वाजपेयी जी ने व्रजभाषा का व्याकरण व्यवस्थित और व्यावहारिक रूप में सबसे पहले लिखा। व्रजभाषा का वह अकेला व्याकरण कहा जाना चाहिए। बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर 'बिहारी और घनानंद की कविताओं के आधार पर व्रजभाषा का परिनिष्ठित व्याकरण बन सकता है' ऐसी संभा-

वना ही करके रह गए। व्रजभाषा का व्याकरण निर्मित करने में इस प्रकार विचार करने पर ये एक ही हैं।

आधुनिक युग में जब खड़ी बोली माध्यम के रूप में विद्यालयों में ली गई तब शिक्षा में उसका व्याकरण अनिवार्य हो गया। अँगरेजों का शासन होने से इसका व्याकरण शासकों के लिए भी अपेक्षित था और शासित जनता के शिक्षार्थी बच्चों के लिए भी। अँगरेजों का हाथ लगने से और अँगरेजों के निमित्त भी लिखे जाने से आरंभ में खड़ी बोली या हिंदी का व्याकरण अँगरेजी-व्याकरण की छत्रछाया में उगा, पनपा। शिक्षार्थी के लिए अँगरेजी भाषा अनिवार्य होने से उसका व्याकरण श्रमपूर्वक पढ़ना ही पड़ता था। अँगरेजी-व्याकरण के साँचे में से हिंदी व्याकरण की मूर्ति निकालना सुविधाप्रद था। भारत में अँगरेजी शासन से 'भोग' एवम् 'सुविधाभोग' की प्रवृत्ति की अधिकता धीरे धीरे बढ़ने लगी। वर्तमान शासन व्यवसायियों से देश को मिला है। इसलिए शिक्षा में भी वणिग्वृत्ति ही नेत्री बन बैठी है। किसी प्राज्ञ के लिए 'विद्यामर्थं च चिन्तयेत्' की उलटवाँसी हो गई है--अर्थं विद्यां च चिन्तयेत्। विद्याविषयक सारे अनर्थों की जड़ में इसी 'अर्थ' की प्राथमिकता है।

अध्यापक-जीवन के नवोन्मेष में मुझे स्वर्गीय पंडित अंबिकाप्रसाद वाजपेयी की 'हिंदी-कौमुदी' दिखी। लगा कि इसमें हिंदी भाषा की दृष्टि से व्याकरण बनाने का कहीं कहीं कुछ प्रयास है। अतः हिंदी पढ़ने के लिए काशी आनेवाले परदेशी छात्रों को और विदेश में हिंदी के अध्यापनार्थ जानेवाले मित्रों को उसे पढ़ लेने का परामर्श देता रहा। देखा कि कुछ ही वर्षों बाद उन्होंने हिंदी-व्याकरण की दूसरी पोथी लिख डाली। इसलिए नहीं कि वे हिंदीपन में हिंदी-कौमुदी से इसमें आगे बढ़े। अपितु हाट में लाग-डाँट के लिए हिंदी-व्याकरण में अब अँगरेजी-व्याकरण का ही ढोल पीट रहे हैं। हिंदी-कौमुदी सरकारी विद्यालयों में लगी ही कहाँ थी। हिंदी-साहित्य-संमेलन की परीक्षा में लगी थी। हिंदी का गरीब विद्यार्थी जो संमेलन की परीक्षा की तैयारी करता पाठ्यग्रंथ ही नहीं खरीद पाता था। व्याकरण की संस्तुत पोथी क्यों क्रय करता। पर नया हिंदी-व्याकरण निकला, लगा और चल निकला। आवृत्ति पर आवृत्ति। कभी जिसके पल्ले दाम तब पड़ते थे जब वह अपना हिंदी समाचार-पत्र पाठकों के घर घर जाकर स्वयम् सुना आता था, उसी के सामने अब माँग स्वयम् पल्ला पसार कर आ खड़ी हुई। स्वर्गीय वाजपेयीजी के प्रति पूरा संमान रखता हूँ, यहाँ मुझे शिक्षा-क्षेत्र में पछुआ हवा की प्रचंडता बताना ही प्रयोजन था।

एक बार साक्षात्कार में विशेषज्ञ के रूप में मैं वहाँ आहूत हुआ जहाँ विदेशियों को हिंदी भाषा अँगरेजी माध्यम से पढ़ानेवालों का चुनाव करना था। एक से पूछा कि 'पैसा' और 'कन्हैया' के 'ऐ' के उच्चारण का भेद विदेशी को कैसे समझाइएगा। अभ्यर्थी की वाणी वैखरी हुई ही नहीं। दूसरे से प्रश्न किया कि 'सर्वनाम' और 'प्रोनाउन' की धारणा का अंतर विदेशी को कैसे बताइएगा। उत्तर था कि 'कोई अंतर मैं नहीं जानता'। अनुप्रश्न हुआ 'प्रोनाउन' शब्द में 'प्रो' का अर्थ क्या है यह भी अनुत्तरित ही रह गया। फिर पृच्छा हुई कि सर्वनाम में 'सर्व' का अर्थ क्या है। उत्तर मिला--सब। तब कहा गया कि सर्वनाम का अर्थ--सबका नाम हुआ न। यह 'सब' कौन है जिसका वह नाम है। फिर मौनावलंबन। उत्तरदाता केवल विस्फारितनेत्र

बना रहा। साक्षात्कार में उपस्थित कुलपति भी विचारमग्न। कार्य संपन्न हो जाने पर उन्होंने अलग बुलाकर मुझसे कहा कि यह सब तो मैं भी नहीं जानता। मैंने उन्हें विधिवत् सब कुछ समझाया। पीठ पीछे वे संकायाध्यक्ष आदि से मेरे बारे में, मेरे व्याकरणज्ञान के विषय में पूछते फिरे। पूछ-ताछकर मुझे पंडित मान लिया। यह 'वार्ता' में अपने पांडित्यप्रदर्शनार्थ नहीं लिख रहा। लिख रहा हूँ यह बताने के लिए कि हिंदी-व्याकरण के क्षेत्र में सर्वत्र कुएँ में भाँग पड़ी है और पड़ी है अँगरेजी की माँग। निजता भुला देनेवाले नशे से हिंदी-वैयाकरण के मुक्त हो जाने की लालसा हिंदी को न जाने कब से थी। वह अपना वैयाकरण खोजती फिर रही थी। हिंदी ने निज वैयाकरण पंडित किशोरीदास वाजपेयी के रूप में पाया।

इन वाजपेयी जी ने राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण लिखा, हिंदी का शब्दानुशासन बताया, हिंदी शब्दों का निरुक्त भी कहा। हिंदी के व्याकरणों में संबंधकारक भी अँगरेजी की अनुध्वनि सुनाता आ रहा है। वहाँ 'कारक' नहीं 'केस' होता है। संस्कृत में संबंधकारक नहीं होता, षष्ठी विभक्ति अवश्य संबंध के लिए होती है। उसके वैयाकरणों के अनुसार कारक को क्रिया से अन्वित होना चाहिए। वाजपेयी जी हैं कि उन्होंने हिंदी में संबंधकारक भी खोज निकाला। 'राम के तीन माताएँ थीं' कहने में 'के' का अन्वय 'माताएँ' से नहीं है। 'माताएँ' से 'अन्वय' के लिए 'के' को 'की' होना चाहिए। उसका अन्वय 'थीं' से ही बनेगा। 'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्' संस्कृतवालों का लक्षण भी ठीक घटित हो जाता है। व्याकरण की दृष्टि इसे कहते हैं।

हिंदी की व्याकरणविषयक विवादास्पद स्थितियों के निराकरणसंबंधी वाजपेयी जी के अपने स्वतंत्र मत अनेक हैं, अनगिनत हैं। सबको गिनाना पोथा लिखना होगा। यहाँ उनका अनुज उनके अभिनंदन-ग्रंथ का संपादकीय मात्र लिख रहा है। इसमें उनके कर्तृत्व की झलक भर दिखा देनी है। कर्ता-रूप के अंकन के लिए कुछ रेखाएँ खींच देनी हैं। 'एक महिला जानी चाहिए' एकवचन में लिखते हैं तो बहुवचन में लिखना चाहिए 'बहुत सी महिलाएँ जानीं चाहिए'। प्रायः लोग बहुवचन में 'चाहिए' न लिखकर 'चाहिएँ' लिखते हैं। वाजपेयी जी ने पहले पहल बताया कि बहुवचन की अभिव्यक्ति का वास्तविक स्थान कौन सा है। वैयाकरण तो साधु प्रयोग बताया करता है। सामस्त्यबोध होने से 'दोनो, तीनो' ही लिखना चाहिए। हाँ, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि 'प्रयोगशरणा वैयाकरणाः'। यदि कोई प्रयोग हो रहा है तो उसका रहस्य जानना चाहिए। हिंदी में 'सबों लोगों' कोई नहीं लिखता, 'अनेकों लोगों' लिखते हैं। वाजपेयी जी का कहना है कि अनेक 'दो' के अर्थवाला है। अतः हिंदी में 'अनेकों लोगों' लिखना भी शिष्ट प्रयोग है। यह खटकता भी नहीं। 'सबों लोगों' खटकता है। ये 'एकत्रित' को हिंदी में ठीक मानते हैं। इनके विचार से 'इकट्ठा' और 'एकत्रित' के प्रयोग में अर्थांतर भी है। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत-व्याकरण का भी सर्वत्र अंकुश मानने के पक्ष में ये नहीं हैं। हिंदी स्वच्छंद भाषा है। इसके व्याकरण पर न अँगरेजी व्याकरण लादा जा सकता है और न संस्कृत-व्याकरण थोपा ही जा सकता है। हिंदी का व्याकरण लिखने में हिंदी की प्रकृति और प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर शब्दानुशासन बताना होगा। भाषा पर शासन उसके बोलनेवाले करते हैं और वैयाकरण साधु-असाधु प्रयोग की दृष्टि से तदनंतर अनुशासन करता है। इसलिए हिंदी-व्याकरण पर अँगरेजी का तो कहना ही क्या, संस्कृत के व्याकरण का भी दबाव नहीं होना चाहिए।

साहित्य या व्याकरण ही नहीं, सामाजिक विषय में भी कोई खटक इन्हें असह्य हो जाती है। 'ब्राह्मण सावधान' को लेकर विवाद उठा तो इन्होंने भी लिखा। इनका विचार समाजसुधारकों या राजनयिकों को भले ही रास न आए, पर ब्राह्मण का समाज में जो 'दाय' है उसके संबंध में इनका तर्क मननीय है। ये सच्चे ब्राह्मण हैं। सारस्वत साधना में लक्ष्यैकचक्षु हैं। भारती-भवन में लक्ष्मी का अधिकार इन्हें लक्ष्मयुक्त प्रतीत होता है। आज हिंदी में समय के फेर से गद्दियाँ बड़ी बड़ी हो गई हैं, पर व्याकरण का वैसा काम किस गद्दी ने किया जैसा वाजपेयी जी ने अकेले किया। मेरे विषय में इन्होंने कहीं पढ़ा कि काशी विश्वविद्यालय में ऐतिहासिक व्याकरण प्रस्तुत करने की योजना मेरी देखरेख में चली थी। तुरंत पत्र लिखकर पूछा कि वह व्याकरण निकला या नहीं। मैंने वस्तुस्थिति का निवेदन कर दिया कि व्याकरण बनकर भी अभी अँधेरे में ही पड़ा है। प्रकाशित नहीं हो सका है। कहाँ व्यवसाय का युग और कहाँ विद्या का अध्यवसाय। जिनका हिंदी से सीधा नाता नहीं, जो संस्कृत या अँगरेजी में नहीं चमक सके वे अपना प्रकाश फैलाने के लिए राजनीति के धंधे - कंधे से हिंदी की कुरसियों पर आ विराजे। इतर भाषा की दाब इन्हीं के चलते नहीं जा पाती हिंदी पर से। वाजपेयी जी का व्याकरण कहीं नहीं लगता, इससे तो इतर भाषा के आग्रह-दुराग्रह की छाई-काई हटने-कटने लगती।

ये 'अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः' की नीति-रीतिवाले ब्राह्मण हैं। सुना जाता है कि महाराज छत्रसाल अपने हस्ताक्षर में लिखा करते थे—'जो जानिहै सो मानिहै, न मानिहै सो जानिहै'। इन विप्र महाराज की भी कुछ कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति है। खंडन-मंडन हेतु सदैव कटिबद्ध। वादविवाद के निमित्त निरंतर बद्धपरिकर। बड़े ही स्पष्टवादी। 'स्पष्टवादी न वंचकः'। जो अस्पष्ट रहा करता है वह किसी को ठग लेने के लिए ही। स्पष्टवक्ता को सबका रोष-आक्रोश सहना पड़ता है। ये सब किसी के प्रहार सह नहीं पाते। प्रहार भी कर देते हैं। आज हिंदीवाले विरुद्ध पर सच्ची आलोचना से भी सहमते हैं। सच्चाई से कतराते हैं। दलबंदी बढ़ती जा रही है। विद्याविनोद के लिए दल-बादल नहीं जुटते। 'पद' एवम् 'अर्थ' पर अधिकतर टकटकी लगी है। धर्म या कर्तव्य की चिंता किसी किसी को है। पद-पदार्थ का अपना अर्थ कर लिया गया है। चारो पदार्थों की पुरानी व्यवस्था अमान्य हो गई है। मोक्ष तो कल्पना ही कल्पना है। धर्म त्रिवर्गसार कविकुलगुरु कालिदास के काल में रहा होगा। श्री किशोरीदास आचार्य के समसमय में नहीं रहा। ऊर्ध्वबाहु व्यास ने जिन्हें निषिद्ध घोषित किया वे ही आज विधेय हो गए हैं और उद्देश्य भी। ऐसी परंपराविमुख परिस्थितियों में 'पद-पदार्थ, उद्देश्य-विधेय' के निरूपण-विश्लेषण में ये परंपराभिमुख जो अडिग-अटल रहते आए हैं सो ब्राह्मण-वर्चस् के ही कारण। ये स्वाराज्य में विचरण करनेवाले जो हैं। धन्य है ऐसा चारित्र्य। ये पूजनीय रहे हैं, हैं और रहेंगे। अभिनंदन-ग्रंथ के रूप में पूजा करनेवाले भी धन्य और पूजन भी धन्य। इस आयोजन से कलियुग में सत्ययुग की अवतारणा हो गई।

जीवन की धारा में लुढ़कते-सँवरते स्वतः निर्मित यह नर्मदेश्वर की दिव्य-लक्षणा पिंडकी हिंदी को दैव संयोग से ही मिली है। मंदिर में पूजा-अर्चा के लिए इसकी विधिवत् प्रतिष्ठापना बहुत पहले ही हो जानी चाहिए थी। इस परिणतवय में हिंदी-संसार चेता है। आराधना की अंजलि दे रहा है अभि-नंदन-ग्रंथ के रूप में। भोर में भूल गया तो साँझ ही को सही। उनके लिए उसकी मंगल कामना 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' की है। तथास्तु।

इस यज्ञ का मुझे ब्रह्मा बनाया गया। संप्रति यज्ञों में ब्रह्मा को कुछ करना-धरना नहीं रहता। वह द्रष्टा मात्र बना बैठा रहता है। किसी के द्वारा कोई त्रुटि होती दिखे तो वह कुछ बोले या करे। अध्वर्यु का सारा संभार तो 'विष्णु' ने ही सुसंपन्न कर दिया और 'विश्वनाथ' को बना दिया ब्रह्मा। सबसे पहले उन्हें ही साधुवाद। जिन महानुभावों ने लेखादि के रूप में आहुतियाँ दी हैं उनके प्रति कृतज्ञतापूर्वक नमन। अपनी पूर्णाहुति देते हुए मैं भी कह रहा हूँ--'इदं भूदेवाय पंडित किशोरिदासवाजपेयिने न मम'।

वाणी-वितान, विश्वनाथप्रसाद मिश्र
ब्रह्मनाल, वाराणसी।
मकरसंक्रांति, २०३५ वैक्रम।

ग्रंथ-निर्माण-समिति की ओर से

आचार्य पण्डित किशोरीदास वाजपेयी की प्रतिभा और विद्वत्ता को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने जाना और उसका भरपूर समर्थन किया। वाजपेयी जी ने भी शब्दशास्त्र के काव्य, काव्य-शास्त्र तथा भाषाशास्त्रीय विविध अंगों की मौलिक पूर्ति की। विश्वविद्यालीय हिन्दी विद्वानों की उपेक्षा वृत्ति तथा उदासीनता के कारण शैक्षिक जगत् में पण्डित जी के साहित्यिक अवदान का समुचित मूल्यांकन नहीं हुआ। हिन्दी शब्दानुशासन और भारतीय भाषा विज्ञान जैसी सर्वथा मौलिक रचनाएँ देकर अपनी साहित्यिक सेवाओं के ब्याज से जब वाजपेयी जी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी की दिग्विजय की घोषणा की तब उन्हें असूयाग्रस्त पंडितम्मन्यों ने अभिमानी कहा, गर्वीला और दंभी बताया, किन्तु किसी ने यह नहीं सोचा कि जीवन भर आर्थिक कठिनाइयों से जूझते हुए इस सरस्वती पुत्र ने व्याकरण और भाषा-शास्त्र के क्षेत्र में भारतीय पद्धति पर सशक्त लेखन की नींव अपनी मेधा और मज्जा के गारे से किस प्रकार लगाई? भारतीय आर्यभाषाओं का तुलनात्मक व्याकरणिक अध्ययन सर्वप्रथम जान बीम्स ने ध्वनि, संज्ञा और सर्वनाम तथा क्रिया शीर्षक तीन खंडों में प्रस्तुत किया था। इसके बाद भाषाशास्त्र के पंडितों में यह विवाद प्रारंभ हो गया कि हिन्दी भाषा के व्याकरण का मूल द्राविड़ी है अथवा संस्कृतोन्मुख। सम्बन्ध विभक्ति को लेकर यह विवाद और भी तीव्र रूप में उभरा। मैक्समूलर, म्योर, ट्रम्प जैसे विद्वान् संस्कृत-वादी थे। डा० ए० एफ० रुडोल्फ हार्नेली ने विभक्ति रूपों को संस्कृत, प्राकृत की ऐतिहासिक विकासधारा से सिद्ध करने का प्रयत्न किया। हिन्दी व्याकरण लेखन में इसीलिए दामोदर शास्त्री जैसे विद्वानों ने संस्कृत और अंग्रेजी का सम्मिलित आधार स्वीकार किया। पादरी केलाग का व्याकरण १८७६ ई० में प्रकाशित हुआ। केलाग साहब ने खड़ी बोली, ब्रजी, अवधी, राजस्थानी, कन्नौजी, कुमायूँनी, रीवाई, गढ़वाली, बैसवाड़ी, भोजपुरी, और अगले संस्करण में मराठी, मैथिली, तथा नेपाली का विवेचन किया। केलाग ने विलियम्स की इस बात का निषेध किया था कि हिन्दी की मूर्धन्य ध्वनियाँ अनार्य स्रोत से आगत हैं। उनका कथन था कि हिन्दी के अधिकांश शब्द प्राकृत उद्भूत हैं। इसके बाद जितने व्याकरण लिखे गए वे प्रायः केलाग की पद्धति पर ही हैं। इसीलिए डा० सुनीति-कुमार चाटुर्ज्या जैसे विद्वान् कहते थे, हिन्दी का अपना मौलिक व्याकरण है ही नहीं। आचार्य वाजपेयी जी केलाग की जोड़ पर स्वयं को बेलाग कहते हैं। उन्होंने हिन्दी शब्दा-नुशासन द्वारा बेलाग-परम्परा का सूत्रपात किया। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती विद्वानों की मान्यताओं का खण्डन करते हुए कहा कि हिन्दी की उत्पत्ति उस संस्कृत भाषा से नहीं है जो कि वेदों में, उपनिषदों में तथा बाल्मीकि या कालिदास आदि के काव्य-ग्रंथों में हमें उपलब्ध है, रही प्राकृत की बात तो "जिस प्राकृत से हिन्दी का विकास है वह आँखों के सामने है ही नहीं। उसमें साहित्य बना ही नहीं और बना भी हो तो लुप्त हो गया।

साहित्य में जो "प्राकृत" प्राप्त है उससे हिन्दी का गठन मेल नहीं खाता। इसीलिए संस्कृत को सामने रखा गया है जिससे हिन्दी का बहुत अधिक मेल है, ऐसा जान पड़ता है कि जिस प्राकृत से हिन्दी का विकास हुआ है वह संस्कृत से बहुत दूर नहीं हुई होगी।" पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी हिन्दी का निकटतम सम्बन्ध प्राकृत से मानते थे, इस तरह वाजपेयीजी ने केलाग, मोनियर—विलियम्स, कामताप्रसाद गुरु तथा अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी की परम्परा का युक्तिपूर्वक खण्डन कर हिन्दी का स्वतंत्र व्याकरण बनाया। हिन्दी शब्दानुशासन के छपने पर राहुल जी तथा डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या मुग्ध हो गए और कलकत्ता में आचार्य शिवपूजन सहाय, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, आचार्य रामचन्द्र वर्मा, श्री रामधारीसिंह दिनकर, चाटुर्ज्या प्रभृति विद्वानों ने वाजपेयी जी के अभिनंदन का विराट् आयोजन किया। अभिनंदन-समारोह के स्वागताध्यक्ष थे वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के संचालक पण्डित रामदयाल जोशी तथा श्री रामनारायणजी वैद्य। इसके बाद आकाशवाणी दिल्ली के ब्रजभाषा साहित्य सेवियों ने दिल्ली में वाजपेयी जी का सार्वजनिक अभिनंदन किया। समारोह की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध भाषाविद् डा० बाबूराम सक्सेना ने की तथा मुख्य अतिथि थे गांधीवादी विचारक और उपन्यासकार श्री जैनेन्द्र कुमार। अब वाजपेयी जी के अभिनन्दन-सम्मान का एक सिलसिला सा जुड़ गया।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए साहित्य वाचस्पति की उपाधि से गोविन्ददास की अध्यक्षता में वाजपेयी जी को अलंकृत किया। पण्डित श्रीनारायण जी चतुर्वेदी तथा आचार्य पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र की सन्निधि में उत्तरप्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने बहराइच में भारतेन्दु पदक प्रदान कर आचार्य वाजपेयी जी की अभ्यर्थना की। दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के महासचिव श्री गोपाल प्रसाद व्यास ने भारतीय स्वतंत्रता की रजत जयंती के अवसर पर हिन्दी मनीषा के प्रतीक रूप में आचार्य वाजपेयी जी के अभिनन्दन-स्तवन का अखिल भारतीय उपक्रम दिल्ली में किया। उत्तर प्रदेश हिन्दी-संस्थान के तत्वावधान में लखनऊ में प्रधान मंत्री माननीय श्री मोरारजी देसाई ने पन्द्रह हजार की सम्मान दक्षिणा से "हिन्दी-पाणिनि" के रूप में पण्डितजी के प्रति राष्ट्र की कृतज्ञता प्रकट की। सरस्वती की मानरक्षा के लिए मंच से नीचे उतर कर प्रधान मंत्री ने जब पण्डित जी को उत्तरीय भेंट किया तब विश्वक्षितिज पर निःस्व साहित्यकार की पूर्ण गरिमा और उदात्त अस्मिता का नवीन सूर्य उदित हुआ। अपूर्व था वह त्याग और अपूर्व था विद्यानुरागी प्रधानमंत्री का सात्विक श्रद्धा-भाव। इसके अतिरिक्त भारत के विभिन्न साहित्यिक संस्थानों द्वारा उनका सम्मान-पूजन होता रहा है किन्तु इस सबके होते हुए भी वाजपेयी जी हिन्दी संसार के प्रति असंतुष्ट रहे हैं और इसका कारण भी स्वयं उन्होंने जनवरी ७८ की कादम्बिनी में "जिन्दगी और मौत के दस्तावेज" शीर्षक लेख में दे दिया है। वह कहते हैं "इतना काम करने में मुझे लोहे के चने चबाने पड़े। कहीं कोई चर्चा नहीं, परीक्षाओं में लगना तो दूर की बात। मेरी सभी पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ सभी प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं को भेजी जाती रहीं पर कभी किसी ने किसी भी पुस्तक का जिक्र न किया। मेरे बारे में

और मेरी साधना के बारे में अब तक केवल दो विद्वानों के लेख प्रकट हुए। वे हैं—महापंडित राहुल सांकृत्यायन और डा० रामविलास शर्मा, ये दोनों विद्वान् हिन्दी में एम० ए० नहीं हैं। इसलिए मैं इन दोनों को दिखाई दे गया। बस, और सब चुप। इससे पुस्तकों का प्रसार न हो सका और मैं सदा अर्थसंकट में रहा। परन्तु मेरे असंतोष का कारण यह एक ही है कि हिन्दी जगत् प्रकाश से वंचित रहा और अब तक वंचित है। मेरी कृतियों का तो मूल्यांकन बहुत बड़े बड़े जौहरियों ने किया परन्तु फिर भी विश्वविद्यालयों में उनकी पहुँच नहीं। यही असंतोष है। मैं जीते जी यदि संतोष न पा सका और "छ." तथा "अन्ताराष्ट्रिय" देख देख कर कुढ़ता रहा तो क्या मिला? अब क्या मैं दस बीस वर्षों की प्रतीक्षा में बैठा रहूँगा।" इसे पढ़कर मुझे अत्यन्त कष्ट हुआ। विश्वविद्यालयीय व्यूह के कुछ अहम्मन्य लोगों की कुटिलता का परिणाम स्वयं आचार्य वाजपेयी जी तथा वे लोग भी भोगते रहे हैं जो उनके प्रति सात्विक श्रद्धा रखते हैं तथा महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अध्यापनरत हैं।

यह सुख और हर्ष का विषय रहा है कि इस षड्यंत्र के विपरीत आचार्य वाजपेयी जी का भारतीय बुद्धिजीवियों में अत्यधिक सम्मान रहा है और इसका ज्वलन्त प्रमाण तब मिला जब उन्हें प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डा० राजबली पाण्डेय ने अखिल भारतीय इतिहास परिषद् के जबलपुर अधिवेशन में "आर्य-द्रविड़" संघर्ष पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया। नागपुर विश्व हिन्दी सम्मेलन में भी वह विदेशियों के आकर्षण के केन्द्र रहे। पिछले बीस वर्षों में हिन्दी में अभिनन्दन ग्रंथों की बाढ़ सी आ गई है। सस्ते राजनीतिज्ञों और आत्मज्ञापक साहित्यिक वत्सों ने भी इसी बहती गंगा में जी भर डुबकी लगाई है पर आचार्य वाजपेयी जैसे निष्काम साधकों पर कहीं कोई ग्रंथ, लेख, चर्चा-परिचर्चा और स्वतंत्र शोध-कार्य मेरे देखने में नहीं आया। मैंने सोचा, विश्वविद्यालयीय विद्वानों द्वारा उनकी कृतियों का सम्यक् परीक्षण या विवेचन अवश्य होना चाहिए। मैंने आचार्य वाजपेयी से निवेदन किया कि यदि वह कृपापूर्ण स्वीकृति दें तो उनकी कृतियों का हिन्दी के प्रतिनिधि विद्वानों द्वारा विवेचन-विश्लेषण करवाकर ग्रंथाकार छाप दिया जाय और वही "मूल्यांकन ग्रंथ" उन्हें अभिनंदन ग्रंथ के रूप में सादर समर्पित कर दिया जाय। पण्डित जी यद्यपि प्रारंभ में सहमत नहीं हुए पर श्रद्धेय स्वामी चन्द्रशेखर गिरि-देवाश्रम मठ, लार, देवरिया, स्वामी डा० श्यामसुन्दरदास शास्त्री, मंत्री षट्दर्शन साधु समाज, हरिद्वार तथा मेरे द्वारा लगातार अनुरोध किए जाने पर पण्डित जी ने इस संकल्प को अपना आशीर्वाद और कृपापूर्ण स्वीकृति प्रदान कर दी। पण्डित जी की स्वीकृति अप्रत्याशित थी, इससे ग्रंथ-निर्माण-समिति को बड़ा बल मिला।

ग्रंथ के प्रधान संपादक के रूप में समिति ने काशी के विश्रुत विद्वान् तथा आचार्य शुक्ल-युग के लब्धप्रतिष्ठ समीक्षक आचार्य पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र का मनोनयन किया। मिश्र जी भक्ति और रीति-साहित्य के तो प्रकाण्ड पंडित हैं ही, व्याकरण और काव्यशास्त्र के भी प्रौढ़ विचारक हैं। शब्दानुशासन-निर्माण-समिति के भी वह सभा की ओर से मनोनीत सदस्य थे। आचार्य वाजपेयी जी की साहित्यिक गरिमा, वर्चस्व

और बेलाग कथन-चिंतन के सर्वथा अनुरूप ही आचार्य मिश्र जी का अपराजेय साहित्यिक व्यक्तित्व रहा है। पूज्य पंडित जी ने अस्वस्थ रहते हुए भी इस कार्य को बड़ी तत्परता से त्वरित संपन्न कराया। समिति पंडित जी की चिर ऋणी रहेगी। पंडित जी के प्रधान संपादन में प्रकाशित इस ग्रंथ का महत्व द्विगुणित हो गया है, यह एक निर्विवाद तथ्य है।

ग्रंथ संपादन परामर्श-समिति के माननीय सदस्यों—पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी, डा० विजयेन्द्र स्नातक, श्री अमृतलाल नागर, श्री विद्यानिवास मिश्र, श्री विष्णुप्रभाकर, डा० उदयनारायण तिवारी तथा डा० नित्यानंद शर्मा ने अनेक उपयोगी सुझाव देकर ग्रंथ को पूर्णता प्रदान की है, इन महानुभावों के हम चिर कृतज्ञ हैं।

वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, झाँसी के संचालक तथा उत्तर भारत में आयुर्वेदोक्त शुद्ध और प्रामाणिक औषधियों के निर्माता पण्डित रामनारायण शर्मा वैद्य तथा देवाश्रम मठ के संस्कृत भाषानुरागी परम वीतराग संत श्री स्वामी चन्द्रशेखर गिरि के अविस्मरणीय सहयोग से ही यह अभूतपूर्व सारस्वत यज्ञ संपन्न हो रहा है, अतः इन दोनों महानुभावों के प्रति भी हम अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त दो मास की अल्प अवधि में विश्वविद्यालयीय कार्यों में अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी जिन हिन्दी विद्वानों तथा साहित्यकारों ने वाजपेयी जी की कृतियों की समीक्षाएँ लिखकर भेजने की कृपा की, उन्हें मात्र धन्यवाद देकर उनकी सहज उदारता को हलका नहीं किया जा सकता।

ग्रंथ के आकर्षक मुद्रण तथा कृपापूर्ण सहयोग के लिए नागरीप्रचारिणी सभा के यशस्वी प्रधान मंत्री पण्डित सुधाकर जी पाण्डेय तथा सहायक मंत्री पण्डित शंभुनाथ जी वाजपेयी के प्रति भी समिति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करती है।

हमने ग्रंथ के प्रस्तावित प्रारूप में स्पष्ट कर दिया था कि विद्वान् विचारक वाजपेयी जी की कृतियों का तटस्थ मूल्यांकन करें। यह चाटूक्तियों, अतिरंजित प्रशस्तियों तथा आत्मश्लघाओं से भरा न तो अभिनन्दन-ग्रंथ है और न असूयाग्रस्त मनोवृत्ति का परिचायक "निन्दा ग्रंथ"। अरोचकी और मत्सरी वृत्ति की छाया भी पाणिनिप्रकाश की प्रतिच्छवि को संक्रांत न कर सके, इसका पूर्ण ध्यान रखते हुए यह अनुरोध किया गया था कि विद्वान् वाजपेयी जी की उद्भावनाओं का खुलकर प्रत्याखान-समर्थन करें, उनके सभी समीक्षात्मक लेख ग्रंथ में अविकल प्रकाशित किए जायँगे। हम पूर्ण ईमानदारी के साथ कह सकते हैं कि इस मूल प्रतिज्ञा का प्रस्तुत ग्रंथ में आद्योपान्त निर्वाह हुआ है। सहृदय पाठकों और तत्वाभिनिवेशी अनुसंधाताओं से निवेदन है कि विज्ञ समीक्षकों के निष्कर्षों को आत्मानुभव और स्वात्मपरीक्षण के निकषपर परख कर ग्रहण करें, वस्तुस्थिति तक पहुँचने में उन्हें सहायता मिलेगी।

ठलुआ क्लब वाराणसी के गणपति आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी ने वाजपेयी जी को "ठलुआ परशुराम" तथा स्व० शिवपूजन सहाय ने "दुर्वासा" कहा है, ये उपाधियाँ पौराणिक मिथ के संदर्भ में वाजपेयी जी के अत्युग्र रूप का संकेत कराती हैं। वाजपेयी जी के सन्निकट रहनेवाले जानते हैं कि न तो उनका सान्निध्य दुर्वासा की तरह अनिष्टकारी है और न परशुराम की तरह शक्तिप्रदर्शन की ग्रंथि उनके व्यक्तित्व को कचोटती रही है।

पंडित जी हिमालय की तरह ऊँचे और दयार्द्र हैं। उनके भीतर मानवता का पीयूष स्रोत बहता है, अनुशासन के लिए ही उन्हें उखाड़-पखाड़ करनी पड़ी है। पंडित जी के साहित्यिक लेखन की स्वर्ण जयंती के अवसर पर काव्य, काव्यशास्त्र तथा भाषाशास्त्रीय समीक्षा का यह त्रिदल हम उनके श्री चरणों में अर्पित कर रहे हैं। आशा है आशुतोष पण्डित जी इसे उदारतापूर्वक अंगीकार करेंगे। हम अकिंचन और दे ही क्या सकते हैं? पंडित जी के यश का स्वर्ण इस ग्रंथ के कांच को भी मणि बना देगा, इसका हमें पूर्ण विश्वास है। इतना ही नहीं पंडित जी को उन्हीं के शब्दों में "असूयाग्रस्त हिन्दी जगत्" से जो शिकायत रही है, उसका प्रक्षालन-मार्जन भी हो रहा है। विश्वविद्यालयीय संसार के सभी प्रौढ़ और यशस्वी हस्ताक्षरों ने अपनी लेखनी का उत्तमांश इस ग्रंथ के निमित्त वाजपेयी जी के प्रति निवेदित किया है। अस्तु, अब पण्डित जी को चाहिए कि वे "जिन्दगी और मौत के दस्तावेज" को संशोधित कर दें, वह हिन्दी जगत् के अभिनन्दनीय हैं और हिन्दी जगत् उनकी आशाओं और कल्पनाओं का प्रतीक है। इन शब्दों के साथ मैं पंडित जी के सौ शरद जीने की मंगल कामना करता हूँ। पाणिनि मन्दिर, कनखल के संचालक श्री मधुसूदन वाजपेयी तथा अपने प्रिय शिष्य श्री कृष्णानन्द पंत को भी इस अवसर पर अनेक शुभ कामनाएँ प्रदान करता हूँ। रात दिन यदि ये इस कार्य में न जुटते तो ग्रंथ का प्रकाशन कठिन हो गया होता।

डा० विष्णुदत्त राकेश
मंत्री
ग्रंथ-निमाण-समिति

हिन्दी-विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
१० मई, १९७८



जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै।

मेरी शैक्षणिक विवशता यह है कि प्राइमरी स्कूल में चौथी, तक हिन्दी की पढ़ाई और तीन-साढ़े तीन वर्षों का संस्कृत-अध्ययन — यानी सम्पूर्ण रूप में ग्यारह और बारह वर्ष की उम्र में समाप्त।

पद-प्रतिष्ठा की स्थिति यह कि "हाई स्कूल" की संस्कृत-टीचरी और बस!

पर इतनी-सी कि निःसंदेह महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने मुझे 'प्रतिभावान-मेधावी' बतलाया!

और जो सम्मान मुझे जो मिला, वह स्वतः हुआ भी यह है। हिन्दी-भारती के परमाचार्य पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी का स्नेह-सम्मान मुझे सन् ३० से ही प्राप्त होने लगा था। महान् भाषाविज्ञानी डा० सुनीतिकुमार ~~चाटुर्ज्या~~ चाटुर्ज्या का भरपूर सम्मान मुझे मिला और डा० अमरनाथ झा, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, ~~[illegible]~~ तथा यह।

कवि 'दिनकर' का [illegible] स-
म्मान मुझे प्राप्त हुआ। यह लेखक-
रूप का ही फल है।

रचनाकार के प्रति मैं कभी उन्मु-
ख नहीं हुआ; परन्तु उदार लेखकों स-
म्मान मिला। लेखक वर्ग (७७ में) भा-
रत के प्रधान मंत्री (युगपुरुष श्री मु-
~~मोरा~~ रारजी देसाई) ने जो सम्मान मु-
झे दिया, वह हिन्दी-जगत् के ही नहीं,
भारत के किसी भी विद्वान्, साहित्य-
कार या कवि को प्राप्त नहीं हुआ।
यह सम्मान भी हरि-कृपा ही है।

पचास-पचपन वर्षों तक मेरी सा-
हित्य-सेवा पर (राहुल जी तथा डा० राम
विलास शर्मा के अतिरिक्त) किसी ने
कुछ नहीं कहा। परन्तु इधर सन् ७८ के
आरंभ में वह मौन एकदम भंग हो
गया। और पचासों विद्वानों ने मेरे बा-
रे में, और मेरे चिन्तन के सम्बन्ध
में इतने लेख लिखकर यह महाग्रन्थ
तैयार कर दिया! जो हरि कहें वा सो रघु-
पति करहिं, सो तो हरि [illegible]

इस ग्रन्थ में जिन के आशीर्वाद मे-
रे लिए हैं, जिनके लेख हैं, उनके प्रति
हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। आचा-
र्य विष्णुनारायण प्रसाद मिश्र मेरे लिए
अग्रज हैं। उनको धन्यवाद क्या दूँ! डा०
राकेश को आशीर्वाद, साहित्य में बहुत
ऊँचे उठने के लिए।

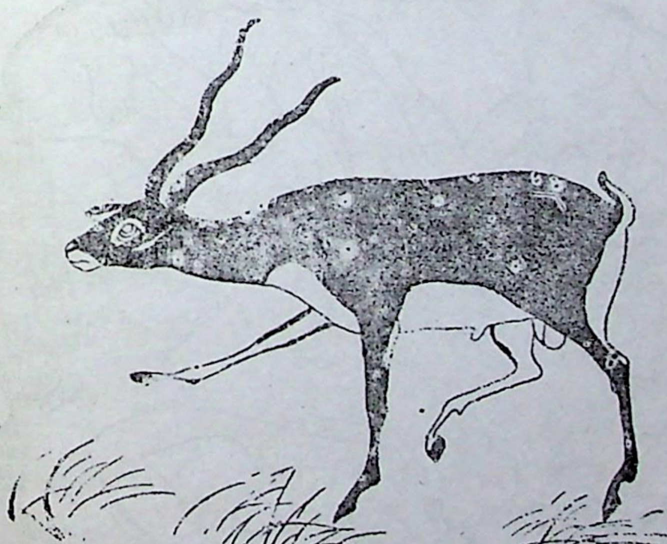
कनखल (उ० प्र०) किशोरीदास वाजपेयी
विजयादशमी ७८

सोम सुधा

डा० मुंशीराम शर्मा

ललित कलित कामा दक्षिणाङ्गी किशोरी।
विदित विरुद वामा कापि तस्याः सुदासः ॥
जयतु विदथवाची वाङ्मये वाजपेयः।
धृतिमति कृति पूर्णः पूज्य बन्धुः ममैकः ॥
शब्दानुशासने यस्य, वैदुष्यं स्वीकृतं बुधैः।
ब्रजभाषाधिपत्ये च, व्याकरणेऽप्यलंकृतः ॥
श्रद्धाभिनन्दने पुण्ये, सावधानश्च विप्रधीः।
निवेदयति वन्दनां, सोमस्तस्यानुजः प्रियः ॥
स्वातंत्र्ये स्वच्छन्द वाचि विनये माने सुधा साधने।
चारित्र्ये चन्द्रव चारुधवलं भूमौ यशो विस्तृतम्।
पाण्डित्ये पूतं गभीर गहनं वृत्तं द्विजैः लक्षितम्।
वार्धक्ये तारुण्य ताप जयिने भूरि प्रणामाः मम ॥

६।७०, आर्यनगर
कानपुर



सीतानिवास, का हि० वि०, बनारस--५ (२२१००५)
फर्वरी, २६, १९७८.

प्रियवर--सप्रेम नमस्कार,

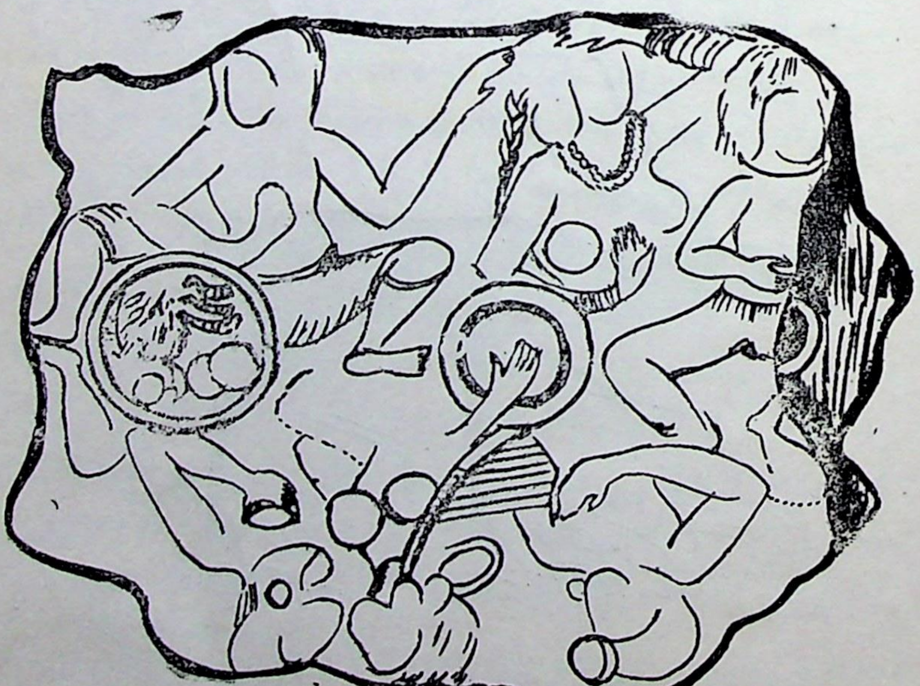
आप का कृपापत्र यथा समय प्राप्त हुआ था। उत्तर में विलंब के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ यह जानकर प्रसन्ता हुई कि आप आचार्य किशोरी दास जी का अभिनंदन कर रहे हैं।

मैं आचार्य जी को निम्नलिखित पंक्तियों द्वारा अपनी तुच्छ भेंट भेजता हूँ :

आर्य किशोरीदास जू
जुग जुग जीवहु आप।
हिन्दी उन्नति कार्य महँ
लगे रहो निस्ताप।

शेष कृपा।

भवदीय,
कृष्णदास
(राय कृष्णदास)



स्तवन

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी को,
मेरा शत-शत वंदन, शत-शत अभिनंदन।
हिन्दी का पाणिनि उन्हें भविष्य कहेगा,
हर हिंदी भाषी उनका ऋणी रहेगा।

डा० हरवंशराय बच्चन



पूजा-गीत

कैसे पूजूँ तुमको माली।
यह वन्दन अभिनन्दन करती, झुक झुक मेरी डाली डाली!
कैसे पूजूँ तुमको माली!

मैं तो थी सूखी फुलवारी,
सूखी थी सब क्यारी क्यारी,
नव घन बनकर सींचा तुमने,
दे नवरस जीवन संवारी,
फूले रसाल ले मदिर गंध, फूलों में थिरक उठी लाली।
कैसे पूजूँ तुमको माली।

तुमने जाना दिनरात नहीं
सायं जाना तो प्रात नहीं
तृण तृण कण कण में गला दिया,
अपना सोने सा गात यहीं,
पतझर में छाया नवबसन्त, शोभा अनन्त वैभवशाली।
कैसे पूजूँ तुमको माली!

जो मलयज में आनंद भरा,
जो सुमनो में मकरंद भरा,
मधुकर के मादक गुंजन में
मधु ऋतु का मोहक छंद भरा,
सर्वस्व तुम्हारा मधु सौरभ, कैसे साजूँ पूजन थाली।
कैसे पूजूँ तुमको माली।

सोहनलाल द्विवेदी

आचार्य पंडित किशोरीदास वाजपेयी
के श्रीचरणों में

आचार्य स्तवन

हे स्वतंत्रता समर के, महारथी बलवान् ।
कवि आलोचक युग पुरुष, वयोवृद्ध विद्वान् ।।
अपने युग के पाणिनी विप्र किशोरीदास ।
कृपा कौमुदी का करो, शशि सम सुखद प्रकाश ।।

एक बार लो फिर निरख, ब्रज भाषा की ओर ।
काव्य तरंगिणि में उठा, मधु-सी सरस हिलोर ।।
केवल भाषा शास्त्र के, एक मात्र आचार्य ।
निरुक्तकार हैं आपही, अपने युग के आर्य ।।

काव्य-शास्त्र या व्याकरण या भाषा विज्ञान ।
लगी न किस पर आपकी अमिट छाप द्युतिमान ।।
नयी पीढ़ियों पर करें, देव दया की दृष्टि ।
हरी भरी साहित्य की जिससे हो यह सृष्टि ।।

मिला रोष में भी हमें, प्रभो आपका प्यार ।
किन शब्दों में आपका, करें आज सत्कार ।।
मृदु भावों का आपको अर्पित है यह हार ।
दोष भुलाकर कीजिये, देव इसे स्वीकार ।।

फिर भी आती सूक्ति है, याद हमें यह एक ।
तुमसे तुम ही हो हमें, हमसे तुम्हें अनेक ।।
पद पद्मों में आपके, करके देव प्रणाम ।
मुझ किंकर की लेखनी लेती है विश्राम ।।

पण्डित कृष्णकुमार कौशिक

३६. दर्शनीद्वार
देहरादून



आचार्य श्री पं० किशोरीदास जी वाजपेयी

नव्य व्याकरण के तो भव्य पाणिनि हैं आप,
कालिदास कल्पना के प्रतिभा के भास हैं।
चारु चित्रकार आप चिन्तन चिरन्तन के,
वाणी वरदायिनी के विज्ञ वर व्यास हैं॥
नागरी गुणागरी के भवन की नींव हैं तो—
आधुनिक काल के सजीव इतिहास हैं।
कामना - किशोरी से उदास रहे सर्वदा ही,
पंडित किशोरीदास! किसी के न दास हैं॥

एक रूप एक रंग पूज्य हैं 'अजेय' आप,
हृदय से मान चुके दुःख को ही सुख हैं।
कितने उदय देखे कितने ही अस्त देखे,
देख चुके दुनिया के अच्छे बुरे रुख हैं॥
कितने ही ग्रंथ-रत्न आपसे उदित हुये।
कितने ही विद्या-निधे! उदयाभिमुख हैं।
व्याकरण होता है प्रमुख सर्वशास्त्र मध्य,
वैयाकरणों में आप सबसे प्रमुख हैं॥

अपने विचार में सतत ही अडिग रहे,
बहा नहीं पाया किसी धारा का प्रवाह है।
चाह नहीं रही कभी धन की न धाम की न,
भरा रहा हृदय में शुद्ध प्रेम-भाव है॥
तेरे में न मेरे में न, इसमें न उसमें न,
सबसे अलग अनुपम ही स्वभाव है।
भारती के मंच की है सरपंच पंच पुरी,
वाणी के विरंचि! यह आपका प्रभाव है॥

—सत्यव्रत शर्मा 'अजेय'

उपाचार्य, गुरुकुल महाविद्यालय,
ज्वालापुर

व्यक्तित्व खण्ड

आशीर्वाद

श्री वाजपेयी जी के सम्बन्ध में कुछ लिखने का आग्रह श्री राकेश जी का है, पर मेरे सामने कठिनाई यह है कि श्री वाजपेयी जी की मान्यता के अनुसार मुझे उनके लिए श्रीमान् सम्माननीय जैसे आदरसूचक शब्दों का प्रयोग कथमपि नहीं करना चाहिए। मुझे उनके लिए प्रिय, प्रेमास्पद आदि का प्रयोग करना चाहिए। अब अपनी मान्यता की सोचता हूँ तो एक ऐसे विद्वान् तपस्वी-वृद्धजन के लिए ऐसे सम्बोधनों का औचित्य प्रतीत नहीं होता।

अतः इनके संबंध में मेरा इतना ही कहना पर्याप्त है कि ऐसा निर्भीक, निस्पृह, तलस्पर्शी विद्वान् ब्राह्मण मिलना असम्भव नहीं तो कठिनतम अवश्य ही है। इन शब्दों के साथ आयोजकों को साधुवाद कर सपरिवार इनकी आयुष्यकामना करता हूँ।

देवाश्रम-मठ,
लार, देवरिया

चन्द्रशेखर गिरि
५-४-७८



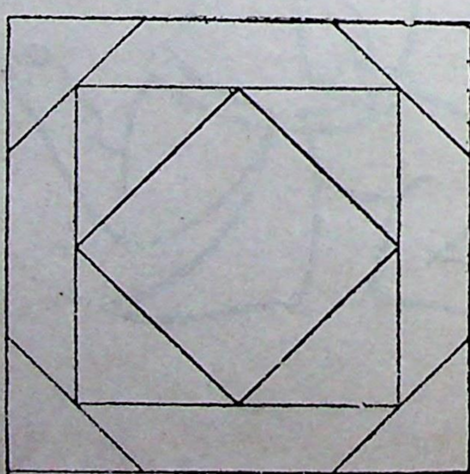
वाजपेयी जी चिरायु हों

महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

पं० किशोरीदास जी वाजपेयी से मेरा बहुत पुराना संबन्ध है। आप के साथ मेरे घनिष्ठ सम्बन्ध होने का एक कारण यह है कि आप विभिन्न विषयों की आधुनिक शैली की खोज में लगे हुए भी, जहाँ तक संभव हो सकता है, भारतीय प्राचीन संस्कृति के पक्षपाती रहे हैं और मैं भी यथासंभव प्राचीन संस्कृति के ही पक्ष में संलग्न रहा हूँ। बहुत पहले से वाजपेयी जी के विभिन्न विषयों पर मौलिक लेख मैं पढ़ता आ रहा हूँ। अभी कुछ दिन पूर्व जब आप कार्यवश कुछ दिन काशी नागरीप्रचारिणी सभा में रहे थे, तब बहुधा आप से मिलने का और बात-चीत करने का सौभाग्य मिलता रहता था।

आपका 'भारतीय भाषाविज्ञान' ग्रन्थ अभी हाल में ही प्रकाशित हुआ है। उसके अधिकांश का अवलोकन मैंने अत्यंत सावधानी से किया है। यद्यपि हिन्दी में भाषाविज्ञान पर बहुत से ग्रंथ निकल चुके हैं; परन्तु इस मौलिक कृति में बात ही कुछ और है। भारतीय भाषाओं का विवेचन भारतीय शैली पर हुआ है और उनका वर्गीकरण भी नवीन मौलिक ढंग से हुआ है। द्रविड़-आर्य-प्रकरण पर अभी तक भाषाविज्ञानियों ने जो कुछ लिखा है, वाजपेयी जी ने उसका निराकरण कर के अपना नया ही मत प्रकट किया है जिसका आधार बहुत सुदृढ़ है।

व्याकरण और भाषाविज्ञान की सीमा-रेखा भी आप ने बहुत स्पष्ट खींची है। भगवान् आपको स्वस्थ और चिरायु करें, जिससे कि हिन्दी को और रत्न मिल सकें।



अभिमान-मेरु आचार्य वाजपेयी

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

आज की दुनिया में कितना अन्धेर है, हमारे देश का सांस्कृतिक जीवन कितना नीचा है, इस सब का ज्वलन्त उदाहरण हमें पं० किशोरीदास जी वाजपेयी के साथ हुए और हो रहे बर्ताव से मालूम होता है। प्रतिभाएँ सभी क्षेत्रों में एवरेस्ट-शिखर नहीं होतीं परन्तु जब किसी क्षेत्र में किसी पुरुष का उत्कर्ष साबित हो गया, तो उसकी कदर करना और उससे काम लेना समाज का कर्तव्य है। आज बहुत थोड़े लोग हैं, जो पं० किशोरीदास जी को समझते हैं। उनमें भी बहुतेरे उनके अक्खड़ स्वभाव या अपनी ईर्ष्या से नहीं चाहते कि लोग इस अनमोल हीरे को समझें, इसकी कदर करें! इसका परिणाम यह हो रहा है कि हिन्दी उनकी सर्वोच्च देनों द्वारा परिपूर्ण होने से वंचित हो रही है और उन्हें लिखना पड़ रहा है—'मैं क्या गर्व करूँ! गर्व प्रकट करने योग्य चीजें अभी तक दे ही नहीं पाया हूँ!' वाजपेयी जी पाँच बड़ी-बड़ी जिल्दों में हिन्दी को निर्वचनात्मक कोश दे सकते हैं; पर उसकी जगह वे 'हिन्दी निरुक्त' के रूप में उसकी भूमिका भर ही लिख सके हैं। वे हमें 'हिन्दी का महाव्याकरण' दे सकते हैं, पर हमने यदि उनके प्रति ऐसी ही उपेक्षा दिखाई, तो 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' से ही सन्तोष करना पड़ेगा; यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि उक्त व्याकरण बिलकुल अपूर्ण है।[1]

वाजपेयी जी किन विषयों पर अधिकार पूर्वक लिख सकते हैं, इसके बारे में उन्होंने स्वयं लिखा है—"(१) काव्य के तत्त्व, रस, अलंकार, शब्द-शक्ति आदि। (२) हिन्दी का व्याकरण। (३) निरुक्त। (४) काव्य के रहस्यवाद आदि 'वाद'। (५) हिन्दी साहित्य का इतिहास। (६) कांग्रेस-युग का राजनैतिक इतिहास। (७) धर्म-विवेचन। (८) शब्द-शिल्प। प्रायः इन सभी विषयों के नमूने मैं दे चुका हूँ। अब यह देश पर अवलंबित है कि मुझ से कोई काम ले, या न ले।"

इन सभी विषयों पर अपने विशाल ज्ञान और सूझ के कारण कितनी ही नई और मौलिक चीजें वे दे सकते हैं, इसमें संदेह नहीं; पर जिन दो विषयों में उनके समकक्ष इस समय हिन्दी में कोई नहीं है, वे हैं व्याकरण और निरुक्त। उनका यह लिखना बजा है कि "कोई मुझे गाली न दे कि वह इस विषय पर लिख सकता था; पर कम्बख्त साथ ही सब लेकर मर गया।" वाजपेयी जी को लोग गाली न देंगे; बल्कि आज के हिन्दी वालों को गाली देंगे। और विषयों पर काफी लिखा गया है; लिखने की क्षमता और रुचि रखनेवाले लोगों की शायद कमी भी नहीं है। पर उपर्युक्त दोनों विषय (व्याकरण

---

१. सौभाग्य से अब 'हिन्दी शब्दानुशासन' नाम से हिन्दी का महाव्याकरण छप चुका है।

और निरुक्त) अभी पूरी तरह अवगाहन नहीं किए जा सके हैं। ये केवल परिश्रम-साध्य ही नहीं हैं, इन के लिए प्रथम श्रेणी की प्रतिभा और साथ ही गंभीर अध्ययन की जरूरत है।

प्रतिभा का प्रथम परिचय

पंजाब में १९१९ के मार्शल-ला के दिनों के एक सप्ताह पहले लाहौर में पंजाब-विश्वविद्यालय की सर्वोच्च संस्कृत परीक्षा हुई थी, जिसे पास करने पर 'शास्त्री' पद प्राप्त होता था। इन पंक्तियों का लेखक भी डी०ए० वी० कालेज (लाहौर) से भेजे गए परीक्षार्थियों में से एक था। परीक्षा का परिणाम उस साल कैसा रहा--परीक्षा कितनी कठिन थी--यह इसी से मालूम होगा कि हमारे कालेज से भेजे गए लगभग एक दर्जन विद्यार्थियों में में से एक भी पास न हुआ ! मैं घर के इम्तहान में प्रथम आया था और विश्वविद्यालय-परीक्षा में चारो खाने चित्त होने वालों में भी प्रथम था। मार्शल-ला के समय में ही परिणाम निकला और इस वर्ष की इस 'शास्त्री'-परीक्षा में सर्वप्रथम आने वाले छात्र का नाम था--किशोरी दास। सभी विद्यार्थियों के मन में जिज्ञासा थी कि 'शास्त्री'-परीक्षा के हत्याकाण्ड में यह असाधारण सफलता-प्राप्त कौन है ! हमें यही मालूम हो सका कि वह वृन्दावन का एक वैष्णव साधु है। उस समय हम यही आशा रखते थे कि किशोरीदास पुराने विचारों का, पगडंडी पर चलने वाला, हमारे सैकड़ों संस्कृत के विद्वानों में से एक होगा। उस समय हम उसी युग में थे, जब कि संस्कृत के विद्वान् भी हिन्दी को उसी दृष्टिकोण से देखते थे, जैसे हिन्दू-आंग्लियन लोग गँवारों और असंस्कृतों की श्रद्धा भाजन भाषा को, जिसमें पढ़ने और सुनने लायक कुछ भी नहीं ! अब भी उन लोगों के नाम-लेवा खत्म नहीं हुए हैं। हाँ, अब उनकी बातें एक मनोरंजक उपहास की चीज भर हैं और वे अधिकतर उर्दू वालों के मुँह से सुनने में आती हैं।

हिन्दी की सार्वभौम सत्ता

किशोरीदास को मथुरा-वृन्दावन के वैरागियों के सम्पर्क से ही हिन्दी (ब्रजभाषा) कविता के साथ परिचय प्राप्त करने का अवसर मिल सकता था; पर उसके प्रति आदर तभी हो सकता था, जब कि संस्कृत के पंडितों को वैसा करते देखते। यह काम उनके लिए मधुसूदन गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाचरण गोस्वामी जैसे हिन्दी के स्वनामधन्य युग-पितामहों ने किया। वाजपेयी जी अपने संस्मरणों में लिखते हैं--"श्री किशोरीलाल गोस्वामी से इसलिए झगड़ बैठा था कि मेरे एक वाक्य में 'दश प्रकार की भक्ति' के 'दश' को काटकर 'दस' गलत क्यों कर दिया गया। गोस्वामी जी उस समय (सन् १९१६ ई० में) मुस्कुरा कर केवल इतना बोले थे कि "हिन्दी में 'दश' की जगह 'दस' ही चलता है; यह सब आगे मालूम हो जाएगा।" यह देखने में छोटी सी बात किशोरीदास जी के लिए बड़ी जबर्दस्त शिक्षा थी। वे समझने लगे थे कि हिन्दी एकदम संस्कृत की चेरी नहीं है और इसलिए इसपर हर समय संस्कृत व्याकरण लादने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। संस्कृतज्ञ हिन्दी लेखक अब भी इस धींगामुश्ती से बरी नहीं; बाज नहीं आते ! वस्तुतः इस दृष्टिकोण को छोड़े बिना ये लोग अनेक हिन्दी-शब्दों

का ठीक से निर्वचन नहीं कर पाते। जब हिन्दी-शब्दों से सामना पड़ता है, तो यह नहीं समझ पाते कि हम संस्कृत-सार्वभौम के किसी छोटे-मोटे माण्डलिक के सामने नहीं खड़े हैं। हिन्दी अपने क्षेत्र में स्वयं सार्वभौम सत्ता रखती है और यहाँ उसके अपने नियम-कानून लागू होते हैं। हिन्दी में तत्सम (संस्कृत के) शब्द आते हैं, वे संस्कृत की नहीं, यहाँ हिन्दी की प्रजा हैं और इसलिये हर समय संस्कृत-व्याकरण के कानून की दुहाई नहीं देनी चाहिए। किसी संस्कृत के पंडित से यह आशा करना मुश्किल है।

इसका यह अर्थ नहीं कि वाजपेयी जी को इसके लिये अपने संस्कृत के ज्ञान को भुलाने की जरूरत पड़ी। संस्कृत-व्याकरण और निरुक्त के आचार्यों ने धूप में अपने केश सफेद नहीं किए थे। उन्होंने अपने व्यापक अध्ययन और पर्यवेक्षण द्वारा कितने ही ऐसे नियमों का आविष्कार किया था, जो हर काल और हर भाषा के लिए आम तौर से तथा हिन्दी के लिए खास तौर से उपयोगी हैं। अपनी सवा सौ पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तक 'हिन्दी निरुक्त' में यास्क के बतलाए नियमों का वाजपेयी जी ने बड़े चमत्कारी रूप में इस्तेमाल किया है। यह सभी जानते हैं कि पुराने अकाट्य नियमों का भी प्रयोग नई परिस्थिति में करना साधारण आदमी का काम नहीं है। पर वाजपेयी जी केवल पुरुखों की देनों से ही सन्तुष्ट रहने वाले पुरुष नहीं हैं। अवधी-पांचाली के वे सुपुत्र हैं तथा 'व्रज' और 'कौरवी' (खड़ी बोली) की भूमि में चिर तथा एकान्त निवास के समय उन्होंने जन-मुख से निकले शब्दों को साधारण श्रोता के तौर पर नहीं सुना। उनके मनन का ही परिणाम है कि वे हिन्दी की सात पीढ़ी तक की नब्ज पहचानते हैं। पुराने शास्त्र-वाक्यों और आज की जीवित शब्द-राशि की सहायता बिना हिन्दी का व्याकरण तथा निरुक्त पूर्ण रूप से निष्पन्न नहीं हो सकते। व्याकरण और निरुक्त बड़े ही नीरस विषय हैं; पर वाजपेयी के हाथों में पहुँचकर वे कितने रोचक हो जाते हैं; यह उनके ग्रंथों को पढ़नेवाले भली भाँति जानते हैं।

व्याकरण, निरुक्त और रस के भी पहलवान

मैंने वाजपेयी जी को व्याकरण और निरुक्त (भाषा-तत्त्व) के आचार्य के तौर पर ही यहाँ पाठकों के सामने रखा है; पर वे साहित्य-शास्त्र के भी आचार्य हैं। पंडित शालग्राम शास्त्री अपने समय के माने हुए संस्कृत के विद्वान् थे। वे अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष पद को भी अलंकृत कर चुके थे। उनका हिन्दी पर भी कुछ छोह था, जिसका प्रमाण संस्कृत 'साहित्य-दर्पण' पर उन की हिन्दी में 'विमला' टीका है। शास्त्री जी ने अपनी टीका में पुराने आचार्यों की बहुत कठोर आलोचना अभद्र भाषा में की थी। वाजपेयी जी ने उसे पढ़ कर टीका के सुन्दर होने की दाद दी; पर साथ ही उनकी खूब खबर लेते हुए कहा --"खण्डन स्वर्गीय साहित्यकारों की कृतियों का कीजिए; पर उनके लिए शब्द-प्रयोग तो शिष्टजनोचित चाहिए।" इस प्रसंग में 'विमला' की कठोर आलोचना वाजपेयी जी ने की, जो लेखमाला के रूप में बहुत दिनों तक 'माधुरी' में निकलती रही। शालग्राम शास्त्री और उनके अभिन्नहृदय मित्र पं०

पद्मसिंह शर्मा उससे बहुत तिलमिलाए ! जवाब में दो-तीन लेख भी लिखे लिखाए; पर वाजपेयी जी के तर्क-प्रहारों का उनके पास जवाब न था !

इस प्रकार स्पष्ट है कि वाजपेयी जी रस और अलंकार के अखाड़े में भी भारी पहलवान हैं । असहयोग के जमाने में असहयोगी किशोरीदास जी ने 'रस और अलंकार' नाम से एक पुस्तक लिख डाली, जिसके स्वरचित सारे उदाहरण देशभक्ति और स्वातंत्र्य-प्रेम से इतने ओत-प्रोत थे कि पुस्तक छपते ही बंबई सरकार ने उसे जब्त कर लिया ।

सो, वाजपेयी जी साहित्य-शास्त्र के भी आचार्य हैं ; इसमें संदेह नहीं । इसका और स्पष्ट प्रमाण पं० पद्मसिंह शर्मा के 'संजीवन भाष्य' पर आलोचनात्मक उनकी लेखमाला है, जो 'बिहारी सतसई और उसके टीकाकार' शीर्षक से 'माधुरी' तथा 'गंगा' में बहुत दिन तक छपती रही । वाजपेयी जी पर 'वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि' सूक्ति पूरी तौर पर चरितार्थ होती है । पं० पद्मसिंह शर्मा का खूब खंडन चल ही रहा था कि उन (पं० पद्मसिंह शर्मा) का निधन हो गया ! तब तुरन्त वाजपेयीजी ने तार भेजकर आगे लेखमाला का छपना रोक दिया और बचा अंश वापस मँगा कर नष्ट कर दिया; यह कह कर कि "जब सुननेवाला ही न रहा, तो बात कहने का फल क्या !" इस समय वाजपेयी जी ने शर्मा जी के प्रति जो अपनी श्रद्धाञ्जलि लेख के रूप में प्रकट की थी, उससे उनके हृदय की स्थिति कितनी उद्विग्न प्रकट होती है ! आज वाजपेयी जी प्यालों से नहीं, लोटों से सबेरे चाय पीते हैं और उस समय एक टीस के साथ कह उठते हैं--"शर्मा जी मुझे चाय पीना सिखा गए ।"

हर एक असाधारण प्रतिभाशाली पुरुष में कुछ ऐसी विलक्षणता या विशिष्टता भी होती है, जिसे सभ्य गुणग्राही समाज को बर्दाश्त करने के लिए तैयार रहना पड़ता है । यह कोई महँगा सौदा नहीं है; क्योंकि थोड़ी-सी नाजबरदारी करके आप उससे बहुमूल्य वस्तु प्राप्त कर सकते हैं । प्रतिभाएँ 'सात खून माफ' वाली श्रेणी में होती हैं । पावलोफ् लेनिन को तथा सभी बोलशेविकों को हमेशा गालियाँ सुनाता था, जब कि बोलशेविक अभी-अभी अधिकारारूढ़ हुए ही थे । लेकिन लेनिन उसकी सारी कटूक्तियों को हँसकर टाल दिया करते थे और वे कहते थे पावलोफ् जीवन और मनोविज्ञान के ऐसे तत्वों और तथ्यों का आविष्कार कर रहा है, जो मार्क्सवादी भौतिकवाद के जबर्दस्त समर्थक हैं । यह प्रतिभाओं की कदरदानी, उनकी नाजबरदारी और सब तरह से उनकी सेवा की भावना ही है, जिसके कारण बोलशेविक आज ज्ञान-विज्ञान में दुनिया के अगुआ हैं ।

यहाँ किशोरीदास वाजपेयी के जीवन में हम क्या पाते हैं ? उन्हें साहित्यिक जीवन के अपने पिछले तीस-पैंतीस साल चिन्ता और आर्थिक संघर्षों में बिताने पड़े हैं ! भला, जो नून-तेल-लकड़ी की चिन्ता से परेशान हो, वह सरस्वती की एकान्त साधना निश्चिन्त होकर कैसे कर सकता है ? पर आश्चर्य है कि इतने पर भी कई अनमोल पुस्तकें उन्होंने हमें दी हैं ! हिन्दी-साहित्य के कितने ही विषय हैं, जिन पर खुलकर लिखने के अधिकारी उनके जैसे नहीं हैं । "इसे सार्वजनिक रूप से प्रकट की गई मेरी सफाई या वसीयतनामा समझ सकते हैं" अपनी सफाई में उन्हों ने कबूल किया है कि

"यह गर्व बहुत करता है" पर "गर्व की भावना प्रकृति या भगवान् ने पैदा की है।" "इस व्यक्ति का झगड़ालूपन ही वैसी असफलता का कारण" है।[1]

'गर्व करता है' 'झगड़ालू है' आदि कह कर हम किशोरीदास जी जैसी प्रतिभाओं की उपेक्षा करके आनेवाली पीढ़ियों के सामने मुँह नहीं दिखा सकते! किशोरीदास जी यदि चुपचाप वैसे ही चले जाते, जैसे बालू की पद-रेख, तो दूसरी बात होती; पर उन्होंने जो थोड़ी सी चीजें हमें दी हैं, वे उनकी असाधारण प्रतिभा का परिचय देंगी और फिर कैसे हम--उनके समकालीन लोग--अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो सकेंगे? इस प्रसंग में हमें दसवीं सदी के (अपभ्रंश के) महान् कवि पुष्पदन्त याद आते हैं। वे भी उन्हीं दुर्गुणों के शिकार थे, जिन के हमारे वाजपेयी जी हैं। पुष्पदन्त परिवार-मुक्त थे, यह उनके पक्ष में अच्छी बात थी। पुष्पदन्त अपने नाजबरदार मंत्री भरत के पास अपने पहुँचने का वर्णन करते हैं:--

".......। महि परिभमन्तु नेपाडि नयरु।
अवहेरिय खल यणु गुण-महन्तु,
दियहेहिपराइयु पुप्फयंतु।
दुग्गम दीहरपथेण रीणु,
णवयंतु जेम देहेण खीणु।"

धूलि-धूसरित, थके-माँदे, कृश शरीर पुष्पदन्त को देखकर मंत्री ने पूछा--'आप क्यों किसी सुन्दर विशाल नगर में नहीं प्रवेश करते? जवाब में 'अभिमानमेरु' पुष्पदन्त ने कहा--

"तं सुणिवि भणई अहिमाण-मेरु,
बरिखज्जइ गिरिकन्दरकसेरु।
णउ दुज्जण-भउँहा-बंकियाइं,
दीसन्तु कलुस-भावंकियाइं।"

धनियों और सामन्तों की नाजबरदारी करने की जगह पुष्पदन्त ने गिरिकन्दरा में कसेरू खाकर कानन-शरण लेना पसंद किया था। वाजपेयी जी भी 'अभिमान-मेरु' हैं। वे भी पुष्पदन्त के मार्ग को पकड़ सकते थे; पर परिवार की जिम्मेदारी जो सिर पर है। इस से भी बढ़कर वे, अपनी प्रतिभा के मूल्य को समझते हुए, हिन्दी को अपनी देनों से समृद्ध करने की तीव्र लालसा रखते हैं; इस लिए बहुत पहले छोड़ आए पुष्पदन्त के मार्ग को अपना कैसे सकते हैं! और कुछ नहीं, तो लेखक को अपने काम की पुस्तकों की तो आवश्यकता होती ही है। एक आवश्यक पुस्तक के बारे में उन्होंने (ता० २६-७-५४) को लिखा है--"बहुत दिनों से मँगाने की इच्छा थी; पर इतने पैसे बचा ही न पाया।" कैसी बिडम्बना है!

क्या यह दुनिया एक क्षण के लिए भी बर्दाश्त करने के लायक है, जिसमें अनमोल प्रतिभाओं को काम करने का अवसर न मिले और ऐरे-गैरे नत्थू खैरे गुलछर्रे उड़ाते राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मंच पर अपना नाच दिखाएँ?

---

१. 'साहित्यिक जीवन के अनुभव और संस्मरण'।

आचार्य वाजपेयी जी की एक कृति—भारतीय भाषाविज्ञान

आचार्य वाजपेयी हिन्दी के व्याकरण और भाषाविज्ञान पर असाधारण अधिकार रखते हैं। मानो इन्हीं दोनों विद्याओं के लिए पैदा हुए हैं। यद्यपि कुछ मजबूरियों के कारण वे इस विषय का अपना सम्पूर्ण ज्ञान यहाँ नहीं दे सके पर जो दिया है, वही बहुत बड़ी चीज है और आशा रखनी चाहिए कि बृहद् 'भारतीय भाषाविज्ञान' भी हमारे सामने आएगा। शब्द सभी के कानों में पड़ते हैं; पर उनके तत्व को समझनेवाले सभी के कान नहीं होते। मेरा बस चलता, तो वाजपेयी जी को अर्थचिन्ता से मुक्त करके, उन्हें सभी हिन्दी (आर्यभाषावाले) क्षेत्रों में शब्दसंचय और विश्लेषण के लिए छोड़ देता। उनपर कोई निर्बन्ध (कार्य की मात्रा का) न रखता। जिसके हृदय में स्वतः निर्बन्ध है, उसे बाहर की निर्बन्ध के आवश्यकता नहीं।

आधुनिक भाषाविज्ञानियों को यहाँ कुछ बातें खटकनेवाली भी मिलेंगी; यद्यपि उनकी संख्या बहुत नहीं है। मैं स्वयं भी कुछ विचारों से सहमत नहीं हूँ; पर इससे ग्रंथ का मूल्य कम नहीं होता। उन्होंने इतने अधिक परिमाण में यहाँ ठोस प्रामाणिक सामग्री दी है, जिसके लिए हमें कृतज्ञ होना ही पड़ेगा। वाजपेयी जी लीक पर चलनेवाले पुरुष नहीं हैं, यह भी समझ लेना चाहिए। आज छायावाद ने हमारे साहित्य में स्थायी स्थान बना लिया है; कम से कम 'वाद' के रूप में; पर वाजपेयी जी अभी भी उसके संबंध में अपने पुराने विचारों पर डटे हुए हैं। छायावाद अपना कार्य कर चुका है; इस अर्थ में वाजपेयी जी को संतुष्ट होने की गुंजाइश भी है।

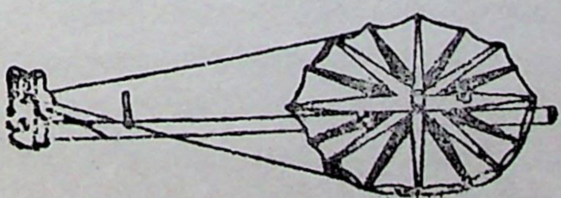
यह ग्रंथ बहुत ही विचारोत्तेजक है, इसमें कोई संदेह नहीं। ग्रंथकर्ता ने अपने भाषा संबंधी विशेष ज्ञान एवं सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि से काम लेते हुए बहुत से ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं, जिनसे आधुनिक (पाश्चात्य पद्धति का) भाषाविज्ञान भी असहमत नहीं हो सकता। वर्तमान भाषाओं की तुलनात्मक विवेचना में वाजपेयी जी ने अपने कौशल का अच्छा परिचय दिया है। ऐतिहासिक विकास के ऊपर भी यहाँ प्रकाश डाला गया है; पर विस्तार से बचने के लिए वे 'अपभ्रंश'-जैसी (हमारे काल में समीप की) भाषा पर उतना प्रकाश नहीं डाल पाए। बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा में सदा और सभी देशों में अन्तर होता है; इस तत्व को समझाते हुए वे वैदिक भाषा को भी अपवाद नहीं मानते। इसी सूत्र को खींचते हुए वे कहते हैं कि शब्दों के आदि में आनेवाले 'ण'-जैसे वर्णों का प्रयोग भी कृत्रिम है; 'साहित्य-समय' मात्र है। आज की पश्चिमी (हिन्दी-क्षेत्र की) भाषाओं में 'खाणा'-'पीणा' जैसे सैकड़ों शब्दों में णकार का बाहुल्य है; पर वह शब्द के आदि में नहीं आता। यह बाहुल्य कदाचित् द्रविड़ भाषा का प्रभाव है। पर, यह देखना है कि द्रविड़ भाषाओं में कभी और कहीं शब्द के आदि में भी णकार आता है, या नहीं। वाजपेयी जी की विवेचना कितनी विचारोत्तेजक है, इसका यह एक प्रमाण है।

वाजपेयी जी ने आठ अध्यायों में संक्षेप से भाषाविज्ञान पर प्रकाश डाला है।

देश और काल दोनों में भाषा का विकास हुआ है। दोनों में व्यापक ज्ञान और अनुभव होने पर ही कोई लेखक अपने विषय के साथ न्याय कर सकता है। वाजपेयी जी में ये दोनों ही गुण हैं। साथ ही सनातनी होने पर भी विद्या के संबंध में उनकी कट्टरता उल्टा रास्ता नहीं पकड़ती। यह तो इसी से मालूम होगा कि वेद-काल में भी, वेद की भाषा से पृथक् एक तत्कालीन 'प्राकृत' भाषा वे मानते हैं। इस विषय को उन्होंने छुआ मात्र है; पर इसके भीतर और जाने की आवश्यकता है। यह उनके उल्लेख से ज्ञात होता है। ग्रंथ-कर्ता ने प्राकृतों का एक स्वतंत्र वर्गीकरण किया है। उनके अनुसार 'प्रथम प्राकृत' वेद-कालीन प्राकृत थी। दूसरी प्राकृत 'पालि' और प्रसिद्ध 'प्राकृत' तथा तीसरी प्राकृत 'अपभ्रंश'। आधुनिक विज्ञानी भी प्राकृतों में पाली को सम्मिलित करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि भाषा के नाम पर 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग पालि-काल में हुए 'महाभाष्य'-कार पतंजलि भी करते हैं। पर यह वह समय है, जब कि 'अपभ्रंश' या 'प्राकृत' शब्द भाषा विशेष के नाम के तौर पर रूढ़ नहीं हुए थे। 'अपभ्रंश' का अर्थ यौगिक लिया गया था; अर्थात् जो भाषा व्याकरण और उच्चारण में संस्कृत से भ्रष्ट हो। 'प्राकृत' शब्द उस भाषा के लिए रूढ़ हुआ, जो ईसवी सन् के आरंभ से छठी सदी के मध्य तक (अश्वघोष और दंडी के थोड़ा पहिले तक) बोली जाती थी। उसके बाद की भाषाएँ 'अपभ्रंश' नाम से जानी जाती हैं और 'प्राकृत' से भी पहले की भाषाएँ 'पालि'-समुदाय में आती हैं। 'प्राकृत' भाषाओं के समुदाय का नाम है; यह सर्वविदित है। पालि-काल में 'प्राकृत' का अस्तित्व नहीं हो सकता; न प्राकृत काल में 'अपभ्रंश' का। हाँ, प्राकृत काल में या अपभ्रंश काल में भी पालि में साहित्य रचा जा सकता था। आज भी सिंहल, वर्मा, स्याम आदि में ऐसा किया जाता है। बोल-चाल की भाषा के तौर पर ये भाषाएँ एक दूसरे के पश्चात् अस्तित्व में आईं। प्राकृत-कालीन कालिदास की कृति में 'अपभ्रंश' का पद्य आना उसके क्षेपक होने को ही सिद्ध करता है।

देश के अनुसार आज की भाषाएँ कैसे भिन्न भिन्न रूपों में विकसित हुई हैं, इसका विवेचन ग्रंथकार ने पाँचवें और छठे अध्यायों में किया है। इसमें शक नहीं कि ये अध्याय स्वयं एक-एक ग्रंथ के विषय हैं, जिन्हें लिखने का अधिकार वाजपेयी जी रखते हैं; पर आज की परिस्थिति उन्हें ऐसा अवसर देगी, इसमें सन्देह है।

मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि ग्रन्थ के कुछ सिद्धान्तों से लोगों का मतभेद होगा; पर ऐसे स्थल बहुत कम हैं। हमें 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' की बात नहीं भूलनी चाहिए। वाजपेयी जी भारतीय भाषा-विज्ञान के प्रथम मुनि हैं। उत्तर-मुनि भी आएँगे, जो प्रथम मुनि के कंधे पर खडे होकर और ऊपर उठेंगे। एक आधार मिल गया है।



पण्डित किशोरीदास जी वाजपेयी : व्यक्तित्व और कृतित्व

डा० रामधारी सिंह 'दिनकर'

एक मुसकान ऐसी भी होती है जो केवल प्रसन्नता की ही सूचना नहीं देती, उसके भीतर एक प्रकार का आत्मविश्वास भी दमकता है, उसके पीछे से कोई हलका-सा व्यंग्य भी झलक मारता है। पण्डित किशोरीदास जी वाजपेयी के होठों पर ऐसी मुसकान आप अक्सर देख सकते हैं। सच पूछिये तो इस मुसकान के सिवा वाजपेयी जी के व्यक्तित्व की और कोई दृश्य विशेषता मेरी पकड़ में नहीं आयी है। आदमी सीधे-सादे और आडम्बरहीन हैं। उनके पहनावे-ओढ़ावे और रहन-सहन में ऐसी कोई बात नहीं है जो उन्हें गाँव के लोगों से अलग कर सके। तब भी, विख्यात वे अपनी सादगी के लिए नहीं हैं। हिंदी संसार उन्हें तार्किक के रूप में जानता है, शास्त्रार्थी और भाषा के आचार्य के रूप में जानता है और अनेक लोग, प्रसन्न अथवा अप्रसन्न होकर, उनके अस्तित्व को इसलिए स्वीकार करते हैं कि वाजपेयी जी में वह कठोर सत्यप्रियता और निर्भीकता कूट कूट कर भरी है जिसे यह देश निःस्व ब्राह्मण का सर्वस्व समझता आया है।

साहित्य-दर्पण की विमला टीका और पं० पद्मसिंह शर्मा के संजीवन भाष्य को लेकर जिन दिनों वाजपेयी जी सारे साहित्य-संसार में हलचल मचा रहे थे, उन दिनों साहित्य की दुनिया में हम लोगों की आँख ठीक से नहीं खुली थी। तब भी इतना तो हमारी पीढ़ी को भी महसूस हो गया था कि पण्डित किशोरीदास जी वाजपेयी साहित्य के उद्‌भट विद्वान् हैं और जिसकी भी, होश हवास के साथ साहित्य में काम करने की, इच्छा हो, उसे वाजपेयी जी के निबन्धों को ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए। बाद को वाजपेयी जी ने साहित्य का व्याकरण समझाना छोड़ कर भाषा का व्याकरण समझाना आरंभ किया और इस क्षेत्र में पदार्पण करते ही वे व्याकरण के आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हो गये।

इन बातों के हो जाने के बहुत बाद, यानी जब हम लोग वायपेयी जी की कीर्त्ति से खूब प्रभावित हो चुके थे तब शायद, १९४९ या १९५० ई० में मैंने पहले पहल उनके दर्शन पटने के श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के प्रांगण में किये जब वाजपेयी जी अपने सम्मान में आयोजित साहित्यिकों की एक गोष्ठी में भाषण दे रहे थे। वाजपेयी जी के ठीक शब्द तो मुझे याद नहीं हैं, लेकिन और बातों के साथ उन्होंने यह भी कहा था कि रहस्यवाद नकली काव्य होता है। उनके ध्यान में शायद प्रेमाख्यान के माध्यम से रहस्यवाद निरूपित करनेवाले कवियों का काव्य था। दूसरी बात उन्होंने यह भी कही थी कि हिन्दी में पूछ केवल कवियों की होती है, अन्य लेखकों और विद्वानों की ओर लोगों का ध्यान बहुत कम जाता है। वाजपेयी जी के शब्द मुझे याद नहीं हैं, किन्तु, अपनी प्रतिक्रिया मुझे याद है। रहस्यवादी परंपरा का विरोध बहुत से बुद्धिवादियों ने किया है, इसलिए, मैंने समझा, वाजपेयी जी सुलझे मस्तिष्क के बुद्धिवादी चिंतक हैं। किन्तु कवियों

की कीर्ति से जलने की बात मुझे अच्छी नहीं लगी। व्याकरण, निरुक्त, भाषाविज्ञान और अलंकारशास्त्र जैसे गंभीर विषयों में दक्षता का परिचय देनेवाले विद्वान् यदि जन-साधारण के बीच प्रसिद्ध होना चाहें तो गहन विद्याओं के लिए यह शुभ सूचना नहीं है। जो पंडित आज कवियों की कीर्ति से जलता है, वह आगे चलकर नरगिस और राज-कपूर की कीर्त्ति को भी काव्य मान सकता है। तो क्या वैयाकरण और निरुक्तकार को उसी प्रकार लोकप्रिय होना चाहिए जैसे कवि, गायक और अभिनेता हुआ करते हैं ?

मेरा ख्याल है, वाजपेयी जी कवियों की श्रेणी में बैठ कर संतोष नहीं पायेंगे क्योंकि जो शास्त्रज्ञ हैं, वे कवियों को शास्त्रभ्रष्ट समझते हैं, शास्त्रेषु भ्रष्टाः कवयो भवन्ति। और यह भी ठीक है कि कवियों और अभिनेताओं की कीर्त्ति से उन्हें ईर्ष्या नहीं है। तब भी रह-रह कर वे उस भाषा में, जिसे डाक्टर हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने 'धक्कामार' कहा है, हिन्दी वालों को यह बताने से बाज नहीं आते कि तुमने मेरा साहित्य ठीक से नहीं पढ़ा।

और, दुर्भाग्यवश, यह आक्षेप बिलकुल ठीक है। पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के बाद हिन्दी भाषा के संस्कार की जितनी चिन्ता वाजपेयी जी को रही है, उतनी चिन्ता किसी और विद्वान को नहीं रही। उनके द्वारा विरचित 'ब्रज भाषा का व्याकरण' नामक ग्रन्थ को पण्डित अम्बिकाप्रसाद जी वाजपेयी ने हिन्दी के व्याकरणों का व्याकरण बताया था, किन्तु, उस व्याकरण का सम्यक् प्रचार नहीं हुआ। 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण', 'हिन्दी निरुक्त', 'अच्छी हिन्दी' और 'अच्छी हिन्दी का नमूना' ये छोटे छोटे ग्रन्थ भी इतने उपयोगी हैं कि उनका प्रचार हो तो हिन्दी-भाषा में दुष्प्रयोगों की बाढ़ रुक जाय। किन्तु ये ग्रन्थ छात्रों के बीच पहुँचाये नहीं जाते जहाँ ढेर के ढेर नौजवान शुद्ध भाषा लिखने का अभ्यास कर रहे हैं। वाजपेयी जी ने बार बार यह शिकायत की है कि हिन्दी के प्राध्यापक और वैयाकरण लोग उनकी पुस्तकों के अंश अपनी पुस्तकों में छाप देते हैं, किन्तु, सौजन्य के हित में इतना भी नहीं करते कि मूल चिन्तक का नामोल्लेख कर दें। एक विचित्र बात यह भी हुई कि जब 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' प्रकाशित हुआ, एक बहु-प्रशंसित पत्र ने उसकी आलोचना करते हुए यह बात लिख दी कि "प्रारंभिक श्रेणियों के लिये यह व्याकरण लिखा गया है, पर क्लिष्ट हो गया है।" कोई आश्चर्य नहीं कि वाजपेयी जी की फटकार ज्यादातर उन्हीं को सुननी पड़ी है जो भाषा के अग्रणी आचार्य हैं।

यदि कामचलाऊ ज्ञान के लिए सीखी जाय तो हिन्दी से अधिक आसान और कोई भाषा नहीं है। किन्तु उसके मुहाविरों और प्रयोगों में दक्षता पानेवाले लोग बड़े लेखकों में भी बहुत कम हैं। दाग ने उर्दू के बारे में कहा था—

नहीं सहल अय दाग, यारों से कह दो
कि आती है उर्दू जबां आते-आते।

और वही बात हिन्दी पर भी लागू होती है। फर्क यह है कि उर्दू में अभी हाल तक यह परंपरा थी कि शब्दों या मुहाविरों का कोई यदि दूषित प्रयोग करे तो साहित्य में बावेला मच जाता था, किन्तु हिन्दी में यह परंपरा केवल तभी तक रही जब तक आचार्य द्विवेदी

कार्यक्षेत्र में विद्यमान थे। उनके बाद से स्थिति दिनोंदिन बिगड़ती गयी है, यहाँ तक कि अब कोई भी किसी को अपना गुरु या पथ-प्रदर्शक मानने को तैयार नहीं है। इस स्थिति को और लोग चाहे चुप रह कर बर्दाश्त कर लें, श्री किशोरीदास जी उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते। किन्तु, जब वे देखते हैं कि उनके बराबर प्रयत्न करने पर भी हिन्दी के प्राध्यापक और विद्वान वाजपेयीजी की पुस्तकों की उपेक्षा करते हैं तब उनका मन खट्टा हो जाता है। 'साहित्य मैं वानप्रस्थ-आश्रम में पहुँचकर दूँगा'', "अब मैं साहित्य लिखना छोड़कर चाय की दूकान करूँगा'', ये भी धक्कामार नारे हैं जिन्हें हिन्दी वालों को सुना कर वाजपेयी जी यह कहना चाहते हैं कि मुझसे जो काम लेना हो, ले लो, नहीं तो सारी चीजें मेरे साथ ही विदा हो जानेवाली हैं।

वाजपेयी जी की पुकारों का असर नहीं हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। कुछ हम-जैसे सामान्य लेखक हैं जो अपना भ्रम दूर करने के लिए वाजपेयी जी की पुस्तकों में प्रमाण खोजते हैं। कुछ दूसरे प्रकार के लोग हैं जो उनकी पुस्तकें पढ़ कर अपनी पुस्तकें तैयार करते हैं। और कुछ राहुल जी तथा स्वर्गीय पण्डित अमरनाथ झा के समान लोग हैं जो चाहते हैं कि वाजपेयी जी की साधना का पूरा सार हिन्दी को लिखित रूप में प्राप्त हो जाय। "हिन्दी शब्दानुशासन" नामक बृहत् ग्रन्थ ऐसे ही महापुरुषों की प्रेरणा से पूरा का पूरा लिखा जा सका। किन्तु अभी बहुत सी चीजें हैं जो लिखी नहीं गयीं और जिनका निर्माण श्री किशोरीदास जी वाजपेयी बड़ी ही सफलता के साथ कर सकते हैं। राहुल जी का यह अर्थपूर्ण वाक्य किसके कलेजे को नहीं सालेगा कि "वाजपेयी जी पाँच-पाँच बड़ी जिल्दों में हिन्दी को निर्वचनात्मक कोश दे सकते हैं, पर उसकी जगह वे 'हिन्दी निरुक्त' के रूप में उसकी भूमिका भर ही लिख सके हैं!"

(२)

वाजपेयी जी के लेखन में कितनी ही विलक्षणताएँ हैं जो अन्यत्र नहीं मिलतीं। उदाहरणार्थ, वे तैयार नहीं, 'तयार' लिखते हैं; खो देगी नहीं, 'खो दे गी' लिखते हैं। इसी प्रकार उनका नियम होगी के बदले 'हो गी', चलेगा के बदले 'चले गा' और मानेगा के बदले 'माने गा' लिखने का है।

वाजपेयी जी का दृढ़ विचार है कि विभक्तियाँ शब्दों से हटा कर लिखी जानी चाहिए। किन्तु "कुछ लोग विभक्तियों को प्रकृति से सटाकर लिखा करते हैं।" लिखा तो करते हैं, "परन्तु बी० ए० में अनुत्तीर्ण हो गया, जैसी जगह गड़बड़ा जाते हैं।" वाजपेयी जी पूछते हैं, "यहाँ विभक्ति मिला कर क्यों नहीं लिखते? लिख ही नहीं सकते। तब वह सिद्धान्त कहाँ रहा?"

वाजपेयी जी के अनुसार, "हाल ही में" लिखना गलत, "हाल में ही" लिखना ठीक है। वे छः लिखना भी गलत समझते हैं। इसके बदले छह को वे शुद्ध मानते हैं क्योंकि बहुवचन बनाने में छह से ही छहों बन सकता है, छः से तो कुछ बनेगा ही नहीं।

संस्कृत के धुरंधर पण्डित होने पर भी वाजपेयी जी संस्कृत व्याकरण के नियमों को हिन्दी के लिए अपरिहार्य नहीं समझते। उनका कहना है कि हिन्दी के अपने भी नियम

हैं और, अक्सर, वे संस्कृत के नियमों की अपेक्षा अधिक सरल और सुबोध हैं। "हिन्दी ने अपना व्याकरण, प्रायः संस्कृत व्याकरण के आधार पर ही बनाया है, क्रिया-प्रवाह एकान्त संस्कृत व्याकरण के आधार पर है, पर, कहीं मार्ग-भेद भी हैं। मार्गभेद वहीं हुआ है जहाँ हिन्दी ने संस्कृत की अपेक्षा सरलतर मार्ग ग्रहण किया है। "वर्षों से वाजपेयी जी हिन्दी वालों को यह सुझाते आ रहे हैं कि राष्ट्रिय लिखना हिन्दी की धारा के अनुकूल नहीं है। हिन्दी के लिये साधु प्रयोग "राष्ट्रीय" ही होगा। कई लोग संस्कृत के प्रभाव में आकर "अन्ताराष्ट्रिय" भी लिखते हैं। वाजपेयी जी इस "अन्ताराष्ट्रिय" को भी हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध मानते हैं और इसी प्रकार वे "अन्तर्राष्ट्रीय" को भी गलत समझते हैं। राष्ट्रीय के पक्ष में उनकी दलील यह है कि "हिन्दी में सदा तद्धित ईय चलता है—भारतीय, प्रान्तीय, केन्द्रीय आदि। इसी तरह हमारे यहाँ राष्ट्रीय है।" उनके विचार से अन्तर्राष्ट्रीय लिखना अशुद्ध प्रयोग है क्योंकि जिस अर्थ के लिए हम इस शब्द का प्रयोग करते हैं, वह अर्थ अन्तर् में नहीं, अन्तर शब्द में है। अतएव, शुद्ध प्रयोग अन्तर-राष्ट्रीय होगा। यदि वाजपेयी जी की पुस्तकें हम ध्यान से पढ़ते तो आन्तर-भारती की जगह अन्तर-भारती और अन्तःप्रान्तीय की जगह अन्तर-प्रान्तीय का प्रचलन आसानी से हो जाता।

ऐसी ही एक कठिनाई राजनीतिक को लेकर भी है। वाजपेयी जी लिखते हैं, "हिन्दी में सर्वत्र नैतिक, बौद्धिक, सैद्धान्तिक, आदि शब्द चलते हैं। उसी तरह राजनैतिक चल रहा था। परन्तु काशी के किसी विद्वान् ने कह दिया कि संस्कृत में राजनीतिक होता है, इसलिए, हिन्दी में राजनैतिक गलत। विप्लव खड़ा हो गया। बड़े-बड़े विद्वान् भी 'ऐतिहासिक' को 'इतिहासिक' लिखने लगे। हिन्दी में अन्य शब्दों की तरह एक पटरी पर राजनैतिक का भी चलना लोगों को अच्छा नहीं लगा। संस्कृत में वैसा नहीं है। पूछो, हिंदी और संस्कृत में कुछ भेद है कि नहीं ?"

अन्तर और आन्तर का भ्रम महाराष्ट्र और गुजरात में अधिक दिखायी पड़ रहा है। अपने बृहत् ग्रन्थ हिन्दी शब्दानुशासन में इस विषय का जिक्र करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है, "अन्तर भाषा का अर्थ हुआ अन्दर की भाषा, भीतर की भाषा। क्या मतलब ? अन्तर-प्रान्तीय भाषा तो हिन्दी है ही.... परन्तु, आन्तर भाषा का तो कोई अर्थ ही नहीं हुआ।"

"अच्छी हिन्दी" और "अच्छी हिन्दी का नमूना", इन दोनों ग्रन्थों को मैं अत्यन्त उपयोगी समझता हूँ। जो भी नौजवान हिन्दी में गद्य या पद्य लिखने का अभ्यास कर रहे हैं, उन्हें ये दो ग्रन्थ हमेशा अपने साथ रखने चाहिए। और ये ग्रन्थ यदि सिद्ध लेखकों की मेज पर रहें तो इससे उन्हें भी हानि नहीं, लाभ ही होगा। वाजपेयी जी वैयाकरण तो हैं ही, उन्होंने हिन्दी की प्रकृति का बड़ा ही गंभीर अध्ययन किया है। व्याकरण-सम्मत भाषा भी बेमेल शब्दों के आने से दूषित हो जाती है। किन्तु बेमेल शब्द क्या हैं, इसे सभी लेखक भी नहीं जानते। वाजपेयी जी ने अपनी पुस्तकों में अनेक उदाहरण दे कर इस विषय को स्पष्ट बनाने की चेष्टा की है। "पाण्डित्य के साथ चातुर्य अच्छा रहेगा,

चतुरता नहीं। और चतुरता के जोड़ में पण्डितता बहुत भद्दा हो जायगा।" "पण्डिताई की रूढ़ि, प्रायः, पौरोहित्य अर्थ में हो गयी है इसलिए, पाण्डित्य का ही अधिक चलन है। चतुरता आदि की जगह चतुरत्व आदि भी प्रचलित नहीं है। महत्ता आदि में अत्ता कर्ण-कटु मालूम देता है। उसकी जगह महत्व अच्छा है। 'विद्वत्ता' की जगह 'वैदुष्य' हिन्दी जनता के लिए अपरिचित-सा लगेगा।" किन्तु, अब तो ऐसे विद्वान् कई हैं जो वैदुष्य लिखे बिना संतोष नहीं मानते।

शब्दों के सुप्रयोग की जो कसौटी वाजपेयी जी ने बनायी है, उस पर हिन्दी के लेखक और कवि खरे नहीं उतरते, ऐसा वाजपेयी जी का विचार है। "शब्द के इस सुप्रयोग का महत्व अभी तक कम से कम हिन्दी में समझा नहीं गया है। और तो क्या, हिन्दी के कविजन भी शब्द के सुप्रयोग से अभी दूर हैं। वस्तुतः, हिन्दी साहित्य का यह बाल्यकाल है।"

बात तो यह दिल तोड़नेवाली है, किन्तु, वाजपेयी जी ने कई उदाहरण ऐसे दिए हैं जिनसे हमारा मुँह बन्द हो जाता है। किसी कवि ने 'अभिमन्यु-वध' नामक काव्य लिखा है। वाजपेयी जी कहते हैं, "यहाँ वध शब्द ने सब गुड़ गोबर कर दिया। साहित्य-परंपरा में वध शब्द का प्रयोग ऐसी जगह देखने में आता है, जहाँ 'कर्म' कोई दुष्ट, राक्षस आदि हो। जैसे रावण-वध, कंस-वध, जरासन्ध-वध आदि। अभिमन्यु-वध में 'वध' शब्द देखकर भावना दूसरी हो जाती है। क्या अभिमन्यु राक्षस थे?" किन्तु, बात एक इसी काव्य पर खत्म नहीं होती। वाजपेयी जी ने अपनी पुस्तक में एक और काव्य का जिक्र किया है जिसका नाम 'गाँधी-वध' है और लिखा है कि गाँधी जी के देहान्त के समय समाचारपत्रों ने बड़े-बड़े मोटे शीर्षकों में 'महात्मा गांधी का वध' यह समाचार छापा था। यही नहीं, जब स्वतंत्रता का एक वर्ष पूरा हो गया, तब एक जिला कांग्रेस कमेटी ने उसकी वर्षगाँठ नहीं, बरसी मनायी थी।

ये सारे उदाहरण दुष्प्रयोग के हैं और दुष्प्रयोगों के उदाहरण केवल नये कवियों और लेखकों में ही नहीं मिलते, उनकी कुछ बानगी प्रौढ़ साहित्यिकों की कृतियों में भी मिल जाती है। अच्छे-अच्छे लोग स्रष्टा की जगह सृष्टा और द्रष्टा की जगह दृष्टा लिखते हैं। इतना ही नहीं, लोग सन्धि के सामान्य नियमों को प्रायः इस सफलता के साथ भूल गये हैं कि वे अन्तश्चक्षु के बदले अन्तर्चक्षु लिखते हैं और हमेशा यह मानते हैं कि उन्होंने ठीक ही लिखा है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है कि हिन्दी-साहित्य का यह बाल्यकाल है। हिन्दी के कितने ही लेखक और कवि शब्दों के सुप्रयोग में अद्भुत दक्षता का प्रमाण देने लगे हैं। मेरा ख्याल है, सुप्रयोग के दृष्टान्त निराला और पन्त में ही नहीं, अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' और गिरजाकुमार एवं भवानीप्रसाद मिश्र की भी कितनी ही कविताओं में बेशुमार मिलते हैं।

ना कर्दा गुनाहों की भी हसरत की मिले दाद
या रब! अगर इन कर्दा गुनाहों की सजा है।

(३)

अपनी छोटी-सी पुस्तक, 'साहित्य-निर्माण' में वाजपेयी जी ने साहित्य का जो विवेचन किया है, उससे साहित्य-संबंधी उनके विचार बड़ी ही सुस्पष्टता से सामने आते हैं। शैली-पक्ष में उनका सब से अधिक जोर ध्वनि और औचित्य पर है। भाव-पक्ष में वे उस साहित्य को श्रेष्ठ समझते हैं जिसका कोई निश्चित उद्देश्य है, जिसका उपयोग जातियों के जगाने के निमित्त, उनके भीतर बल, पौरुष, शक्ति और साहस संचरित करने के लिए किया जा सकता है। इसके विपरीत, जिस साहित्य से अकर्मण्यता और आलस्य फलता हो, रसिकता और आनन्दप्रियता में वृद्धि होती हो, उसे वाजपेयी जी सर्वथा त्याज्य सामझते हैं। "भारतीय पद्धति में काव्य को एक अत्यन्त उपयोगी कला का रूप प्राप्त है, 'शिवेतरक्षतये' या 'शिवसम्पादनाय' इसका उपयोग उद्घोषित है। अर्थात् जनता की कलुषित भावनाएँ---अशिव भावनाएँ---दूर करने में काव्य की उपयोगिता स्वीकृत है। शिवाराधन इसका काम है। यह दूसरी बात है कि आत्मरक्षा के उद्देश्य से बनायी गयी तलवार से कोई आत्महत्या कर ले।"

उद्धरण का अन्तिम वाक्य बड़ा ही अर्थपूर्ण है। वाजपेयी जी की कसौटी टालस्टाय और इकबाल की कसौटियों से मिलती जुलती है। यही नैतिकता का वह कठोर निकष है जिस पर कस कर टालस्टाय ने शेक्सपियर का अनादर कर दिया, फ्लाउबेयर की गिनती अशिव के प्रचारकों में कर दी। और इसी कसौटी पर कस कर इकबाल ने हाफिज की गजलों को अग्राह्य बताया था। "हाफिज की गजलों से भागो, यह वह गुलाब है जिसके भीतर साँप छिपे हुए हैं।" किन्तु जिस प्रकार टालस्टाय और इकबाल ने अपना मत बड़े ही जोर से रखा, उसी प्रकार, ऐसे मतों का खंडन क्रोचे ने बड़ी ही निर्ममता से किया है। "कला की कृतियों से अनाचार फलता हो, तब भी, राज्य को चाहिए कि वह कलाकारों की स्वाधीनता पर रोक न लगाये। हाँ, समाज के अनाचारों को ठीक रखने के लिए सरकार अधिक पुलिस का बन्दोबस्त कर सकती है।"

लेकिन सामाजिक आचारों की पुलिस का नाम गाँधी और दयानन्द होता है। क्या मनचाही संख्या में गाँधी और दयानन्द तैयार करना सरकारों के वश की बात है। स्पष्ट ही यहाँ हम दो अतिवादी मतों के संघर्ष में हैं। रवीन्द्रनाथ का मत, शायद, इन दोनों मतों के लगभग बीच में है, यद्यपि, झुकाव उनका भी क्रोचे की ओर कुछ अधिक है। रवीन्द्रनाथ कला को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते हैं, किन्तु जब तक मनुष्य उपयोग के घेरे में है, वह व्यक्तित्वशाली नहीं कहा जा सकता। सिपाही का उपयोग मरने-मारने में है, किन्तु यह उनका व्यक्तित्व नहीं है। व्यक्तित्वशाली वह तब होता है जब वह बाजे पर नाच-नाच कर कवायद करता है। स्पष्ट ही, जो सिपाही बाजों की धुन पर नाचने में मस्त है, उसे दुश्मन आसानी से मार देंगे। जो देश कला और संस्कृति की बारीकियों में चला जाता है, लड़ाई में वह अक्सर हार जाता है। फ्रान्स की हार इसी कारण हुई थी। स्वयं भारत की पराजय का कारण भी यही संस्कृतिप्रियता और कोमल भावों की साधना

रही हैं। तो किया क्या जाय ? चूँकि चारों ओर जानवर घूम रहे हैं, इसलिए, हम भी क्या पशुत्व को कायम रखें ? वाजपेयी जी का उत्तर स्वीकारात्मक होगा।

वैदिक सभ्यता प्रवृत्तिमूलक और आशा-उमंग से परिपूर्ण थी। निवृत्ति, अहिंसा, वैराग्य और कृच्छ्र साधना की परिपाटी उपनिषदों में जनमी तथा महावीर और बुद्ध ने उस परिपाटी को अति तक पहुँचा दिया। उन्नीसवीं सदी में भारत में जो महाजागरण आरंभ हुआ उसका झुकाव वेदों की ओर अधिक, उपनिषदों तथा जैन एवं बौद्ध साधनाओं की ओर कम रहा है। श्री किशोरीदास जी वाजपेयी पर इस सांस्कृतिक जागरण का पूरा प्रभाव परिलक्षित होता है। 'मानव-धर्म-मीमांसा' नाम से उन्होंने जो संक्षिप्त आचार-शास्त्र––एथिक्स––लिखा है उसमें उनके वैदिक-संस्कृति-पोषक भाव बड़े ही ओज के साथ प्रकट हुए हैं। परम धर्म तो अहिंसा अवश्य है, किन्तु, हिंसा सदैव पाप नहीं होती, विशेषतः, तब जब किसी व्यक्ति या समाज पर आत्मरक्षा की लाचारी आ पड़ी हो। "इस जगह हिंसा धर्म है। जो सिपाही जितने अधिक आततायियों को काटता-मारता है, उसे राष्ट्र उतना ही अधिक यश देता है और पुरस्कृत करता है। यानी उसने जो हिंसा की उसे हमने एक बड़ा धर्म समझा।" गीता के 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' वाले श्लोक का भावार्थ बताते हुए वाजपेयी जी लिखते हैं कि "जो व्यक्ति देश, काल तथा पात्र की स्थिति के अनुसार अहिंसा तथा सत्य आदि का व्यवहार किसी समय उचित नहीं समझता है, और अकर्म-अकर्तव्य––हिंसा और चालबाजी को कर्त्तव्य समझ कर ग्रहण करता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है।"

संन्यास को वाजपेयी जी कोई श्रेष्ठ कर्म नहीं मानते। उनका स्पष्ट मत गृहस्थ-धर्म के पक्ष में है। "गृहस्थाश्रम में जरूर रहना चाहिए, यह मनु ने जोर देकर कहा है। आलसी और कायर लोग 'यदहः विरज्येत तदः परिव्रजेत्'––जिस दिन वैराग्य हो जाय, उसी दिन संन्यास ले ले––कह कर अपने आपको जनता को धोखा देते हैं।"

वैदिक धर्म को अद्यतन बनाने का तरीका वाजपेयी जी का अपना तरीका है। मंत्र का अर्थ वे मंत्रणा अर्थात् "खूब अच्छी तरह सोच-विचार" समझते हैं। इसी प्रकार यज्ञ का अर्थ भी उनका अपना ही अर्थ है। यज्ञाग्नि का अर्थ, उनके अनुसार, घृणा, क्रोध, उत्साह और वीरता की आग है जिसमें हविष् हमें शत्रुओं का डालना है, विरोधियों का डालना है,। हाँ, यज्ञों में देश को पहली आहुति अपने ही शूरमाओं की देनी पड़ती है। और यज्ञ-पशु का तात्पर्य आततायियों है। "आततायी वह जो हमारे देश को लूटने आये, हमें बर्बाद करने आये, हमें कर्तव्यभ्रष्ट करने आये और किसी भी तरह नहीं माने। उस शत्रु से निपटना हमारा धर्म है। ऐसे ही पशुओं का वध यज्ञ में आवश्यक है। ऐसे यज्ञ से स्वर्ग मिलता है, मुक्ति मिलती है।"

यह यज्ञ नहीं, राजनीति की गोटी का खेल है। यदि मेकियावेली जीवित होता तो वह वाजपेयी जी का आदर अपना श्रेष्ठ भाष्यकार कह कर करता। किन्तु, दुनिया तब से बहुत आगे बढ़ चुकी है। युद्ध मनुष्य के लिए स्वर्ग-द्वार नहीं रहा, वह उसकी

५

विवशता है, लाचारी है। यज्ञ में जौ और घृत जलाने से स्वर्ग भले ही न मिलता हो, किन्तु युद्धाग्नि में मनुष्यों को जलानेवाला राजनीतिज्ञ नरक का ही अधिकारी होता है।

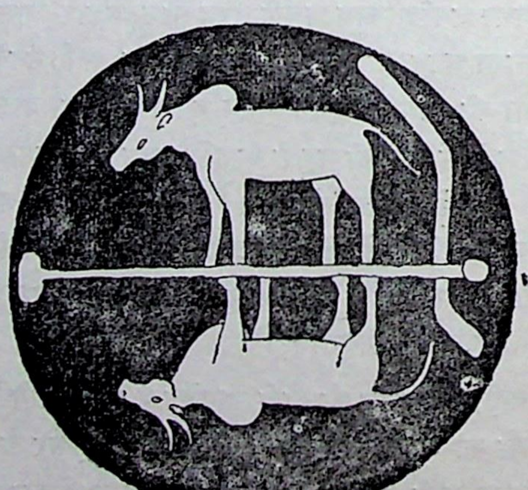
धर्म का संबन्ध वाजपेयी जी अध्यात्म अथवा अगोचर तत्व से नहीं बिठाते। इन तत्वों को वे दर्शन का अंग समझते हैं। धर्म उनके लिए केवल आचार है, केवल सामाजिक कृत्य है। "धर्म तो लौकिक चीज है। कर्तव्यशास्त्र का ही नाम धर्मशास्त्र है। 'तुम्हारा धर्म क्या है,' और 'तुम्हारा कर्तव्य क्या है' एकार्थक वाक्य हैं।"

और अध्यात्म के साथ रसिकता के मिश्रण के प्रयास को भी वे गलत समझते हैं। इसीलिए, रहस्यवाद उन्हें तनिक भी पसन्द नहीं है। "सूफी सन्तों ने जो प्रेम-कथाएँ लिखी हैं, वे क्या हैं? दिमागी ऐयाशी ही तो हैं। यदि उनके चेलों ने कहा, महाराज! यह क्या? तो उत्तर मिल गया—"हमारा इशारा समझो, किधर है? यह तो सान्त की अनन्त की ओर जाने की व्यंजना है। बस, बहक गये लोग।"

केवल रहस्यवाद ही नहीं, कृष्णभक्ति से लिपटी हुई रसिकता भी वाजपेयी जी को पसन्द नहीं है, न सूरदास के साहित्य को वे भक्ति का साहित्य समझते हैं।

चिंतना स्वच्छ; भाषा में छल नहीं; अपनी दकियानूस मान्यताओं के लिए भी ममता और निर्भीक उत्साह; किन्तु, शास्त्र-निरूपण के क्रम में भी आत्मकथा के पन्ने खोल बैठने का मोह; और राह चलते लोगों पर भी ऐसे प्रहार कर बैठने की प्रवृत्ति जो प्रहार टाले जा सकते हैं; ये सारे लक्षण वाजपेयी जी के व्यक्तित्व की किरणें हैं। ये किरणें मन्द पड़ जायें तो उनका व्यक्तित्व आकर्षण नहीं रहेगा। वाजपेयी जी पर श्रद्धा हम उनकी विद्या-बुद्धि के लिए भी करते हैं और उस चरपराहट के लिए भी जो उनके स्वभाव की विशेषता है। ब्रजभाषा काव्य के समर्थन में उन्होंने कहीं दोहे की एक पंक्ति उद्धृत की है। वही पंक्ति हम उनके प्रसंग में भी उद्धृत कर सकते हैं:—

लात खाय पुचकारिये, होय दुधारू धेंन।



सदा ही समीप

आचार्य वियोगी हरि

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का स्थान हिन्दी-साहित्य-जगत् में निराला है, सर्वथा अकेला है। उन्होंने जो भी देन साहित्य को दी है वह अत्यधिक अंशों में निस्संदेह मौलिक है। वह कोई उधार ली हुई पूँजी नहीं है। स्वतः अर्जित की हुई सम्पदा है। सरस्वती की आराधना और साधना में उनका जीवन-चित्र स्पष्ट उभर आता है। कहा और सुना जाता है कि वाजपेयी जी अपने विचार व्यक्त करने में कठोर शब्दों से काम लेते हैं और वे किसी को भी बख्शते नहीं हैं। किसी हद तक उनके प्रति ऐसी धारणा बना लेना शायद सही हो, परन्तु उसे निःसंदिग्ध नहीं कहा जा सकता। सत्य के माधुर्य को वे पहचानते हैं। ठीक है कि नारियल ऊपर से बड़ा कड़ा होता है, पर उसके अन्दर स्वच्छ और मधुर दूध भरा रहता है। जिन्होंने उनको समीप से देखा है और उनके स्पष्ट विचारों को सुना है और जाना है वे इस उपमा को झुठला नहीं सकेंगे।

वाजपेयी जी ने काफी सूक्ष्मता से और बड़ी गहराई से 'शब्द-साधना' की है उसी प्रकार जैसे कोई गणितज्ञ अंकों और रेखाओं के दर्पण में प्रकटते हुए सत्य की झाँकी देखता है। सत्यान्वेषी व्यक्ति जिज्ञासु न हो यह कैसे हो सकता है? उन्होंने यह कब माना है कि उनके विचार अंतिम हैं, और जो ऐसा मानता है उसका हृदय सरल और मधुर ही होता है। फिर उन्होंने कवि-हृदय पाया है। वे भले ही मानें कि वे ललित साहित्य का बहुत सृजन नहीं कर पाये, किन्तु मेरी दृष्टि में उनकी कृतियाँ व्यापक अर्थ में काव्य की परिधि से बाहर नहीं हैं। वे मनीषी हैं, और मनीषी का कृतित्व रसमय ही होता है।

आचार्य वाजपेयी के विषय में किसी की चाहे जैसी धारणा हो, मेरे लिए तो वे एक सहृदय बन्धु हैं, आत्मीय हैं और सदा समीप रहते हैं। इसी रूप में वाजपेयी जी को मैं देखता हूँ और उनका स्मरण करते ही आनन्द अनुभव करता हूँ।

सच्चे रत्नों का जौहर पहचानने का हमारे हिन्दी-जगत् में आज जैसे शोचनीय अभाव है। पर इससे रत्नों का जौहर कहीं चला नहीं जाता। 'कालो ह्ययं निरवधि-र्विपुला च पृथ्वी'। गुणग्राहकता एवं कृतज्ञ-भावना का लोप हो जानेवाला नहीं। यदि ऐसा हुआ, तो हमारी संस्कृति का अस्तित्व ही नहीं रहेगा।

वाजपेयी जी की एक कृति--कुछ मौलिक विचार

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के 'कुछ मौलिक विचार' मेरे सामने हैं। मौलिक अर्थात् स्वतंत्र चिंतन से उद्भूत विचार। विचार तब मौलिक नहीं रहते हैं, जब वे दूसरों को चाहे जिस प्रकार अभिभूत करने के लिए, अथवा अमुक हेतु से प्रेरित होकर या दूसरों

को प्रसन्न करने के लिए अभिव्यक्त होते हैं। ऐसे विचारों को तर्क से भी सिद्ध कर दिया जाता है। स्वतंत्र चिंतन से तब उनका कोई खास सम्बन्ध नहीं रहता है।

मौलिकता का दावा यों सभी करते हैं। मानते हैं कि धार्मिक और सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी मौलिक चिन्तन होता है या हो सकता है। लेकिन असल में वह चिंतन बहुत करके प्रतिबद्ध होता है, स्वतंत्र नहीं। दर्शन तक को पक्ष और विपक्ष के विविध तर्कों ने अथवा खण्डन-मण्डन ने ढक लिया है, कौशलपूर्वक खूब खींचतान हुई है। मौलिकता को वहाँ देख पाना कठिन सा हो गया है।

दो प्रकार के विचार बहुधा देखने में आते हैं--एक तो यह कि जैसा जो कुछ सामने आया उसे वैसा ही स्वीकार कर लेना, और आँख मूंद कर उसका समर्थन करना, और दूसरा यह कि झाड़-झंखाड़ के साथ मूल को भी उखाड़ फेंकना। यह सही नहीं। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि 'वनम् छिन्दथ, मा रुक्खम्' अर्थात् जंगल को काट डालो, पर पेड़ को नहीं। अन्धश्रद्धा के साथ-साथ अन्ध अश्रद्धा भी जहाँ-तहाँ देखने में आती है।

वाजपेयी जी इन दोनों प्रकार के विचारों या विकारों से बच निकले हैं। सत्य के ऊपर जहाँ भी पर्दा पड़ा देखा, उसे उन्होंने निर्ममतापूर्वक फाड़ डाला है। ऐसा करते हुए तथाकथित बड़ों-बड़ों को भी नहीं बख्शा है। परवाह नहीं की कि ऐसा करते हुए परम्परा से अमुक मान्यताओं के अनुयायियों को धक्का पहुँचेगा या ठेस लगेगी। किन्तु मूल का परित्याग उन्होंने कहीं भी नहीं किया है। अपनी विवेकयुक्त श्रद्धा का अवलम्ब हाथ से नहीं जाने दिया है।

प्रस्तुत मौलिक विचार प्रेरणा देते हैं सत्य-शोधक को गहरे में उतरने की। वाजपेयी जी ने यह नहीं माना है कि उनके ये विचार निर्विवाद हैं अथवा अंतिम हैं। उनका कहना है कि 'इन विचारों पर विद्वज्जन विचार करें और फिर इनपर अपने स्पष्ट विचार प्रकट करें।'

इस संकलन में सबसे पहले 'रामचरित के तीन गायक' हम देखते हैं। यह सर्वथा मौलिक उद्भावना है। इसमें भ्रांतियों का निवारण किया गया है, जैसे 'कुशीलवौ' का अर्थ कुश-लव लगा लेना और सीता का निर्वासन। राम द्वारा तपस्वी शम्बूक के वध की कहानी भी इसी प्रकार की एक कुकल्पना है। ऐसी कहानियाँ उत्तर कांड में दी गयी हैं, जो निस्संदेह प्रक्षिप्त कांड है।

अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में कालिदास द्वारा कल्पित शाप की कहानी की भी उन्होंने भर्त्सना की है। 'कवि-समय' का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कई मौलिक विचार प्रकट किए हैं।

'काव्य और काव्यशास्त्र शीर्षक' लेख कई दृष्टियों से मौलिक कहे जा सकते हैं। गंभीर गवेषणा इनपर की गई है। उनकी दृष्टि समाज को स्वस्थ और पुरुषार्थी देखने की है। काव्य और कहानी के नाम पर समाज को जिसने भी अस्वस्थ और वीर्यहीन बनाने का प्रयत्न किया, उसे वाजपेयी जी ने आड़े हाथों लिया है।

'आर्य और द्रविड़ : ये ऋग्वेद के पंचजनाः' हैं, इसे ऐसे तर्कों द्वारा प्रस्तुत किया गया है जिनको काटना आसान नहीं है। शुक्र की संजीवनी विद्या पर मौलिक विचार प्रकट करते हुए उन्होंने यह रहस्य खोला है कि गीता में श्रीकृष्ण ने कवियों में 'उशना' अर्थात् शुक्र को क्यों श्रेष्ठ कवि बताया है।

'धर्म और संप्रदाय' का अत्यन्त प्रभावकारी विश्लेषण किया गया है, यह कि किसी संप्रदाय विशेष को धर्म मान लेना गलत है।

'मानव-धर्म' पर जो विस्तारपूर्वक मौलिक विचार वाजपेयी जी ने रखे हैं वे वस्तुतः बुद्धिग्राह्य और युगानुकूल हैं। क्या तो सनातन सत्य है और क्या कुसंस्कारों से ग्रस्त रूढ़िगत विचार, इस प्रश्न की व्याख्या इतनी समीचीन की गई है कि लगता है, जैसे एक निष्पक्ष 'जज' निर्णय दे रहा है कि वास्तविक अर्थ का किस प्रकार अनर्थ किया गया है।

'होम और यज्ञ' पर वाजपेयी जी ने वास्तव में मौलिक और अपूर्व विचार प्रस्तुत किये हैं। यह विषय ध्यानपूर्वक पठनीय और विचारणीय है।

यह उपादेय पुस्तक अनेक दृष्टियों से विचारकों के लिए अपूर्व सामग्री प्रस्तुत करती है, इसमें संदेह नहीं। इन विचारों से अनेक प्रचलित भ्रांतियों का कोहरा छिन्न-भिन्न हो सकता है। बन्धुवर वाजपेयी जी न केवल शब्दशास्त्र एवं व्याकरण के आधुनिक पाणिनि हैं, वे धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक जगत् को मौलिक और स्वतंत्र विचार देने की भी ऊँची क्षमता रखते हैं।

"नमोनमःपूर्वक"

बंधुवर वाजपेयी जी का मैं हार्दिक अभिनंदन करता हूँ।



बानी-सिंगार है दास किशोरी

पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी

आदरणीय किशोरीदास जी का जीवन हिन्दी के प्रति एकान्त भाव से समर्पित रहा है। भारतेन्दु की भाँति उन्होंने साहित्य की सेवा की और राजर्षि की तरह उन्होंने हिन्दी भाषा के लिए अपना जीवन लगा दिया। व्याकरण और भाषाविज्ञान के क्षेत्रों में उन्होंने जो मौलिक चिन्तन और कार्य किया है वह ऐतिहासिक महत्त्व का है। कामता-प्रसाद जी गुरु अपने जीवन काल में समादृत नहीं हुए। अब सौ वर्ष बाद हिन्दी-संसार उनका महत्त्व समझने लगा है। यही स्थिति पंडित जी की है। उन्होंने जो महत्वपूर्ण कार्य किया है उसका मूल्य आज इने गिने लोग ही समझते हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों हिन्दी संसार अधिक प्रबुद्ध होगा, और भाषा, भाषा-विज्ञान और व्याकरण की ओर गंभीर रूप से ध्यान देगा त्यों त्यों पण्डित जी के कार्य और उसके महत्त्व को लोग अधिकाधिक समझेंगे। पंडित जी ने यह सेवा अत्यंत निःस्पृह और सात्विक भाव से की इसलिए वह इतने संतुष्ट, सुखी और निर्द्वन्द्व हैं। उन्होंने प्रचार के उन आधुनिक हथकंडों को नहीं अपनाया जिनके बल से मुलम्मा की हुई गिन्नी भी असली समझ ली जाती है और न उन्होंने कोई दल या गुट बनाया तथा न अधिकारप्राप्त तथाकथित विद्वानों के सामने नतमस्तक ही हुए। इस प्रकार उन्होंने अपने आत्मसम्मान और ब्राह्मण वृत्ति का मूल्य उपेक्षा का वरण कर चुकाया। किन्तु 'सत्यमेव जयते' निश्चय ही भावी पीढ़ी जो आज की विकृतियों और पूर्वग्रहों से मुक्त होगी, पण्डित जी के तेजस्वी व्यक्तित्व का और उनके महत्त्वपूर्ण और मौलिक कृति का उचित मूल्यांकन करेगी, इसमें मुझे सन्देह नहीं है।

पण्डितजी के ब्राह्मणोचित और सच्चे विद्याप्रेमी के अनुकूल त्यागी, निःस्पृह और तेजस्वी जीवन का मैं सदैव आदर करता और उससे प्रेरणा लेता रहा हूँ। उनकी कर्मठता, उनकी तपस्या, उनकी निश्छलता और नीर-क्षीर विवेकी बुद्धि ने मेरे लिए उन्हें आदरास्पद बनाया है। मैं उनके प्रति आदर से नत हूँ। भगवान् से प्रार्थना है कि वह दीर्घकाल तक हमारे मार्गदर्शक बने रहें और जब कभी हम पथ से भटकने लगें तब अपनी ओजस्वी वाणी से हमें ठीक रास्ते पर चलते रहने का आदेश देते रहें। ऐसे तपस्वी विद्वान् और अनन्य हिन्दी सेवी को मेरा विनम्र प्रणाम।

बानी कौ सार बखान्यौ सिंगार, सिंगार कौ सार किसोर-किसोरी,
यों कवि देव की उक्ति सुनी, वह खींचत ही मन कों बरजोरी।
वे दिन बीत गये अब ज्ञान ने रस शृंगार कौ लीन्हचौ निचोरी।
ज्ञान रहचौ बचि, बानी रही बचि, बानी-सिंगार है दास किसोरी।।

———

कल्पवृक्षों के माली आचार्य वाजपेयी जी

अमृतलाल नागर

लगभग एक या डेढ़ वर्ष पहले शाम की डाक से डॉ० विष्णुदत्त राकेश का पत्र मिला कि उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी के प्रथम अधिवेशन में भाग लेने के लिए आचार्य किशोरीदास जी लखनऊ पधार रहे हैं और वे मेरे ही साथ ठहरेंगे। राकेश जी के कार्ड से सुखी तो हुआ, साथ ही सहम भी गया। आचार्य जी का दुर्वासा रूप जगजाहिर है, यदि तनिक भी चूक हुई तो मेरे मुँह पर कालिख लग जायगी। एक पोती को हाल ही में माता निकल चुकी थीं। घर में यदि किसी बच्चे का माथा भी दुखता है तो प्रतिभाजी फिर घर की सारी चिन्ताएँ बिसार कर केवल उसी की देखभाल में जुट जाती हैं और दोनों बहुएँ ठहरीं मास्टरनियाँ। क्या करूँ? एक अधिकारी को फोन करके आचार्यजी को राजकीय अतिथिशाला में ठहराने का प्रबंध करना चाहा परन्तु दूसरे दिन कोई शिष्टमंडल आ रहा था, अतिथिशाला में जगह न थी। सोचा किसी धनी मित्र के घर में आचार्यजी को ठहराने का प्रबंध करूँ परन्तु प्रतिभा ने आपत्ति की, बोली: "कोई साहब टाइप आदमी होता तो और बात थी लेकिन वे हरिद्वार के पंडित हैं, हर कोई उनकी देखभाल नहीं कर सकता। तुम चिंता न करो। मैं सब सँभाल लूँगी।"

सुनकर मन को राहत मिली। अपने और प्रतिभा के दृष्टिकोणों का अंतर पहचाना। तब तक व्यक्तिगत रूप से न तो मैं आचार्यजी से परिचित था और न प्रतिभा। मैं श्रद्धेय वाजपेयी जी के प्रखर पांडित्य और विद्रोही स्वभाव की ख्याति से सुपरिचित था। भाषाविज्ञान का पंडित न होते हुए भी बरसों से उनकी इस बात से बेहद प्रभावित था कि हिंदी को संस्कृत भाषा की बेटी मानना गलत है। दोनों का निकास किसी एक मूल से हुआ होगा। वे दोनों बहनें हो सकती हैं, माँ-बेटी नहीं। इस बात से मन को नया उजाला मिला था। बाद में मेरे परम मित्र डॉ० रामविलासजी शर्मा भी उनके अथक प्रशंसक बन गये। उनकी तारीफों से श्रद्धेय के प्रति मेरी श्रद्धा और भी बढ़ गई थी। लेकिन प्रतिभा के लिए वे हरिद्वार के पंडित थे। किसी साहित्यिक विद्वान् को आया-बैरा-यूफ़ोम-डनलपिलो मंडित घर में भले ही चैन पड़े परन्तु हरिद्वार के पंडित जी को वहाँ घर जैसा आराम नहीं मिलेगा। पत्नी की व्यावहारिक दृष्टि ने मुझे मात दे दी।

दो वर्ष पहले हिन्दी समिति द्वारा आयोजित गढ़वाल क्षेत्रीय साहित्यिक गोष्ठी में भाग लेने के लिये देहरादून गया था। लौटते समय चूंकि हरिद्वार में रुकने का इरादा था इसलिए प्रतिभा मेरे साथ ही गई थी। वहाँ वह अस्वस्थ हो गई और हमें अपनी हरिद्वार-यात्रा स्थगित करनी पड़ी। हरिद्वार स्टेशन पर राकेशजी मिलने आये थे। आचार्यजी ने उनके हाथों प्रतिभा के लिए कुछ दवाइयाँ और कलकत्ते की वाजपेयी अभि-

नंदन समिति द्वारा प्रकाशित अपने व्यक्तित्व और कृतित्व पर एक पुस्तक मेरे लिए कृपापूर्वक भिजवाई थी। अपने लिए दवाएँ भेजनेवाले पंडितजी की सुख सुविधा की प्रबंध चिंता में प्रतिभाजी ने रात ही में चूल्हे की लकड़ियाँ तक धुलवा के रख लीं। हम कलजुगी घरवालों की कुसंगत में उनके छुआछूत के जो संस्कार ढीले पड़ गये थे वे सब एकाएक कस गए। मैंने उनसे कहा : "भई यह तो मान लिया कि पंडितजी हरिद्वार के हैं पर यह मानने को मैं तैयार नहीं कि वे तुम्हारी कल्पना के 'प्यूरिटन' पंडित होंगे। वे राष्ट्रीय कार्यकर्ता रहे हैं, आंदोलन के दिनों में जेल भी हो आये हैं।"

"न सही। मैं अपना इंतजाम कर रखती हूँ। उन्हें तकलीफ न होनी चाहिये।"

आचार्य जी के संबंध में महापंडित राहुल सांकृत्यायन की एक बात याद आई। सन् १९१९ में पंजाब से शास्त्री की परीक्षा में प्रथम आनेवाले किशोरीदासजी के संबंध में यह जानकारी प्राप्त करके कि वह वृन्दावन के एक वैष्णव साधु हैं, स्व० राहुल बाबा की यह धारणा बनी कि वह भी पुरानी लीक पर चलनेवाले 'भाखा' (हिन्दी) विरोधी पंडित होंगे। मगर उनकी यह धारणा ग़लत थी, वाजपेयी जी हिन्दी के प्रखर पक्षधर सिद्ध हुए। उन्होंने यह मानने से इनकार किया कि हिन्दी संस्कृत की पुत्री है। वाजपेयीजी की यह मान्यता है कि हिन्दी और संस्कृत किसी एक मूल भाषा की दो शाखाएँ हैं। दोनों का विकास अलग अलग और स्वतंत्र पद्धति पर हुआ है। ऐसी क्रांतिकारी बात आचार्य जी से पहले और किसी भी विद्वान् ने नहीं कही थी और इसी बात के आधार पर मैं यह सोच रहा था कि हरिद्वार निवासी होने के बावजूद आचार्यजी वैसे ब्राह्मण नहीं हो सकते कि उनके लिए चूल्हे की लकड़ियाँ भी धोकर रखी जायँ। ख़ैर!

व्यक्ति को समझने के लिये मैंने अलमारी से 'व्यक्तित्व और कृतित्व' पुस्तक निकाल ली। आचार्यजी के संबंध में दूसरे विद्वानों के विचारों को पढ़ने से पहले मैंने उनका 'आत्मपरिचय' पढ़ना आरंभ किया। आचार्य जी के पितामह देशभक्त थे। सन् '५७ के गदर में भाग लेने के कारण वे अभागे हो गये। उन्हें ग़रीबी के दिन बिताने पड़े लेकिन जिये वे 'ठाठ के साथ'। आचार्यजी के पिता पंडित सतीदीन जी ने भी "गरीबी का—बेहद गरीबी का——जीवन बिताया; पर शान के साथ; तेजस्विता के साथ।" वे सूरमा भाई के नाम से प्रसिद्ध थे। सूरमा भाई के पुत्र गोविन्द प्रसाद (आचार्यजी का पितृदत्त नाम) ने भी विरासत में केवल गरीबी और स्वाभिमान ही पाया। गरीबी प्रायः स्वाभिमान को कुचल देती है लेकिन आचार्यजी को उसकी मार कभी निस्तेज न कर सकी। गाँवों के अर्थाभावग्रस्त परिवार सदियों से से चौमासे भर आम और सर्दी के दिनों में उसकी जमा की गई गुठलियों को उबालकर उनकी गिरी खाते हैं। सूरमा भाई के घर में भी यही होता था। 'आत्मपरिचय' में आचार्य जी कहते हैं : "गुठली उबालते खाते समय बाहर का दरवाजा बंद कर लिया जाता था। मा ने मुझसे कह रखा था कि किसी से कहना नहीं कि गुठली खाई है। बड़ी तेजस्विता का रहन सहन था।" यह 'ठाठ', 'शान' और तेजस्विता' समझने लायक चीज है।

गांधी के राजनीतिक, सामाजिक आन्दोलन काल ने मेरा शऊर सँवारा, जवाहर

लाल नेहरू के विचारों ने मुझे आरंभ से ही बेहद प्रभावित किया इसलिये ब्राह्मण घर के संस्कार पाकर भी मैं कभी ऊँचनीच के चक्कर में नहीं पड़ा। इसके बावजूद मैं यह मानता हूँ कि सैकड़ों सदियों के ऊँच नीचपन की चेतना ने आम भारतीयजन पर गहरा प्रभाव डाला है। भारत का यह ब्राह्मण वर्ग जब भी बना हो पर सरस्वती को लक्ष्मी से अधिक मूल्यवान् मानने की विशेषता भी इस वर्ग में तभी से चली आ रही है। पुराने से पुराने यूनानी स्त्राबो और मेगस्थनीज़ के प्रमाण इस बात के गवाह हैं। ब्राह्मण और श्रमण, भारत की इन दोनों प्राचीन और प्रमुख जीवनधाराओं में आत्मज्ञानोपलब्धि के लिये तप और ब्रह्मचर्य को ही महत्व दिया गया है। बरसों पहले मैंने किसी गुरुजन से एक बड़ा तड़पदार वाक्य सुना था जो मुझे जस का तस याद है––"बाह्मन के बेटे को जै दिन चाहो भूखा रख लो और जित्ती बार चाहो नहला लो उसका कुछ नहीं बिगड़ सकता।" जैन परिवारों और साधुओं में भी मैंने व्रत उपवासादि की बड़ी तगड़ी परम्परा देखी है। ग़दर मचानेवाले के पोते और सती सूरमा के बेटे निर्धन निरक्षर गोविंद में यह तेजस्विता और स्वाभिमान सनातन परम्परागत था। गोविंद जब सरस्वती के उपासक 'किशोरीदास शास्त्री' बने तब वह अपने सही धरातल पर अंगद के पाँव सा जम गया। इसमें अजब क्या है? ख़राबी क्या है। विद्वान् का क्रोध सात्विक होता है।··· मैंने सोचा, हमारे यहाँ आने पर यदि हमारी किसी चूक से उनका मिज़ाज बिगड़ा तो अपनी ग़लती मानकर या परिस्थिति जनित विवशता को साफ़ साफ़ बतलाकर उन्हें संतुष्ट किया जा सकता है। मन ही मन आश्वस्त हुआ। किशोरीदास जी वाजपेयी कोरी दुनियादारी की दृष्टि से देखनेवालों के लिये समस्या बन सकते हैं पर मेरे लिए नहीं। मुझे दुनियादारी निभाने की आदत विरासत में अवश्य मिली है परन्तु उससे जलकमलवत् नाता निभाने का अभ्यास भी है।

आचार्य जी की झगड़ालू प्रवृत्ति के संबंध में भी बड़ी चर्चायें सुन रखी थीं। वे बैठे ठाले हवा से झगड़ा मोल ले लेते हैं। 'व्यक्तित्व और कृतित्व' में आदरणीय भाई 'प्रभाकर' जी (पं० कन्हैयालाल मिश्र) ने अपने लेख में आचार्यजी के झगड़ालू स्वभाव का बड़ा सजीव ख़ाका खींचा है: "बहुत लड़ाका आदमी है। हरेक से झगड़ा करता है। तुनुक-मिज़ाज आदमी है। भगवान बचाये उससे।––इस तरह की अनेक सम्मतियाँ उन लोगों ने दीं, जो उनके और मेरे समान मित्र थे।" कनखल में रहते हुए प्रभाकरजी को एक दिन चौक में वाजपेयीजी मिल गये––"कपड़े अस्तव्यस्त और हड़बड़ाये से। बोले, "हमारा यह पत्र ज़रा थाने में दे आओ।" प्रभाकरजी ने बात पूछी परन्तु वाजपेयीजी उस समय पत्र को थाने पहुँचाने की धुन से बँधे हुए थे कुछ कहने सुनने को तयार न हुए। प्रभाकर जी उनसे पत्र लेकर चले। रस्ते में सोचा कि एक बार पत्र खोलकर पढ़ लिया जाय। पढ़ा, उसमें लिखा था––"चौक में तैनात पुलिस का सिपाही घोड़े वालों, (घोड़ों पर गाँव से लकड़ी लाद कर लाने वालों) से लकड़ी माँग रहा था। मैंने उसे मना किया तो उसने मुझे गाली दी।" वाजपेयी जी ने सिपाही से होनेवाली अपनी हाथापाई का वृत्तांत भी लिख दिया और यह सूचना भी सरकार यानी थानाध्यक्ष को दे दी कि हाथापाई में सिपाही की वर्दी फट गई है। पढ़ कर प्रभाकर जी ने सोचा कि 'यह तो

बिना गवाह जेल जाने का रास्ता है।' लौट आये और आचार्य जी को कानून की पोल समझाई। सुनकर वाजपेयी जी हँसे, कहा—'अरे, यह बात तो मैंने सोची ही न थी।' उनकी हँसी और बात में जो सरलता थी, उसका स्पर्श मैं आज भी अनुभव करता हूँ।" प्रभाकर जी के इस संस्मरण ने आचार्य जी का यह पहलू भी उजागर कर दिया। तपस्वी पुरुष अक्सर झक्की पाये जाते हैं। अपने लेख में आगे यह भी सही लिखा है कि वे विद्रोही हैं झगड़ालू नहीं।

'आत्मपरिचय' में आचार्य जी की जीवनी पढ़कर कई जगह दिल भर उठा। अनेक संस्मरणों में इनकी नौकरियाँ लगने और छूटने की बातें पढ़ीं। बहुत से लोग जीवन की मारों पर मारें खाकर भी झुकते तो नहीं पर भीतर ही भीतर किसी न किसी हद तक टूट अवश्य जाते हैं। लेकिन उन संस्मरणों को पढ़कर मुझे लगा कि अपनी उम्र के साथ सारे झगड़े फ़साद में आचार्य पं० किशोरीदास जी वाजपेयी जहाँ झुके नहीं वहाँ ही जिंदगी उन्हें तोड़ भी नहीं सकी। संस्मरण पढ़ कर मेरा मन और पोढ़ा हुआ। अतिथिदेव के रूप में ऐसे ब्रह्मर्षि की सेवा मैं सुख से कर लूंगा। ऐसे सरलमना सात्विक क्रोधी को प्रसन्न रखना प्रभु कृपा से मुझे किसी हद तक आता है।

मन की उलझन दूर हो गई लेकिन रात अभी आँखों में नींद की कड़वाहट घोलने लायक़ गहराई न थी। कृतित्व में 'सुदामा' नाटक देखा। मन में ठक से लगा, सुदामा की आड़ में कहीं स्वयं वाजपेयी जी महाराज ही न हों। भूमिका पढ़ी। कविवर नरोत्तमदास जी के सुदामा चरित्र की यह पंक्ति, "बाह्मन के धन केवल भिच्छा' वाजपेयी जी को अच्छी नहीं लगी। वाजपेयी जी ब्राह्मण को भिखारी के समान दीन हीन नहीं मान सकते। वे लिखते हैं—"वस्तुतः ब्राह्मण तो किसी दूसरी चीज को ही अपना 'धन' समझता था और उसी के कारण वह प्रसन्नता से निर्धनता का वरण करता था। वह अपने उच्च आदर्श की पूर्ति के लिये कण कण की भिक्षा माँगकर खाने में भी गौरव का अनुभव करता है।" तो, यह है सुदामा। यह हैं आचार्य किशोरीदास वाजपेयी! 'सुदामा' नाटक में कृष्ण और रुक्मिणी की बातों में भी सुदामा के बहाने मुझे आचार्य जी का आत्मपरिचय ही मिला।

रात के ढाई-तीन घंटों में मैंने आचार्य वाजपेयी को खूब निकट से देख लिया था।

सुबह आचार्य जी अपने पुत्र चि० मधुसूदन के साथ आये। दो दिन रहे। उन्हें हरिद्वार के लिए विदा करने के बाद मैंने प्रतिभा से कहा : "तुमने ठीक ही कहा था, यह व्यक्ति राजकीय सम्मान का नदीदा नहीं, केवल भाव का भूखा है।"

दूसरी बार उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का पुरस्कार ग्रहण करने के लिए महाराज लखनऊ पधारे। मंच पर मंत्री, प्रधान मंत्री और मंत्रियों की सेवा में खड़े अर्दलीवत् अफ़सर। शासन द्वारा सम्मानार्थ बुलाये गये साहित्यिक मंच के नीचे। नाम पुकारे जाते, वयोवृद्ध विद्वान् मंच पर जाकर प्रधान मंत्री से पुरस्कार लेते और वापिस आ जाते। आचार्य किशोरीदास जी का नाम पुकारा गया। आचार्य जी, "नहीं, नहीं मुझे नहीं चाहिये। कहकर बैठे रहे।" बहुत मनुहाया गया पर न माने। मैं पास ही

बैठा था। सोचने लगा कि जन्म भर पैसे पैसे का मोहताज रहनेवाला यह दरिद्री ब्राह्मण पन्द्रह हजार रुपयों की राशि को किस शान से नज़रअन्दाज़ कर रहा है। आख़िर क्यों? मंच पर पुरस्कारों को बाँट कर प्रधान मंत्री आचार्य जी की सेवा में पुरस्कार लेकर स्वयं आये। तब भी उनकी ना-ना ही चलती रही। प्रधान मंत्री के बहुत कहने पर पुरस्कार ग्रहण किया। बाद में जाना कि पुरस्कृत साहित्यिकों को मंच पर नहीं बिठलाया गया था इसलिये आचार्य जी बुरा मान गये थे। उनके सुदामा नाटक में दरिद्र मित्र की 'नस नस से परिचित' कल्पवृक्ष के समान सबकी इच्छायें पूरी करनेवाले श्रीकृष्ण अपनी पत्नी से कहते हैं: "जिसे तुम दुख-दरिद्रता समझती हो, उसे वह सुख की चीज मानते हैं। कल्पवृक्ष का क्या दोष जब कोई कुछ इच्छा ही न करे। प्रिये, यह तो कल्पवृक्षों के माली हैं।"



निर्भीक योद्धा वाजपेयी जी

श्री विष्णुप्रभाकर

कोई चालीस वर्ष पुरानी बात होगी, कनखल के बाजार से गुजर रहा था कि दृष्टि ताँगे में अकेले बैठे एक प्रौढ़ सज्जन पर जाकर ठहर गयी। वह कुछ उत्तेजित थे और किसी विरोध प्रदर्शन को लेकर विज्ञप्तियाँ बाँट रहे थे। विशुद्ध भारतीय वेशभूषा, कठोर दृष्टि-भंगि और रोब प्रगट करती मूँछें। मेरे साथी ने बताया, "देखो यह हैं, पं० किशोरीदास वाजपेयी।"

उन्हीं की चर्चा तो मैं कर रहा था। गदगद होकर बोला, "मैं इनसे मिलूँगा।"

"मिल लेना। दुर्वासा के अवतार हैं। हमेशा युद्ध छेड़े रहते हैं।"

तब से लेकर आज तक उनके बारे में यही कुछ सुनता आ रहा हूँ। रुद्ररूप हैं, परशुराम और दुर्वासा के अवतार हैं। चुनौतियाँ देते हैं और ध्वंस करते हैं। लेकिन रुद्र, दुर्वासा, परशुराम सब हैं तो शंकर से जुड़े हुए और शंकर शिव भी हैं, औवड़दानी तथा भोले भंडारी। वे तांडव नृत्य करते हैं तो वर भी देते हैं। जो अकल्याणकर है उसका नाश करते हैं, जो कल्याणकर उसका निर्माण करते हैं। डा० राममनोहर लोहिया से एक बार मैंने पूछा था, "आप मात्र ध्वंस की बात करते रहते हैं निर्माण के बारे में नहीं सोचते।"

एक क्षण मौन रहकर तीव्र स्वर में उन्होंने कहा था, "पहले ध्वंस कर लूँ तभी तो निर्माण होगा।"

तो हर निर्माण से पहले ध्वंस अनिवार्य है। ध्वंस और निर्माण एक ही प्रक्रिया के दो रूप हैं। वाजपेयी जी के जीवन का सम्यक् अध्ययन करने पर पता लगेगा कि उनकी मूल प्रवृत्ति में निर्माण की ही कामना निहित है।

प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर किसी प्रसंग में जब डाक्टर विजयेन्द्र स्नातक ने घोषणा की कि हिन्दी वर्तनी की समस्या लगभग सुलझ गयी है तो दर्शकों की अगली पंक्ति में बैठे वाजपेयी जी तीव्र प्रतिवाद करते हुए बोले, "लगभग नहीं, मैंने उसे पूरी तरह सुलझा दिया है।"

डाक्टर स्नातक ने बड़े आदर के साथ अपनी बात समझानी चाही क्योंकि पूर्ण तो कुछ भी नहीं पर वाजपेयी जी अडिग थे और अपनी बात कहते-कहते वे मंडप से बाहर चले गये। इस घटना को सम्मेलन के विरोधियों ने बहुत उछाला। वाजपेयी जी यदि ध्वंस में विश्वास करनेवाले होते तो इस बात से बड़े प्रसन्न होते परन्तु उन्होंने इस प्रवृत्ति का विरोध करते हुए सम्मेलन को अभूतपूर्व सफल घोषित किया।

वाजपेयी जी का प्रारम्भिक जीवन त्रासदायक घटनाओं से जूझते बीता है। बहुत कच्ची आयु में माँ तथा प्रियजनों का विछोह सहना पड़ा उन्हें। फिर क्या नहीं

करना पड़ा उन्हें। भैंसें चराईं, चाट बेची, मिलों में मजदूरी की पर सरस्वती मंदिर की पुकार अनसुनी न कर सके। उनका कार्यक्षेत्र अनेक करुण कहानियों से आप्लावित है तथा भारत के अनेक नगरों को अपने में समेटे हुये हैं। गोविन्द से किशोरीदास बनने तक की कहानी संघर्ष की अद्भुत कहानी है। अन्त में उनकी जीवन-नौका कनखल की गंगा के किनारे आकर लगी।

लेकिन कनखल साधारण नगरी थोड़े ही है। यहाँ पर तो शिव ने अपनी प्रिय सती के आत्मदाह से क्रुद्ध होकर प्रजापति दक्ष के यज्ञ का ही नहीं, स्वयं दक्ष का भी ध्वंस कर दिया था। वाजपेयी जी भी हिन्दी में फैली अराजकता को भाषा और साहित्य का अपमान समझते हैं। इसीलिये उसके प्रतिकार में निरन्तर खड्गहस्त रहे हैं लेकिन उनका खड्ग मात्र वाणी या शब्द के माध्यम से नहीं, कर्म और नवनिर्माण के माध्यम से ध्वंस करता रहा है। पुरानी स्थापनाओं को हटाकर उन्होंने तर्कसम्मत नयी स्थापनाएँ करने की चेष्टा की है। इसलिए कनखल अब मात्र दक्ष घाट के कारण ही नहीं, आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के कारण भी स्मरण किया जायगा। आधुनिक युग के इस पाणिनि को लोग 'कनखल की विभूति' के रूप में सदा याद रखेंगे।

कनखल मेरी ससुराल है। मेरी पत्नी के भाइयों के वे गुरु रहे हैं और गुरु भी ऐसे जो अपने डण्डे में विद्या का निवास मानते हैं लेकिन चूंकि मेरे लिये कनखल का वही महत्व है जो शिव के लिये हिमालय का और विष्णु के लिये सागर का इसलिये भी वाजपेयी जी मेरे आदरणीय हैं। दिल्ली में मैंने एक बार उनसे निवेदन किया, "वाजपेयी जी! मेरे घर चरणधूली नहीं डालेंगे।"

मुस्कुराकर उन्होंने उत्तर दिया, "प्रभाकर जी, आपके घर चलने का अर्थ है पर आऊँगा किसी दिन।"

उनके अनेक, राजनीति और धर्म-सम्बन्धी, मन्तव्यों से मेरा गहरा मतभेद रहा है। झुँझलाया भी हूँ पर उनके अगाध ज्ञान के प्रति नतमस्तक रहा हूँ लेकिन ज्ञान भी अपने आप में सब कुछ नहीं है--ज्ञान बढ़ जाता है तो बुद्धि ठहर जाती है। वास्तव में मैं श्रद्धानत हूँ उनकी कर्मठता, लगन और साधना के प्रति। वह पाणिनि हों या न हों, एक तपस्वी और निर्भीक साधक निश्चय ही हैं। भयमुक्ति साधना की पहली शर्त है।

'ब्राह्मण सावधान' का उत्तर हो या 'अच्छी हिन्दी' का, शब्दानुशासन हो या रस और अलंकार वह अपनी बात बिना किसी छल छन्द के पर शालीन और तर्कसम्मत भाषा में कहते हैं। कूटनीति से वह बहुत दूर हैं। वह निखूट सत्य बोलने में विश्वास करते हैं भले ही वह अप्रिय हो। वह उनकी असमर्थता हो सकती है, अपराध नहीं।

काश वे कुनैन पर चीनी की चाशनी चढ़ाना जानते पर तब वे आचार्य किशोरीदास वाजपेयी न रहते। हरेक का अपना व्यक्तित्व होता है। उसी से उसकी पहचान होती है। भीड़ में कौन किसको जानता है। जाना उसी को जाता है जो लीक से हटकर चलने का साहस करता है।

वाजपेयी जी कठोर हैं पर जो कठोर है उसके अन्तर में कोमलता वैसे ही समायी रहती है जैसे पर्वत में पयस्विनि। जो कोमल नहीं है वह विनोदप्रिय हो ही नहीं सकता। श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास टण्डन के सम्मान के लिये जब राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद प्रयाग गये थे तभी की एक घटना स्मरण हो आयी है। साहित्यकारों की अनौपचारिक सभा में हास्य-विनोद का वातवरण चरम सीमा पर था। मूँछों को लेकर सभी मजेदार संस्मरण सुना रहे थे कि वाजपेयी जी बोल उठे, "भाइयो, एक बार मैंने भी आजकल के बछड़ों की तरह मूँछें मुड़वा दी थीं।"

चकित-विस्मित एक बन्धु ने कहा, 'आपने मूँछें मुड़वा दीं, सच ?'

दूसरे साहित्यकार बोले, "फिर क्या हुआ ?"

वाजपेयी जी ने उत्तर दिया, "होता क्या, पत्नी ने घर में ही नहीं घुसने दिया। बोलीं--मरद की पहचान मूँछें ही तो होती हैं।'

'फिर. . . . ।'

'फिर क्या', ठहाके के बीच वाजपेयी जी बोले, "देख ही रहे हो कि मूँछें लौट आयीं हैं ?'

पता नहीं यह रसिकता दुर्वासा या परशुराम में थी या नहीं, पर शंकर महाराज में भरपूर थी इसीलिये वाजपेयीजी की सही पहचान दुर्वासा या परशुराम से नहीं, दक्षसंहर्ता शंकर के माध्यम से ही हो सकती है। यूँ डा० सीताराम चतुर्वेदी ने मूँछें रखने का एक रहस्य यह भी बताया कि है कि जब वे दूध पीते हैं तो सारी मलायी छन कर निखालिस दूध पेट में जाता है।

उत्तर प्रदेश सरकार ने जब दस हजार रुपये की राशि देकर उनका सम्मान किया तो वे उसे लेने मंच पर नहीं गये। स्वयं प्रधान मंत्री नीचे आये और उनको सम्मानित किया। इस घटना को लेकर भी बहुत ऊहा-पोह मचा लेकिन मेरी राय में उनका यह प्रतिरोध सही था। सम्मान लिया नहीं जाता, दिया जाता है। आधुनिक युग का पाणिनि व्याकरण की इस भूल को कैसे नजरअन्दाज कर सकता था।

लेकिन 'भारतीय भाषा विज्ञान' के रचयिता वाजपेयी जी भाषा विज्ञान के क्षेत्र में ही शुद्धता के पक्षपाती नहीं हैं, देशभक्ति के क्षेत्र में भी वे वैसे ही सक्रिय रहे हैं। पर-दुखकातर देशभक्त उनके रूप में बहुत कम लोग उन्हें पहचानते हैं। वह कारावास में रहे हैं, उनकी पुस्तक जब्त रही है। चुनाव भी लड़ा है पर उस क्षेत्र में भी उग्रवादियों के साथ रहे। वास्तव में उनके अन्तर में धधकती अग्नि उन्हें सदा अन्याय का प्रतिकार करने को उकसाती रही है। उनसे बहुत सी बातों में तीव्र मतभेद हो सकता है पर इस बारे में दो राय नहीं हो सकती कि ऐसा व्यक्ति न तो चाटुकारिता का शिकार हो सकता है न किसी प्रलोभन का। वह होता है बस सतत निस्पृह और निर्भीक योद्धा। ऐसे योद्धा की ओजस्वी वाणी ही भविष्य के पथ को आलोकित करती है।

उसी निर्भीक योद्धा को मेरे विनम्र प्रणाम।

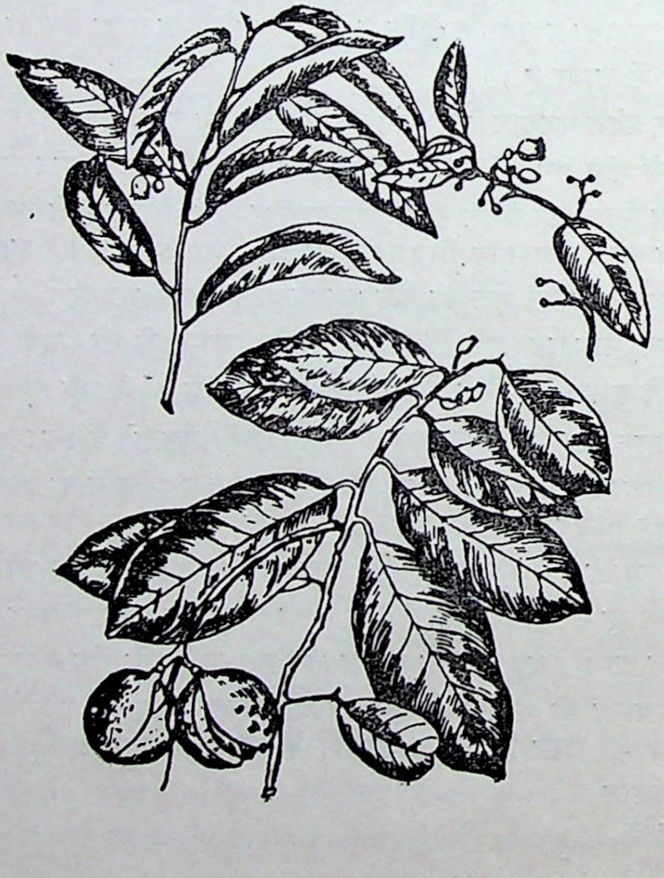
८१८ कुण्डेवालान
अजमेरीगेट
दिल्ली, ११०००६

७

हिंदी जगत् के अभिनंदनीय पुरुष

डा० नगेन्द्र
आचार्य, हिन्दी विभाग
दिल्ली, विश्वविद्यालय

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी निश्चय ही हिंदी जगत् के सर्वथा अभिनंदनीय पुरुष हैं। आधुनिक हिंदी भाषा को मानक रूप प्रदान करने में जिन विद्वानों ने महत्व-पूर्ण योगदान किया है उनमें आचार्य वाजपेयी का स्थान अग्रगण्य है। मैं इस अवसर पर उनके प्रति अपने प्रणाम निवेदित करता हूँ और उनके सुख-स्वास्थ्य-संपन्न दीर्घ जीवन के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ।



एक स्वाभिमानी व्यक्तित्व : पं० किशोरीदास वाजपेयी

डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी

खद्दर की श्वेत धोती, बंद गले का कोट, घनी मूँछें, सादा जूते और हाथ में बेंत यह शब्द चित्र है हिन्दी के उद्‌भट विद्वान् एवं हिन्दी सेवी महापंडित किशोरीदास वाजपेयी का। मेरे मानस पटल पर पंडित जी के फक्कड़पन एवं स्वाभिमानी व्यक्तित्व के अनेक चित्र अंकित हैं। पिछले ४० वर्षों में मुझे वाजपेयी जी के दर्शनों का एवं उनसे सत्संग करने का अवसर अनेक बार मिला है। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनों के अधिवेशनों में, अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मंडल के अधिवेशनों में एवं नागपुर के होनेवाले विश्व हिन्दी साहित्य सम्मेलन में उनके ओजस्वी भाषणों से लाभान्वित भी हुआ हूँ एवं प्रभावित भी। वाजपेयी जी संस्कृत के भी प्रकांड पंडित हैं। उनके द्वारा लिखे अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों में से एक है "ब्रज भाषा का व्याकरण"। यह एक अद्वितीय पुस्तक है। शब्द शास्त्र के वे अधिकारी विद्वान् हैं। हिंदी के व्याकरण को परिमार्जित करने में एवं उसे सुव्यवस्थित रूप देने में उनका योगदान हिन्दी के लिये अमर है। हिन्दी के अनेक लेखक एवं कवि चाहे सार्वजनिक रूप से उसे स्वीकार न करें, किन्तु वाजपेयी जी के ग्रन्थों से उन्होंने शुद्ध एवं परिमार्जित हिन्दी लिखना सीखा है। इस प्रकार यह निसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी के ऊबड़खाबड़ लेखन को वाजपेयी जी के ग्रन्थों से दिशा मिली है, प्रेरणा मिली है, एवं उत्साह मिला है।

हिन्दी के अधिकांश मूर्धन्य कवि एवं विद्वान् राज्याश्रय के सुनहरी जाल में फँसे किन्तु किशोरीदास वाजपेयी जी उन स्वाभिमानी विद्वानों में से हैं जिन्होंने समझौता करना तो दूर किन्तु उस गलियारे में झाँके तक नहीं। वाजपेयी जी की मूल पुस्तकों से सामग्री का अपहरण कर लोगों ने अपार धन संचय किया किन्तु वाजपेयी जी की विशाल-हृदयता ने ऐसे लोगों की उपेक्षा की।

हिन्दी भाषा के प्रति उनका व्यक्तित्व समर्पित रहा। हिन्दी के विरोधी को उन्होंने सदैव अपना विरोधी ही समझा। वे सदैव स्वतंत्र विचारक रहे। ठकुर-सुहाती उन्होंने कभी स्वीकार नहीं की। असहमति की अभिव्यक्ति करने से वे कभी नहीं चूके। अपने सिद्धान्तों पर अटल रहना यदि हम किसी से सीख सकते हैं तो वे हैं श्री किशोरीदास जी वाजपेयी। वाजपेयी जी का अभिनन्दन हिन्दी के स्वाभिमान का अभिनन्दन है, राष्ट्रभाषा के एक प्रातःस्मरणीय सेवक का अभिनन्दन है। इस अवसर पर इस अकिंचन द्वारा व्यक्त किये हुए शब्द-सुमन वे स्वीकार करें। इस आशा के साथ।

१३।७, शक्ति नगर,
दिल्ली--७.

'ठलुआ परशुराम' : आचार्य पण्डित किशोरीदास वाजपेयी

——आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी

हे वाचस्पति

उत्तरापथगामिनी के तट से उत्तरापथ के द्वार पर आया बाबा भोलेनाथ के ठलुआ गणों का यह दल शंकर-अंश ललित किशोरीदास के चरणों में अपने श्रद्धा-सुमन, गंगाजल, बिल्वपत्र, गंडा-भूभूत और चना-चबैनी गठियाये, उल्लासभरा, मनमोदक चखता, आनन्द-मगन, भावविभोर हो यह अभिनन्दन पत्र लिये समुपस्थित है। सज्जन सकल कनखल में समर्पित इस अभिनन्दन के साक्षी हों, हमारे अभिवन्दन के साक्षी हों।

हे बिठूर के लाल

हम सर्वप्रथम प्रणाम करते हैं उस भूमि को जहाँ आप अवतरित हुए। आदि-कवि वाल्मीकि का ब्रह्मावर्त स्थित आश्रम, स्वातन्त्र्यवीर नाना का बिठूर और उसका ग्राम रामनगर धन्य है जहाँ आपने जन्म लिया। कहते हैं पितामह कन्हैयालाल वाज-पेयी से किसी ने कहा था कि जैसे ऋक्षकुलांचल पर महर्षि की कठोर तपस्या से प्रसन्न हो त्रिदेव ने तीन पुत्र ब्रह्मांश से सोम, विष्णुअंश से दत्तात्रेय और महेशांश से दुर्वासा प्रदान किये उसी प्रकार तुम्हारे कुल में भी एक अवतार होगा जो तीनों का सम्मिलित संस्करण होगा। यह भविष्यवाणी बावन तोले पाव रत्ती खरी उतरी। शूरमाभाई पंडित सतीदीन वाजपेयी की एक कोठरी दुई छप्परवाली मड़य्या में रानी माँ की कोख से गोविन्द प्रसाद जन्मे! धरती के लाल के घर न जमीन, न हल-बैल, केवल श्रम की पूँजी। एक भाई, एक बहन, छोटा परिवार सुखी परिवार! इस समादृत परिवार को हमारा प्रणाम अर्पित है।

किन्तु यह वैभव भी परायी विभूति न देख सकनेवाले विधना को काटने लगा और प्लेग का मुखौटा पहने वह आफत की परकाला वाजपेयी की कच्ची हवेली पर मडराने लगी। शूरमा गिरे, रानी माँ गिरी और बहन रामदेई का भोग लेकर ही अभागी का पेट भरा। रह गये युग की परीक्षा देने गोविन्द और रामगोपाल, पर यह जोड़ी भी अधिक काल तक बनी न रह सकी। अकेला गोविन्द आश्रय की खोज में भटकता, रोजी रोटी के लिये कचालू बेचता, भैंस चराता, कच्चीपक्की खाकर रोग पालता, भारत भारती की सेवा के लिये जीवन बचाता कालपथ पर आगे बढता रहा। गाँव से भागे तो मिलों के नगर कानपुर की मिलों में जा गिरे, मेहनतकश मजदूर बने, राजा बनने के बदले पेशराज बने। बच्चों को इमली प्रिय होती है, विधाता ने आपको 'लाल इमली' दी, मजदूरी करने के लिये। इस श्रम, विपत्ति, विपन्नता भरे कैशोर्य को हम प्रणाम करते हैं।

हे वाणी के मानस पुत्र

श्रम से विकल नन्हें मजदूर को करुणामयी सरस्वती ने पुकारा। चटाई महाल की गोपाल संस्कृत पाठशाला में गोविन्द को देववाणी का परिचय मिला। फिर वृन्दावन

ने पुकारा और यहाँ गोपाल सहस्र नाम पाठ करते, ठाकुर जी की सेवा पूजा करते, यमुना स्नान, चनाचबेना और रास का आनन्द लेते हुए भक्तिमार्ग पर चल पड़े। संत मिले तो रसिक सम्प्रदाय से छूटकर, संस्कृत अध्ययन करने की शर्त पर निम्बार्क वेदान्ती बने। गुरु मिले, दीक्षा मिली और गोविन्द जी 'किशोरीदास' हो गये। तीर्थव्रत, भजन पूजन करते, रामचरितमानस, भागवत पढ़ते हुए, यह राधा स्वामिनी ब्रजेश्वरी का दास संस्कृत संस्कृति का पथानुगामी हुआ। बनारस की प्रथमा पास की, ससम्मान, पंजाब विश्वविद्यालय से विशारद और 'शास्त्री' बने। विद्या मिली, सम्मान मिला। पहला हिन्दी लेख वैष्णवसर्वस्व में 'दशधाभक्ति' का छपा और तब से वीणापाणि की दशधाभक्ति में समर्पित हो गये। आपके विद्यार्थी रूप को हमारा प्रणाम निवेदित है।

हे गौरवगुण रत्न निधान

शास्त्री जी अध्यापक बने—भाग्यवान थे अतः अपने गाँव में समादृत हुए, बिना मौर के दुलहा बने, खादीधारी पंडित नाई बाजा विहीन बारात लेकर गृहस्थाश्रम में प्रवेशार्थ जीवनसंगिनी ले आये। सन् बीस से छब्बीस तक छह वर्षों में अध्यापक जी ने सात स्कूल बदले, रावलपिंडी, पेशावर, सोलन, पंडरी (करनाल), रायपुर, रेवाड़ी, कांसली, किंतु कहीं मन का मेल न बैठने के कारण सबको बटाऊ की नाई 'मगवास के रूख ज्यौं' त्यागकर चले आये। कोयल भी कहीं घोंसला बनाता है। यही 'टीचरी' आपको प्रयाग सम्मेलन में लाई, पर ईंधन के अभाव से उठे धुवें पर बैठकर आप पुनः कनखल उड़ आये। यहाँ बालिका विद्यालय में आये तो फैशन और सिनेमा ने आपका दुर्वासा पक्ष प्रबल किया जो अश्रुविगलित हो 'सोम' बना। हे वज्रादपि कठोर मृदूनि कुसुमादपि अध्यापक प्रवर, आपके इस भव्य लोकोत्तर रूप को हमारा प्रणाम निवेदित है।

हे भाषा ज्ञान विशारद

संस्कृत के पंडितों में कथा प्रसिद्ध है कि जब पंडित जी ने अपनी सुपठित कन्या का विवाह अपने एक शिष्य से करने का विचार किया तो सुपुत्री ने कहा—

यस्य षष्ठी चतुर्थी च विहस्य च विहाय च।
यस्याहं च द्वितीया स्यात् द्वितीया स्यामहं कथम्॥

अर्थात् जो रामस्य और रामाय के समान विहस्य को षष्ठी और विहाय को चतुर्थी बताता है और रामं के समान अहं को द्वितीया कहता है उसकी द्वितीया (पत्नी) मैं कैसे हो सकती हूँ। शायद यह कथा सुनकर ही वाजपेयी जी ने भी व्याकरण पढ़ना आरम्भ किया कि कहीं मैं भी इसी आधार पर अस्वीकृत न हो जाऊँ, किन्तु संयोग से और्वपुत्री कंदलासी यह धर्मपत्नी इतनी साध्वी, निष्ठावती और सहनशीला मिलीं कि दुर्वासा मुनि के सत्तर वर्ष शांति, प्रेम, सद्भाव से बीत गये और सहज रूप से कर्ता कर्म करण सम्प्रदान सम्बन्ध कारक प्रयुक्त होते रहे।

किन्तु मैदान में आप शब्द प्रयोग के बाल की खाल निकालते रहे, जहाँ दुष्प्रयोग मिला या कुप्रयोग हुआ कि आपने धर दबोचा। इस कार्य में आपने किसी प्रकार की

मुरौव्वत नहीं की और शब्द ब्रह्म का साधक ब्रह्म का विकृतिकरण स्वीकार भी कैसे करे ? तभी तो आपने व्याकरणाचार्य श्री कामता प्रसाद गुरु और पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी से उद्भट और धुरन्धर विद्वानों से भी टक्कर ली। पर व्याकरण के अखाड़े से उछलकर साहित्य के एरीना में कूदे, जमकर, कसकर, धमककर, चमककर धड़ल्ले से कड़ियल लेखों के ऐसे चाबुक चलाये कि बहुत से अड़ियल घोड़े दौड़ने लगे और इस भागमभागी में कितनों हीं की बखिया उधड़ गई, बड़के पहलवान पट्ठे भी चित्त लेटे गगनतारिका गणना करते नजर आये। साहित्य दर्पण की विमला टीका हो या बिहारी सतसई का संजीवन भाष्य या विशुद्ध साहित्यालोचन आपने राम झरोखे बैठकर सबका मुजरा लिया और यथायोग्य श्रीफल प्रदान किया। चतुर्दिक से बप्पा-बप्पा की पुकार उठी तो अखाड़ाध्यक्ष पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने पट्ठे की पीठ ठोंकी और जनता ने उद्भट समालोचक-समालोचना-शिरोमणि कहकर समादृत किया।

हे विजयी वीर, आपके शब्द साधक रूप को हमारा प्रणाम निवेदित है।

हे अवधूत

काव्य के विराट ताल में भी आपने भाव सौंदर्य के मामले में किसी प्रकार का कल्मष स्वीकार नहीं किया। जब एक सुईस ने वियोगी हरिजी की वीर सतसई की सरस्वती घाट पर टाँग पकड़ ली, तो आप तुरत कूदे और वह धोबिया पछाड़ दाँव लगाया कि आलूचना महाशय विलेशय होते भये। ऐसे-ऐसे कितने ही साहित्यिक नवमल्ल जो पुराने आचार्यों की खोपड़ी पर अपने गंदे पाँव रखकर अपनी डफली पीटते "भाँति अनेक बार बहु बरनी" अपनी करनी अपने मुँह कहकर मियाँ मिट्ठू बन रहे थे, आपका परशुराम सा 'धनुसर कर कुठार कल काँधे' रूप देखकर धनुषयज्ञ के 'जहँ तहँ गाल बजाते' वीर भटों की भाँति, कुछ तो 'बाज झपट जनु लवा लुकाने' और कुछ 'पितु समेत कहि कहि निज नामा, लगे करन सब दंड प्रनामा'। किन्तु सरल सीता को भृकुटि कुटिल से भय करने का कारण नहीं है क्योंकि 'तरंगिणी' में पैठकर देखें तो जैसे गोले की गिरी अंदर से कुछ बाहर से कुछ, उसी प्रकार आपके बाहर से शुष्क वैयाकरणी, नीरस कटु समालोचक के और भीतर से मधुर क्रांतिदर्शी कवि, विकल राष्ट्रप्रेमी, परदुःख कातर महामानव के दर्शन होते हैं। यह दुर्वासा किसी को शाप नहीं देते, बल्कि क्रोधाग्नि में तपाकर सोना खरा बना लेना चाहते हैं। दुर्भाग्य से आधुनिक कैमरा बाहरी फोटो ही लेने में समर्थ है और चिड़िया उड़ी फोटोग्राफर के लाख समझाने पर भी आपकी भौंहें उतरती नहीं, मुस्कान खिचती नहीं और चित्र सदा अब बरसे, तब बरसे घनश्याम का ही बनता है।

आपके इस दिव्य रूप को हमारा प्रणाम निवेदित है।

हे साहित्य उन्नायक

आपने अपनी साहित्य-यात्रा भारतेन्दु से 'आपको न मानै ताको बाप को न मानिये' मन्त्र लेकर आरंभ की। जलियाँवाले बाग कांड से द्रवित कवि को अमृत में विष मिला। संस्कृत में 'निम्बार्काचार्यस्तन्मतंच' छपाकर निःशुल्क बाँट कर सरस्वती पूजा आरंभ

की। अपनी आत्मा को बेचकर न अनुवाद कार्य किये, न इंग्लैण्ड के राजा की स्तुति करना ही स्वीकार किया। साहित्यसेवा के पथ में सुधा मिली तो आत्मसम्मान रक्षार्थ उसे तत्काल त्याग दिया, चाँद में जब तक स्नेह मिला तब तक चंद्रलोक में रहे। महर्षि मालवीय जहाँ अपमानित हों, ऐसा लोक किस काम का अतः धरती पर आये। अभ्युदय ने पुकारा पर विवेक ने रोका और 'माधुरी' भा गयी। यहाँ श्री हरि मिले, प्रेमचन्द मिले, पं० कृष्ण बिहारी मिले। पर रमता जोगी कब एक ठौर पर रुकता है, लखनऊ से गाड़ी गुरुकुल कांगड़ी आ गयी। यहाँ धर्म वितंडा राह आया तो जोगी बीकानेर जा पहुँचा। यहाँ भृगुकुल केतु रूप प्रकट हुआ, विमला टीका और सतसई की टीकाएँ कसौटी पर कसी गयीं। सतसई की लेखमाला माधुरी से गंगा में आयी और पं० पद्मसिंह के स्वर्गवास का समाचार सुनकर उदार आलोचक ने अपनी कृति को गंगा को अर्पित कर दिया। आज कौन वीर सुभट ऐसा साहस करेगा ?

बीकानेर ने पुत्ररत्न छीन लिया अतः विरागी हुए त्रिवेणी तट पर आ बैठे। साहित्य-जगत ने प्रेरित किया कि 'उत्तमा' पास करो, 'साहित्य रत्न' बनो, पर जब कटाई की बारी आयी तो रत्न ने देखा कि छेनी एक अनाड़ी के हाथ है अतः ऐसी परीक्षा को दूर से प्रणाम करके हरिद्वार चले आये।

हे साहित्य जगत के सुघड़ रत्न आपको हमारा प्रणाम निवेदित है।

हे भारती के मूक सेवक

हरिद्वार में हमने आपको सत्याग्रह संग्राम में कूदते देखा। मिस्टर ह्यूम की आस्तीन में आप साँप बनकर डसने लगे, और नौकरशाही ने इस 'जोरदार कांग्रेस वर्कर' को बर्खास्त कर दिया, वेतन जब्त हुआ और 'ताहू पर कछु और' 'रस और अलंकार' अपने राजनीतिक पुट के कारण 'जब्त' हो गयीं। राष्ट्रीय आन्दोलन में इस विषय की जब्त होनेवाली शायद यह एकमात्र पुस्तक है, मालवीय जी महाराज के शब्दों में इसमें मिर्चों का बड़ा तेज बघार लगा था; और सात समुन्दर पार के भूतों को भगाने के लिये मिर्चों की धूनी ही तो चाहिये थी।

स्वतंत्रता-संग्राम में आप पालीवाल जी के नेतृत्व में सिपाही बने, जानपर खेलकर बहुरूपियों से बचकर प्रतिज्ञा पत्र बाँटने लगे। बम फटने को आप 'उमड़ि-उमड़ी पौन भड़ दे निकरि गो' मात्र मानते थे।

आजादी की लड़ाई में विश्राम हुआ तो आप हरिद्वार आकर नागा लोगों से भिड़-गये। अखबार निकाल कर क्रांति करने लगे, रिश्वतखोर तिलमिला उठे। नौकरी से बर्खास्त हुए पर लड़ते रहे। आखिर सरकार झुकी और बकाया वेतन से प्रेस खरीदकर आप प्रकाशक बने। 'द्वापर की राज्य क्रांति' या सुदामा का नाटक यहीं खेला गया, 'लेखन कला' हिन्दी का यान निकला जो सम्मेलन के दुर्गम दुर्ग में धँस गया! 'अच्छी हिन्दी का नमूना' दिखा कर प्रेस बिक गया, नौकरी भी पुनः चली गयी! इस दौर में 'भानु' टंडन जी, पोद्दारजी, से भेंट हुई और अंग्रेजी वालों को हिन्दी की ओर उन्मुख करने की राष्ट्र सेवा चलती रही।

इसी दौर में आपने 'सभा' के जंगल में सो गये द्विवेदी जी के पत्रों का पुलिंदा खोज निकाला और इस प्रकार हिन्दी जगत की अप्रतिम सेवा की। इस शोध में आप को लाल पर्चे छपवाने पड़े, काशी सम्मेलन में शंखनाद करना पड़ा और अन्त में आपने ब्रह्मास्त्र की मशाल लेकर अनमोल सामग्री ढूँढ़ ही निकाली। 'हिन्दुस्तानी' के नाम से नागरी को स्थानच्युत कर वहाँ अरबी बी को बैठाने का षड्यंत्र चला तो उसका आपने रहस्य-भेदन किया। देश के प्राणप्रिय सुभाष को हिन्दुस्तान ने 'देशद्रोही' लिखा तो आपने उसकी पाँच प्रतियाँ जलाकर अन्तर-ज्वाला ठंडी की।

हे राष्ट्रभक्त तपस्वी, आप को हमारा विनीत प्रणाम निवेदित है।

हे सजग प्रहरी,

आपने लाहौर में शहीदे आज़म के अध्ययन कक्ष में बैठकर प्रेरणा ग्रहण की है, लालाजी के लोक सेवक मंडल में प्रवास किया पर सेवा के नाम पर काश्मीर की सैर और कुलु के सेव के टोकरों को लात मार दी। राजर्षि के आदेश पर सरदारों की दुनिया में हिन्दी का प्रचार करने आप भैंणी साहब पहुँचे। शायद आपने अपना राष्ट्रीय दृष्टिकोण सिख भाइयों को पिला दिया होता पर अगस्त ४२ का आन्दोलन भभक उठा और आप हरिद्वार पर गोराशाही से मोर्चा लेने को डट गये! जेल गये, नीलाम हो गये पर झुके नहीं। उन संघर्ष के दिनों में ज्वालापुर में केवल एक तिरंगा था जो आपकी कुटी पर लहराता था, निर्भय, निर्द्वन्द्व।

इसी युग में आपने हरिद्वार में हिन्दी साहित्य का सम्मेलन कराया। ब्रज भाषा का व्याकरण लिखकर आपने एक तूफान खड़ा कर दिया। पोद्दार अभिनन्दन में राज-रीति की ऐसी-तैसी करके नेता पुजैय्या का प्रबल विरोध कर तीसरा तूफ़ान खड़ा कर दिया। उधर देश के बँटवारे में शरणार्थी हरिद्वार पधारे तो उनके स्वत्वों की रक्षा के लिये 'अमन सभा' का अमन चैन छीनकर शान्ति सभा का गठन किया। गोवध बन्दी आन्दोलन और रामलीला का झंडा उठाया। तभी दंगा हो गया, बापू शहीद हो गये और 'संघ' की तख्ती लटकाए आप 'श्रीघर' में अतिथि बना दिये गये। अनशन पर बैठे तब बिना जमानत मुचलका के ताल ठोंककर बाहर आयें। देश स्वतंत्र हो चुका था अतः राजनीति त्याग कर आप पुनः साहित्य सेवा के अखाड़े में आ गये।

आपके संघर्षरत वीर सिपाही को हमारा प्रणाम निवेदित है।

हे कृति शूर,

बीसवीं सदी के छठे दशक में हुए व्याकरण 'काण्ड' की चर्चा बिना यह प्रणामी पूर्ण नहीं हो सकती। विद्या चौर्य कुशल महानुभावों से उट्ठी-बैठी करवाकर आप व्याकरण में उतरे। अन्याय से लड़ते हुए, सरकारी व्याकरण समिति के मुफ्त सैर-सपाटा गोष्ठी सुख को त्यागकर, त्याग-पत्र देकर हिन्दी के काम के लिये समर्पित हुए। 'सभा' ने आमंत्रित किया, सभा के लिये 'हिन्दी शब्दानुशासन' लिखा, शब्दसागर में डुबकी लगाने काशी आये! यहाँ एक जोशी मिल गये जिनसे ग्रह मिलना तो दूर, अशुभ दृष्टि

और वक्री गति ने हंगामा खड़ा कर दिया। अनुशासन पर दुःशासन चीरहरण लीला करने लगे, वर्तनी विवाद के लाक्षागृह में घेरा गया पर किशोरी का सत, अक्षुण्ण रहा। महाभारत शेष हुआ, कौरव हारे, सुनीति का मुखौटा लगाये आर्येन्द्र कल्पना के ऐरावत पर बैठकर आये किन्तु 'जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं कहहु तूल केहि लेखे माहीं', यारों ने बड़ी मेहनत से क्लृप धातु खोद निकाली वह भी आप की कृपा से 'कृप' बनकर पाणिनि को पानी पिलाने को आतुर स्वर्ण शोधियों के मुख पर छार मल गयी, बेचारी हिन्दी बच गयी!

आपके इस अनुशासन पर्व को हमारा प्रणाम निवेदित है।

हे आधुनिक युग के पाणिनि,

हम आपकी भव्य भारती वेशभूषा को नमन करते हैं जिसके लिये 'शास्त्री' पदवी ग्रहण के समय आपने 'पैंट पैजामा के स्थान पर धोती को सम्मान दिया। हम आपके उस जातीय गौरव को नमस्कार करते हैं जो उस वंश में पैदा हुआ जो सम्मान नहीं करता बल्कि जिसका सब लोग सम्मान करते हैं। हम आप के उस राष्ट्रीय स्वाभिमान को प्रणाम करते हैं जिसने ओडायर के भाई, पराधीनता के प्रतीक गवर्नर साहब से हाथ मिलाकर अपने को अपवित्र नहीं होने दिया, न लात खाते हुए पूँछ हिलाने की गुलामों की वृत्ति को ही पास फटकने दिया। आप धन्य हैं हे महाभाग, आपके जीवन से सादगी, सज्जनता, निष्कपट स्वच्छ हृदयता, मनुष्यता, देशाभिमान, अत्याचार अन्याय को भी कभी सहन न करने की प्रवृत्ति, निर्भयता, स्वतंत्र प्रकृति और लगन जैसे सद्गुणों का पाठ पढ़ा जा सकता है। हे कृतविद्य, आपने भारतीय भाषा विज्ञान रचकर राष्ट्रभाषा को 'प्रथम व्याकरण' प्रदान किया है, हिन्दी निरुक्त को शब्दानुशासन सिखाया है, आपकी तरंगिणी में अच्छी हिन्दी का नमूना मिला है। आपने देश को संस्कृति का अर्थ समझाया है। आपके 'सुदामा' ने साहित्य जीवन के अनुभव और संस्मरण में रस और अलंकार प्रदान किये हैं, साहित्य दर्पण की विमला टीका पर संजीवनाभाष्य को साहित्यलोचन से देखते हुए अपने खण्डन-मण्डन को गरिमा प्रदान की है। आप के पांडित्य, गम्भीर अध्ययन, विवेचना-शक्ति और तुलनात्मक गवेषणा के आगे तथा कथित 'डाक्टर' नतमस्तक हैं।

हे कनखल के प्रभा पुंज

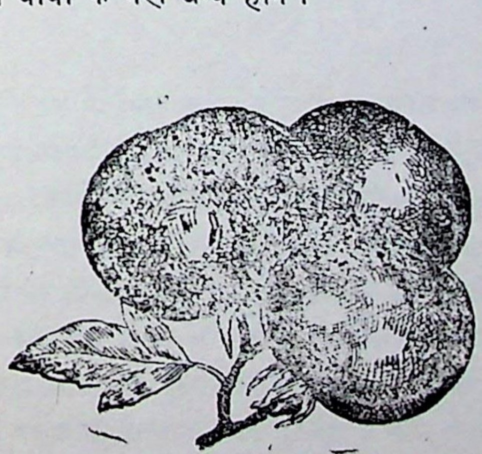
आप कभी आयुर्वेद के छात्र रह हैं अतः सिद्धी की महिमा जानते हैं फिर भी आपने विजया को उपेक्षित बनाकर 'चाय' को चाह दी है और हरिशंकर की भेंट समझ अभी भी उसे कलजे से लगाये हैं। हे मधुसूदन के बाबू, हे राजू के दादा काशी को बस इतनी ही कलक है कि ऐसा फक्कड़ बाबा का गण काहे सिल लोढ़ा त्याग कनखल में खल घोंटता, हरिद्वार पर बैठा, हरहर गाती गंगा के जल में भूतभावन की मनभावन छवि ढूँढ़ता रहता है। गुरू, आप जैसे मस्त पुरुष को तो काशी अविमुक्त धाम में रहना चाहिये। काश कि आप काशी में रह गये होते तो आपकी मस्ती और फक्कड़पन में चार ही नहीं चार सौ चाँद लग गये होते। बनारस में आज भी बहुत से साहित्यिक महन्तों के अखाड़े हैं जहाँ चाँदी कटती है, गोटी बैठती है तो पुजैय्या भी होती है, और चाँद गंजी न हो इस भय से पढ़ैय्या भी। साहित्य ध्वजाधारी महारथियों के पीछे आसन पाटी बगल दबाये अनेक

सुदामा अपने शोध 'चाउर' दिखाने, शुद्ध कराने, परामर्श पाने के लिये चकरदंड करते द्वारिका द्वार पर दुर्बल खड़े एक कहते दरवान को परिचयपत्र दिखाते रहते हैं और जिनकी पुकार त्रिलोकीनाथ के कर्ण कुहर तक पहुँच जाती है वे धन्य धन्य हो जाते हैं। काशी में रामलीला, ध्रुवलीला, प्रह्लादलीला, कृष्णलीला के साथ अनेक लीलाएँ धड़ल्ले से चल रही हैं, यहाँ छापा सेंसर का भय नहीं है। महाकवि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में इन्हीं लीलाधारियों के लिये कहा है 'यस्यागम: केवल जीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति' (जिसकी विद्या केवल जीविका के लिये होती है उसे ज्ञान बेचनेवाला बनिया समझना चाहिये)।

अतः गुरुवर इस वणिकहाट और शतरंज के खिलाड़ियों की बैठक में एक प्रगाढ़ पंडित की प्रबल आवश्यकता है जो जमकर ऐसे 'ज्ञानलवदुर्विदग्धपल्लवग्राही' छोकरों को शासित भी करता रहे और सद्साहित्य रचना को प्रोत्साहित करके मार्गदर्शन करते हुए साहित्यगौरव को स्थिर रख सके। काशी करवट का करपत्र भले ही हटा दिया गया हो, पर अभी मस्ती और लँगड़ा आम गमछा बाँधे पार में निपट रहे हैं। कहा भी है "असारे खलु संसारे सारमेतत् चतुष्टयम्, काश्यां वासः सतां सेवा गंगाम्भः शिवपूजनम्॥" हे महाभाग आपको काशीवास करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिये। ठलुआ क्लब आपका श्रद्धाविनीत अभिनन्दन करते हुए आपको अपने सम्प्रदाय में शामिल करता है और निवेदन करता है कि हरिद्वार से हरद्वार चलें, बाबा की पिंडी पर हाथ फेरकर बम बम करें। भगवन् आप जैसे मस्त मौजी मनस्वी महापुरुष को महादेव की महिमा पुरी बुलाती है। अपनी कृतियों में आप चिरंजीवी हैं, इस चोले में भी परमायु प्राप्त कर अनेक वर्षों तक राष्ट्र, साहित्य और समाज का कल्याण पथ प्रशस्त करते रहें यही हमारी मंगल वासना है।

हे शब्द ब्रह्म योगी,

आज के पावन पर्व पर हम अपना अभिनन्दन अर्पित करते हुए आपको 'ठलुआ-परशुराम' की उपाधि से विभूषित करते हुए कृत-कृत्य होते हैं। आपके आशीर्वाद से हम अज्ञानी गुण-विहीन बाबा के गण धन्य होंगे।



आश्चर्य है, मैं ऐसा प्रभावित कैसे हो गया !

श्री वैद्य रामनारायण शर्मा

बहुत अधिक दिन तक, अधिक समीप रहने से, हृदय पर किसी का भला-बुरा प्रभाव पड़ता ही है। स्वाभाविक है। परन्तु अल्प काल में ही, कुछ ही निकट आने पर, ऐसा प्रभाव मेरे ऊपर कैसे पड़ गया कि मैंने अपने ज्येष्ठ पुत्र चि० ब्रजेंद्र कुमार को पं० किशोरीदास वाजपेयी के घर पर रख दिया और वह तीन वर्ष तक वहाँ रहा ! उसकी स्नेहमयी माँ ने उसे इतने दिन तक इतनी दूर कैसे रहने दिया ! वह स्वयं ही वहाँ कैसे चला गया ? अड़ क्यों नहीं गया ? चि० ब्रजेन्द्र कुमार अब वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का प्रभावशाली डाइरेक्टर है। करोड़ों का जमा खर्च करता है; परन्तु वाजपेयी जी के यहाँ उसे चार पैसे नित्य खर्च के लिए मिलते थे, जब वह स्कूल में पढ़ने जाता था, कनखल से एक मील दूर, मायापुर के मिडिल स्कूल में। वह नौ वर्ष का था और पैदल पढ़ने जाया आया करता था; जाड़े में भी, गरमी में भी और बरसात में भी। घर में छह बच्चे थे—तीन वाजपेयी जी के और तीन वैद्यनाथ के। जब मैंने चि० ब्रजेन्द्र को वाजपेयी जी के यहाँ रखने का निश्चय किया, तो मेरे अग्रज पं० रामदयाल जोशी तथा उनके अग्रज पं० रामकरण जोशी जी ने भी, अपने-अपने पुत्रों को वहाँ भेजने का निश्चय कर लिया। ये तीनों लड़के एक ही उम्र के थे, जब कनखल एक साथ भेजे गए। भाई रामदयाल जोशी का चतुर्थ पुत्र चि० रामावतार शर्मा अब वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का डाइरेक्टर है——नैनी कारखाने को अकेले ही सँभालता है। पाँच वर्ष तक लन्दन रह कर शिक्षा पाई है, और अपने काम में पूरी तरह चौकस है। सबसे बड़े भाई (पं० रामकरण जोशी) का चतुर्थ पुत्र चि० गिरिवरप्रसाद भी अपना स्वतंत्र कारबार चला रहा है। उस समय नौ-साढ़े नौ और दस वर्ष के ये तीनों थे। तीनों साथ-साथ स्कूल पढ़ने जाते थे। चार-चार पैसे तीनो को रोज मिलते थे। फिर घर में वाजपेयीजी इन तीनों से नित्य पूछ लेते थे कि क्या लेकर खाया है ? यह पूछ-ताछ इसलिए कि चाट-पकौड़े खाने की मनाही थी।

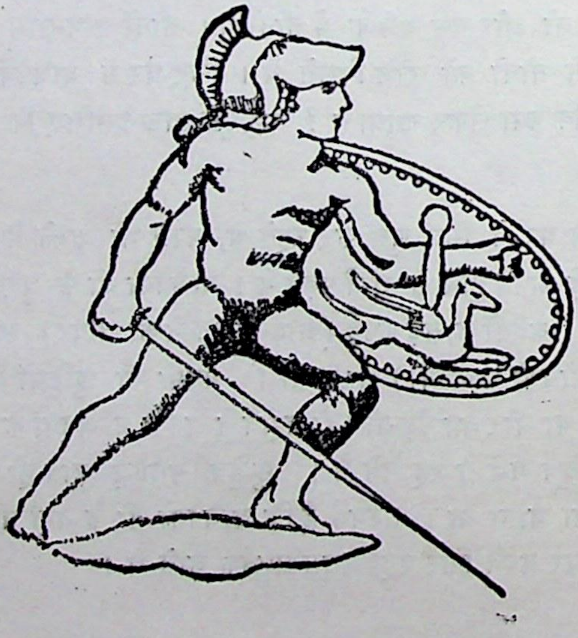
छहो बच्चे घर में मिल जुल कर रहते थे, काम भी करते थे। सबको अपने (छोटे छोटे) कपड़े अपने हाथ से धोने पड़ते थे। वाजपेयी जी के घर से कपड़े धोबी के यहाँ नहीं जाते हैं। बच्चों के, बड़े कपड़े (ओढ़ने-बिछाने की चादरें) स्वयं वाजपेयी जी, या मेरी भाभी (श्रीमती वाजपेयी) धोती थीं। गरमी की छुट्टियों में आदमी जाकर बच्चों को ले आता था और तब डेढ़-पौने दो महीने वे अपनी माँ-बहनों के साथ, छोटे-बड़े भाइयों के साथ, खूब मजे से रह लेते थे। छुट्टियाँ समाप्त होते ही तीनों बच्चों को कनखल पहुँचा दिया जाता था। आश्चर्य है कि वाजपेयी जी के यहाँ नौ-दस महीने उस तरह बिता चुकने पर बच्चे फिर वहाँ प्रसन्नतापूर्वक जाते थे।

खर्च पूरा भेजा जाता था, उस सस्ती के ज़माने में चार सौ रुपये महीना। सन् १६४५ से ४७ तच बच्चे वाजपेयी जी के यहाँ रहे। चौथे दर्जे में दाखिल किए गए थे और छठे दर्जे तक पढ़ाई वहाँ की। ये बच्चे अब तो 'नाना' बन गए हैं; 'बाबा' भी बनने जा रहे हैं; परंतु वाजपेयी जी के यहाँ रहने के दिन भूले नहीं हैं। बड़े आनंद से संस्मरण सुनाते हैं। सबको सवेरे छह बजे नियमित रूप से जागकर, नित्य क्रिया से निवृत्त होकर और कुछ मधुर अशन के साथ दूध पीकर स्कूल जाना होता था। छुट्टी होने पर तीर की तरह सबको घर आना होता था। घर पर आते ही भोजन और खेलकूद। फिर हलकी सी पढ़ाई-लिखाई। वाजपेयी जी ने कभी भी किसी को घर पर स्वयं कुछ नहीं पढ़ाया। सब स्वयं पढ़ते-लिखते थे। रात में नौ बजे नियमतः सब शय्यासुख लेते थे।

बहुत कहने पर भी वाजपेयी जी घर में नौकर रखने को राजी नहीं हुए। घर का सब काम भाभी जी (श्रीमती वाजपेयी), बड़ी लड़की की बेटी सावित्री और चि० मधुसूदन करते थे। छोटे-मोटे काम बच्चे भी करते थे, खूब आनन्द से। खाने-पीने में दूध, घी और दही-पनीर की तो रेल-पेल रहती थी; परन्तु बाजार से बहुत बढ़िया मिठाइयाँ आती थीं; केवल रविवार के दिन। फल और मेवे भी आते थे। परन्तु सिनेमा किसी भी बच्चे को, तीन वर्षों में एक दिन भी देखने को वहाँ नहीं मिला।

कैसा आश्चर्य है? कोई अपने लड़के को सगे भाई के घर पर भी तो रखने को राजी नहीं होता। मुझे स्वयं आश्चर्य है कि वाजपेयी जी का इतना प्रभाव मेरे ऊपर और मेरे अग्रजों पर कैसे पड़ गया!

अब मेरे दोनों अग्रज इस संसार में नहीं हैं। यह सब कथा आपको सुनाने के लिए केवल मैं ही हूँ। हम तीनों भाइयों ने वाजपेयी जी को अपना चौथा भाई 'जननांतर-सौहृदानि' मान लिया था।



ब्रजभाषा और आचार्य वाजपेयी जी

डा० प्रभुदयाल मीतल 'साहित्यवाचस्पति'

वृन्दावन में श्री वाजपेयी जी गोस्वामी राधाचरण जी और गोस्वामी किशोरीलाल जी जैसे हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकारों के सम्पर्क में आये थे। उन्हीं के सत्संग में इन्होंने ब्रजभाषा का प्रचुर ज्ञान प्राप्त कर उसके साहित्य का भरपूर रसास्वादन किया था। फिर उन्हीं से हिंदी में लेख लिखने और ग्रंथ-रचना करने की प्रेरणा भी प्राप्त की थी। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि सर्वश्री राधाचरण गोस्वामी और किशोरीलाल गोस्वामी की गणना आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरंभिक निर्माताओं में की जाती है। वे दोनों महानुभाव अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष भी निर्वाचित हुए थे। श्री वाजपेयी जी का प्रथम लेख गोस्वामी किशोरीलाल जी द्वारा संपादित मासिक पत्र 'वैष्णव सर्वस्व' में 'दशधा भक्ति' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था।

उस काल में श्री वाजपेयी जी का मन वृंदावन के धार्मिक एवं साहित्यिक वातावरण में खूब रम गया था। यदि वहाँ पर इनके योगक्षेम का समुचित प्रबंध हो जाता, तब संभवतः ये स्थायी रूप से ब्रजवासी हो जाते। उस समय इनके द्वारा ब्रज, ब्रजभाषा और ब्रज साहित्य के उन्नयन का जो महान् कार्य सम्पन्न होता, उसकी कल्पना ही की जा सकती है। किन्तु भविष्यत् जीवन-यापन के लिए इन्हें वृन्दावन छोड़ना पड़ा, और संस्कृत अध्यापक के रूप में अन्यत्र जाना पड़ा। फिर भी ब्रज भाषा और ब्रज साहित्य से इन्हें जो अनुराग हुआ था, वह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इन्हें ब्रजभाषा के प्रबल समर्थक और उसके साहित्य के प्रमुख पक्षधरों में माना जाने लगा।

हिन्दी भाषा की सभी बोलियों में ब्रजभाषा का सर्वाधिक महत्व रहा है। इसकी महत्ता के कारण ही इसे 'बोली' की अपेक्षा 'भाषा' कहा गया है। इसमें प्रायः पाँच शताब्दियों तक जो विशाल साहित्य निर्मित हुआ, उससे हिन्दी भाषा गौरवान्वित हुई है। ब्रज भाषा और उसके साहित्य का वह महत्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के काल तक अक्षुण्ण रहा था, किंतु उनके बाद स्थिति में परिवर्तन होने लगा। उस काल के कुछ लेखकों ने खड़ी बोली के समर्थन के नाम पर ब्रजभाषा और उसके साहित्य की कटु आलोचना करना आरंभ किया। उसकी प्रतिक्रिया में ब्रजभाषा के प्रेमीगण ईंट का जवाब पत्थर से देने लगे! फलतः हिन्दी के क्षेत्र में 'ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली' का भीषण द्वंद्व युद्ध छिड़ गया। ब्रजभाषा के समर्थकों के नेता पं० प्रतापनारायण मिश्र और गोस्वामी राधाचरण थे। खड़ी बोली की वकालत करनेवालों में अयोध्याप्रसाद खत्री प्रमुख थे। पं० श्रीधर पाठक, जिन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में उत्तम काव्य-रचना की थी, उस द्वंद्व युद्ध में पहिले तटस्थ रहे, फिर उनका झुकाव खड़ी बोली की ओर हो गया था। उस समय खड़ी बोली के कुछ समर्थक यह भी कहने लगे थे कि ब्रज भाषा साहित्य में श्रृंगार

रस की कुत्सित रचनाओं के अतिरिक्त उपयोगी ग्रंथों का सर्वथा अभाव है। इसके विरोध में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'विभूतिमती ब्रजभाषा' शीर्षक का एक बृहत् लेख प्रकाशित कराया था। उसमें बतलाया गया कि ब्रज साहित्य में सभी उपयोगी विषयों की ग्रंथ रचना हुई है। उनका परिमाण शृंगार रस के ग्रंथों की तुलना में कम नहीं है। किन्तु शृंगार रस की रचनाएँ भी एक ओर दिव्य भक्तिभाव से ओत-प्रोत हैं, तो दूसरी ओर उच्च कोटि के काव्य गुणों से अलंकृत हैं। तथाकथित 'कुत्सित' रचनाएँ तो आटे में नमक बराबर भी नहीं हैं। फिर ब्रजभाषा में ऐसी क्षमता है कि इसमें युगोपयोगी रचनाएँ सदैव लिखी गई हैं, और अब भी लिखी जा रही हैं। श्री हरिऔध जी ने स्वयं 'रस कलस' नामक रस ग्रंथ की रचना आधुनिक दृष्टिकोण से ही की थी। किंतु ब्रजभाषा विरोधियों द्वारा जब उसे हरिऔध जी की 'बुढ़भस' कहा गया, तब श्री वाजपेयी जी की फटकार ने ही उनका मुँह बंद किया था।

उस काल में श्री वाजपेयी जी ने दो महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की थी। एक का नाम है 'रस और अलंकार', तथा दूसरे का नाम है 'तरंगिणी'। प्रथम ग्रंथ में विभिन्न रसों एवं अलंकारों के जो उदाहरण दिये गए हैं, वे देशभक्ति और राष्ट्रीय भावना को उद्दीप्त करने वाले हैं। उस युग की विदेशी अंग्रेजी सरकार ने उक्त ग्रंथ को आपत्तिजनक बतला कर जब्त कर लिया था। 'तरंगिणी' की रचना ब्रजभाषा के दोहों में की गई है। सभी दोहे काव्यगुणसम्पन्न हैं, विविध विषयों से विभूषित हैं, और आधुनिक युग के अनुकूल हैं। इनकी प्रशंसा उस काल के अनेक साहित्य महारथियों ने मुक्त कंठ से की थी। इस रचना के रूप में वाजपेयी जी ने ब्रजभाषा साहित्य को उच्च कोटि की काव्यात्मक भेंट प्रदान की है।

वैसे भारतेन्दु हरिश्चंद्र जी के काल से ही ब्रज भाषा में नवयुग के अनुकूल काव्य-रचनाएँ की जाने लगी थीं। भारतेन्दुजी ने स्वयं इस दिशा में अग्रसर होकर मार्ग-दर्शन किया था। सर्वश्री प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', लाला भगवानदीन, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', सत्यनारायण कविरत्न आदि की रचनाएँ इस संबंध में उल्लेखनीय हैं। श्री वियोगी हरि कृत 'वीर सतसई' भी इसी प्रकार की प्रशंसनीय रचना है। यह सब होने पर भी जब तब ब्रजभाषा और उसके काव्य के विरोध का कटु स्वर सुनाई दे जाता था। इस प्रकार का विरोध छायावादी दृष्टिकोण के कुछ कवियों द्वारा विशेष रूप से किया गया था। इस संबंध में श्री सुमित्रानंद पंत का नामोल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है, यद्यपि अब वे दिवंगत हो गये हैं।

श्री पंत जी में तब नया-नया जोश था। उन्होंने अपनी आरंभिक कविताओं का एक संकलन 'पल्लव' के नाम से प्रकाशित कराया था। उसकी भूमिका में ब्रजभाषा काव्य की अत्यंत कटु आलोचना की गई थी। ब्रजभाषा काव्य-प्रेमियों में उसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। श्री वाजपेयी जी ने उस समय ब्रजभाषा विरोधियों से जम कर लोहा लिया।

ब्रजभाषा के गौरवपूर्ण स्वर्ण काल में जहाँ विविध विषयों के अगणित ग्रंथों की

रचना हुई थी, वहाँ व्याकरण संबंधी रचनाओं का शोचनीय अभाव दिखलाई देता है। जिन आचार्यों ने रस, अलंकार, पिंगल आदि शास्त्रीय विषयों की प्रचुर रचनाएँ की थीं, उनका ध्यान भी व्याकरण की ओर नहीं गया। यह स्थिति ब्रजभाषा साहित्य के लिए हानिकर भी हुई, और लाभप्रद थी। हानि तो स्पष्ट थी कि उस काल के साहित्यकारों के समक्ष ब्रजभाषा का कोई आदर्श रूप न होने के कारण वे मनमानी भाषा का प्रयोग करते रहे, जिसके फलस्वरूप उनकी रचनाओं में साहित्योचित एकरूपता नहीं हो सकी। इस प्रकार की अव्यवस्था एवं निरंकुशता किसी समुन्नत भाषा के लिए उचित नहीं कही जा सकती। उसके विपरीत लाभ यह हुआ कि व्याकरण का कठोर अनुशासन न होने के कारण उस काल की ब्रजभाषा संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश की भाँति केवल कुछ पंडितों के प्रयोग की भाषा बनने से बची ही न रही, वरन् उसका निस्संकोच व्यापक प्रचार भी होता रहा। यदि उस समय व्याकरण के अनुशासन पर बल दिया जाता, तब निस्संदेह उस काल की रचनाओं में वह अवांछनीय अव्यवस्था एवं अनेकरूपता तो नहीं आती, किन्तु उत्तर भारत के विशाल क्षेत्र में भिन्न-भिन्न बोली-भाषाएँ बोलनेवाले अगणित कवियों द्वारा ऐसा विशाल साहित्य भी नहीं रचा जाता।

जहाँ १२वीं शताब्दी से ही ब्रजभाषा में विविध विषयों की रचनाएँ अबाध गति से होती आ रही थीं, वहाँ उसके व्याकरण की ओर सबसे पहिले ध्यान दिया एक विदेशी विद्वान् मीरजा खाँ ने १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में। उसका उद्देश्य ब्रजभाषा को व्यवस्थित एवं उसके साहित्य को अनुशासनबद्ध करना नहीं था, वरन् विदेशी भाषा-भाषी तत्कालीन मुसलमानों को ब्रजभाषा की शिक्षा देकर उसके साहित्य से परिचित करना था। वह कार्य भी उसने फारसी भाषा के माध्यम से किया था। उस काल के मुगल सम्राट् औरंगजेब ने अपने प्रिय पुत्र आज़म खाँ को ब्रजभाषा और उसके साहित्य की विधिपूर्वक शिक्षा देने के निमित्त मीरजा खाँ को नियुक्त किया था। उसने शाहज़ादे की शिक्षा के निमित्त फारसी भाषा में 'तोफ़हेतुल हिंद' (भारत का उपहार) नामक एक महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना सं० १७३२ के लगभग दिल्ली में की थी। इसमें सर्वप्रथम ब्रजभाषा का व्याकरण है, फिर पिंगल (छंद शास्त्र), रस, अलंकार, शृंगार रस, नायिकाभेद, संगीत शास्त्र, काम शास्त्र एवं सामुद्रिक शास्त्र का उल्लेख है। अंत में तीन हजार शब्दों का ब्रजभाषा-फारसी कोश है। इस प्रकार यह विश्वकोश की कोटि का एक विशाल ग्रंथ है, जिसमें ब्रजभाषा व्याकरण का प्रमुख रूप से नहीं, वरन् आनुषंगिक रूप से ही उल्लेख किया गया है। यह महत्वपूर्ण ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। इसका व्याकरण संबंधी अंश ही श्री जियाउद्दीन द्वारा अंग्रेजी भाषा में अनूदित होकर 'ग्रामर आव दि ब्रजभाषा' के नाम से प्रकाशित किया गया है।

ब्रजभाषा व्याकरण के निर्माण का दूसरा प्रयत्न १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गुजरात में किया गया था। वहाँ के रत्नजित् नामक एक गुजराती भाषाभाषी कवि ने सं० १७७० के लगभग ब्रजभाषा पद्य में 'ब्रजभाषा व्याकरण' की रचना की थी। इसमें

तीन प्रकरण हैं, जिनके नाम हैं--१. ब्रजभाषा व्याकरण, २. ब्रजभाषा शब्द-सिंधु और ३. ब्रजभाषा धातु माला। इसके व्याकरण प्रकरण में सात विभक्तियाँ, तीन लिंग, तीन क्रियाएँ, उनके भेद-उपभेद, सर्वनाम, विभक्तियों के भेद, काल-विधि, स्वर, व्यंजन, प्रसंग-विचार दृष्टान्तों के साथ वर्णित है। कवि ने 'सुरबानी' संस्कृत को 'अति कठिन' और 'नर-बानी' ब्रजभाषा को 'सुगम' बतलाते हुए इस ग्रंथ की रचना का उद्देश्य इस प्रकार बतलाया है--

नर-बानी नरलोक में, सुगम पढ़त संसार।
ताकि बोलन-रीति को, कहों कछूक विचार[1]॥

आधुनिक काल में लल्लूजी 'लाल' ने ब्रजभाषा व्याकरण की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए एक लघु पुस्तिका अंग्रेजी भाषा में लिखी थी, जो सन् १८११ ई० में फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता से प्रकाशित हुई थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के पूज्य पिता बाबू गोपालचंद्रजी (काव्योपनाम गिरिधरदास) ने भी ब्रजभाषा का एक संक्षिप्त व्याकरण ब्रजभाषा छंदों में रचा था। उनके पश्चात् ब्रजभाषा के प्रकांड विद्वान् और रससिद्ध कवि श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का ध्यान इस विषय की ओर गया। उन्होंने अपने द्वारा रचित एवं संपादित ग्रंथों में व्याकरण के निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार ब्रज-भाषा शब्दों के रूपों एवं प्रयोगों को स्थिरता देने की चेष्टा की थी; और ब्रजभाषा के प्रामाणिक व्याकरण के निर्माणार्थ प्रबल आंदोलन किया था। कदाचित् उन्होंने एक संक्षिप्त व्याकरण भी रचा था, जो इस समय अनुपलब्ध है। वैसे उनके तत्संबंधी कोशों और बिहारी सतसई तथा सूरसागर के संपादन संबंधी उनके सिद्धांतों से ब्रजभाषा व्याकरण विषयक उनकी मान्यताओं का ज्ञान हो जाता है।

इस समय ब्रजभाषा व्याकरण के नाम से दो ग्रंथ उपलब्ध हैं। एक की रचना डा० धीरेन्द्र वर्मा जी ने सन् १९३७ में की थी, और दूसरे को आचार्य वाजपेयी जी ने सन् १९४३ में रचा था। इनसे पहिले हिन्दी की खड़ी बोली के जो व्याकरण प्रचलित थे, वे अंग्रेजी व्याकरण के अनुकरण पर रचे गये थे। डा० वर्मा जी ने अपने ब्रजभाषा व्याकरण में भी उसी पद्धति का अनुसरण किया था। आचार्य वाजपेयी जी ने तात्त्विक दृष्टि से ब्रजभाषा का मौलिक व्याकरण लिखा।

उस काल में ब्रज के साहित्यकारों ने ब्रज मंडल, ब्रज भाषा, ब्रज साहित्य एवं ब्रज संस्कृति के उन्नयन तथा संवर्धन के लिए मथुरा में 'ब्रज साहित्य मंडल' की स्थापना की थी। उसे अनेक स्थानों के ब्रजभाषा प्रेमियों का हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ था। उक्त मंडल से मेरा आरंभ से ही घनिष्ठ संबंध रहा है, और अनेक वर्षों तक मुझे उसकी समस्त गतिविधियों में प्रमुख पदाधिकारी के रूप में योग देने का सौभाग्य प्राप्त है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मंडल ने समय-समय पर जो योजनाएँ बनाईं, उनमें सक्रिय भाग लेने का भी मुझे सुयोग मिला है। मंडल का चतुर्थ अधिवेशन फीरोजाबाद में हुआ था,

---

१. पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ४२२–४२३।

जिसकी अध्यक्षता पं० कृष्णदत्त पालीवाल ने की थी। उस अवसर पर पदाधिकारियों का जो निर्वाचन हुआ था, उसमें मुझे उपसभापति बनाया गया। उस समय मंडल के समक्ष ब्रजभाषा का एक प्रामाणिक व्याकरण बनाने का प्रश्न उपस्थित हुआ था।

मंडल के कार्यकर्ता डा० धीरेन्द्र वर्मा जी के व्याकरण को अधिक उपयोगी मानते थे। फिर भी वे अंग्रेजी व्याकरण की पद्धति का पूर्णतः बहिष्कार करने के पक्ष में नहीं थे; क्योंकि हिन्दी सहित सभी भारतीय भाषाओं के व्याकरणों में उस समय उसी का अनुसरण किया गया था। उनका मत था कि आचार्य वाजपेयी जी के व्याकरण में कुछ थोड़ा सा परिवर्तन कर उसे वैज्ञानिक विधि से परिवर्धित कराया जावे। उसके लिए वे डा० धीरेन्द्र वर्मा जी और आचार्य वाजपेयी जी दोनों के सहयोग को आवश्यक समझते थे। डा० धीरेन्द्र वर्मा जी उस समय इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग की स्थापना कर उसके द्वारा ब्रजभाषा एवं उसके साहित्य के अध्ययन एवं अनुसंधान का उपयोगी कार्य कर रहे थे। वे मंडल को भी अपने सुझावों से लाभान्वित किया करते थे। इसीलिए व्याकरण की योजना में मंडल उनके सहयोग से वंचित नहीं होना चाहता था।

पर्याप्त विचार-विमर्श के उपरांत मंडल ने ५ सदस्यों की एक 'व्याकरण समिति' का गठन किया। चार सदस्य थे, सर्वश्री डा० धीरेन्द्र वर्मा, आचार्य वाजपेयी जी, डा० सत्येन्द्र और श्री रसिकेन्दु। पाँचवाँ सदस्य मैं था, और मुझे ही उक्त समिति का संयोजक भी नियुक्त किया गया। मैंने मंडल द्वारा प्रस्तावित व्याकरण की रूपरेखा के संबंध में कुछ सुझाव प्रस्तुत किये, और उन्हें मंडल की मुख पत्रिका, 'ब्रजभारती' (आषाढ़ सं० २००३—वर्ष ४ अंक ४) में प्रकाशित कराया। उसके अनुमुद्रण की प्रतियाँ व्याकरण समिति के सदस्यों तथा अन्य विद्वानों के विचारार्थ पृथक् रूप से भेज दी गयीं।

काव्यशास्त्र के सर्वमान्य आचार्य और हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्यकार स्व० कन्हैयालाल जी पोद्दार का 'हीरक जयंती महोत्सव' वसंत के शुभ आगमन की बेला में माघ शुक्ल ४–५ सं० २००३ तदनुसार ता० २६–२७ जनवरी सन् १९४७ को मथुरा में सम्पन्न हुआ था। उसके दूसरे दिन 'ब्रजभाषा-व्याकरण समिति' की बैठक भी रखी गई, जिसका सभापतित्व आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने किया था। डा० धीरेन्द्र वर्मा उस बैठक में उपस्थित नहीं हो सके थे, किन्तु उन्होंने अपने विचार लिखित रूप में भेज दिये थे। कुछ अन्य विद्वानों ने भी अपने विचार लिखकर भेजे थे। तब व्याकरण समिति के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि सभी विद्वानों से प्राप्त विचारों का समन्वय कर उनके आधार पर ब्रजभाषा का विशद व्याकरण बनाने का गुरुतर कार्य किस अधिकारी विद्वान् को सौंपा जावे? हम सब की दृष्टि स्वभावतः ही आचार्य वाजपेयी जी पर थी, किन्तु वे अपने व्याकरण के रहते हुए न तो किसी अन्य ग्रन्थ की आवश्यकता समझते थे, और न अपनी कृति में कुछ परिवर्तन अथवा परिवर्धन करना ही उचित मानते थे। यद्यपि बाद में उन्होंने कुछ परिवर्तन किया था। डा० सत्येन्द्रजी ने प्रस्तावित व्याकरण की एक विशद रूपरेखा प्रस्तुत की थी, किन्तु वाजपेयी जी ने उसे अमान्य कर दिया था। यहाँ

तक कि 'संधि' के संबंध में दोनों विद्वानों में एक प्रकार का शास्त्रार्थ ही छिड़ गया। इस विषय पर मेरा डा० सत्येन्द्र जी और आचाय वाजपेयी जी से विस्तृत पत्र-व्यवहार हुआ था। बाद में आचार्य वाजपेयी जी के आदेशानुसार डा० सत्येन्द्र जी की रूपरेखा और उससे संबंधित समस्त पत्रों को 'ब्रजभारती' (चैत्र सं० २००४—वर्ष ५, अंक १) में प्रकाशित कर दिया गया था। उससे स्थिति कुछ ऐसी बन गयी कि ब्रजभाषा व्याकरण के संबंध में मंडल का उत्साह मंद पड़ गया। मैं अनुभव करता हूँ कि उस समय मंडल का कार्य जिस उत्साह से चल रहा था, उसके कारण ब्रजभाषा का विशद व्याकरण भी निर्मित होकर प्रकाशित हो जाता। क्योंकि उन्हीं वर्षों में 'ब्रज लोक संस्कृति', 'ब्रज की लोक कहानियाँ, 'ब्रज का इतिहास', और 'पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ' जैसे छोटे-बड़े अनेक ग्रंथ ब्रज साहित्य मंडल के प्रयत्न से प्रकाशित हुए थे।

मंडल के जन्म से ही हम लोगों की यह आकांक्षा रही कि ब्रजभाषा का सर्वांगपूर्ण कोश ब्रजभाषा का विशद व्याकरण और सूरसागर का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हों। किन्तु ब्रजभाषा और उसके प्रेमियों का यह दुर्भाग्य है कि ये आवश्यक ग्रंथ अभी तक प्रकाशित नहीं हुए। इस संबंध में मैं अपने को व्यक्तिगत रूप से दोषी मानता हूँ। कारण यह है कि आचार्य वाजपेयी जी चाहे दूसरों के प्रति कुछ कटु भी रहे हों, किन्तु मुझे सदैव उनका मधुर व्यवहार और स्वभाविक स्नेह मिला है। यदि मैं उनके पीछे लगा रहता, और जब-तब उनसे प्राप्त कुछ कड़वी-तीखी बातों की उपेक्षा करता रहता, यद्यपि ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होती, तो उनके सहयोग से ब्रजभाषा व्याकरण और ब्रजभाषा कोश के प्रस्तुतीकरण का कठिन कार्य सम्पन्न करा देता। क्योंकि मैंने यह गुरुमंत्र सीखा है—'लात खाय पुचकारियै, होय दुधारू धेनु'।

कालांतर में मंडल में प्रचारात्मक राजनीति का ऐसा बोलबाला हुआ कि उसकी साहित्यिक गतिविधियाँ शिथिल पड़ गईं। साहित्यिक-अभिरुचि के सक्रिय कार्यकर्ता उससे उदासीन होकर व्यक्तिगत रूप से ब्रजभाषा, साहित्य, ब्रज-संस्कृति और हिन्दी के उन्नयन का कार्य करने लगे। डा० सत्येन्द्र जी ब्रज के लोक साहित्य संबंधी शोधपूर्ण ग्रंथों के प्रकाशन में लग गये। श्री गोपालप्रसाद व्यास दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संगठन में जुट गये। मैं ब्रजभाषा साहित्य संबंधी महत्वपूर्ण ग्रंथों के अध्ययन, अनुसंधानपूर्ण संस्करण प्रस्तुत करने में लग गया। मेरे ग्रंथों में सूरदास कृत 'साहित्य लहरी' का विवेचनात्मक सटीक संस्करण भी है। 'साहित्य लहरी' दृष्टकूट पदों की अत्यंत दुर्बोध रचना है। डा० धीरेन्द्र वर्मा जी ने इसे 'ब्रजभाषा का सबसे अधिक क्लिष्ट काव्य' बतलाया है। मेरे द्वारा प्रस्तुत इसके सही संस्करण को देख कर आचार्य वाजपेयी जी ने हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त करते हुए मुझे अपने २८–३–६१ के पत्र में लिखा था, "भाई मीतल जी, ब्रज साहित्य संबंधी ग्रंथों के प्रकाशन में खूब परिश्रम किया है आपने। पुराने गूढ़ार्थ काव्यों के समझने-समझाने में मेरे देखते-जानते लाला भगवानदीन 'दीन' ने श्रम किया था, और अब आप उस दुष्कर काम में जुट गये हैं। पहाड़ तोड़-काट कर गंगाजी को सुलभ करनेवाले आप साहित्यिक भगीरथ हैं"। जो लोग कहते हैं कि आचार्य वाजपेयी जी से

कोई विरला भाग्यवान् ही प्रशंसा प्राप्त कर सकता है, वे मेरे भाग्य की सराहना कर सकते हैं।

आचार्य वाजपेयी जी को ब्रज, ब्रजभाषा और ब्रज साहित्य के प्रति बड़ा ममत्व रहा है। इनके उन्नयन के लिए ये सदैव प्रयत्नशील रहे हैं। ब्रजभाषा व्याकरण की आवश्यकता समझ कर उसे इन्होंने मौलिक रूप में लिखा और प्रकाशक के अभाव में स्वयं अपने व्यय से प्रकाशित कराया; यद्यपि उस समय इन्हें घोर आर्थिक कष्ट था। किन्तु जब उसकी बिक्री नहीं हुई, तब हिन्दी पाठकों की उपेक्षा एवं कृतघ्नता से इन्हें बड़ी झुंझलाहट हुई। इसका मुझे व्यक्तिगत अनुभव है।

सन् १९५१ की बात है। उस समय मैं 'ब्रज भारती' का संपादन कर रहा था। उसके लिए मैंने अनेक विद्वानों से सुंदर लेख प्राप्त किए थे। जब मैंने आचार्य वाजपेयी जी से लेख भेजने को लिखा, तब उन्होंने मुझे दिनांक ६–६–५१ को बड़ा मार्मिक पत्र भेजा था। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—"मैं साहित्य छोड़ रहा हूँ। न कुछ लिखूंगा, न छपाऊँगा। मन भर गया है। जो पुस्तकें छप गयी हैं, वे ही पड़ी सड़ रही हैं। ब्रजभाषा का व्याकरण भी अभी तक पड़ा है। ये सर्वसाधारण की चीजें नहीं। बिना परीक्षा में रखे छात्र क्यों पढ़े? तब मैं क्या करूँ? क्या खाऊँ? पत्र-पत्रिकाओं से कुछ मिलता नहीं; मिले भी, तो उससे क्या काम चलेगा? सोचा, हिन्दी को मेरे साहित्य की जरूरत नहीं। अब पान या चाय की छोटी सी दुकान करूँगा और रोटी-दाल की चिंता से छुट्टी पाऊँगा। जो कुछ लिखा, उसी पर पछतावा है।"

निस्संदेह आचार्य वाजपेयी जी ने साहित्य-साधना करते हुए जितना कष्ट सहा है, उतना वर्तमान लेखकों में से दो-चार ने ही कदाचित् सहा हो। किन्तु भगवान् की कृपा से इस समय वैसी स्थिति नहीं है। इस समय इनके ग्रंथों का यथेष्ट प्रचार है और उनके कारण हिंदी जगत् में इन्हें समुचित सम्मान मिला है। अपनी आर्थिक स्थिति के संबंध में भी अब इन्हें चिन्ता नहीं है। ऐसी परिस्थिति में क्या मैं इनसे ब्रजभाषा के विशद व्याकरण की संरचना की प्रार्थना कर सकता हूँ?

जब इन्होंने 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' तथा 'हिन्दी निरुक्त' लिखने के पश्चात् 'हिन्दी शब्दानुशासन' और 'भारतीय भाषा विज्ञान' जैसे मानक ग्रंथों की रचना की है, तब अपने पूर्वलिखित 'ब्रजभाषा व्याकरण' के उपरांत 'ब्रजभाषा का विशद व्याकरण' लिखने की आवश्यकता भी इन्हें अवश्य प्रतीत होगी। इस समय ब्रजभाषा ग्रंथों के अध्ययन के प्रति पाठकों की अभिरुचि है; किन्तु व्याकरण और कोष के अभाव में उन्हें ये दुर्बोध ज्ञात होते हैं। आकाशवाणी के मथुरा केन्द्र के प्रोत्साहन से अब ब्रजभाषा में गद्य-पद्यात्मक रचनाएँ भी प्रचुर परिमाण में की जा रही हैं किन्तु इनकी भाषा में एकरूपता नहीं है। इनके अनुशासन एवं मार्ग-दर्शन के लिए ब्रजभाषा व्याकरण की अत्यन्त आवश्यकता है। इसकी पूर्ति करने में केवल आचार्य वाजपेयी जी ही समर्थ हैं। यदि इनके द्वारा ब्रजभाषा का नवीन व्याकरण रचा जा सके, तब यह इनकी एक और देन होगी।

कालजयी हिन्दी परिष्कारक : किशोरीदास वाजपेयी

डा० योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण'

पुण्यसलिला गंगा के तट पर स्थित पौराणिक तीर्थ "कनखल" में विख्यात दक्ष प्रजापति का मन्दिर है, जहाँ समस्त सिद्धियों के दाता "औवड़दानी शिव" का निवास है। धर्मप्राण लोगों की "बदरीनाथ यात्रा" इस शिव-नगरी के "शिवलिंग" पर जल चढ़ाकर आरंभ होती है। इसी नगरी में हिन्दी के "औवड़दानी" आचार्यप्रवर पं० किशोरीदास वाजपेयी रहते हैं और आज छोटा सा "कनखल" हिन्दी के सच्चे प्रेमियों का तीर्थ बन गया है। हिन्दी के पाणिनि आचार्य वाजपेयी का बेलाग व्यक्तित्व "विवादास्पद" बना रहा, किन्तु आज यह मानना ही होगा कि हिन्दी के इस 'महाशिव' ने गरल पीकर जो शाश्वत ज्ञानामृत दिया है वह स्तुत्य है और सदा रहेगा।

आचार्यप्रवर के साहित्यिक जीवन की 'स्वर्ण जयन्ती' इसी वर्ष ग्रीष्म (जून) ऋतु में समारोहपूर्वक मनाई जा रही है; इस यज्ञ के सूत्रधार हैं, डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश', डी० लिट्०, जो मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान हैं। संघर्षों से जूझते हुए, अस्सी से अधिक ग्रीष्म तप कर और इतनी ही बरसातें भींग कर हिन्दी के वरेण्य परिष्कारक आचार्य वाजपेयी ने हिन्दी-व्याकरण को वस्तुतः अब "खरा-सोना" ही बना दिया है। गत १८ सितंबर, १९७७ को 'हिंदी-संस्थान, उ० प्र०' द्वारा आचार्य वाजपेयी को संस्कृति-प्रेमी प्रधान मंत्री श्री मोरारजी देसाई ने 'मंच से स्वयं उतर कर' सम्मानित किया था। उस विलक्षण घटना ने एक ओर तो सम्मान्य मोरारजी भाई को अनूठी गरिमा दी थी और दूसरी ओर हिन्दी के स्वाभिमान-सूर्य की प्रभा को बहुगुणित कर दिया था।

आचार्यप्रवर मेरे पूज्य पिताश्री के गुरु हैं, अतः मैं उन्हें 'दादाजी' कहता हूँ और उनका अतुलनीय स्नेह सदा पाता हूँ। पन्द्रह हजार रुपए का विशिष्ट सम्मान उन्हें जब मिला, तब मुझे दिल्ली के 'मनीषी सम्मेलन' के अवसर पर प्रकाशित 'हिन्दी-मनीषा" में आचार्य वाजपेयी द्वारा लिखे 'किशोरीदास वाजपेयी : अपनी जबानी' लेख का स्मरण हो आया था। उन्होंने लिखा था—"मेरा मन पत्थर नहीं है कि उस पर कोई असर न हो। न मुझे 'देव पुरस्कार' मिला, न 'मंगलाप्रसाद पुरस्कार' और न कोई 'पंच-हजारी,' 'पन्द्रह हजारी पुरस्कार'। तब 'लखटकिया' पुरस्कार की बात ही क्या? पैसे की बात नहीं, मान-अपमान की बात है।"

मैंने श्रद्धेय दादाजी से अन्तरंग-साक्षात्कार लेने का निश्चय किया और दक्ष रोड,

कनखल स्थित उनके निवास पर जा पहुँचा। वे सादगी के साकार स्वरूप हैं और जो उनके सान्निध्य का सुख पा चुके हैं, उन सब को भी मेरी ही भाँति उनके व्यक्तित्व के लिए 'नारियल' की उपमा ही सटीक लगेगी। पूज्य दादाजी ऊपर से 'बेहद कठोर' (कभी थे, अब तो वह भी नहीं) और भीतर से दूध जैसे बेहद मीठे और उजले हैं। कतई अनौपचारिक रूप में आचार्यजी ने पूछा—"हाँ, पूछो। तुम क्या पूछना चाहते हो मुझसे?" और बिना किसी भूमिका के मैं पूछता गया और वे 'स्मृति कोष' से अमूल्य निधि मुक्त भाव से लुटाते गये।

मैंने पूछा—"उ० प्र० हिन्दी संस्थान ने जो १५ हजार रुपए का पुरस्कार दिया है, वह कैसा लगा आपको?" —दादाजी हँस कर बोले, "बड़ा अच्छा लगा है" और संतोष की मुद्रा में कहने लगे—"विशेष रूप से १५ हजार की दक्षिणा के लिए मैं संस्थान का धन्यवाद करता हूँ, क्योंकि ये पन्द्रह हजार मेरे बड़े काम आएँगे।" थोड़ा रुक कर और कुछ गंभीर होकर बोले—"मुझे लगा है कि यह सम्मान मेरे 'पूर्वार्द्ध साहित्यिक जीवन' का है, उत्तरार्द्ध का नहीं।"

मैं थोड़ा चौंका और पूछ बैठा—"क्या आपका पूर्वार्द्ध और उतरार्द्ध साहित्यिक जीवन कुछ अलग-अलग है?".... और दृढ़ स्वर में वे बोल पड़े—"हाँ! पूर्वार्द्ध जीवन की मेरी साहित्य सेवा ही वह है जिसमें मैंने स्वयं को खपा-खपा कर 'हिन्दी का परिष्कार' किया है और वर्तनी की 'एकरूपता प्रतिष्ठित' करने हेतु अथक - अडिग संघर्ष किया है। मेरे पूर्वार्द्ध साहित्यिक जीवन में ही मेरा काव्य-ग्रंथ "तरंगिणी" है जिसने ब्रजभाषा-काव्य को नई दिशा दी। द्वापर की राज्यक्रांति को आधार पीठिका बनाकर रचा गया मेरा विशिष्ट पौराणिक नाटक 'सुदामा' भी इसी पूर्वार्द्ध जीवन की अविस्मरणीय उपलब्धि है।"

फिर से मैं चौंका—"क्षमा करें, दादाजी। मैं तो आज ही सुन रहा हूँ कि आप 'कवि' और 'नाटककार' भी हैं? कृपया कुछ विस्तार से कहिए न?" दादाजी ने निर्विकार भाव से मुस्करा कर कहा—"अरे, तुम ही क्या, हिन्दी के अधिकांश लोग यह सब नहीं जानते। ब्रजभाषा काव्य 'तरंगिणी' को पढ़कर हिन्दी के पितामह आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० रामचन्द्र शुक्ल और प्रखर मेधा के विश्रुत महाकवि "हरिऔध" विभोर हो गए थे और महाकवि पं० रामनरेश त्रिपाठी ने तो मुझे काव्यमय आशीष देते हुए कहा था—

"सरस तिहारे दोहरे, सुकवि किशोरी दास।
रस बरसत मन बस करत, हरत हिए को प्यास॥"

और इसी प्रकार मेरे नाटक "सुदामा" पर विद्वान् समालोचक डा० माताप्रसाद गुप्त ने उस समय ही "पुस्तक-साहित्य" में लिखा था—"इधर की पौराणिक कृतियों में एकमात्र यह नाटक कलात्मक चीज है।"—इनके अतिरिक्त मैंने हिन्दी जगत् को 'संस्कृति' का अर्थ बताया और लगभग एक हजार छोटे-बड़े लेख-निबन्ध सभी पत्र-पत्रिकाओं में छपवाए।

यहीं सब मेरा पूर्वार्द्ध-साहित्यिक जीवन है, जो उ० प्र० हिन्दी संस्थान द्वारा पुरस्कृत हुआ है।"

मैं वस्तुतः उपकृत हो रहा था यह विशिष्ट 'नया' सुनकर और उसी भावातिरेक में बोल पड़ा––"मेरी पीढ़ी तो आपका उत्तरार्द्ध साहित्यिक-जीवन ही जानती है। क्या उसमें भी कुछ और विशिष्ट है?" मेरे प्रश्न की प्रतिक्रिया में चेहरे पर थोड़ा खिंचाव आया और आचार्य जी कुछ तेज होकर बोले––"क्या जाना है, तुम्हारी पीढ़ी ने मेरा जीवन? कोरे भाषण देनेवाले और डींग हाँकनेवाले हिन्दी के एम० ए० पास तो मेरे 'भारतीय भाषा विज्ञान' और 'हिन्दी शब्दानुशासन' का नाम तक नहीं जानते?"

कुछ हतप्रभ सा मैं पूछ बैठा––"लेकिन ऐसा आखिर क्यों है?" तो उत्तर में वे फिर बोले––"मैं क्या बताऊँ, ऐसा क्यों है? मैं चाटुकार नहीं हूँ न, ठकुर सुहाती कह नहीं सकता और कोई 'पद' मेरे पास है नहीं कि लोग गुड़ पर मक्खी की तरह खिंचे आएँ। खरी और सच्ची कहता हूँ, शायद इसीलिए लोग मुझे पचा नहीं पाते और विश्व-विद्यालयों के 'मठाधीश' स्वीकार नहीं कर पाते।"

मेरे मुँह से अनायास निकल पड़ा––"अवश्य करेंगे, अब करना ही होगा। बस, अब कुछ उत्तरार्द्ध साहित्यिक जीवन पर भी तो कहिए न? बड़ी कृपा होगी।" आचार्य वाजपेयी, फिर से, स्निग्ध भाव से कहने लगे––"सच यह है कि मेरा उत्तरार्द्ध साहित्यिक जीवन ही अधिक महत्वपूर्ण और स्थायी मूल्य के तत्वचिन्तन से परिपूर्ण है। इसमें व्याकरण, भाषा-विज्ञान और काव्यशास्त्र-विषयक मेरे सर्वथा मौलिक और नवीन 'तत्व-सिद्धांत' का विलक्षण अमृत है। ये सब मेरी दृष्टि से 'अनमोल' रत्न' हैं और सच तो यह है कि उ० प्र० हिन्दी संस्थान के "पन्द्रह हजारी पुरस्कार" का इनसे कोई संबंध नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि इस सम्मान से ये सब तात्विक चिन्तन की स्थायी निधियाँ बहुत ऊँचे दर्जे की चीजें हैं। ऐसी विलक्षण चीजें संस्कृत साहित्य में भी प्राप्त नहीं हैं।····इसी को मैं अपने उत्तरार्द्ध जीवन की अक्षय-अमूल्य निधि मानता हूँ।"

मुझे लगा औढरदानी दादाजी ने मुझे वास्तव में अनूठा अमृत दे डाला है। मैं कृतज्ञ भाव से बोला––"बस, दादाजी। अब और प्रश्न नहीं, सिर्फ याचना है इस लेख के साथ छापने हेतु आपके चित्र की। मुझे अपना कोई चित्र दे दीजिए।"

और सच मानें आप, आचार्य वाजपेयी जोरों का ठहाका लगाकर हँसे और बोले–– "बूढ़े का चित्र लोगे? ना बाबा, लेख छपवा सकते हो, चित्र मेरा कोई पास है नहीं।" और फिर मेरे कंधे पर हाथ रखकर बड़े गहरे भाव से बोले––"अरे 'सचित्र' न सही, मुझ विचित्र का स्मरण 'विचित्र' ही सही।"

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी सचमुच 'शिव' हैं, जो 'रुद्र' यदि होते भी हैं तो सदैव नवसर्जना के लिए ही और उनमें सतत स्नेह का सागर हिलोरें भरता रहता है। पावनसलिला गंगा की सी 'परदुःखकातरता' हृदय में सँजोए यह मनीषी वैयाकरण हिन्दी

का निरन्तर संस्कार कर रहा है। साहित्यिक जीवन की 'स्वर्णजयन्ती' के अवसर पर उदारमना आचार्यप्रवर को शत-शत वन्दन, शत-शत प्रणाम।

"हे "हिन्दी के पाणिनि" तुमको,
सतत समर्पित शत-शत वन्दन।
भाव-पुष्प की अंजलि लेकर—
करते श्रद्धायुत अभिनन्दन!!"



वाजपेयी जी का आत्म-परिचय

[आदरणीय वाजपेयी जी ने हमारे पूछने पर अपने जीवन के प्रथम चरण की जो कथा संक्षेप में सुनाई है, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—सम्पादक]

"आप ने 'बिठूर' नाम सुना है न ? सन् सत्तावन के स्वातंत्र्य-समर की कल्पना जहाँ हुई थी और जहाँ से उस की लपटें उठ कर चारो ओर फैली थीं। उत्तर प्रदेश की नाक है कानपुर। कानपुर शहर से आठ-दस मील पश्चिम, भागीरथी के तट पर, यह इतिहास-प्रसिद्ध स्थान 'बिठूर' है, जिसे 'ब्रह्मावर्त' भी कहते हैं। यहीं मुनि वाल्मीकि को वाणी प्राप्त हुई थी और यहीं आदि काव्य (वाल्मीकि रामायण) का प्रणयन हुआ था। यहीं निर्वासिता सीता को शरण मिली थी और यहीं महाराष्ट्र के निर्वासित तेजस्वी ब्राह्मण शासक (पेशवा) आ कर बसे थे। यहाँ की मिट्टी ने लव और कुश में वह शक्ति भर दी थी कि उन बच्चों ने रावण-विजयी राम को भी छका दिया था। यहीं की मिट्टी ने पेशवा, तात्या टोपे और एक पुरोहित की कन्या में वह शक्ति भर दी थी कि जिस ने अंग्रेजी सरकार को लगभग उखाड़ ही दिया था। वही कन्या आगे चलकर झाँसी की रानी 'लक्ष्मी बाई' नाम से प्रसिद्ध हुई। झाँसी का छोटा-सा राज्य था—ब्राह्मण शासक ! बिठूर की शक्ति ने झाँसी को जगमगा दिया। तात्या टोपे तो सचमुच संसार को चकित कर देनेवाले परशुराम के अवतार सिद्ध हुए। अकेले ही जूझते रहे; ऐसी शक्ति !

उसी बिठूर के पास, दो मील की दूरी पर 'रामनगर' एक छोटा-सा गावँ है। यहीं मेरी जन्मभूमि है। मेरे पितामह पं० कन्हैयालाल वाजपेयी (कन्हई वाजपेयी) ने सन् ५७ के स्वातंत्र्य-समर में भाग लिया था ? और उसी के परिणाम-स्वरूप कई पुश्तों के लिए भयंकर गरीबी आ गई। उन्होंने स्वयं गरीबी का जीवन बिताया; पर ठाट के साथ। उन के पुत्र (मेरे तेजस्वी पिता) ने भी गरीबी का—बेहद गरीबी का जीवन बिताया; पर शान के साथ; तेजस्विता के साथ। पं० सतीदीन वाजपेयी प्रसिद्ध थे 'शूरमा भाई' नाम से। वे तेजस्वी थे, बात के पक्के थे; इस लिए 'शूरमा' या 'सूरमा' थे ही। लोग कहते हैं—'ऐस (अइस) बड़े काम तौ कोऊ सती-सूरमै करि पाई'—(ऐसे बड़े कामों को तो किसी सती-शूरमा के ही बस के हैं।) यों 'सती-सूरमा' का प्रयोग होता है। नाम में 'सती' शब्द होने से और वैसी वृत्ति होने से वह यथार्थ नाम। परन्तु गरीबी बेहद ! दिन भर बड़ा परिश्रम करने पर भी काम कठिनाई से चलता था ! उन का पुत्र (मैं) भी वैसा ही रहा। मेरा लड़का (चि० मधुसूदन) भी लगभग वैसा ही नजर आता है। 'लगभग' इस लिए कि अब स्वराज्य-आन्दोलन में भाग लेना नहीं है और न हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के आन्दोलन में भाग लेना है। कमाओ और खाओ ! हाँ, मुझ से कुछ उसे मिला नहीं है। मुझे भी कुछ न मिला था। यों यह पुश्त भी उस पुण्य कार्य (स्वातंत्र्य-समर में सैनिक बनने) के परिणाम से संपृक्त रहे गी;

परन्तु मेरा पौत्र (चि० राजू) सुखी और सम्पन्न जीवन बिताए गा और अपनी सन्तति को और आगे बढ़ाए गा; ऐसे लक्षण नजर आते हैं। भगवान् उसे चिरायु करें; व्यावहारिक बुद्धि प्रकट करे गा। छोटा पौत्र अधिक कर्मठ जान पड़ता है और पौत्रियाँ (प्रतिभा तथा करुणा) अपने दोनों भाइयों से भी आगे बढ़ें गी, ऐसा जान पड़ता है।

जैसी कुछ स्थिति थी, उसमें मेरे पिता जी की शिक्षा-दीक्षा की कोई कल्पना ही नहीं! वैसे भी उन दिनों गावों में शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी। परन्तु असली शिक्षा उन्हें भगवान् ने दी थी। तन-मन से किसी भी दुखी की सेवा के लिए सदा तयार रहते थे और पर-परित्राण में वे अपनी लाठी का भी सहारा लेते थे।

घर हमारा गावँ के सिरे पर था; कच्चा। एक कोठरी थी और दो छप्पर थे। घर के सामने थोड़ी-सी जगह और थी, जहाँ छप्पर के नीचे कुछ दिन हमारा बैल बँधता रहा। पिता जी खेती-से जीवन-यापन करते थे; परन्तु भूमि एक फुट भर भी 'अपनी' न थी! लगान पर खेत लेते थे; एक टुकड़ा पूरब, एक पश्चिम और एक उत्तर! बड़ी कठिनाई होती थी, बोने-निराने में और खलिहान डालने में। बैल मेरी सुध में कुछ ही दिन एक रहा! यह गनीमत थी। जिसके पास एक बैल हुआ, उससे सहयोग हो जाता था। एक दिन उस का खेत जुत जाता था, एक दिन हमारा। परन्तु यहीं दिक्कत यह भी थी कि 'बीस बिस्वा कनौजिया' होने के कारण पिता जी हल की मूठ न पकड़ते थे! हल जोतने के लिए मजदूर रखना पड़ता था। कभी ऐसा भी होता था कि पिता जी किसी के खेत में निराई आदि का काम कर आए और वह बदले में हमारा हल जोत गया। प्रतिष्ठा थी; इस लिए पिता जी कभी भी किसी के यहाँ मजदूरी करने नहीं गए! वह काम तो मुझे करना पड़ा। खेती के काम में माता जी भी सहयोग देती थीं। मेरी माता जी का नाम 'रानी' था। माता जी घर का काम निपटा कर खेत पर चली जाती थीं और अपने योग्य काम कर के शाम को घर लौटती थीं। खेत में काम वैसा न होने पर वे घर में दुकान का काम करती रहती थीं। मेरे गावँ से एक-डेढ़ मील 'मन्धना' एक अच्छा कस्बा है। यहीं मैं मदरसे में पढ़ने जाता था। यहीं से पिता जी नून-तमाखू और गुड़-मिर्च जैसी चीजें खरीद लाते थे। 'मन्धना' में प्रति सप्ताह पैंठ लगा करती थीं। वहीं से सौदा आता था। थोड़ा-सा मैं भी कभी-कभी सिर पर ले आता था; यद्यपि आठ-दस बरस का ही था।

माता जी चक्की पीसते समय कुछ गीत गाती थीं। एक गीत प्रायः सदा गाती थीं, जिस की एकाध लाइन मुझे याद है—"एक दिना सब ही पर बीती! सूरज चन्द अकास विराजत, एक दिना तिनहू पर बीती।"

घर में पिता जी, माता जी, मैं और मेरा छोटा भाई (रामगोपाल); ये कुल चार प्राणी थे; या साढ़े तीन! परन्तु इस छोटे से भी परिवार का काम अच्छी तरह न चलता था। घर में मोटे अन्न का प्रयोग होता था; पर हम दोनों भाइयों का विशेष ध्यान रखा जाता था; इतना कि माता जी और पिता जी जौ-चने की खा लेते थे, जब कि हम दोनों को गुरीं की रोटी मिल जाती थी। (जौ को भिगो कर फिर ओखली में कूटते

हैं, तब उनका छिलका अलग हो जाता है और गिरी निकल आती है। जौ की यह 'गिरी' ही "गुरी' कहलाती है।)

आम देहात में तब बिकते न थे। बड़े आदमी आम का बाग लगवाना पुण्य और प्रतिष्ठा का काम समझते थे। छुट-पुट भी इधर-उधर आम-जामुन के पेड़ थे। चाहे जो खाए, छूट थी; पर पेड़ के ऊपर चढ़ना मना था। जिन के बाग थे, वे पके आम-जामुन लोगों के यहाँ भिजवाते थे। हमारे घर भी आम-जामुन आते थे। आम के दिनों में मजे से काम चलता था। गरीब लोग गुठली फेंकते न थे; आँगन के एक कोने में जमा कर लेते थे और बरसात में उबाल कर उन की गिरी निकाल कर खाते थे। मैं ने अपने घर में ऐसा देखा, और लोग भी करते हों गे। गुठली उबालते खाते समय बाहर का दरवाजा बन्द कर लिया जाता था। माने मुझ से कह रखा था कि किसी से कहना नहीं कि गुठली खाई हैं। बड़ी तेजस्विता का रहन-सहन था। जमींदार भी पिता जी की इज्जत करता था और लगान में देर-सबेर हो जाने पर भी कुछ बोलता न था, जब कि दूसरों पर आफत आ जाती थी। हाँ, लगान में पिसते सभी थे।

मेरी बहन का विवाह अच्छे घर में हो गया था। सुख में थी। मेरे गावँ से कोई दस-बारह मील पर उनकी ससुराल थी—'लछिमनपुर'।

लछिमनपुर में प्लेग की बीमारी फैल गई; पिता जी ने सुना। वे लछिमनपुर गए और मेरी बहन को, बहनोई को तथा उनके पितामह को रामनगर ले आए। उस घर में कुल ये तीन ही व्यक्ति थे। रामनगर आते ही पिता जी बीमार पड़ गए; राँग में गिल्टी निकल आई। गावँ में खलबली मच गई। लोग मेरे पिता जी की बुराई कर रहे थे कि गावँ में प्लेग ले आए। गावँ के बाहर झोपड़े पड़ गए। मेरा घर अकेला पड़ गया। तब माता जी ने भी गावँ के बाहर झोपड़ा डलवा लिया। पिता जी की भयंकर वेदना-चीत्कार मैं सुनता था; पर वे मुझे और मेरे छोटे भाई को पास न आने देते थे; यद्यपि हम दोनों को देखने की बलवती इच्छा उस समय उन के मन में हो गी ही! न कोई डाक्टर, न वैद्य! गिल्टी को सेंकना और कोई गरम लेप करना मात्र चिकित्सा थी, जो लोग बतला देते थे। कुल तीन दिन उस वेदना में तलछे-बिलछे और हम सब को छोड़ गए। वे गावँ के लोगों का कितना उपकार करते थे, अटके-भटके किस तरह काम आते थे कि सब लोग 'शूरमा भाई' कहा करते थे। केवल 'भाई' शब्द ही उन के लिए चलता था; यहाँ तक कि मैं भी उन्हें 'भाई' ही कहता था और मेरा छोटा भाई भी। परन्तु इस समय अपने प्यारे 'भाई' के पास कोई फटकता न था कि बीमारी लग जाए गी! गंगा जी गावँ से डेढ़-दो मील हैं। उन्हें ले जाने के लिए भी आदमी न मिले। एक पं० बाबूराम मिश्र बड़े साहसी और हम लोगों के हितैषी थे। उन के बैलगाड़ी भी थी। उस बैलगाड़ी में पिता जी की अर्थी और लकड़ी रखकर वे गंगा-तट पर ले गए। मुझे भी साथ ले गए और दाह-क्रिया कर आए।

माता जी का और मेरी बहन का बुरा हाल था; अब तक मुझे याद है। मौसी जी भी बीमारी में आ गई थीं। वे बड़ी थीं; रोती भी थीं और समझाती भी थीं।

परन्तु स्थिति विचित्र थी। दूसरे ही दिन माता जी को भी प्लेग ने जकड़ लिया—वही गिल्टी, वही भयंकर ज्वर और वही वेदना। वही स्थिति ! तीसरे दिन वे भी इस पवित्र और संस्कृति-सम्पन्न धर्मात्मा देश को छोड़ गईं ! उसी तरह इन की भी दाह-क्रिया हुई।

मेरी बहन की बुरी दशा थी। वे जैसे पागल हो गई हों। मौसी समझाती थीं—"रामदेई, इस तरह घबराने से काम न चले गा; छोटे भाइयों को सँभालना है।" परन्तु उस समय कोई किसी के समझाने से थोड़े ही समझता है। वे ऐसी घबराईं कि तुरन्त लछिमनपुर वापस जाने की तैयारी में लग गईं। वैसी स्थिति में बड़ी कठिनाई से तीन बैलगाड़ियाँ मिलीं—मुहँ-माँगा भाड़ा देने पर। लटा-पटा लदवा कर सब लछिमनपुर चले। रास्ते में ही बहन को भी प्लेग ने आ दबोचा। लछिमनपुर वे बड़ी ही वेदना में पहुँचीं। शारीरिक वेदना भी और मानसिक भी। स्वभावतः सब से ज्यादा चिन्ता उन्हें हम दोनों भाइयों की हो गी। मौसी जी सेवा में थीं। जीजा जी प्रतिष्ठित आदमी थे; कुछ सम्पन्न भी थे। तुरन्त कई झोपड़े पड़ गए। बहन जी हम दोनों भाइयों को अपने पास न आने देती थीं। तीसरे ही दिन वे भी चली गईं ! पूरा अँधेरा !

मौसी जी अब अपने गावँ जाने लगीं। 'अपना' उन का वही गावँ, जहाँ पैदा हुई थीं—'अप्पा का नेवादा'। लछिमनपुर से सातक मील पर है। विधवा थीं। अपने इकलौते पुत्र को लेकर अपने भाई के यहाँ रहती थीं। हम दोनों को भी चलने को कहा; पर जीजा जी ने वहीं रख लिया।

कुछ दिन बाद हमारी दूसरी जीजी आ गईं। वे हम दोनों को भी अच्छी तरह रखती थीं। एक मील की दूरी पर उन का मायका (नैहर) था—'पूरा' गावँ। वे अपने मायके गईं, तब जीजा जी एक दिन मांस ले आए और मुझसे उसे धोने को कहा। मैं ने समीप से कभी मांस देखा न था; यद्यपि 'मन्धना' के बाजार में लटकते हुए कटे बकरे देखे थे। उस दृश्य से मैं क्षुब्ध हो जाया करता था—उधर जाता न था। मैं ने दृढ़ता से मना कर दिया—'यह सब मैं न करूँगा।' इस पर मेरे गाल पर एक तड़ से थप्पड़ लगी और मैं भागा। उन के पड़ोस में उन्हीं के भाई-बन्धुओं की एक चौपाल थी। इस चौपाल में जाकर रोता रहा। मा ने मरते समय मुझे अपने सामने बुला कर झोपड़ी के छप्पर की ओर इशारा कर के कहा था—'यहाँ कुछ है, ले लेना।' मैं ने देखा तो कपड़े की एक पोटली में दस रुपए और चाँदी के दो छोटे-छोटे 'खँड़वे' मिले। ये खँड़वे (कड़े) हम लोगों में से किसी को पहनाने के लिए कभी बने हों गे। कड़े तो मैं ने जीजी को दे दिए थे; पर वे दस रुपए मेरे पास थे। चौपाल की मालकिन को भी मैं 'जीजी' कहता था। उन से आलू उबालने के लिए एक बटलोही लाया। लकड़ी लाया, आलू लाया और मिर्च-मसाला लाया। चौपाल में आलू उबाल कर नमक-मिर्च और हरी धनियाँ से 'कचालू' तयार किए। पत्ते लाकर दोने पहले ही बना लिए थे। दोनों के कचालू

एक थाली में सजा कर रखे। थाली आदि इन जीजी ने दे दी थी; जो अन्धी थीं, विधवा थीं।

मुझे मालूम था कि दुपहर से पहले (दस-ग्यारह बजे) गाड़ी पश्चिम से आ कर कानपुर जाती है। 'पूरा' गावँ गया, जहाँ का स्टेशन 'उतरी पूरा' कहलाता है। छोटी लाइन का छोटा-सा स्टेशन। गाड़ी एक या दो मिनट रुकती है। खूब चुस्ती से चक्कर काटे—'बढ़िया कचालू, दो पैसे दोना'। परन्तु कुल चार दोने बिके। दो आने मिले, जब कि चार आने खर्च हो चुके थे। रेल गई और मेरा उत्साह भी गया! थाली भरी वापस ले जाने में शरम लगी। छोटी नहर पर बैठ कर पेट भर कचालू खाए और रहे-बचे फेंक दिए। थाली ले जा कर जीजी को वापस दी। कह दिया—'सब बिक गए'। प्रशंसा सुनी और खुश हुआ; यद्यपि भीतर ग्लानि थी।

लछिमनपुर में एक बड़े आदमी थे; 'बाबू जी' कहलाते थे। डाक-विभाग में सुपरिंटेंडेंट थे; पेंशन पा रहे थे और अब जयपुर-राज्य के डाक-विभाग में सब से ऊँचे अधिकारी थे। उस समय जयपुर राज्य का अपना डाक-विभाग अलग था। 'बाबू जी' शायद 'अग्निहोत्री' थे। पक्का मकान था, पर अपने लिए एक अलग निवास बनवा रहे थे। मजदूर काम कर रहे थे। सीमेंट तब न चला था। चूना (सन आदि डाल कर) पक्का बनाया जाता था। छत का चूना छोटी-छोटी थपकियों से 'थप-थप' कूटा जा रहा था। यह काम मेरे बस का भी था। मैं गया और काम करने लगा—दो आने रोज मजदूरी। बड़ों को तीन-चार आने मिलते थे। यह मजदूरी उन दिनों सब से अच्छी थी; नहीं तो खेत-मजदूर तीन आने पाते थे। रोटी कच्ची-पक्की बना खाता था। बाबू जी के बड़े लड़के उदार थे; आँखें न थीं। उन्हों ने शायद मेरी कथा सुनी। बुला कर कहा—'तुम घर में रहा करो। यहीं रोटी खाया करो। गौएँ-भैंसें हैं, इन्हें बाहर चरा-घुमा लाया करो।' मैं राजी हो गया। गौएँ-भैंसें चरा लाता था और पकी-पकाई खा कर सो जाया करता था।

परन्तु कुछ ही दिन बाद यहाँ से भी मुझे भागना पड़ा। बात यह हुई कि 'बाबू जी' का छोटा लड़का कन्नौज में अंग्रेजी पढ़ता था, जो छुट्टियों में घर आया। उस ने एक दिन अपनी धोती धोने को मुझ से कहा। मैं ने उस से तो कुछ न कहा और वहाँ से चल पड़ा। मामा जी के यहाँ पहुँचा, मौसी-मामी के पास। अच्छी तरह रहने लगा; पर अब मेरी इच्छा पढ़ने की हुई। छोटे-छोटे बच्चों को मदरसे जाते देखता, तो मन करता। पर मैं ने सोचा कि गावँ की पढ़ाई में रखा क्या है; शहर चल कर पढ़ना चाहिए। मैं 'मन्धना' के मदरसे में 'अलिफ' और 'बे' (बाल-श्रेणियाँ) पार कर के दर्जा १ में पहुँचा ही था, जब कि प्लेग ने वह अकाण्ड-ताण्डव कर दिया। परन्तु इन्हीं दिनों मैं अपने को बुद्धिमान समझने लगा था, क्योंकि सबसे अच्छा रहता था और अध्यापक मेरी बड़ाई किया करते थे। कदाचित् इसी 'बुद्धिमानी' का परिणाम हो कानपुर जा कर पढ़ने की इच्छा। मामा-मौसी से कुछ कहा नहीं और पूरब की ओर चल पड़ा। बीच में मेरा गावँ मिला—'रामनगर'। अपना घर देखने गया—प्रेम उमड़ पड़ा। घर में रहने

को मन किया। खेत में जाकर निराने की मजदूरी करने लगा——छह पैसे रोज मजदूरी। बर्तन एकाध माँग लिए और कच्ची-पक्की रोटी बना खाता। परन्तु यह मजदूरी लगी-बँधी न थी। कभी मिलती, कभी नहीं। इसलिए पं० कालीचरण पाठक की भैंसें चराने लगा। वे इसके लिए प्रति दिन कुछ अन्न देते थे और लोटा भर मट्ठा। मजे हो गए। रोटी कच्ची-पक्की ही बना पाता था। पेट बेचारा कहाँ तक माफ करता। रोग कदाचित् यहीं आ घुसा, जो अब तक है।

एक दिन एक भैंस किसी के खेत में घुस गई; मेरी आँख बचा कर। देखा, तो उधर दौड़ा। पावों में जूते न थे; इस लिए दोनों पाँव काँटों से छिदे हुए थे। फिर भी दौड़ा; पर बीच के खेत में (कटे हुए अरहर के) पैने ठूँठ खड़े थे। पाँव पड़ जाए, तो चिरता चला जाए। उन्हें बचा-बचा कर भाग रहा था कि खेत का मालिक आ गया और भैंस भगाने से पहले ही उसने मेरे गाल पर चटाक से एक थप्पड़ मारी। शारीरिक कम, मानसिक चोट अधिक लगी; अपने पिता जी की प्रतिष्ठा का ख्याल करके। मैं ने भैंस आगे की और ले जाकर पाठक जी के घर पहुँचा दी। सोचा, चला था पढ़ने को और खाने लगा मार; अपने गाँव में ही।

कानपुर पहुँचा, जहाँ मेरे सगे चाचा जी (पं० सूरजदीन वाजपेयी) रहते थे—— 'पुराना कानपुर'। चाचा जी की अच्छी आमदनी थी। एक कपड़ा मिल (विक्टोरिया मिल) में मिस्त्री का काम करते थे। दो-तीन रुपए प्रति दिन की आय थी। घर में रहने लगा। मेरे चचेरे भाई (पं० गंगाचरण वाजपेयी) मुझसे दो बरस बड़े हैं, जो उस समय शायद सातवें दर्जे में पढ़ते थे। परन्तु चाचा जी ने मुझे मिल में नौकर करा दिया। सूत के बंडल उठा कर इधर से उधर रखना काम था। वेतन शायद आठ रुपए महीना था। प्रति पन्द्रहिया चार रुपए मिलते थे। मन में रहता था कि गंगाचरण भाई पढ़-लिखकर बाबू बन जाएँगे और मैं इसी तरह बेपढ़ा मजदूर रहूँगा।

एक दिन वेतन के समय चाचा जी आ न पाए और मैं वेतन लेकर फाटक के बाहर हो गया। परेट की ओर चल पड़ा। चना-चबेना भोजन, रात में किसी दूकान के बाहर तख्ते पर पड़ जाना; सरकारी टट्टियों में टट्टी हो आना, मौका लगे तो नहा भी लेना। इसी समय पेट खराब हो गया——दस्त पर दस्त! तब शहर से बाहर भाग कर एक छोटी-सी नहर के किनारे जा पड़ा। पानी और जंगल की सुविधा थी। न दवा, न दारू। भगवान जाने कैसे ठीक हो गया।

शहर में जाकर मकानों की पुताई करने वाले मजदूरों के साथ काम करने लगा। उसी समय 'लाल इमली' ऊलन मिल में आग लग गई और सब स्वाहा हो गया। मलवा हटाने में सैकड़ों मजदूर लगे थे। मैं भी लग गया। रोटी बनाने-खाने का भी सुयोग मिल गया था।

परन्तु इसी समय फिर पढ़ने की इच्छा ने जोर मारा और घूमता-घामता 'चटाई मुहाल' की 'गोपाल संस्कृत पाठशाला' में पहुँच गया; जहाँ मेरे गाँव का एक साथी ('श्याम-सुन्दर शुक्ल') मिल गया। उस ने मुझे भी पाठशाला में भर्ती करा दिया। श्री शिव-

प्रसाद गुप्त ने यह सार्वजनिक पाठशाला खोली थी और पं० पृथ्वीनाथ जैसे सुप्रतिष्ठित जनों का इसमें सहयोग था। श्री गणेश शंकर 'विद्यार्थी' उन दिनों 'प्रताप' की नींव लगा रहे थे। वे भी हमारी पाठशाला को देखने एक बार आए थे। यहाँ मैं 'नत्वा अव्ययपदम्' याद करने लगा, पर समझ में कुछ न आता था। मन लगता था न। बाबू शिवप्रसाद जी बड़े कृष्ण-भक्त थे और वृन्दावन के गीत गाया करते थे। मेरे मन में आया कि वृन्दावन देखना चाहिए।

भाग पड़ा वृन्दावन के लिए। छोटी लाइन के 'अनवरगंज' स्टेशन को जानता था; क्योंकि यहीं से 'मन्धना' कई बार जाना-आना हुआ था। भाग्य की बात, यहीं से मथुरा को सीधी गाड़ी जाती सुनी।

स्टेशन के बाहर तीन-चार बैरागी साधु बैठे गाँजे का 'दम' लगा रहे थे। मैं खड़ा हो कर तमाशा देखने लगा। इतने में एक ग्रामीण भगत जी आ गए और प्रणाम करके उन से पूछा—'महाराज, किधर जाने का विचार है ?' उत्तर मिला—'मथुरा-वृन्दावन'। सुन कर प्रसन्नता हुई और मैं उन साधुओं के साथ अलक्षित रूप से हो लिया। जिस गाड़ी में बैठे, उसी में मैं भी बैठ गया, उसी तरह—बिना टिकट। गाड़ी चली और चलते-चलते 'कायमगंज' स्टेशन तक पहुँच गई। यहाँ एक टिकट देखने वाला आया और उस ने हम सब को उतार दिया। साधु लोग शहर की ओर बढ़े; मैं उनके पीछे-पीछे। उन्होंने शहर में एक साधु-सेवी भक्त को ढूँढ़ निकाला। वे सज्जन—

शायद कायस्थ थे

मुझे ऐसा ही याद पड़ता है। उन्हों ने साधुओं को आटा-दाल आदि दिया और अपने मकान के सामने गोशाला में भोजन बनाने-खाने को कहा—भेज दिया। मुझ से कहा—'तुम अभी यहीं ठहरो।' साधुओं के चले जाने पर उन्हों ने मुझ से पूछा—

'तुम इन के साथ कैसे ?'

मैं ने अपना किस्सा संक्षेप में कह सुनाया, तब वे बोले—'इन लोगों के साथ तुम मत जाओ। हम तुम्हें वृन्दावन भेज देंगे। वहाँ 'ऋषिकुल' खुला है। उस में तुम्हारे जैसे छोटे-छोटे बच्चे पढ़ने के लिए भरती किए जाते हैं। तुम वहीं जाकर संस्कृत पढ़ो।' मैं ने स्वीकार कर लिया। तब उन्हों ने अपने ब्राह्मण रसोइया से पूड़ी साग बनवा कर मुझे खिलाया। वृन्दावन का टिकट कटा कर गाड़ी में बैठा दिया और पाँच रुपए खर्च के लिए भी दिए। उन का यह उपकार क्या भूलने की चीज है ?

मैं वृन्दावन पहुँच कर रास-रंग में पड़ गया। पहले-पहल 'रास' देखा था। यमुना स्नान, चना-चबेना, भोजन और रास का आनन्द। विद्यार्थी जैसा रहन-सहन बन गया था। जयपुर नरेश का मन्दिर 'ब्रह्मचारी जी का मन्दिर' कहलाता है; क्योंकि यहाँ का अधिष्ठातृत्व उन्होंने अपने गुरु श्री गिरधारी शरण जी महाराज को सौंप दिया था। वे ब्रह्मचारी जी जयपुर-नरेश के भी गुरु थे। बड़ा भारी मन्दिर है। नित्य रास होता है और 'गोपालसहस्रनाम' का पाठ रात भर होता है। तीन-तीन घंटे में

पाठ करनेवालों की ड्यूटी बदलती है। एक दिन जब मैं रास देख रहा था, तो मन्दिर के सिपाहियों का जमादार मेरे पास आया। बोला—'विद्यार्थी हो क्या? गोपाल-सहस्रनाम का पाठ कर सकते हो? करोगे?' मैं ने सब प्रश्नों के उत्तर में 'हाँ' कहा; यद्यपि कभी 'गोपालसहस्रनाम' देखा सुना न था और दर्जा १ तक ही पढ़ाई-लिखाई थी। सोचा, यही, क, ख आदि अक्षर तो होंगे ही। 'क्या' 'क्यों' जैसे मिलावट के अक्षर पढ़ ही लेता था।

जमादार मुझे 'बड़े पुजारी' के पास ले गया। बड़े पुजारी ने 'गोपालसहस्रनाम' मेरे हाथ में देकर कहा—'पढ़ कर सुनाओ'। मैं ने ठीक पढ़ दिया। मेरी नियुक्ति हो गई। तीन घंटा पाठ करने के लिए तीन रुपए महीना दक्षिणा और दोनों समय ठाकुर जी का प्रसाद; यानी भोजन। शाम को भोजन पक्का—पूड़ी और लड्डू। मजे हो गए। अब रास देखने में पूरा रस आया।

एक पंजाबिन बुढ़िया भी रास देखने आती थी। मुझे नित्य आते देख खुश हुई। उस ने पूछा—'पूजा करने का काम करो गे? हमारे मन्दिर में पुजारी की जरूरत है। पाँच रुपए महीना और दोनों समय दो पत्तल (दो खुराकें) मिलेंगी।' मैं ने 'हाँ' में उत्तर दिया; पर कह दिया कि पूजा करना मुझे आता नहीं है। उसने कहा—"मैं सिखा दूंगी।' अब मैं पाठ के साथ पूजा भी करने लगा। बची हुई रोटियाँ-पूड़ियाँ 'मधुकरी' माँगनेवाले सन्तों को दे देता था। बचे समय में राहगीरों को पानी पिलाया करता था। भुने चने खरीद कर पास रख लेता था और भूखों को बाँटता रहता था। बुढ़िया मेरी इस वृत्ति से बड़ी प्रसन्न हुई और कथा सुनने साथ ले जाने लगी। पं० माधवदास जी अच्छी कथा बाँचते थे। निम्बार्क सम्प्रदाय के 'रसिक' वैष्णव थे—'राधा' को अधिक महत्त्व देने वाले। उन की कथा सुनते-सुनते मैं भी वैसा ही हो गया। परन्तु बुढ़िया का परामर्श मैं ने यह न माना कि इन से दीक्षा ले लेनी चाहिए। मेरे मन में यह था कि वे तो मठ-मन्दिर के मालिक हैं; इन से क्या दीक्षा लेना। इस समय ऐसे महन्त भी मुझे चेला बनाने के इच्छुक हुए, जिन की आय लाखों रुपए की थी। परन्तु रुपए से तो मुझे घृणा थी—भक्ति-मार्ग का रंग चढ़ चुका था।

अन्ततः एक त्यागी-तपस्वी महात्मा मुझे मिल गए और बहुत ही मिन्नत-खुशामद करने पर उन्हों ने इस शर्त पर मुझे दीक्षा देना स्वीकार किया कि संस्कृत पढ़नी होगी। इस समय मैं भक्ति-भावना में ऐसा निमग्न था कि संस्कृत पढ़ने की ओर जरा भी रुचि न थी। सुन रखा था—'एकै अच्छर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।' परन्तु उन से दीक्षा लेने का लोभ था; सो संस्कृत पढ़ने की शर्त मान ली।

मेरा असली नाम है—'गोविन्द प्रसाद'

माता-पिता का दिया हुआ नाम है—'गोविन्द प्रसाद'। फलतः मेरा नाम 'गोविन्ददास' होता, परन्तु मैं ने पं० माधवदास जी की कथा सुन रखी थी। राधिका जी को वे लोग 'व्रजेश्वरी' 'स्वामिनी जी' 'किशोरी जी' जैसे शब्दों से याद करते हैं। 'किशोरी लाल गोस्वामी' आदि नाम इसी लिए सामने हैं। मेरी प्रबल इच्छा थी की

मेरा नाम 'किशोरीदास' हो। सो, दीक्षा-गुरु ने जब पूछा—'नाम क्या है?' तो मैं ने कहा—'किशोरीलाल'। दीक्षा-गुरु से झूठ बोल गया; ऐसा उस कथा का जादू! नाम 'किशोरीदास' हो गया। जिस 'रसिक' सम्प्रदाय की ओर मेरा इतना अधिक आकर्षण उस समय था, बाद में उतना ही अलगाव हो गया। निम्बार्क-सम्प्रदाय के वेदान्ती लोग मुझे अच्छे लगने लगे और 'रसिक' लोगों के प्रति भावना बदल गई। वह तो एक अल्हड़ भावुकता थी। परन्तु नाम वही—'किशोरीदास'—प्रसिद्ध हो गया।

दीक्षा के अनन्तर पढ़ने की बारी आई; पर मन उधर न गया। गुरु जी से अलग होकर बहुत दिन तक तीर्थ-व्रत और भजन-पूजन में लगाए। इन दिनों 'रामचरित-मानस' का तथा श्रीमद्भागवत का पाठ मैं किया करता था। परन्तु भागवत का अर्थ न समझ पाता था। अब इच्छा हुई कि संस्कृत पढ़नी चाहिए। वृन्दावन फिर पहुँचा और संस्कृत पढ़ना शुरू किया। कठिनाई आई; पर वह हल भी हो गई। चाह को राह मिल ही जाती है।

बनारस की प्रथमा परीक्षा बड़ी इज्जत के साथ पास की; बड़ा नाम हुआ। इससे पहले ही (१९१६ में) 'वैष्णव सर्वस्व' में मेरा पहला हिन्दी-लेख निकला था—'दशधा भक्ति'। सन् १९१७ में प्रथमा परीक्षा, १९१८ में पंजाब विश्वविद्यालय की संस्कृत-'विशारद'-परीक्षा और सन् १९१९ में पंजाब की ही 'शास्त्री'-परीक्षा दी। सब में इज्जत के साथ उत्तीर्ण हुआ।

गार्हस्थ्य

'शास्त्री' हो कर मैं अध्यापक हो गया और मन में आया, सहज स्वाभाविक जीवन बिताना चाहिए—'आश्रमादाश्रमं गच्छेत्' पढ़ा। अब अपने गावँ 'रामनगर' गया—'सूट' में केवल पतलून की जगह धोती थी; बूट बढ़िया। उस समय तक गले में तुलसी और मस्तक पर चन्दन-तिलक रखता था। गावँ के संगी-साथी आर्यसमाजी हो गए थे; पर 'शास्त्री' होने से उनका अत्यधिक आकर्षण बढ़ा। खूब आदर हुआ। दस वर्ष पहले जो उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे, वे आदर प्रकट करने लगे। जिस की भैंसें मैं ने चराई थीं, उस ने सम्मान प्रकट किया। जिस ने मुंह पर चाँटा मारा था, वह बुड्ढा सम्मान प्रकट करने के लिए नीचे बैठा था। सब कुछ बदल गया।

'पुराना कानपुर' कैसे भूलता? चाचा जी के चरण छुए जा कर। उन्होंने हृदय से लगाया। चाची ने और भाभी जी ने पुलकित होकर आशीर्वाद दिया। विवाह की चर्चा चली। चाचा जी जहाँ मेरा विवाह करना चाहते थे, वहाँ मैं ने नहीं किया। इससे वे क्षण भर के लिए नाराज हुए और बस। मौसी जी गद्गद हो गईं। मेरा छोटा भाई तब तक स्वर्गवासी हो चुका था। बड़े कष्ट उस ने पाए।

जब मैं सोलन (शिमला) के बी० डी० हाई स्कूल में पढ़ाता था, विवाह पक्का हो गया। विवाह पूरे आर्ष ढंग पर हुआ था। बरात में एक तो मैं स्वयं, एक मेरे मामा का लड़का और दो मौसियों के दो लड़के; ये कुल चार थे। न नाई साथ में, न बाजा

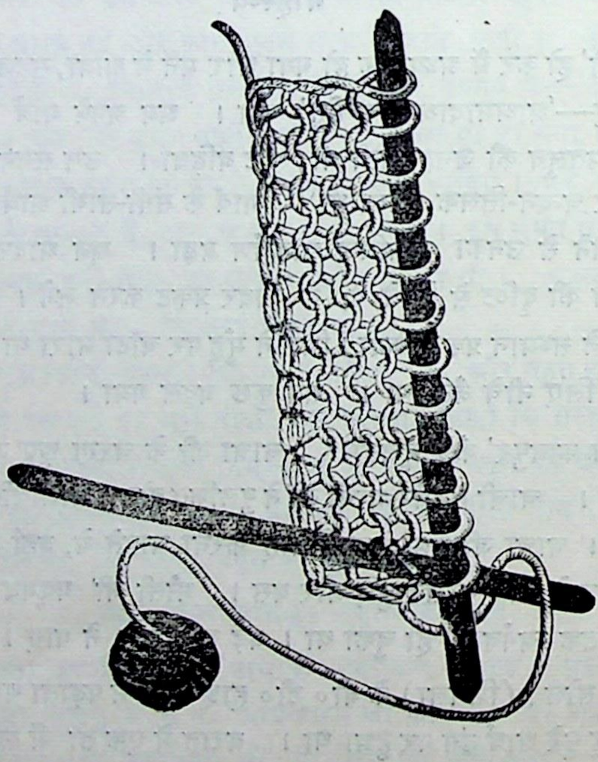
आदि। सिर पर रखने का 'मौर' भी साथ न था; क्योंकि यह ताजिया सिर पर रख कर स्वांग बनना मुझे पसन्द न था। पीली धोती पहचान थी और गले में एक (माँगी हुई) सोने की जंजीर। वर के तथा बरातियों के सब कपड़े शुद्ध खादी के थे। कन्या के पिता को न कोई भार, न झंझट।

मैं ने अपने साले का और अपने लड़के का भी विवाह इसी तरह किया। लोगों ने बड़ाई भी की। परन्तु लड़कियों के विवाह पर दूसरों के अनुसार चलना पड़ा। संबंध सब अच्छे रहे।"

"बस, यही मेरे जीवन के प्रथम चरण की संक्षिप्त कहानी है। कभी पूरी कहानी फुर्सत में लिखूंगा। लिखने की इच्छा है।"

[श्री वाजपेयी जी की सुनाई हुई यह संक्षिप्त कथा है, उन के जीवन के प्रथम चरण की। जो नवयुवक आज बात की बात में निराश होकर आत्म-हत्या कर लेने पर उतर आते हैं, उन्हें वाजपेयी जी की यह आत्म-कथा आत्म-बल दे गी।

जब कभी वाजपेयी जी अपनी पूरी आत्मकथा लिखेंगे, तो हिन्दी को एक चीज मिले गी। हमें आशा है, गंभीर साहित्यिक काम निबटाने के बाद वाजपेयी जी यह जरूरी काम भी अवश्य करें गे।—संपादक।]



मूल्यांकन खण्ड

कविवर आचार्य वाजपेयी जी

डा० विजयेन्द्र स्नातक

आचार्य हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

हिन्दी साहित्य जगत् में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी मुख्यतः व्याकरणाचार्य के रूप में विख्यात हैं। भाषा-संस्कार के लिए उन्होंने पिछले पचीस वर्षों में जो कार्य किया है वह किसी अन्य विद्वान् ने नहीं किया। ब्रजभाषा का व्याकरण लिखकर उन्होंने ऐसी अनेकानेक भ्रान्तियों का निराकरण किया था जो ब्रजभाषा की मूल प्रकृति से अपरिचित विद्वानों ने उत्पन्न कर दी थी। उसके बाद समय समय पर वाजपेयी जी विद्वानों का ध्यान हिन्दी व्याकरण की उन गुत्थियों की ओर आकृष्ट करते रहे जो अंग्रेजी भाषा के व्याकरण का अन्धानुकरण करने से पैदा हो गई थीं। तदनन्तर काशी नगरीप्रचारिणी सभा के आग्रह को स्वीकार कर उन्होंने हिन्दी शब्दानुशासन लिख कर व्याकरण की समस्याओं का ही समाधान नहीं किया वरन् हिन्दी का एक ऐसा परिपुष्ट व्याकरण ग्रंथ तैयार कर दिया जिसकी मूल प्रकृति खड़ी बोली हिन्दी के सर्वथा अनुकूल है और जिसमें न तो संस्कृत व्याकरण का त्याग है और न अंग्रेजी भाषा के व्याकरण का अंधानुकरण। हिन्दी वर्तनी, हिन्दी शब्द-समूह, हिन्दी-प्रत्यय आदि की विविध विवादास्पद समस्याओं का समाधान भी इस व्याकरण की एक विशेषता है। फलतः वाजपेयीजी आधुनिक पाणिनि के विरुद-भाजन बन गये। इस प्रशस्ति का एक परिणाम यह हुआ कि उनके कृतित्व के दूसरे पक्षों पर से सामान्य पाठक का ध्यान हट गया। आचार्य वाजपेयी काव्यमर्मज्ञ समालोचक, रसमर्मज्ञ कवि, तत्त्वमर्मज्ञ सुधी पाठक और संस्कृतिपोषक भारतीय लेखक भी हैं, यह बात गौण हो गई। संभवतः उनके कविरूप का बोध नयी पीढ़ी के हिन्दी पाठक को तो शायद बिल्कुल भी नहीं है। हाँ, पुरानी पीढ़ी के मर्मज्ञ समीक्षक और जागरूक पाठक यह जानते हैं कि वाजपेयी जी ब्रजभाषा के रसिक कोटि के समर्थ कवि हैं और 'तरंगिणी' लिखकर उन्होंने अपनी काव्य-प्रतिभा का सुन्दर शैली में परिचय दिया है।

'तरंगिणी' कविवर वाजपेयी जी की दोहा छन्द में रचित एक विविध विषय सम्पृक्त काव्यकृति है। इसकी रचना आज से लगभग पैंतालीस वर्ष पूर्व हुई थी और प्रकाशन बयालीस वर्ष पूर्व हुआ। दोहा छन्द में रचित यह कृति तीन प्रवाहों में विभक्त है। प्रवाह शब्द तरंगिणी के संदर्भ में प्रयुक्त खंड या परिच्छेद का ही सूचक है। प्रथम प्रवाह में १०१ दोहे, द्वितीय प्रवाह में १०० दोहे और तृतीय प्रवाह में १०० दोहे हैं। इस प्रकार ३०१ दोहों की यह रचना वाजपेयी जी की सूक्ष्म दृष्टि, सम-सामयिक बोध, राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना, प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित विषयों पर नवीन भावबोध

के संदर्भ में विचार और सामान्य नीति विषयक विमर्श का परिचय देती है। वाजपेयी जी ने तरंगिणी की भूमिका में साहित्य सम्बन्धी कुछ विषयों पर विचार व्यक्त किये हैं और काव्य का प्रयोजन स्पष्ट करने का प्रयास किया है। 'कला—कला के लिए' का विचार वाजपेयी जी की दृष्टि में उत्तम विचार नहीं है, लोक-कल्याणरहित रचना को वे महत्त्व नहीं देते। इसी प्रकरण में उन्होंने चर्वित-चर्वण का विरोध और सामयिकता का समर्थन किया है। ब्रजभाषा के विषय में कवि को इसलिए लिखना पड़ा कि खड़ी बोली के काव्य-भाषा पद पर प्रतिष्ठित हो जाने के बाद कवि ने ब्रजभाषा को क्यों स्वीकार किया—क्या ब्रजभाषा आज भी वैसी ही माधुर्य, लावण्य और लालित्य रखती है जैसी भक्तिकाल और रीतिकाल में रखती थी। वाजपेयी जी का मत है "ब्रजभाषा में जैसे श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि हुई है वैसी अभी तक संस्कृत को छोड़कर अन्य किसी भारतीय भाषा में उपलब्ध नहीं है। अनेक मैथिल, बंगला, गुजराती और मदरासी कवियों ने ब्रजभाषा में कविता की है। नरसी भक्त और नामदेव के ब्रजभाषा-पद आज भी महात्मा गांधी जैसी आत्माओं के आराध्य हैं। इन सब अहिन्दीभाषी महात्माओं ने ब्रजभाषा में कविता करके उसे उस समय एक प्रकार से 'राष्ट्रभाषा' ही स्वीकार कर लिया था।" वाजपेयी जी ने इसी कारण जान बूझकर तरंगिणी के दोहों की भाषा ब्रजभाषा ही रखी।

ब्रजभाषा का परिष्कार तथा ब्रजभाषा पर दूसरी भाषाओं का प्रभाव स्पष्ट करते हुए उन्होंने कुछ ऐसे तथ्य प्रस्तुत किये हैं जो ब्रजभाषा के काव्यरूप को समझने में बहुत उपयोगी हैं। ब्रजभाषा के माधुर्य की उन्होंने विशेष रूप से चर्चा की है और उसकी संगीतात्मकता एवं अर्थध्वनन की शक्ति को भी स्पष्ट किया है। इसी संदर्भ में दोहा छन्द के चयन पर भी प्रकाश डालते हुए यही कहा गया है छंद छोटा है किन्तु इसकी शक्ति प्रबल है। भूमिका में जो कुछ लिखा गया है वह सोद्देश्य है और उसका आशय यह है कि खड़ी बोली कविता उस समय अर्थात् आज से अर्धशताब्दी पूर्व जिस दिशा में जा रही थी उसे झकझोरने के लिए—एक प्रकार से सही दिशा में लाने के लिए ही यह प्रयत्न था। जिन विद्वानों, कवियों तथा मर्मज्ञ पाठकों ने तरंगिणी को पढ़ा, सराहा और समीक्षा की कसौटी पर कसा वे भी प्रायः इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि वाजपेयी जी के दोहों में सरलता, विदग्धता, वक्रोक्ति, व्यंग्य, चुटीलापन, स्पष्टवादिता, नैतिकता, आदि अनेक गुण विद्यमान हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इन दोहों में सहज-सरल ब्रजभाषा पाकर इन्हें शब्दाडम्बर-विहीन कविजनोचित अभिव्यक्ति ठहराया। साहित्य समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तरंगिणी को सरलता तथा चमत्कारयुक्त पाया। दोहों का क्षेत्र विस्तृत होने के साथ जीवन के मार्मिक सामान्य तथ्यों से लेकर आजकल की विशेष-विशेष प्रवृत्तियों तक की बड़ी ही सुंदर व्यंजना इनमें है। कवि सम्राट पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने इन दोहों में नवरस की छटा देखी है। सुप्रसिद्ध समालोचक पंडित कृष्णबिहारी मिश्र के मत में 'भावों की सुन्दर भिड़न्त' इन दोहों में है। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने उक्ति-वैचित्र्य की सराहना की है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने लिखा है कि तरंगिणी पढ़ कर रसानुभव के साथ -साथ यथेष्ट शिक्षा तथा ज्ञान की प्राप्ति इससे होती

है। अन्योक्तियाँ एक से एक बढ़कर, बड़ी अनूठी, चित्ताकर्षक हैं। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने तरंगिणी की प्रशंसा स्वरचित दोहों में ही की है—

सरस तिहारे दोहरे, सुकवि किसोरी दास।
रस बरसत, मन बस करत, हरत हिये की प्यास॥

× × ×

सरस तिहारे दोहरे, रसनिधि सरस लखात।
फिरि फिरि जामैं रसिक मन, बूड़त, तरत, थहात॥

संक्षेप में, जिन विद्वानों के मतों का आंशिक रूप से निर्देश किया गया है उनमें सभी समर्थ समीक्षक और सिद्ध कवि कोटि के हैं। उनकी पकड़ न तो पक्षपातपूर्ण है और न प्रशंसा-परक। कसौटी के द्वारा जो खरा-खोटा उन्हें लक्षित हुआ उन्होंने बेलौस स्पष्ट रूप से लिखा है। अब मैं कुछ दोहों के वर्ण्य विषय के आधार पर सुकवि वाजपेयी जी की मर्मज्ञता का उद्घाटन करना चाहता हूँ।

तरंगिणी के समर्पण में कवि ने अपने जन्मस्थान रामनगर गाँव का स्मरण कानपुर के साथ किया है। कानपुर नगर का महत्व वर्णन करने में महावीरप्रसाद द्विवेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी, महात्मा गांधी, आदि का भी स्तवन है। कानपुर की प्रशस्ति में कवि ने वहाँ की कवि परिपाटी का भी संकेत किया है—

अबलौं नेकु न लटी जहाँ कविजन परिपाटी
हिन्दी जग कौं रुचिर काव्य सिच्छा की पाटी।
ताकें ढिग अभिराम गाम इक छोटो सो है
'रामनगर' सुचिनाम सुनत स्रौननि हठि मोहै॥
माटी के घर सुघर पिंडोरनि पुतै लसत हैं
नगरनि ते जनु भजे सतोगुन-गन दरसत हैं।
छप्पर तिनपै छजैं, पुकारत कहत रहत हैं
एक ग्रूत मैं आइ उच्च पद तिनहु लहत हैं॥

जननि जनक जहँ मम बसे, तिहि सम जग प्रिय भूरि को ?
अच्छर चारिक भेंट हैं, ताहि गाम की धूरि कों!

समर्पण की ये पंक्तियाँ आचार्य वाजपेयी जी के उस सात्विक मनोभाव को व्यंजित करती हैं जो 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' द्वारा सूक्ति के रूप में वर्णित है। समर्पण के ये छन्द वाजपेयी जी के भीतर प्रसुप्त कवि और काव्य संस्कार का परिचय देता हुआ पाठक को द्रवित कर देता है।

तरंगिणी के प्रथम प्रवाह में किसी एक विषय का वर्णन न होकर विविध विषयों पर कवि का ध्यान गया है। मंगलाचरण के बाद दूसरे दोहे में ही भाषा-वैभव का

उल्लेख है—राधा नागरि से कवि कुछ याचना नहीं करता उसकी याचना तो भाषा-नागरि से है—

मेरी भव बाधा हरौ, भाषा नागरि सोय।
जा पद-झाँई परत ही, हिये उजेरो होय।।

इसके तुरंत बाद वह ब्रजभाषा के सौन्दर्य पर रीझ कर उसका वर्णन करता है। उन कवियों पर हल्का सा व्यंग्य भी कर देता है जो शृंगार रस के मर्म को बिना समझे झूठा शृंगार-वर्णन करते हैं। अनन्त की बात, वेदना और पीड़ा के गीत, वीणा की झंकार, हाला-कला के वर्णन आदि के प्रति कवि की तीव्र अरुचि है। कवि ने इन दोहों में व्यंग्य एवं वक्रोक्ति के द्वारा काव्य विषयक गंभीर विषयों का ऐसा संकेत किया है जो उनके काव्य और कविकर्म को स्पष्ट करने में पूर्णतया समर्थ हैं। अपनी भाषा को छोड़कर दूसरों की भाषा (अंग्रेजी) पर मुग्ध रहने वालों पर बड़ी मीठी चुटकी कवि ने ली है, उदाहरण भी तोते का लिया है जो उसके रटन्त-स्वभाव का सूचक है—

सुग्गा पर भाषा रटत, केवल चुग्गा हेत।
ज्ञान, मान बिनु मूढ़ सठ, परि बंधन दुख लेत।।

विदेशी शासन पर भी इसी प्रकार की सोदाहरण सूक्ति है—

अखरत सासन बाहरी, जदपि होय सुख सील।
देति देह नहिं दुख कहा, चुभि सोने की कील।।

कविवर वाजपेयी जी राजनीति में सक्रिय भाग लेते रहे हैं। शास्त्रमर्मज्ञ अध्यापक और साहित्यकार होने के साथ विदेशी शासन से मुक्ति के लिए उन्होंने राजनीति को भी स्वीकार किया। उन्हें उन नेताओं ने आकृष्ट किया जो विदेशी शासन से लोहा लेने को कटिबद्ध थे। उनकी प्रशंसा में वाजपेयी जी ने दोहे लिखे, उनकी प्रशंसा की, उनका उत्साहवर्द्धन किया—इन नेताओं में महात्मा गांधी, सरदार पटेल, मालवीय जी, लाजपतराय, मोतीलाल, नेहरू, जवाहरलाल नेहरू जी, कृष्णदत्त पालीवाल, आदि हैं। इसके साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रतीक खद्दर, असहयोग आन्दोलन, गांधी टोपी, स्वाधीनता, हरिजन सेवा, आदि विषयों पर भी मार्मिक रूप से विचार व्यक्त किये हैं। इसी प्रवाह में मध्यकालीन वीर राजाओं, कवियों तथा स्मरणीय व्यक्तियों पर भी दोहे लिखे गये हैं। बीच-बीच में अपने विचारों के स्पष्टीकरण के लिए स्वरचित पद्य भी हैं।

द्वितीय प्रवाह के प्रारंभ में भी मंगलाचरण का दोहा है। उसके बाद चाय-महिमा को कवि ने श्यामा के गुणगान से जोड़ा है। श्यामा शब्द श्लिष्ट है। तरुणी के साथ धनि लिपटन की चाह (चाय) से जोड़ दिया गया है। इस प्रसंग में कवि ने पंडित पद्मसिंह शर्मा और श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का स्मरण किया है क्योंकि दोनों ही चाय-पान-प्रवीण हैं। यों तो आजकल हमारे कविवर वाजपेयी जी भी प्रभात बेला में एक केटली चाय और एक टिकिया मक्खन मिलाकर बड़े आनन्द से ग्रहण करते हैं। चाय उनके शरीर-शकट के लिए पेट्रोल और मक्खन मोबिल ऑयल है, ऐसा वे स्वयं कहते भी हैं। लिपटन की चाय की प्रशंसा का दोहा इस प्रकार है—

गरमी में सीतल सुखद, गरम सीत रितु माह।
सो स्यामा रसदायिनी, धनि लिपटन की चाह॥

श्यामा तरुणी का भी यही लक्षण है—'शीतकाले भवेदुष्णा, उष्णकाले च शीतला।' चाय की चर्चा चलने पर वाजपेयी जी मौन नहीं रह सकते—

दै कै दावत चाह की, करी अदावति बात।
आगि लगी सी उर रही, परी नींद नहिं रात॥

इस दोहे में 'चाह' शब्द भी श्लिष्ट है और अपनी मोहिनी शक्ति से पूरी तरह परेशान करनेवाला है। चाय के लिए कवि के मन में ललक, प्रेम, रोमांच और न जाने क्या-क्या पैदा होता है।

इस प्रवाह में कुछ दोहे बिहारी के अनुकरण पर नये भावों के लिए लिखे गये हैं। इनमें व्यंग्य, कटाक्ष, हास-परिहास आदि का बहुत शिष्ट पुट मिलता है। प्रायः शब्द-श्लेष से ही कवि ने व्यंग्य किया है। समझनेवाले के लिए वे मोदक और नासमझ के लिए पाथर हैं। कहीं-कहीं आधुनिक संदर्भों पर भी कवि ने कटाक्ष किया है।

लगी मिलन की चटपटी, सोचति साधन-साज।
कह्यो सखी ! हौं जाइहौं, कॉलिज पढ़ने काज॥

कॉलेज पढ़ने जाने का बहाना मिलन की चटपटी से पैदा हुआ है और कवि जी ने उसे पकड़ लिया है। संतति-निरोध की चर्चा सन् १९७६—७७ में बहुत हुई किन्तु पैंतालीस वर्ष पहले हमारे कवि ने इसे भविष्य द्रष्टा की तरह देख लिया था—

सखि ! सन्तति सेवा लगी, परी सरति दिन रात।
हौं पुनि जनन-निरोध करि, बिहरति साँझ प्रभात॥

इस दोहे का व्यंग्य स्पष्ट है और संतति निरोध का एक काला पक्ष भी उजागर हो रहा है। इस प्रवाह में कवि ने यत्र-तत्र श्रृंगार की छटा भी दिखाई है। आज तो हमारा कवि प्रौढ़ि की चरम सीमा पर है किन्तु जब ये दोहे लिखे गये थे तो अवश्य उसकी जीवनानुभूति ने श्रृंगार की सार्थकता और प्रबल शक्ति का बोध कराया ही होगा।

तरंगिणी के तृतीय प्रवाह में मंगलाचरण नहीं है चाणक्य का स्तवन है। इस प्रवाह के दोहों में नीति और व्यवहार पर कवि ने अधिक जोर दिया है। कुछ ऐसे भी अनुभव हैं जो श्लेष से ही अर्थों को व्यक्त करते हैं। सील=शील, मुरौअत; सील (सीलन) के द्वारा कवि ने एक अनुभव को प्रकट किया है—

जाकी जेती जगत में, ऊँची कुरसी होय।
ता मैं तेतौं सील की, सखि ! अभाव जिय जोय॥

इस प्रवाह में अति, अधिक चतुराई, खरापन, हठ, क्रोध, दुनिया, ईख और सन, सम्पत्ति, पदपरिवर्तन, चौगान, महत्संग, जय, सततहित, मन की उड़ान, कीर्ति, यथायोग्य, भेद, बेकारी, कुमंत्रणा, मत-भेद, फल-प्राप्ति आदि प्रासंगिक विषयों की चर्चा की गई है। इन

दोहों में व्यंग्य की चोट बड़ी मोहक है। चोट भी मोहक हो सकती है यदि यह देखना हो तो इस प्रवाह को मनोयोगपूर्वक पढ़ना चाहिए। कविता का रस तो इस प्रवाह में एक आनुषंगिक फल बन जाता है मुख्य रूप से वे भाव, विचार और तथ्य उभरकर बोलने लगते हैं जो कवि ने बड़े सहज-सरल व्यंजना से प्रस्तुत किये हैं। कवि ने अपने देश की वर्तमान स्थिति को समझकर कह दिया—

गयो हिन्द कौ सो समै, रह्यौ न साधन कोय।
नहिं वे कवि नहिं पारखी, कविता कैसे होय॥
आलोचक कविता करै, तौ यह समझौ भूल।
माली में हैं कब लगे, कहु गुलाब के फूल॥
अकवि सुकवि कौ स्वांग धरि, कहै अटपटी बानि।
तौन कहा सुख लहत हैं, सुजन भड़ैती जानि॥

संक्षेप में तरंगिणी आधुनिक ब्रजभाषा काव्य परम्परा का एक श्रेष्ठ रत्न है जिसकी ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया। द्विवेदी-युग के समीक्षक और कवि जिस काव्य की प्रशंसा करते नहीं अघाते वह काव्य आज के समीक्षकों की जानकारी में भी नहीं है यह हमारे प्रमाद, अज्ञान और कविता विषयक उपेक्षा का परिणाम है। यदि तरंगिणी के दोहों को आलोचना के निकष पर कसा जाय और युग-संदर्भ तथा वर्तमान भाव-बोध के परिप्रेक्ष्य में उनकी गुणवत्ता का निर्धारण किया जाय तो आचार्य वाजपेयी के कवि रूप का पाठकों को पता चल सकेगा। यदि वाजपेयी जी स्वयं कवि कर्म से मुख न मोड़ लेते तो निश्चय ही वे ब्रजभाषा की और भी अधिक सेवा कर पाते। कारयित्री प्रतिभा के विकास के लिए निर्माण का सातत्य अपेक्षित है। कवि की रचनाधर्मिता को अक्षुण्ण रखने के लिए उस कर्म में प्रवृत्त रहना भी आवश्यक होता है।



'तरंगिणी' की प्रासंगिकता

डा० त्रिभुवन सिंह

रीडर, हिंदी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

पं० किशोरीदास वाजपेयी के साहित्यिक व्यक्तित्व की, हिन्दी-जगत् में अपनी एक अलग पहचान है। हिन्दी का कोई भी ऐसा प्रबुद्ध पाठक न होगा जो इस स्वाभिमानी साहित्यकार के नाम से अपरिचित हो। इस नाम के आते ही एक ऐसे कर्मठ, संघर्षशील मनस्वी एवं अपराजित व्यक्ति का चित्र उभरने लगता है जिसने जीवन भर विषमताओं से जूझना तो पसन्द किया किन्तु स्वाभिमान के मूल्य पर किसी से कुछ चाहा नहीं, किसी का कुछ स्वीकार नहीं किया। वाजपेयी जी के व्यक्तित्व का विकास भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के समानान्तर हुआ है, जिसमें—गाँधी की निष्ठायुक्त सादगी और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की बलिदानी भावुकता का अद्‌भुत किन्तु सहज समन्वय देखा जा सकता है। यही कारण है कि उनके चिन्तन की दिशा निरन्तर भारत के गरिमामय भविष्य की ओर ही उन्मुख रही है। साहित्य की जिस किसी विधा की ओर वे दृष्टि डालते हैं, ध्यान सर्वत्र उसकी प्रासंगिकता की ओर ही रहता है और शायद इसीलिए परम्परित प्रसंगों को नया संदर्भ देना, नये संदर्भों में मौलिक उद्‌भावनाओं को अस्तित्व प्रदान करना तथा भविष्य की चुनौतियों का सामना करने के लिए साहित्य के स्तर पर तैयार रहना वाजपेयी जी की निजी विशेषता हो गयी। उनके चिन्तन की दिशा अपेक्षाकृत आचार्यत्व की ओर अधिक उन्मुख रही, इसका कारण भी बहुत कुछ यही था। वाजपेयी जी आचार्य तो प्रतिष्ठित हैं ही किन्तु उनका एक कवि रूप भी है जिसकी ओर कम ही लोगों का ध्यान गया है जब कि उनके कवि की भी बहुत पहले ही आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० रामचन्द्र शुक्ल और कवि सम्राट् अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जैसे साहित्य-महारथियों द्वारा भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। यह अनुशंसा, अनुशंसा मात्र नहीं थी यह बात वाजपेयी की रचनाओं से प्रमाणित है।

सभी क्षेत्रों में नेतृत्व प्रदान करने का आग्रह लेकर वाजपेयी जी का जो साहित्यिक व्यक्तित्व विकसित हुआ है, वह कहीं भी किसी का अन्धानुकरण करना नहीं जानता और न अपने को प्रतिष्ठित देखने की लालसा में हर किसी से समझौता ही करने का पक्षधर है। अकेले चलने में उनका विश्वास है और इस विश्वास के बल से ही उन्होंने अपनी काव्य-रचनाओं में एक नयी जमीन भी तोड़ी है। उनकी नेतृत्व शक्ति और मौलिकता का परिचय हमें वहाँ मिलता है जहाँ वे प्राचीन से प्राचीन संदर्भ लेकर भी उसे एक नयी भंगिमा और प्रासंगिकता प्रदान करते हैं। 'तरंगिणी'[1] की तरंग-रूप पंक्तियाँ इस बात की साक्षी

---

१. काव्य-संग्रह

हैं कि ब्रजभाषा और उसके प्रिय छंद, दोहे में भी किस तरह युगीन विषमताओं एवं सामयिक समस्याओं को पूरी क्षमता के साथ अभिव्यक्त किया जा सकता है। हिन्दी-साहित्य के जिस कालखण्ड में ब्रजभाषा, काव्य भाषा के रूप में मूर्द्धाभिषिक्त रही, उस सामन्ती काल की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में जितना अन्तर्विरोध एवं जीवन के विविध क्षेत्रों में जो विषमता रही··· उस सब कुछ को उस काल के कवि नजर-अन्दाज कर गए जिसका परिणाम हुआ कि आगे चलकर यह एक सामान्य-सी धारणा बन गयी कि ब्रजभाषा और उसके प्रिय छन्दों में सिर्फ मानव-मन की कोमल-वृत्तियों को ही व्यक्त करने की सामर्थ्य है, जीवन को उसके बहुविध स्वरूप में चित्रित करने की क्षमता ही उसमें नहीं है। 'भूषण' जैसे एकाध कवि को अपवाद-स्वरूप छोड़ दें तो उपर्युक्त धारणा की निष्पत्ति भी सर्वथा अनर्गल या आग्रहपूर्वक आरोपित नहीं प्रतीत होती। जो भी रहा हो, यह तो है ही कि सामाजिक परिवर्तन-क्रम के समानान्तर ब्रजभाषा-काव्य का विकास नहीं हो सका और बहुत कुछ इसीलिए उसके गौरव का पद भी उससे छिन गया। स्वयं उसने जन-जीवन के स्पंदनों से तार मिलाने की आकुलता प्रकट नहीं की। जीवन की धारा से जुड़नेवाले साहित्य ने भी उसे माध्यम बनाने से इन्कार कर दिया। सामन्ती रुचियों का अवकाश अब था नहीं और न जन-सामान्य की उपेक्षा ही सम्भव थी। आवश्यकता थी कि शृंगार और भक्ति के घरौंदे से बाहर निकल कवि व्यापक समाज की संवेदना के चित्र उरेहता। ऐसी बात नहीं है कि इस ओर ब्रजभाषा कवियों का ध्यान बिल्कुल गया ही नहीं किन्तु कुछ लोगों का ही गया और उनमें भी पूरी क्षमता से उस दिशा में काम करनेवाले इने-गिने लोग ही थे। इस त्रुटि के कारण ही ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली को मिल गया और प्रचलित छन्दों के स्थान पर अनेक नये छन्दों की उद्भावना हुई। ऐसा हुआ क्यों? इस पर न तो हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों की दृष्टि गयी और न समीक्षक ही इस रहस्य को उद्घाटित कर सके। स्पष्ट है कि दोष, ब्रज-भाषा का नहीं उन कवियों, लेखकों और समीक्षकों का था जिनके हाथों वह समर्पित थी। कवियों की सुविधा-भोगी प्रवृत्ति ने ही उन्हें ऐसे राजाश्रयों में रहने को विवश किया, जो स्वयं ही सम्पूर्ण सामयिक चेतना से अनभिज्ञ और अलग अलग अपनी नियति से निराश या संतुष्ट हो भोगलिप्सा के शिकार थे। गति का नियमन प्रेरणा के ही हाथों होता है। ब्रज भाषा, अब शून्य से प्रेरणा ले रही थी···उसे जड़ होना ही था···तो भी कुछ उदाहरण ऐसे हैं···जिनके प्रयास प्रशंसा के योग्य हैं। वाजपेयी जी जैसा व्यक्ति मुझे पूर्ण विश्वास है कि रीतिकाल में रहा होता तो ऐसा 'भूषण' होता जो शिवाजी का भी आश्रय स्वीकार न करता। आश्चर्य भी नहीं, उनकी समूची जिन्दगी ही विद्रोही रही है। सरस्वती के वरदपुत्र के रूप में ही अपने को सर्वाधिक सम्मानित महसूस करने के कारण ही उन्होंने कहीं उसका मस्तक झुकने नहीं दिया। बड़े से बड़े प्रलोभन पर लात मारकर आगे बढ़ गए। अनेक तरह की आर्थिक कठिनाइयों से निरन्तर जूझते रहने के बाद भी उन्होंने अपनी सरस्वती को कहीं बन्धक नहीं रखा, उसपर किसी की आँख भी उन्हें सह्य नहीं रही·· कारण था—स्वाभिमान। ब्रजभाषा की भंगिमा भी ऐसे अक्खड़ मनीषी के हाथों पड़कर बदले बिना न रही। छन्द वही, भाषा वही···विषय और सुर बदल गया।

वाजपेयी जी की 'तरंगिणी' के दोहों ने यह प्रमाणित कर दिया कि बिना छन्द-परिवर्तन के भी ब्रजभाषा में प्रासंगिक साहित्य रचा जा सकता है, एक नये रूप की सृष्टि हो सकती है ग्रौर परम्परा की भित्ति पर भी युग के समानान्तर मजबूती से कदम बढ़ाया जा सकता है।

'ग्रनुकरण' को वाजपेयी जी बुरी निगाह से नहीं देखते बशर्ते कि ग्रनुकर्ता ग्रन्धा न हो, स्वतः भी कुछ देख पाने की सामर्थ्य उसमें हो। ग्रनुकरण भाव का होना चाहिए, दीप्ति का होना चाहिए--चन्द्रमा-सा। ग्रनुकरणीय कौन है? ग्रहण किसका किया जाय? इन सब की परख भी होनी चाहिए। हल्की-फुल्की प्रतिभा के बौने कवियों में तो इस बात का भी भेद नहीं होता जिसका परिणाम होता है कि घूर से बिने चीथड़ों से वे दुशाला तैयार करने का दम्भ लिये फिरते हैं। प्रकाश तो चन्द्रमा की भी ग्रपनी वस्तु नहीं है किन्तु उसके ग्रहण ग्रौर प्रत्यावर्तन में ही वह निजत्व है जो सूर्य की उत्तप्त किरणों से शीतल दीप्ति निचोड़ लेता है। सच्चा कलाकार भी कलाधर चन्द्रमा की तरह ही दूसरे की वस्तु ग्रहण करता है ग्रौर ग्रपनी सम्पूर्ण कला के बल पर उसे एक सर्वथा नया रूप देकर हमारे समक्ष समुपस्थित करता है।[1] किसी का गुण ले लेना बुरा नहीं, यदि ग्रपना भी कुछ देने लायक हो। ग्रनुकरण छिछला या सतही नहीं होना चाहिए। उधार के बल पर ही सम्पूर्ण श्रेय ग्रर्जित करने की लोलुपता ही हमें हास्यास्पद बना देती है। ऐसे छिछले किस्म के ग्रनुकरण का घिनौनापन सर्वत्र ही वाजपेयी जी को कोंचकर कुछ कहने को उकसाता रहता है। पाश्चात्य सभ्यता की सतह पर ग्रन्धाधुन्ध भागने की जो प्रवृत्ति ग्राधुनिक भारतीय समाज में दिखाई देती है, उसके प्रति एक चुभता-सा ग्रसंतोष वाजपेयी जी की रचनाग्रों में कहीं भी देखा जा सकता है। उनकी समझ में यह बात घर नहीं बना पाती कि धरातली ग्रनुकरण में निजत्व का गंध-भीना सौंदर्य कैसे ग्रौर कहाँ से ग्रा सकता है? यही कारण है कि पैर के महावर को कपोलों पर चढ़े देख वे इस तथाकथित ग्राकर्षक सभ्यता पर एक व्यंग्य-भरी स्वीकृति से सिर हिलाते-से प्रतीत होते हैं।[2] क्योंकि वे जानते हैं कि कलाहीन ग्रनुकर्ता को ठीक वैसे ही सम्मान ग्रौर यश नहीं मिलेगा जैसे कि तालाब में पड़े सम्पूर्ण चन्द्र-बिम्ब को भी किसी का ग्रर्घ्य नहीं मिलता। जातीय स्वाभिमान ग्रौर निजी विशेषताग्रों को लांछित ग्रौर तिरस्कृत कर हम कहीं भी सम्मानार्जित नहीं कर सकते। श्वानों की तरह मालिक की ग्रधीनता में पड़े रहकर चिकनी-चुपड़ी भले मिल जाय किन्तु वह ग्रात्म-सुख कहाँ जो केहरि के स्वतंत्र विचरण में है?[3] ग्रँगरेजों से प्राप्त कोरी खिताबों के पीछे भारत की वीरता भ्रमित हो रही है, उसकी सम्पूर्ण

---

१. कलावन्त पर-वस्तु लै, देत रुचिर निज रंग।
करत चाँदनी चन्द है, रवि ग्रातप लै ग्रंग॥
—पं० किशोरीदास वाजपेयी, 'तरंगिणी' से

२. ग्रली! भली तूने करी, तज्यौ महावर-पान।
गाल गुलाबी रंग रँगि, लह्यौ सभ्यजन-मान॥

३. स्वान! मौज सब बिधि करौ, रहि 'मालिक' के संग।
पै मिलिहै कैसे कहौ, केहरि-मान ग्रभंग?—वही

जीवन्तता विनष्ट हुई जा रही है, आँखें फिर भी खुल नहीं रहीं। हिन्दुस्तान अब कहने भर को गरम देश रह गया है, सच बात तो यह है कि अब उसमें ऐसी गर्मी का निशान भी नहीं रहा जिससे उबाल आता है। स्वाभिमान के धनी वाजपेयी जी को हिमगिरि के रुदन पर दयामिश्रित सहानुभूति है, उसे सम्बोधित करते हुए उनका कवि बोल उठता है--

क्यों रोवत हिम गिरि इते, बृथा बहावत नीर !
भारत के वै दिन गये, गये बाँकुरे बीर !

उक्त दोहे में 'इते' और 'वै' शब्दों में अर्थ का अपार विस्तार समाया हुआ है, भारतीय गौरव का समस्त प्राचीन इतिहास संकेतिक हो उठा है। वाजपेयी जी का रचनाकार देश की नपुंसकता पर क्षुब्ध है, उसका मन आक्रोश से भर उठता है, निराशा भी किसी कोने में जमी हुई है किन्तु आशा फिर भी शिथिल नहीं क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि आँखें चाहे जितनी बड़ी हों किन्तु यदि उनमें पानी नहीं है; लज्जा, संकोच और स्वाभिमान की झिलमिल आभा नहीं है तो उनकी कीमत मोरपंख से अधिक कुछ नहीं हो सकती।[1] अपनी इस मूल्यहीनता का एहसास कभी न कभी तो होगा ही। बसन्त, सामने ही उसे दिखाई देता है, मन सशंकित है तो उसे ढाँढस बँधवाना भी उन्हें आता है; आखिर शीत का अन्त हो रहा है तो बसन्त कैसे आने से रुक पायेगा ?[2] तरुण तरुओं को निराश होने की क्या बात है ? निराश और हताश तो वे वृद्ध-जन हों जिनका रोम-रोम शिथिल हो चला है, शक्ति और उत्साह नहीं रहा। कवि को नाराजगी तो उन लोगों से है जो देश की पराधीनता के बाद भी 'हालावाद' के चक्कर में पड़े हुए हैं; देश को एक नई दिशा की ओर ले जाने का किंचित् भी प्रयास न करके अपनी प्रतिभा और सामर्थ्य का गलत रास्ते पर ही सम्पूर्ण उपयोग करते जा रहे हैं और फिर भी अपने को आधुनिक कहते हैं। वाजपेयी जी की कसौटी है—जनहित। जन-हित में असमर्थ हीरे की भी कीमत वे धूल से अधिक कुछ नहीं मानते। सम्पादकों की गुटबन्दी से उन्हें चिढ़ है, एकान्त कानन के कोने में अपनी तपस्या का ढोंग रचनेवालों से नफरत। वाजपेयी जी के सम्मान का अधिकारी तो वही है जो देश के लिए कुछ कर रहा है, पराधीनता को उतार फेंकने की आकुलता जिसमें है। चिकने कपड़ों की तुलना में उन्हें खुरदुरा खद्दर ही भला प्रतीत होता है क्योंकि उसने किसी की चर्बी चाटकर अपने को चिकना करने का उपक्रम नहीं किया है।[3] स्वदेशी वस्तु, स्वदेशी ही है और विदेशी, विदेशी ही। बाह्य-शासन कितना ही सुखद क्यों न हो, उसकी चुभन सोने की कील की तरह ही कम नहीं होती, रह-रह कर उसकी खरक, अखरती

१—बड़री अँखियन सों कहा, जौ नहिं पानीदार।
मोरपंख-सी वै सखी, लखिबे भर की सार ! !
२—करु न संक अब तरुन तरु, भयो सीत कौ अन्त।
सुमन खिलावत जगत के, आवत देखु बसन्त।।
३—खद्दर अति कौ खरखरौ, तऊ नेह कौ गेह।
पर-चरबी चखि चाटि कै, करी न चिकनी देह।।—वही

ही रहती है ।[१] वाजपेयी जी का रचनाकार सर्वत्र शक्ति की ही प्रतिष्ठा देखता है, जिसमें जितना जोर होता है, उतना ही मान-सम्मान और अधिकार उसे मिल पाता है; दीन-हीन लोगों की ओर किसी का भी ध्यान नहीं जाता, किसी की सहानुभूति का स्रोत उनके लिए नहीं उमड़ता । जड़-चेतन सर्वत्र ही इसी शक्ति का बोलबाला है । सबल ही स्वाधीन है, निर्बल तो हर कहीं परतंत्र है, पराधीन है और दासता की जंजीरों में जकड़ा है——

भूमि-नीर-लौं पौन हू, करत सबल स्वाधीन ।
जोर चलत तौ जगत मैं, जीयन न पावत दीन !!

शेर, छलपूर्वक किसी की गिरफ्त में आ भी जाय तो दीन हो पूँछ नहीं हिलायेगा । जातीय गौरव की स्मृति जिसे है, निजी स्वाभिमान और संस्कार जिसमें है वह कभी पराधीनता में पड़कर भी किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं होता । ऐसे एक व्यक्ति की गर्मी से भी सम्पूर्ण शीतप्रदेश गर्म हो सकता है, ऐसे एक व्यक्ति का उत्साह भी अनेकानेक त्रस्त और पस्त लोगों में भी ओज भर सकता है । वह 'गजब की बिजुरी' जहाँ कहीं भी दिखाई देती है, वाजपेयी जी का कवि मंत्र-मुग्ध हो जाता है, धन्य-धन्य कह उठता है । तत्कालीन एसेम्बली के सर्वाधिक गरम मेम्बर और संयुक्त-प्रान्त के सबसे खतरनाक पत्र 'सैनिक' के सम्पादक पं० श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल के प्रति कवि के मन में ऐसा ही श्रद्धायुक्त सम्मोहन है ।[२] किन्तु वहीं आपसी झंझटों में आपात् फँसे उन लोगों के प्रति कुढ़न भी है जो वक्त की आवाज न पहचानकर नाहक की खींचतान मचाये हुए थे । ऐसे विवादों में भाषा-सम्बन्धी विवाद भी उस समय महत्व का था । वाजपेयी जी का भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट था और वे यह बात भी जानते थे कि पर-भाषा (अँगरेजी) की रट लगाने वालों को दाने से अधिक का लोभ नहीं है··· ज्ञान और सम्मान दोनों ही उनके नसीब में कहाँ ?[३] भाषा-सम्बन्धी आन्तरिक कलह उन्हें प्रिय नहीं, क्योंकि वे यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि हिन्दी-भाषा की सामर्थ्य उसकी सम्पूर्ण बोलियों-उपबोलियों की सामर्थ्य है । लड़ाई उस विदेशी भाषा के विरुद्ध होनी चाहिए जिसने हमारी सम्पूर्ण सांस्कृतिक धरोहर पर हाथ साफ करने का कुचक्र रचा है । अनेकानेक युद्धों के बीच से गुजरते देश को अब 'रनछोर' कृष्ण की जगह कंस-संहारक कृष्ण की आवश्यकता है, यह बात भी उन्हें स्पष्ट है··· ब्रजभाषा कवियों को आपने यहीं विषय-परिवर्तन का संकेत भी दिया है किन्तु इतिहास-पुरुष की कुछ और ही इच्छा थी कि एक बड़े समूह का ध्यान उधर न जा सका । तो भी वाजपेयी जी की मर्दानगी की जितनी भी तारीफ की जाय, कम होगी । उन्होंने अपने

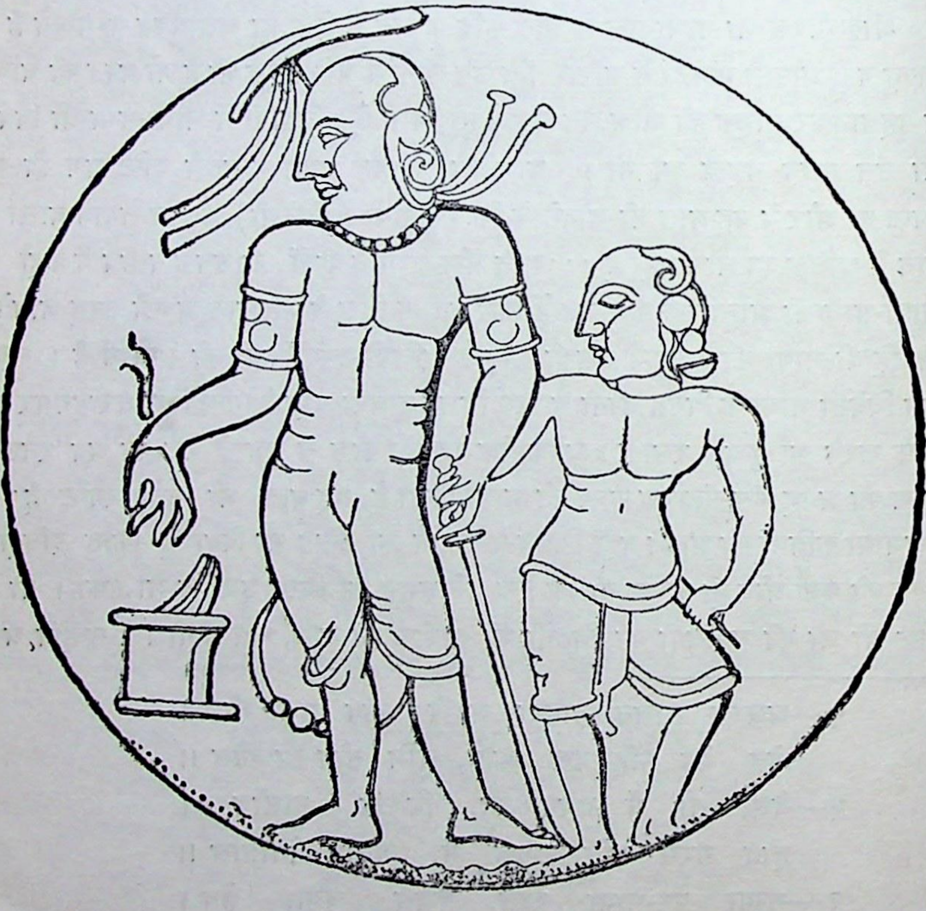
१——अखरत सासन बाहरी, जदपि होय सुख सील ।
देत देह नहिं दुख कहा, चुभि सोने की कील ।।

२——देखी तो मैं गजब की, बिजुरी पालीवाल ।
होत गरम अति छनक में, जासों नैनीताल ।।

३——सुग्गा पर-भाषा रटत, केवल चुग्गा हेत ।
ज्ञान-मान बिनु मूढ़ सो, परि बन्धन दुख लेत ।।

दायित्व को समझा ही नहीं, उसका समुचित निर्वाह भी किया है। इतिहास-मीमांसक के लिए उन्हें नजरअन्दाज कर पाना सम्भव न होगा।

वाजपेयी जी प्रगतिगामी भारतीय हैं। उनके रग-रग में भारत की गंध है किन्तु अपने युग की उपेक्षा नहीं। युग के साथ कदम मिलाकर चलने की अद्भुत क्षमता तो उनमें है ही, युगीन समस्याओं से जूझने का अदम्य उत्साह भी है। भाषा और छन्द यदि उन्हें परम्परा से जोड़ते हैं तो अनुभूति और विषय उन्हें नये लोगों की पंक्ति में ला खड़ा करते हैं। युगीन स्पन्दनों की अद्भुत पकड़ उनमें थी और उन्हें परम्परित माध्यम में ही अभिव्यक्त करने की क्षमता भी विशिष्ट थी। ब्रजभाषा को ऐसे ही कुछ सुकवि और मिले होते तो शायद उसका स्थान आज भी महत्तर होता। उसकी प्रासंगिकता पर सन्देह का चिह्न लगा देना आसान चीज न होती।



'तरंगिणी' का काव्य-वैभव

डा० जगदीश वाजपेयी
अध्यक्ष, सनातनधर्म कालेज, हिंदी विभाग
मुजफ्फरनगर

'तरंगिणी' के स्वनाम-धन्य रचनाकार आचार्य किशोरीदास वाजपेयी बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। वे संस्कृत के मर्मज्ञ विद्वान्, हिन्दी के मूर्धन्य वैयाकरण, लब्धप्रतिष्ठ साहित्य-शास्त्री, नीर-क्षीर-विवेकी समीक्षक तथा सफल निबंधकार हैं। इस प्रकार कारयित्री प्रतिभा के क्षेत्र में हिन्दी-साहित्य को उनका योग-दान परम स्तुत्य है। पर आज की पीढ़ी के बहुत कम लोग यह जानते हैं कि हिन्दी का यह यशस्वी विद्वान् एक श्रेष्ठ तथा सफल कवि भी है। इस संबंध में मुझे एक रोचक प्रसंग याद आता है। आज से लगभग ४-५ वर्ष पूर्व राजस्थान के एक शोध-छात्र ने, जो 'दोहा-साहित्य' पर अनुसंधान-कार्य-रत था, मेरी पुस्तक 'आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य' में आचार्य वाजपेयी द्वारा लिखित 'तरंगिणी' की समीक्षा पढ़ने के बाद, मुझे पत्र लिखा कि क्या ये वही वाजपेयी जी हैं, जिन्होंने "ब्रजभाषा का व्याकरण, तथा हिन्दी शब्दानुशासन" जैसे उच्च कोटि के ग्रंथ लिखे हैं। निश्चय ही वह बेचारा यह नहीं समझ पा रहा था कि एक वैयाकरण तथा भाषा-शास्त्री श्रेष्ठ सुकवि भी हो सकता है। सच बात यह है कि व्याकरण, भाषा-विज्ञान, आलोचना आदि विधाओं में मस्तिष्क तत्व की प्रधानता रहती है, जब कि काव्य-रचना के क्षेत्र में हृदय-पक्ष की प्रमुखता रहती है। अतः आचार्य वाजपेयी जैसे भाषाविद् के लिए उत्कृष्ट कविता की रचना करना—निश्चय ही विशिष्ट महत्व की बात है। इस कथन की पुष्टि स्वयं वाजपेयी द्वारा विरचित 'तरंगिणी' के एक दोहे से हो जाती है, जहाँ वे लिखते हैं—

आलोचक कविता करै, तौ यह समुझौ भूल।
माली में हैं कब लगे, कहुँ गुलाब के फूल।।

'तरंगिणी' की रचना, निश्चय ही, आचार्य वाजपेयी की भूल नहीं, अपितु असामान्य उपलब्धि है, क्योंकि इस कृति में उनका समाज-सुधारक, उपदेशक, सत्कवि, सूक्तिकार, नीतिकार आदि का इन्द्रधनुषी स्वरूप मिलता है।

सच यह है कि हिन्दी-जगत् ने इस काव्य-कृति को उतना आदर नहीं दिया, जितना कि वास्तव में उसे मिलना चाहिए। शायद, इसका कारण यह है कि अपनी विभिन्न-विषयक गद्य-रचनाओं की श्रेष्ठता के कारण, वाजपेयी जी का कवि-रूप लोगों को विस्मृत-प्राय हो गया है। आचार्यत्व और विद्वत्ता ने उनके भाव-प्रवण कवि-रूप को लगभग दबा-सा दिया है। यहाँ तक कि प्रामाणिक संदर्भ-ग्रंथ 'हिन्दी-साहित्य-कोश' के सुविज्ञ सम्पादक भी जाने-अनजाने वाजपेयी जी की कृतियों में 'तरंगिणी' का उल्लेख करना भूल

गये हैं। इसी कारण जहाँ दुलारे दोहावली, वीर सतसई, किसान सतसई, करुण सतसई आदि इसी प्रकार की काव्य-कृतियों के कई-कई संस्करण प्रकाशित हो गये और साहित्य-संसार में वर्षों तक उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना का क्रम चलता रहा, वहीं 'तरंगिणी' की सरसता, मधुरता तथा वाग्विदग्धता धीरे-धीरे पाठकवृन्द की स्मृति से शनैः शनैः धूमिल होती गई और आज यह स्थिति आ गई है कि लोग वैयाकरण तथा सुकवि—वाजपेयी जी को भ्रमवश दो अलग-अलग व्यक्ति मानने लगे हैं। उनके पांडित्य तथा वैदुष्य का सर्व-समादृत तथा आतंककारी रूप का हिंदी साहित्यानुरागियों तथा विद्वानों पर ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ा कि उनका दशकों पुराना कवि-रूप धीरे-धीरे विस्मृत होने लगा।

परन्तु, वास्तविकता यह है कि 'तरंगिणी' के ही प्रतिपाद्य विषयों को लेकर उससे मिलती-जुलती सूक्ति-मुक्तकमयी जो अनेक रचनायें—यथा, दुलारे दोहावली, वीर सतसई, दिव्य दोहावली, सूक्तिमुक्तावली, राजेश दोहावली, सुधा-सरोवर, करुण-सतसई, फलक सतसई—आदि प्रकाशित हुई हैं, उनकी अपेक्षा 'तरंगिणी' की रस-निमग्न कर देनेवाली सरस तरंगों में मार्मिकता, सरसता, मनोनुग्धकारिता, वचन-विदग्धता, राष्ट्रीयता, धार्मिकता आदि गुणों की बहुलता है। वस्तुतः, वाजपेयी जी ने दो प्रमुख उद्देश्यों से प्रेरित होकर इस कृति की रचना की है—

१—ब्रजभाषा का व्याकरणानुमोदित साहित्यिक रूप प्रस्तुत करना।

२—सम-सामयिक युग के अनुरूप विषयों का समावेश।

जहाँ तक प्रथम उद्देश्य का सम्बन्ध है आचार्य वाजपेयी एक नहीं अनेक दृष्टियों से आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के अनुगामी हैं। आचार्य द्विवेदी की ही भाँति वे भाषा (चाहे वह ब्रजभाषा हो या खड़ी बोली) के परिष्करण तथा परिमार्जन के अनन्य समर्थक हैं। वे भाषा के क्षेत्र में किसी प्रकार की अराजकता, अव्यवस्था या उच्छृङ्खलता सहन नहीं कर सकते हैं। इसी उद्देश्य से उन्होंने हिन्दी शब्दानुशासन, हिन्दी निरुक्त, ब्रजभाषा-व्याकरण जैसी अनेक गद्य-रचनाएँ लिखी हैं। भाषा का परिनिष्ठित या टकसाली रूप उन्हें प्रिय तथा मान्य है।

जहाँ तक दूसरे उद्देश्य का संबंध है वाजपेयी जी प्रारम्भ से ही रूढ़ियों तथा जर्जर राओं के भंजक रहे हैं भले ही आजके कुछ तथाकथित प्रगतिशील लोग उन्हें पुरातनपंथी या रूढ़िवादी मानते हों। बचपन से बनी बनाई लीक पर चलना उन्हें ग्राह्य नहीं रहा है, बड़े से बड़े और प्रभावशाली से प्रभावशाली व्यक्ति के अन्याय के आगे उन्होंने सिर नहीं झुकाया—चाहे वह महाप्रतापी अंग्रेज सरकार रही हो; कांग्रेस का बड़े से बड़ा नेता, म्यूनि-सिपल बोर्ड का चेयरमैन, स्कूल का मैनेजर या साहित्य का विद्वान् ही क्यों न रहा हो। अपनी इसी क्रांतिकारी प्रवृत्ति के कारण वे कई बार जेल-यात्रा भी कर आये हैं और स्वाधी-नता संग्राम में आगे रहकर अनेक प्रकार की यातनायें सही हैं।

उक्त दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति में वाजपेयी जी पूरी तरह सफल हुए हैं। प्रथमतः, इस कारण कि उन्होंने शृंगार, वीर, शान्त या हास्य आदि रसों में से किसी एक को अपनी रचना में प्रमुखता न देते हुए यथावसर सभी रसों का न्यूनाधिक प्रयोग किया है, और

'करुण सतसई' के लेखक अध्यापक रामेश्वर 'करुण' की भाँति साम्यवाद के प्रचार-प्रसार को ही अपनी कृति का एकमात्र उद्देश्य नहीं समझ बैठे हैं। वादों के विवाद से यह अलगाव 'तरंगिणी' को 'एकरूपता' की घुटन से बचाता है। इस तथ्य को पूरी तरह से समझने के लिए हमें तरंगिणी के रचना-विधान पर दृष्टिपात करना पड़ेगा।

आचार्य वाजपेयी प्रणीत यह कृति १६३६ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुई थी। यह वह समय था जब भारत पराधीनता के पाश से मुक्ति पाने के लिए न केवल बुरी तरह छटपटा रहा था, वरन् उसके लिए सक्रिय रूप से प्रयत्नशील भी था। इस बात की झलक तरंगिणी में उपलब्ध अनेक दोहों से मिलती है। यथा—

अखरत सासन बाहरी, जदपि होय सुखसील।
देत देह नहिं दुख कहा, चुभि सोने की कील॥

विदेशी शासन से प्राप्त होनेवाली यह पीड़ा केवल कराह या रुदन के साथ ही समाप्त हो जानेवाली नहीं थी, वरन् राष्ट्रीय नेताओं ने स्वाधीनताप्राप्ति के पश्चात् स्वराज्य की संभावित रूप-रेखा भी बना ली थी, जिसमें कृषकों और श्रमिकों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। उदाहरण के लिए—

हलधर संग गोपाल जब कियो कंस मद चूर।
मनौ कह्यौ सासक जगत है, किसान-मजदूर॥

युगानुरूप भावनाओं को मार्मिक ढंग से छोटे-छोटे सरल तथा सुबोध दोहों में व्यक्त करनेवाली यह कृति उस समय इतनी लोकप्रिय हुई कि प्रकाशन के प्रथम वर्ष में ही उसके तीन संस्करण प्रकाशित करने पड़े। 'तरंगिणी' की भाव-तरंगें तीन प्रवाहों में विभाजित हैं। हर एक 'प्रवाह' में १०० दोहों का उपक्रम है और इस प्रकार सम्पूर्ण पुस्तक में लगभग ३०० दोहों का समावेश है। दोहों के अतिरिक्त कुछ कवित्त सवैये भी इस कृति में उपलब्ध हैं। पहले प्रवाह में परतंत्र भारत और उसके कोटि-कोटि निवासियों के दीन-हीन जीवन की अश्रु-विगलित करनेवाली करुण झाँकी प्रस्तुत की गई है, किन्तु तरंगिणीकार का स्वर तत्कालीन छायावादी कवियों की भाँति निराशावादी नहीं है। वह गरीबी, अभाव, शारीरिक श्रम आदि की अधिकता में भावी मंगल और कल्याण के अंकुर अन्तर्निहित देखता है। यथा, धान कूटती हुई ग्राम्य-बाला को देखकर कवि कहता है—

छरति छरहरी छबि भरी, धान छबीली बाम।
मनु व्याधिन के सीस पै, देति मुसल अभिराम॥

परन्तु, कवि जीवन और जगत् के कटु-संघर्ष के इन क्षणों में भी अतिवादी नहीं है। तभी तो वह कहता है—

अति की भली न बात कोउ, कैसी ही संसार।
होति तुरत आचार हूँ, अति सौ अत्याचार॥

शब्दों की अंतरात्मा का सूक्ष्म ज्ञान रखनेवाले समर्थ भाषाविद् आचार्य वाजपेयी की मनोवृत्ति की झाँकी उक्त दोहे में अनायास ही मिल जाती है।

इस कृति में रचनाकार की दृष्टि वस्तुओं और घटनाओं के साथ-साथ व्यक्तियों पर भी पड़ी है। उदाहरण के लिए स्वतंत्रता-संग्राम के सफल सेनानी तथा निर्भीक पत्रकार—पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल की नैनीताल स्थित उत्तर-प्रदेशीय विधान सभा में जोश-खरोश से भरी तक़रीरें सुनकर लेखक को ऐसा लगता है मानों नैनीताल की भयंकर सर्दी में पर्याप्त गर्मी का समावेश हो गया हो। यथा—

देखी तो में गजब की बिजुरी 'पालीवाल'।
होत गरम अति छनक में, जासौं नैनीताल॥

इसी प्रकार स्वाधीनता आन्दोलन के सूत्रधार—विश्वबन्धु बापू के प्रति कवि की उक्ति है —

गाँधी सूछम देह में, बल को ओर न छोर।
ज्यों बिजुरी के तार में, रहै सक्ति सर जोर॥

व्यक्तियों के अतिरिक्त वस्तुओं के सूक्ष्म गुणों पर भी कवि की तीक्ष्ण दृष्टि टिकी है। उदाहरण के लिए इसमें उसने अपने प्रिय पेय—चाय का वर्णन इस प्रकार किया है —

गरमी में सीतल सुखद, गरम सीत रितु माह।
सो स्यामा रस-दायिनी, धनि लिपटन की चाह॥

और फुटबाल के प्रति कवि की व्यंग्योक्ति भी दर्शनीय है —

फूलि रह्यौ फुटबाल तू, बृथा न नीच लजात।
ठोकर दैबे काज ही, उदर भरयौ तुव जात॥

संसार के प्रायः सभी देशों, सभी युगों तथा सभी भाषाओं के साहित्य में सूक्तियों के प्रति अवर्णनीय आकर्षण रहा है। इतना तो निर्विवाद है कि संपूर्ण वाङ्मय में उक्ति की रमणीयता तथा वचन-वक्रता के प्रति साहित्यानुरागियों में गहरी आसक्ति रही है, परंतु यह उक्ति, उक्ति से कुछ बढ़कर सूक्ति (सु + उक्ति) रही है, फिर तो उसके प्रति काव्यप्रेमी जनों में अत्यधिक आकर्षण होना परम स्वाभाविक है।

समीक्षकों ने सूक्ति-मुक्तकों की सफलता के लिए चार प्रमुख विशेषताएँ बताई हैं —

१—कल्पना की समाहार-शक्ति।
२—भाषा की समास-शक्ति।
३—संकेत या मार्मिक व्यंजना।
४—मार्मिक घटना या प्रसंग का चुनाव।

कहना न होगा कि 'तरंगिणी' की कविताओं में उक्त चारों गुण प्रचुर रूप में उपलब्ध हैं। बिहारी सतसई की लोकप्रियता के पीछे ये ही चारों तत्व निहित हैं। परन्तु आज युग बदल चुका है। आज न तो शृंगार की अतिशयता का ही काल है; न नायिका-भेद के प्रति पाठकों के मन में कोई ललक है और न ऊहात्मक या अतिरंजित उक्तियों के प्रति साहित्य-रसिकों में कोई विशेष आकर्षण पाया जाता है। आज तो कविता के नाम पर कम से कम समय में सम-सामयिक विषयों पर सटीक तथा हृदय-हारिणी उक्तियों के प्रति थोड़ा-बहुत आकर्षण शेष है अन्यथा जीवन की विरसता के साथ गद्य की इतिवृत्तात्मकता इतनी घुल मिल गई है कि नवीनतम कविता भी गद्य बनकर रह गई है। फिर भी इन दोहों का कृश कलेवर, चिर-परिचित व्यक्तियों, वस्तुओं और घटना-प्रसंगों

के मार्मिक चित्रण द्वारा सरस-मधुर बन गया है। रचना की रमणीयता का यही रहस्य है और सतसइयों की लोकप्रियता का भी यही कारण है। आधुनिक ब्रज-भाषा काव्य में १०० से ऊपर सूक्तिमुक्तक-परक काव्य-कृतियाँ उपलब्ध हैं और इनमें आचार्य वाजपेयी प्रणीत 'तरंगिणी' विषय-वस्तु की नवीनता, मार्मिक अनुभूति तथा कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से सहज ही मूर्धन्य स्थान की अधिकारिणी है।

जहाँ तक कला-पक्ष का संबंध है साहित्य-शास्त्र (रस, अलंकार, गुण, शब्दशक्ति) के प्रकाण्ड पंडित होते हुए भी आचार्य वाजपेयी ने अपनी इस कृति में अलंकार-प्रयोग की ओर विशेष आग्रह नहीं प्रदर्शित किया है। कारण यह है कि अलंकारों के आच्छादन से आवृत्त होकर वे अपने लक्ष्य पर सीधी मार न कर पाते और उनकी प्रखरता कुंठित हो जाती। फिर भी कुछ अलंकारों के सुन्दर प्रयोग यत्र-तत्र द्रष्टव्य हैं —

चोखे सर हैं दोहरे, दुहू ओर है धार।
कोष न इनको चाहिए, उपजत अरथ अपार ।।
(यमक, श्लेष)

छरति छरहरी छबि-भरी, धान छबीली बाम।
मनु व्याधिन के सीस पै, देति मुसल अभिराम ।।
(अनुप्रास, उत्प्रेक्षा)

वस्तुतः 'तरंगिणी' के कवि का सबसे बड़ा शस्त्र है उसका तीखा और चुभता हुआ व्यंग्य। ऐसा लगता है मानों व्यक्तिगत जीवन में अनुभव किये हुए पुंजीभूत आक्रोश और असंतोष को व्यक्त करने के लिए रचनाकार ने इस शक्तिशाली माध्यम को अपनाया है। तभी तो, सामाजिक और धार्मिक कुरीतियाँ, राजनीतिक कूटनीति तथा पाखंड, और साहित्यिक रूढ़ियाँ—सभी समान रूप से 'तरंगिणी' की तरंगों की लपेट में आ जाती हैं। यथा—

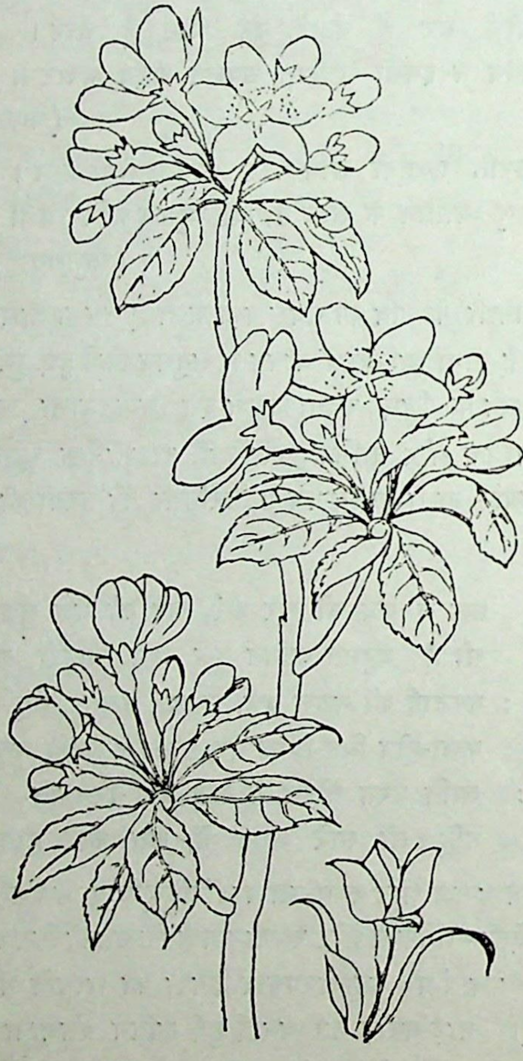
बहुमत : **छन में गज को खर करै, खर कौ गज सुखभौन।**
सो है बहुमत अमित बल, ब्रह्म बापुरो कौन ।।
फैशनेबुल युवक : **नकटाई की नकल बल, ललन चलत नहिं काम।**
कला-हीन बिधु-बिम्ब सर, पुजत न जदपि ललाम ।।
काले भारतीय : **जानि परत गोरेन ने कछु बड़ि रिसवति दीन।**
नहि तौ सारे जगत में, कत कारे ही हीन ।।

इस प्रकार भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों ही दृष्टियों से देखने पर 'तरंगिणी' की तरल-तरंगों में कुछ ऐसी मार्मिकता और रमणीयता है कि उसको निरख-परख कर उस युग के समर्थ समालोचक आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की सम्मति थी—"इसकी भाषा प्रकृत ब्रजभाषा है। तोड़-मरोड़ कर बनाई हुई कृत्रिम ब्रजभाषा नहीं।" इसी के साथ समीक्षक-शिरोमणि आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत था—"दोहे बहुत सुंदर उतरे हैं। इनमें सरसता भी है और चमत्कार भी। सबसे अच्छी बात यह है कि इनका क्षेत्र

विस्तृत है—एक ही रस या प्रसंग से परिमित नहीं है। जीवन के मार्मिक सामान्य तथ्यों से लेकर आजकल की विशेष-विशेष प्रवृत्तियों तक की बड़ी सुन्दर व्यंजना इनमें है।"

उस युग के उक्त दोनों आचार्यों की 'तरंगिणी' के विषय में प्रदत्त सम्मति अपने आप में इस बात की प्रमाण है कि काव्य के दोनों—अंतरंग और बहिरंग पक्षों को लेकर यह कृति कितनी सुन्दर बन पड़ी है। तभी तो उस समय के शीर्षस्थ सुकवि पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'तरंगिणी' के विषय में अपना पद्यबद्ध अभिमत इस प्रकार दिया था—

सरस तिहारे दोहरे, सुकवि किशोरीदास।
रस बरसत मन बस करत, हरत हिये की प्यास॥



'सुदामा या द्वापर की राज्यक्रान्ति'

आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी

कविवर जयदेव ने गीत-गोविन्द लिखकर तो अक्षय्य कीर्त्ति अर्जित की ही थी किन्तु वे न्यायशास्त्र के पंडित होने के कारण विचक्षण तार्किक भी थे । उनकी इस द्विविध विरोधी प्रकृति के आधार पर किसी ने उन्हें छेड़ दिया—'कवितातर्कयोः कथं समवायः' (कविता और तर्क का कैसा मेल ?) । इस पर जयदेव ने तत्काल उत्तर दिया—

येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती ।
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्‌गारेऽपि किं हीयते ।
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मत्त करीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः ॥

(जिनकी विलासमयी वाणी में ललित काव्य-रचना की कला विद्यमान है उनके मुँह से यदि कठोर तर्क के टेढ़े वचन भी निकलते हैं तो क्या हानि हो जाती है ? जिन वीरों ने बड़े रस के साथ स्त्री के स्तनों पर अपनी उँगलियाँ फेरी हैं उन्होंने क्या मतवाले हाथी के मस्तक पर बाण नहीं चलाए हैं ?)

ठीक यही बात पंडित किशोरीदास वाजपेयी जी से भी पूछी जा सकती है—'रूपकव्याकरणयोः कथं समवायः' । और वाजपेयी जी तड़ाक से कह सकते हैं कि 'मैं कोरा नीरस वैयाकरण नहीं हूँ । मैं तो संस्कृत साहित्य का पंडित होने के नाते, 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' का भी उतना ही रस लेता हूँ और मैंने भले ही रंगमंच पर कभी नट बनकर अभिनय न किया हो पर नाटक पढ़े और देखे तो हैं । ब्याह नहीं हुआ तो क्या, बारात तो देखी है ।' इसीलिये उन्होंने नाटक-रचना पर भी हाथ माँजा और 'सुदामा या द्वापर की राज्यक्रांति' नाटक की रचना कर डाली ।

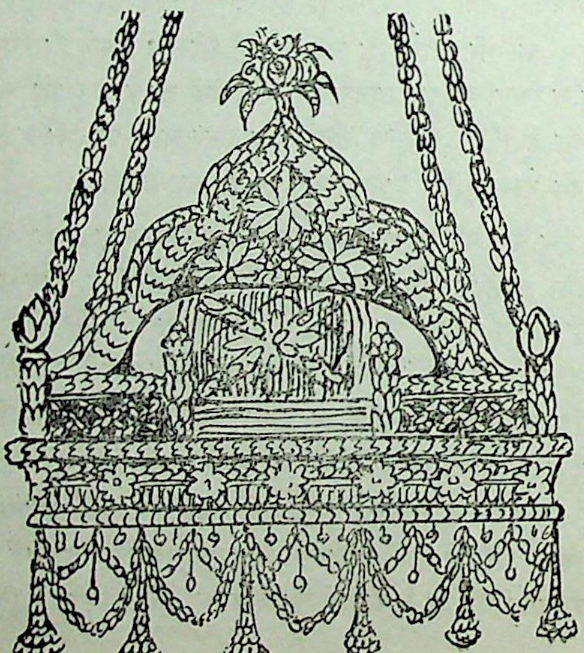
यह नाटक इस युग की भावना और भारतीय आवश्यकता का शंखनाद है । इस नाटक का सुदामा धनहीन होने पर भी स्वाभिमानी, निर्भीक, लोक-सेवक, मनस्वी, तथा तेजस्वी पुरुष है जिसकी पत्नी भी उतनी ही तपस्विनी , तेजस्विनी और मनस्विनी है । वाजपेयीजी ने इस नाटक में शिक्षा-पद्धति और शासन-पद्धति के वांछनीय स्वरूप की मीमांसा करते हुए शिक्षक की त्याग-वृत्ति, अध्यवसाय-वृत्ति और तपस्या-वृत्ति का समर्थन किया है और बताया है कि अच्छे राज्य में कोई भी व्यक्ति अशिक्षित और भीरु नहीं रहना चाहिए । उन्होंने शासन-पद्धति के संबंध में भी यही कहा है कि अब राजाओं के निरंकुश शासन के दिन लद गए । 'देश में अच्छे से अच्छा जो महापुरुष हो, प्रजा उसे अपना शासक बनावे ।' इस प्रकार वाजपेयी जी ने आदर्श लोकतंत्र का संदेश दिया है जिसमें प्रजा ही

अपना शासक चुने, कोई दल शासक न चुने। उन्होंने अपने इस संदेश में वर्तमान 'दल-तन्त्र' का भी विरोध किया है जिसमें कोई राजनीतिक दल अपने प्रत्याशी खड़ा करता है, जिसके दल के अधिक संख्या में प्रत्याशी जीतते हैं वह शासन करने लगता है। यह वास्तव में 'प्रजा-तंत्र' या 'लोकतन्त्र' नहीं वरन् 'दलतंत्र' है और इसी कारण पारस्परिक विद्वेष और कु-शासनों को प्रोत्साहन मिलता है और दलतंत्र के प्रजातंत्र में प्रजा निरन्तर पिसती चली जाती है। इस दृष्टि से यह नाटक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और यदि यह रंग-मंच पर प्रस्तुत किया जाय, तो इससे भारत में भी राज्यक्रांति हो सकती है जो शान्तिपूर्ण, कल्याणमयी और सर्वलोक-हितकारिणी होगी।

रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिये इस नाटक के संवाद और दृश्य-क्रम के साथ-साथ घटना-संयोजन में भी परिवर्तन आवश्यक है जिससे यह और भी रुचिकर हो सके। 'बादशाह' शब्द का प्रयोग निश्चय ही खटकता है। वाजपेयी जी ने कृष्ण के लिये इस शब्द का प्रयोग कैसे कर डाला यह आश्चर्य ही है।

सामान्य नाटक-रचना के सिद्धान्त के अनुसार प्रति तीस सेकेंड पर दृश्य में नया पात्र आना चाहिए या कोई नयी घटना होनी चाहिए या कोई नया कार्य होना चाहिए। एक दृश्य में केवल दो ही पात्रों की बातचीत आदि से अन्ततक नहीं होती रहनी चाहिए। इससे दर्शकों में ऊब उत्पन्न हो जाती है। यह सिद्धान्त अभिनेय नाटकों के लिये है किन्तु पठनीय नाटक में इस प्रकार का कोई बन्धन अपेक्षित नहीं है।

श्रीवाजपेयी जी ने अपने इस नाटक के द्वारा भारत के शिक्षकों और राजनीतिज्ञों को जो शाश्वत संदेश दिए हैं, उनके अनुसार यदि भारत के शिक्षक अपना चरित्र उदात्त बना सकें और यदि प्रजा को अपना शासक चुनने की सुविधा दी जाय तो निश्चय ही देश का कल्याण हो जाय और हमारे देश में चिर सौख्य और समृद्धि के दर्शन होने लगें।



सुदामा नाटक : समीक्षा

डा० रामजी मिश्र

दिल्ली विश्वविद्यालय

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ वैयाकरण हैं। उनके इसी रूप से हिंदी-जगत् परिचित है। शब्दानुशासन में दक्ष, शुष्क बौद्धिकता से युक्त आचार्य के सरल भावपूरित हृदय का उद्घाटन उनकी रचनात्मक कृतियों के द्वारा होता है। वे एक सहृदय कवि और लोकमंगल की कामना करनेवाले नाटककार भी हैं, इसका परिचय उनके द्वारा रचित 'सुदामा' नाटक से मिलता है।

सुदामा को लेकर श्रीमद्भागवत से अद्यावधि अनेक काव्यात्मक कृतियाँ प्राप्त होती हैं, किन्तु गद्य-विधा में इस कथा का निबंधन नहीं प्राप्त होता है। पं० किशोरीदास जी वाजपेयी ने आज से चालीस वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण-सुदामा की इस कहानी को नए युग-संदर्भों के अनुकूल नाट्य-विधा में प्रस्तुत किया। जब देश परतंत्र था और क्रूर राजतंत्र की बेड़ियों में जकड़ा हुआ तड़प रहा था तब विद्यार्थी-वर्ग में राजतंत्र के भ्रष्टाचार के विरुद्ध जनतंत्र के समर्थन में सुदामा की कहानी प्रस्तुत की गई, जिससे राष्ट्रीय जागरण को बल मिल सके।

'सुदामा' नाटक की मूल प्रेरणा के विषय में स्वयं नाटककार ने लिखा है, "जब उनके (सुदामाचरित के कर्ता कविवर नरोत्तमदास के) 'बाम्हन के धन केवल भिक्षा', ये शब्द पढ़ता हूँ, तो अच्छा नहीं लगता। क्या ब्राह्मण का धन—भूदेव का सर्वस्व—भिक्षा ही है? क्या इसीलिए इनका उत्कर्ष वैसा हुआ था? क्या इसी कारण बड़े-बड़े सम्राट् इनके चरण धोकर अपने को कृतकृत्य समझते थे?" इसका समाधान भी लेखक ने प्रस्तुत किया है, "वस्तुतः ब्राह्मण तो किसी दूसरी चीज को ही अपना 'धन' समझता था, और उसी के कारण वह प्रसन्नता से निर्धनता का वरण करता था। वह अपने उच्च आदर्श की पूर्ति के लिए कण-कण की भिक्षा माँगकर खाने में भी गौरव का अनुभव करता था। उसके परमोद्देश्य का छोटा-सा चित्र 'सुदामा' में है।" उपर्युक्त धारणा की पुष्टि जयशंकर 'प्रसाद' कृत 'चंद्रगुप्त' नाटक में चाणक्य भी करता है—"ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है।" वह आगे स्पष्ट करता है कि ब्राह्मण स्वराज्य में विचरण करता है, वह किसी की परतंत्रता स्वीकार नहीं करता। हम सुदामा में चाणक्य का ही किंचित् परिवर्द्धित और सात्विक रूप पाते हैं। वह भी उसी आदर्श का प्रतिपादन करता है जिसका एक सीमा तक चाणक्य ने किया है—"मेघ के समान मुक्त वर्षा-सा जीवनदान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना-नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना, यही तो ब्राह्मण का आदर्श है।" प्रस्तुत नाटक ब्राह्मण के इसी आदर्शरूप की प्रतिष्ठा का एक सफल प्रयास है।

कथानक

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु श्रीकृष्ण-सुदामा की प्रसिद्ध ऐतिहासिक कहानी है। इतिहास की क्षीण रेखाओं में प्रस्तुत सुदामा के दीन-हीन व्यक्तित्व को अपनी कारयित्री

प्रतिभा के आलोक से पूर्णता प्रदान कर उसके उज्ज्वल पक्ष को इस नाटक में उभारा गया है। कल्पना के योग से उसे अधिक प्रामाणिक, सोद्देश्य और बहु आयामी रूप प्रदान किया गया है। डा० रामकुमार वर्मा ने हिंदी के भक्ति और रीतिकालीन अनेक 'सुदामा-चरितों' का परिचय देते हुए लिखा है कि पहले के कवियों ने सुदामा चरित की रचना दो प्रयोजनों से की है—प्रथम तो सुदामा के दारिद्र्य के अतिरेक का निरूपण और दूसरे कृष्ण की मैत्री का आदर्शीकरण। उनकी प्रयोजननिष्ठता उचित ही थी। भक्तिकाल के कवियों ने सुदामा में अपनी भक्ति-भावना और प्रभु के प्रति शरणकामना का आरोपण किया था तो रीतिकालीन कवियों ने सुदामा में अपनी दीनता-दरिद्रता और श्रीकृष्ण में आश्रयदाताओं की उदारता को रूपायित किया। आधुनिक काल में उक्त दोनों वृत्तियों से मुक्त होने के कारण कवियों ने सुदामा को भुला दिया। राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'द्वापर' में सुदामा की कहानी नए संदर्भ में प्रस्तुत की है। वैष्णव संस्कार और राष्ट्रीय भावना से युक्त गुप्त जी ने सुदामा में भक्ति भावना के साथ स्वाभिमान और समाजवादी विचारों का भी प्रतिफलन अंकित किया है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के ८१ और ८२वें अध्यायों में वर्णित सुदामा की कथा को वाजपेयी जी ने नए संदर्भों से समन्वित करके इस नाटक में प्रस्तुत किया है।

नाटक के प्रारंभ में ही नांदीपाठ द्वारा लेखक ने अपना मंतव्य स्पष्ट किया है—

हलधर संग गोपाल ने, कियो कंस-मद चूर।
मनो कह्यो सासक जगत, हैं किसान मजदूर॥

विदेशी शासन में इस प्रकार की उद्घोषणा आचार्य वाजपेयी जी की निर्भीक वाणी का उदाहरण है। यही वह मूल दृष्टि है जो सुदामा नाटक को सामयिक संदर्भों से जोड़ती है। हलधर से युक्त गोपाल कृषि-प्रधान भारत के सच्चे प्रतिनिधि बन जाते हैं। ये दोनों कर्मयोग के प्रतीक हैं तो सुदामा ज्ञान-भक्ति-योग के। किसी भी समाज के अभ्युत्थान के लिए इन तीनों का समन्वित सहयोग आवश्यक है। महाभारत में वर्णित परशुराम शस्त्र और शास्त्र से संपन्न होकर इसी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसकी व्याख्या डा० रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपने 'रश्मिरथी' में भी किया है। 'सुदामा' नाटक में आचार्य वाजपेयी जी ने आज के समाज में व्याप्त अनेक विसंगतियों को सांकेतिक रूप में प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि सुदामा की कथा प्राचीन होते हुए भी आज के युग-संदर्भों को प्रतिफलित करने में समर्थ सिद्ध हुई है।

प्रारंभ में संदीपन गुरु के आश्रम में सुदामा अपने सहपाठियों—श्रीकृष्ण और सर्वांश—से अपने-अपने जीवन के भविष्य के बारे में बातचीत करते हैं। वे आचार्य के दीक्षान्त भाषण पर बहस करते हैं कि देश की अवस्थित शासन-प्रणाली को किस प्रकार सुधारा जा सकता है। श्रीकृष्ण का मत है कि स्वार्थलिप्सु शासकों को समाप्त कर एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना की जाए जब कि सुदामा का लक्ष्य ग्रामीण निरक्षर जनता को साक्षर बनाकर उनमें सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का संचार करना है।

सर्वाश सुविधाभोगी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता हुआ-सा कहता है कि राजा तो ईश्वर का अंश होता है, उसके विरोध से अनिष्ट होगा। वह यथास्थितिवादी है। वह अपने बारे में कहता है, "जैसे और सब स्नातक बड़े-बड़े राजाओं के यहाँ आश्रित रहकर आनंद करते हैं, वैसे ही मैं करूँगा। और पढ़ा किसलिए है ?"

आश्रम के एक अन्य विद्यार्थी प्रियव्रत से सर्वाश कहता है कि वह विजयनगर के राज-मंत्री से उसकी प्रशंसा करे, जिससे वह उसे राजपंडित बना दे। मंत्री सुदामा को राजपंडित बनाना चाहता है, किन्तु सुदामा उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर देते हैं।

आश्रम का एक अन्य विद्यार्थी सर्वमित्र सुदामा को समझाता है कि वह मंत्री के प्रस्ताव को स्वीकार कर राजपंडित बन जाए जिससे वह सुविधापूर्वक अपना और अपने बच्चों का पालन कर सके किन्तु सुदामा कहते हैं, "राजा लोग तो पंडितों और कवियों को अपनी झूठी प्रशंसा करने के लिए रखते हैं। वे राष्ट्र के बुद्धि-बल को अपने दरबार में और शारीरिक बल को सेना में सीमित कर लेते हैं फिर राष्ट्र बलहीन हो जाता है।" इस प्रकार सुदामा आज के बुद्धिजीवियों का प्रतिनिधित्व करते हुए व्यवस्था से जुड़ना अपने लिए असंभव बतलाते हैं। उनका विचार है कि व्यवस्था की त्रुटियों का विरोध करने के लिए बुद्धिजीवियों को उससे अलग रहना चाहिए। सुदामा राज-आश्रित पंडितों-कवियों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं, "जैसे जाया-जीवी लोग अपनी स्त्रियों को नचाते फिरते हैं, दूसरों को खुश करने के लिए, वैसे ही राजदरबारी कवि और पंडित अपनी विद्या को राजा के इशारे पर नचाते हैं।" उनकी निश्चित धारणा है कि "जनता के सेवक को, सच्चे ब्राह्मण को, पहले से ही इस बारे में सावधान होकर अपना जीवन सादा रखना होता है और आवश्यकताएँ कम-से-कम करनी पड़ती हैं।"

अंत में गुरु संदीपन सर्वाश को ही राजपंडित बनने के लिए मंत्री के साथ भेजते हुए उससे कहते हैं, "वहाँ जाकर राजा की हाँ में हाँ ही मत मिलाते रहना। कुछ अच्छे काम भी करना-कराना।" वह वहाँ जाते ही महारुद्र याग और भारी भंडारा कराने का विचार प्रकट करता है तो गुरु उसे समझाते हैं कि यद्यपि ये अच्छे काम हैं फिर भी अभी इनकी उतनी जरूरत नहीं। स्वाध्याय करना अच्छा है, पर जब घर में आग लग जाए तब बैठे स्वाध्याय करते रहना बुद्धिमानी नहीं। उस समय तो पुस्तक दूर फेंक कर जल लाने के लिए दौड़ पड़ना ही अच्छा काम है। इस समय देश की निरक्षरता मिटाने के लिए महोद्योग करना, देश के करोड़ों आदमी भूखों मर रहे हैं, उनकी रोटी का इंतजाम करना, राजाओं की आपसी फूट मिटाकर सबको एक सूत्र में संगठित करना और उन्हें प्रजा-हित में लगाना इत्यादि ही श्रेष्ठ कर्म हैं। गुरु संदीपन चाहते हैं कि उनके शिष्य अपने सामाजिक दायित्व को अच्छी तरह समझें। वे भ्रष्ट शासन तंत्र की तरफ संकेत करते हुए कहते हैं, "यहाँ तो लुटेरों ने अपना नाम 'राजा' रख लिया है। .... इनको मिटाकर प्रजा अपना योग्य शासक चुनेगी, और चाहे जब उसे उस पद से हटा देगी। .... राजा का लड़का ही राजा बने, यह नियम कैसा ? हमें जो सर्वोत्तम पुरुष जँचेगा, उसे ही हम अपना राजा बनाएँगे।"

गुरु संदीपन की बात सर्वांश सुन लेता है किन्तु उसके अनुसार आचरण नहीं करता। विजयनगर का राजपंडित बनकर वह राजा की हाँ में हाँ मिलाने लगता है।

इधर सुदामा गाँव में रहते हुए अपढ़ किसानों और उनके बच्चों को पढ़ाते हैं। यदि कोई राज-कर्मचारी उन्हें कष्ट देता है तो वे उनकी रक्षा करते हैं। इस प्रकार गाँव-वालों के लिए सुदामा साक्षात् देवता बन गए हैं। किसान यह समझ गए हैं कि सुदामा में इतनी निडरता पढ़ने से ही आई है। "हम लोग मूर्ख हैं कुछ जानते नहीं इसीलिए सबसे डरते हैं।"

गाँववाले जो कुछ उन्हें श्रद्धापूर्वक दे देते हैं वे खा-पी लेते हैं।

सर्वांश राज-पंडित बनने के बाद विजयनगर पर आक्रमण करनेवाले श्रीकृष्ण और ग्रामीणों में जन-चेतना का प्रचार करनेवाले सुदामा के विरुद्ध षड्यंत्र रचता है। वह राज-द्रोहियों के दमन का बीड़ा उठाता है। सुदामा और श्रीकृष्ण को गिरफ्तार करने के लिए मंत्री के सुझाव पर पहले उन्हें अपने पक्ष में मिलाने का प्रयत्न करता है। सर्वांश को विश्वास है कि जो ब्राह्मण दाने-दाने को मोहताज है वह उसकी बातों में अवश्य आ जाएगा।

सुदामा सर्वांश के नीचतापूर्ण प्रस्ताव की निंदा करके उसका अपमान करते हैं। सुदामा की पत्नी चिढ़ कर उसे 'सर्वनाश' कहने लगती है। सर्वांश सुदामा को दण्ड देने की धमकी देकर वापस लौट जाता है। जब श्रीकृष्ण विजयनगर पर आक्रमण करते हैं तो प्रजा अन्यायी राजा का साथ नहीं देती जिससे वह पराजित होता है। अन्य राज-कर्मचारियों के साथ सर्वांश भी बन्दी बना लिया जाता है। विजयनगर का राज्य द्वारका राज्य का अंग बन जाता है।

श्रीकृष्ण के विजयी होने का समाचार पाकर सुदामा और उनकी पत्नी प्रसन्न होते हैं। वे पति को द्वारका जाकर श्रीकृष्ण से मिलने को प्रेरित करती हैं। सुदामा जब द्वारका पहुँचते हैं तो श्रीकृष्ण अपना मनोरंजन छोड़कर सुदामा से मिलते हैं। उनसे अपनी पटरानी रुक्मिणी से भी भेंट कराते हैं। रुक्मिणी श्रीकृष्ण से कहती हैं कि क्यों न नए राज्य विजयनगर का शासक सुदामा को बना दिया जाए। श्रीकृष्ण उनका प्रस्ताव मान कर सुदामा को विजयनगर का राज्य सौंप देते हैं किन्तु प्रत्यक्ष रूप में सुदामा से कुछ नहीं कहते।

सुदामा के बारे में श्रीकृष्ण की निश्चित धारणा है कि वे एक त्यागी और क्षमाशील ब्राह्मण हैं इसलिए किसी लोभवश द्वारका नहीं आए हैं। उनकी धारणा की पुष्टि तब हो जाती है जब सुदामा उनसे सर्वांश के बंदी बनाए जाने के बारे में पूछते हैं। वे कहते हैं, "परंतु सर्वांश उतना दुष्ट नहीं। सांसारिक प्रलोभनों में पड़ गया था .... उसे अपना आश्रय दो।" जब सर्वांश श्रीकृष्ण और सुदामा के सामने लाया जाता है तो लज्जा से उसका सिर नहीं उठता। श्रीकृष्ण उसे क्षमा कर देते हैं और सुदामा उसे राजपंडित बनाने की सिफारिश भी करते हैं। श्रीकृष्ण उसे राजपंडित का पद देते हुए कहते हैं कि

निरक्षरता और बेकारी को दूर करने का दायित्व साम्राज्य भर के शिक्षा-विभाग के संचालक राजपंडित पर होता है।

सुदामा राजकीय सम्मान के साथ विजयनगर लौटते हैं जहाँ राज-भवन में उनका परिवार रहता है। सुदामा की पत्नी और आठ साल का उनका पुत्र उनसे मिलने आते हैं।

सुदामा साफ खद्दर की धोती पहने हुए, गले में तुलसी की माला और मस्तक पर तिलक लगाकर एक सात्विक और निष्ठावान् शासक के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे वंशानुसार नहीं बल्कि योग्यतानुसार शासक और प्रशासक बनाने के पक्ष में हैं। उनका विश्वास राजतंत्र में नहीं बल्कि प्रजातंत्र में है। अंत में अपने आदर्श की उद्घोषणा वे यों करते हैं कि उनका शरीर प्रजा-हित में क्षय हो यही जप, तप, पूजा-पाठ सब यही है।

प्रस्तुत कथानक के दो प्रमुख पात्र सुदामा और सर्वाश हैं। सुदामा और श्रीकृष्ण की कथा प्रख्यात है जब कि विजयनगर और सर्वाश की कथा काल्पनिक या उत्पाद्य है। श्रीकृष्ण दोनों कथाओं को जोड़नेवाली कड़ी हैं।

प्रस्तुत नाटक का कलेवर विस्तृत नहीं है अतः इसमें घटनाओं की विविधता और चरित्रों का पूरा विकास नहीं हो पाया है। सुदामा के द्वारा लेखक ने जहाँ राष्ट्रीय भावना का प्रचार किया है वहाँ सर्वाश के माध्यम से भ्रष्ट राजतंत्र के पोषकों पर व्यंग्य भी किया है। इस नाटक में भ्रष्ट शासक के पतन के साथ ही एक स्वस्थ शासन-व्यवस्था का उदय दिखाया गया है। लेखक ने इसके द्वारा जनतंत्र और उसके सच्चे प्रतिनिधि की भी व्यंजना कराई है। लेखक का उद्देश्य ही है कि जब तक शासक वर्ग सात्विक, सेवा-परायण और त्यागी नहीं होगा तब तक शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकती।

यों तो इस नाटक में कई पात्र हैं लेकिन जैसा कि लेखक ने भूमिका में ही संकेत किया है उसका मुख्य लक्ष्य सुदामा के चरित्र को ही उभारना है। श्रीकृष्ण और सर्वाश उनके ही चरित्र के पूरक हैं। सुदामा में गुरुभक्ति, मित्र-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम, क्षमा, सहिष्णुता जैसे उच्च मानवीय गुण प्राप्त होते हैं। वे रूढ़िग्रस्त ब्राह्मण नहीं, बल्कि त्यागी, परदुःखकातर और लोक-कल्याण में निरत विवेकवान् ब्राह्मण हैं। उन्हीं के अनुरूप उनकी सहधर्मिणी पत्नी भी है जिनमें स्त्रीसुलभ कुछ दुर्गुण भी हैं किन्तु सबके प्रति दया और ममता की ही भावना ज्यादा है।

सर्वाश का चरित्र सुदामा के चरित्र का ही विलोम है। उसमें स्वार्थपरता, अवसरवादिता, विवेकहीनता और झूठी शान तथा आडम्बरप्रियता विशेष रूप से लक्षित होती है। राजपंडित का पद प्राप्त कर न तो उसे अपने गुरु का उपदेश याद रहता है और न अपने मित्रों की भलाई का भाव ही उसमें है। वह तो बेड़ियों में जकड़े दीन सुदामा को देखकर अपना अहं तुष्ट करने की कामना करता है। उसपर विपरीत लक्षण का प्रयोग करते हुए उसका सहपाठी व्यंग्य करता है—'रत्नं समागच्छतु कांचनेन।" प्रियव्रत के इस कथन से सर्वाश का चरित्र नंगा हो जाता है। जब कि सुदामा के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करती हुई रुक्मिणी कहती हैं—"पुनंतु मां ब्राह्मणपादरेणवः।" ऐसे ही ब्राह्मणों

के कारण भारत को जगद्गुरु कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ था। ऐसे ही ब्राह्मण दरिद्र होने पर भी महलों में पूजित होते थे।

जिस प्रकार ब्राह्मण के दो रूप––सात्विक और राजसी––सुदामा और सर्वाश के रूप में दिखाए गए हैं उसी प्रकार राजा के भी दो रूप प्रस्तुत किए गए हैं––श्रीकृष्ण और विजयनगर का राजा।

प्रस्तुत नाटक को लेखक ने विद्यार्थियों के लिए लिखा है इसलिए इसकी भाषा बड़ी ही सरल और बोलचाल की है। इसमें उर्दू के भी शब्द हैं जो प्रायः प्रचलित हैं। इससे एक कमी यह हुई कि द्वापर का सांस्कृतिक वातावरण नहीं उभर सका, हालाँकि आश्रम और यज्ञादि की बात कही गई है। सुदामा का खादी-प्रेम भी इस दृष्टि से बाधक सिद्ध होता है लेकिन लेखक का संकेत 'द्वापर' की अपेक्षा अपने सामयिक भारत की तरफ ज्यादा रहा है जो परतंत्र था। गांधी की सात्विकता का प्रतिबिम्ब सुदामा में मिलता है। स्वराज्य का सच्चा रूप क्या होना चाहिए इसे प्रस्तुत नाटक व्यंजित करता है। लेखक ने नाटक को इतिहास की अपेक्षा अपने युग-संदर्भ से जोड़ने में सफलता प्राप्त की है। आज भी हमारे सामने भ्रष्ट राजनेताओं की लंबी फौज है। सर्वाश की किसी भी क्षेत्र में कमी नहीं। शिक्षा-संस्थाएँ अपने आदर्शों से कितनी दूर हैं और उनमें से निकलने वाले स्नातक किस कोटि के हैं, यह भी नाटक से लक्षित हो जाता है। नाटक की सबसे बड़ी सफलता उसकी अभिनेयता पर निर्भर होती है। इस दृष्टि से यह नाटक सफल रंगमंचीय नाटक सिद्ध होता है। यों तो मंच-सज्जा, प्रकाश और ध्वनि-व्यवस्था की तकनीक इतनी विकसित हो गई है कि असंभव दृश्यों को भी उसने संभव बना दिया है फिर भी प्रस्तुत नाटक का दृश्य-विधान इतना सरल और सादा है कि कम-से-कम सामग्री में काम चल सकता है। आत्मकथन या गीतों की भरमार से भी नाटक अस्वाभाविक हो जाते हैं अतः वे भी इसमें नहीं हैं। जो तीन गीत दिए गए हैं वे मात्र स्वाद-परिवर्तन के लिए हैं, उनसे नाटक की मूल कथावस्तु में कोई योग नहीं प्राप्त होता।

लेखक ने ऐतिहासिक दृष्टि से सुदामा को एक श्रेष्ठ ब्राह्मण के गुणों से विभूषित सिद्ध किया है, किन्तु उसका लक्ष्य उन मानवीय गुणों के विकास पर बल देना है, जिससे मानव-कल्याण संभव हो सके।

रस की दृष्टि से नाटक के नेता सुदामा में धर्मवीर के सभी लक्षण प्राप्त होते हैं। वे गीता के निष्काम कर्मयोग को ही व्यावहारिक धरातल पर उपस्थित करते हैं। संभवतः यही कारण है कि स्वयं कर्मयोगी श्रीकृष्ण उनके चरणों में अपने को न्यौछावर करके कृत-कृत्य समझते हैं।

इस नाटक में द्वन्द्व की उत्कटता नहीं है। न तो आन्तरिक द्वन्द्व ही उभर पाया है न बाह्य ही। फलतः नाटक में जिस गत्वरता की अपेक्षा की जाती है वह इसमें नहीं है। घटनाओं को भी वार्तालापों के माध्यम से सूच्य ही रखा गया है।

सर्वाश का चरित्र उत्तम कोटि का हास्य-सर्जन करता है। उसका चरित्र दर्शकों का मनोरंजन करने में सफल होता है, अतः यह युवा वर्ग में लोकप्रिय नाटक हो सकता है।

———

सुदामा-चरित-परम्परा और वाजपेयी जी का 'सुदामा' नाटक

डा० सूर्यप्रसाद दीक्षित

रीडर हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

हिन्दी साहित्य में रामकृष्णेतर चरित काव्यों में सुदामा चरित को सर्वाधिक महत्व मिला है। भक्ति काव्य से लेकर आधुनिक काव्य और नाटक साहित्य तक सुदामा एक चरितनायक रूप में विद्यमान हैं। सुदामा चरित की यह परम्परा मूलतः श्रीमद्-भागवत महापुराण के आधार पर विकसित हुई है। इसके प्रथम प्रयोक्ता हैं—कविवर नन्ददास, जिन्होंने 'सुदामा चरित'[1] नामक स्वतंत्र ग्रंथ की रचना करके इस काव्यधारा का प्रवर्तन किया है। उनके पश्चात् कविवर नरोत्तमदास रचित 'सुदामा चरित' का नामोल्लेख किया जा सकता है, जो आज भी इस काव्य-परंपरा की सर्वप्रिय कृति है। उक्त रचनाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक सुदामा चरित उपलब्ध हुए हैं, जैसे—

१. सुदामा चरित—रचयिता राखन[2]
२. सुदामा चरित—गिरधारी कवि (हस्तलिखित)
३. सुदामा चरित—आलम[3]
४ सुदामा चरित—हृदयराम भल्ला (महाराजा रणजीतसिंह के दरबारी कवि)
५. सुदामा चरित—उमादास
६. सुदामा चरित—देवीदता राह ? (देवीदत्त राइ)
७. सुदामा चरित—परशुराम
८. सुदामा चरित—हलधर
९. मधुपर्क—देवीरत्न अवस्थी करील
१०. सुदामा चरित्र—चन्द्रशेखर मिश्र 'चण्डूल' (अप्रकाशित)
११. सुदामा चरित्र (जोग विहार कल्पद्रुम) कवि श्री अम्बा, प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९६४
१२. सुदामा लीला—वृन्दावनवासी बिहारीलाल
१३. सुदामा चरित्र—नारायण प्रसाद
१४. सुदामा जी की बारहखड़ी—ब्रजवल्लभ हरिप्रसाद
१५. सिंगार सुदामा चरित (परशुराम सागर)—परशुराम (डिंगल कवि) सं० १६७७

---

१. द्रष्टव्य—नंददास ग्रंथावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
२. 'सुकवि' में क्रमशः प्रकाशित
३. ब्रज साहित्य का इतिहास—डा० सत्येन्द्र

१६. सांगीत सुदामा कृष्ण––पीताम्बरदास
१७. सांगीत सुदामा कृष्ण––श्रीकृष्ण
१८. कृष्णायन––डा० द्वारका प्रसाद, श्री विशारद एवं श्री राधेश्याम
१९. शुकसागर (लाला शालिग्राम द्वारा अनूदित श्रीमद्भागवत चम्पू)
२०. प्रेमसागर––लल्लूलाल
२१. सुदामा नाटक––राधाचरण गोस्वामी
२२. सुदामा नाटक––शिवनन्दन सहाय
२३. कृष्ण सुदामा नाटक––किरन लखनवी
२४. सुदामा चरित्र नाटक––बंदीदीन दीक्षित (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ)
२५. सुदामा––आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, आदि।

उपर्युक्त कृतियों के आधार पर कहा जा सकता है कि सुदामा से संबंधित पुराख्यान भागवत और गर्ग संहिता से उद्भूत अवश्य हुआ है, पर देशकाल के अनुरूप वह निरन्तर विकसित होता रहा है।

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है। सुदामा-चरित की इस लोकप्रसिद्धि का कारण क्या है?

वस्तुतः सुदामा एक प्रतीक पात्र है, एक 'टाइप' है और एक 'सामूहिक शील' का सूचक है। सुदामा कृष्ण का सहपाठी––सतीर्थ रहा है। कालक्रम में वह ब्राह्मणोचित दैन्य को वरण करता है और श्रीकृष्ण चक्रवर्ती सम्राट् बन जाते हैं। परिस्थितियों के आग्रहवश सुदामा अपने बालसखा से मिलने जाता है। दोनों भावविह्वल हो जाते हैं। पूर्व स्मृतियाँ सजग हो उठती हैं। समर्थ मित्र श्रीकृष्ण अपने मैत्री-धर्म का निर्वाह करते हुए सहजतः सुदामा को कृतकृत्य कर देते हैं। यह आख्यान सख्य भाव का अनुपम उदाहरण है। यह इस बात का दृष्टान्त है कि राजपद पाकर भी सज्जन पुरुष अपने आत्मीयों की अवमानना नहीं करते। वर्तमान व्यवस्था में हमें प्रायः ऐसा अनुभव होता है कि विगत जीवन में घनिष्ट होते हुए भी तथाकथित भौतिक श्रीवृद्धि से मदोन्मत्त होकर अपने अन्तरंग व्यक्ति कुछ अन्यथा व्यवहार करने लगते हैं। कृष्ण-सुदामा की कथा इस दृष्टि से एक आदर्श है। हिन्दी कवियों ने सुदामा चरित को जो प्रश्रय दिया है, उसके पीछे और भी कई मनोभाव अन्तर्निहित हैं। कवियों ने सुदामा के साथ तादात्म्य स्थापित किया है। सुदामा एक विपन्न बुद्धिजीवी है। कवि-कलाकारों की भी प्रायः यही स्थिति रही है। अस्तु, वे शासन से राज्याश्रय (पुरस्कार-प्रोत्साहन) की उपेक्षा करते हुए सुदामा-कृष्ण का स्वभावतः स्मरण करते रहे हैं। इस कथा में प्राप्य आकस्मिकता के तत्त्व भी लोकप्रचलन के निमित्त कहे जा सकते हैं। वस्तुतः यह चरित-काव्य-परम्परा है बड़ी विलक्षण।

सुदामा चरित की उक्त परम्परा में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी द्वारा रचित 'सुदामा' नाटक अपने शिल्प और कथ्य की दृष्टि से विचारणीय है। सुदामा पाँच अंकों का एक लघु नाटक है। लेखक ने कथानक का आरम्भ गुरुकुल जीवन से किया है।

सुदामा, कृष्ण, सर्वांश आदि सहपाठी समावर्तन समारोह के पश्चात् अपने अपने कार्यक्रमों पर विचार कर रहे हैं। इस दृश्य में पर्याप्त प्रसंग-गर्भत्व है। कृष्ण के वक्तव्य से स्पष्ट संकेत मिलता है कि वे राजनीतिक व्यवस्था को नियंत्रित करेंगे। सुदामा सत्ता के प्रति उदासीन दिखते हैं और जन साधारण की सेवा का व्रत धारण करते प्रतीत होते हैं। अगले दृश्यों में इन्हीं कथा-सूत्रों का विस्तार किया गया है। सुदामा राज्याश्रय को अस्वीकार करके एक गाँव में जा बसते हैं और ग्रामीणों में साक्षरता का प्रसार करते हुए उनकी सेवा करते हैं। दूसरी ओर कृष्ण द्वारकाधीश हो जाते हैं। सुदामा के ग्रामोत्थान कार्य को देखकर विजयनगर का अत्याचारी राजा सुदामा को राजद्रोही घोषित करता है और उन्हें बंदी बनाने का आदेश देता है। इसी बीच कृष्ण की सेना विजयनगर पर आक्रमण करती है और अत्याचारी शासन का अन्त हो जाता है। इस उपलक्ष्य में अपने मित्र कृष्ण को बधाई देने के लिए सुदामा द्वारका पहुँचते हैं। वे भेंट देने के लिए मांगलिक द्रव्य के रूप में घर के कुटे हुए कुछ मुट्ठी चावल लिये जाते हैं। द्वारका पहुँचने पर सुदामा का भव्य स्वागत किया जाता है। श्रीकृष्ण और रुक्मिणी परस्पर विचार-विमर्श करके यह निर्णय लेते हैं कि विजयनगर का राज्य सुदामा को सौंप दिया जाये, क्योंकि वहाँ जन आन्दोलन का सफल संचालन सुदामा ने ही किया था। ऐसा निश्चय करके, बिना सुदामा को सूचना दिये, हजारों कर्मचारी और शिल्पी राजधानी के निर्माण में जुटा दिये जाते हैं। अन्तिम अंक में सुदामा अपने राज्य में पहुँचते हैं और आदर्श राज्य-व्यवस्था स्थापित करते हैं। यहीं नाटक की कथावस्तु समाप्त हो जाती है। उक्त कथानक में पर्याप्त मौलिकता है। लेखक ने इसे अधिकाधिक प्रासंगिक बनाने का प्रयत्न किया है। इस नाटक की रचना स्वातंत्र्यपूर्व परिस्थितियों में हुई थी, इसलिए नाटक में यत्रतत्र कई संदर्भसापेक्ष्य सूत्र हैं।

'सुदामा' नाटक में एक बुद्धिजीवी ब्राह्मण का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। समाज की बौद्धिक सेवा करना अर्थात् साक्षरता का प्रसार करना प्रत्येक बुद्धिजीवी का प्राथमिक कर्तव्य है। सुदामा अपने समकालीन समाज की निरक्षरता से दुखी हैं। उनकी घोषणा है कि अपने-अपने मंडल में शिक्षाप्रसार करके पूर्ण ग्रामोत्थान किया जाना चाहिए। सुदामा के शब्दों में "देश की निरक्षरता को दूर करना राजा का काम है, पर राजा लोग प्रजा का सब धन विलासिता और फौजी खर्च में फूंक रहे हैं।" आचार्य-प्रवर के शब्दों में "यहाँ तो लुटेरों ने अपना नाम राजा रख लिया है।" सुदामा फिर कहते हैं—"ये राजा लोग देश का शारीरिक बल रुपये के जोर से अपनी सेना में खींच लेते हैं और मस्तिष्क बल ले लेते हैं अपने दरबार में। इन बुद्धिजीवी लोगों में से कुछ तो शासन-प्रबंध में लग जाते हैं और कुछ राजा के मनोविनोद का साधन बन जाते हैं। बस शेष सम्पूर्ण देश चोकर रह जाता है। यदि यह बुद्धिजीवी इनके कब्जे में न आयें तो अपने बुद्धि बल को दूसरी ओर लगा सकते हैं और फिर ऐसे कुत्सित राजाओं के लिए खतरा हो सकता है।" सुदामा आगे फिर एक प्रसंग में कहते हैं—"राजदरबारी कवि और पंडित अपनी विद्या को राजा के इशारे पर नचाते हैं।" इनके कथनों के प्रकाश में स्पष्टतः कहा जा सकता है कि सुदामा एक व्यवस्था-विद्रोही ब्राह्मण हैं। अपने समस्त दर्प और दीप्ति को समेटे हुए

वह सत्ता से पराङ्मुख हैं और जनता की सेवा में तल्लीन हैं। आरम्भ में ही सुदामा को विजयनगर राज्य की ओर से 'राज पंडित' का का पद दिया जाता है, जिसे वे अस्वीकार कर देते हैं। वे भौतिक साधन-सुविधाओं से वंचित ग्रामीण व्यवस्था को वरण करते हैं, कथा बाँचकर जीविकोपार्जन करते हैं, पर राज्याश्रय को मान्यता नहीं देते हैं। वे कृष्ण से भी मिलने जाते हैं तो मात्र मैत्री भाव से, न कि उन्हें बादशाह मानकर"। वे कृष्ण के अनुरोध पर राज्य की व्यवस्था को स्वीकार कर लेते हैं, पर उस राज्यतंत्र को पूरी तरह बदल डालते हैं। कृष्ण की सम्मति से वे राज्यतंत्र की प्रणाली को समाप्त करके प्रजातंत्र की स्थापना करते हैं। उनके शब्दों में "इस प्रकार का प्रजातंत्र शासन ही सब सुखों की खान होगा।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि आलोच्य नाटक पौराणिक कथानक पर आधारित होते हुए भी नितान्त आधुनिक है। इसमें अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते हुए जाग्रत राष्ट्र की कई ऐतिहासिक घटनाएँ प्रकट हुई हैं। लेखक ने सुदामा को सत्याग्रह के सूत्र-धार रूप में अंकित किया है। वे एक सात्विक किन्तु विद्रोही व्यक्ति हैं। अपने सत्साहस द्वारा वे बेगार प्रथा बंद करवाते हैं, प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था करते हैं और गाँव के भुखमरों के लिए जीवीकोपार्जन का प्रबंध करते हैं। लेखक ने सुदामा की प्रेरणा से ग्रामीणों को चरखा चलाते हुए, लघु उद्योग शुरू करते हुए और स्वावलम्बन द्वारा अपनी अस्तित्व-रक्षा करते हुए चित्रित किया है। सुदामा के इस चरित्र पर महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व की गहरी छाप है। इस नाटक में सुदामा को स्वयं महात्मा कहा गया है, पर निष्क्रिय महात्मा नहीं, बल्कि एक विद्रोही सन्त महात्मा। सुदामा उस सतोगुणी ब्राह्मण परम्परा के व्यक्ति हैं, जो लेखक के मतानुसार—"इक्कीस बार इस सम्पूर्ण पृथ्वी का आधिपत्य प्राप्त करके भी उसे लौटा देते हैं।" राज्य प्राप्त करके भी सुदामा में राजस भाव नहीं आता है। वे कुशासन पर बैठ कर व्यवस्था सँभालते हैं और कहते हैं—"हम लोग शासक नहीं प्रजा के सेवक हैं।"

"प्रजा में कोई भी अशिक्षित या भूखा-नंगा न रहने पाये।"

यह कथन संवत् १९९५ विक्रमी को देखते हुए पर्याप्त अभिनव है। लेखक ने इस नाटक को "द्वापर की राज्य क्रांति' की संज्ञा दी है। (देखिये—कादम्बिनी, जनवरी १९७८)। यह निःसंदेह नाटक की मूलभूत समस्या है।

आचार्य वाजपेयी बनाम भारतीय काव्यशास्त्र

डा० प्रेमस्वरूप गुप्त

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग,

अलीगढ़ विश्वविद्यालय

आचार्य वाजपेयी किशोरीदास जिन्हें आमतौर पर हिन्दी-वैयाकरण और भाषा-शास्त्री रूप में लोग जानते हैं, जिनकी खरी और तत्वपूर्ण बातों का पंडितों से जवाब नहीं बनता, जिन्हें पंडित स्वीकारते हैं पर हँकारते नहीं, जिनके भाषा-निर्णयों को अपने लेखन-पाठन में पचा लेते हैं पर जिनकी कृतियों को प्रामाणिकता का प्रमाणपत्र नहीं देना चाहते एक आदरणीय पहेली !

वाजपेयी जी स्वभाव से कितने सरल, आत्मीय, उदार और सहज हैं—यह अनुभव एक संयोग ने दिया। नागपुर के विश्व हिन्दी-सम्मेलन में एक अच्छे कमरे में उन्हें और महादेवी जी को ठहराने की व्यवस्था की गई थी। लोग इस व्यवस्था की संयोगिता पर मुस्कराते थे। पर महादेवी जी आई ही नहीं। इधर मैं कुछ विलंब से पहुँचा था, सो उनके कमरे में रहने का संयोग बन गया। एक बार मन में आया—'बुरे फँसे'। पर वाजपेयी जी को न जाने अपने में क्या रुच गया, और मुझमें उनके प्रति न जाने कैसे श्रद्धा पल्लवित होती गई, मैं अब भी नहीं समझ पा रहा। पर परिणाम यह हुआ कि उनके व्यक्तित्व के अकृत्रिम और सहज सनेही स्वरूप की बहुत सी झाँकियाँ मिली ही नहीं, मन पर अँक गईं। पाण्डित्य की तो फुलझड़ियाँ छूटती रहीं उनके साथ बीते क्षणों में !

वाजपेयी जी कोरे भाषाशास्त्री ही नहीं है, काव्यशास्त्र में भी उनकी पैनी दृष्टि और गहरी पकड़ है, यह कम लोगों को ही पता होगा। उनका एक ही लेख 'काव्य और काव्यशास्त्र' उनकी मौलिक दृष्टि को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। किन्हीं अंशों में उसे 'काव्यशास्त्रीय उपनिषद्' कहें तो बहुत अत्युक्ति न होगी।

वाजपेयी जी की दृष्टि में कविता जीवन को बल देनेवाली कला है। 'कला' यानी आनन्द देनेवाली चीज ('कम्'—आनन्दम् 'लाति'—ददाति इति कला)। और काव्यकला की महत्ता इसमें है कि वह जीवन के उदात्तीकरण में सर्वाधिक उपयोगी है।

भारतीय काव्यशास्त्र की चेतना को स्पष्ट करने में वाजपेयी जी ने चिन्तन धारा के ऐतिहासिक विकास और तद्गत वैयक्तिक उपलब्धियों, सीमाओं की ओर कम ध्यान देकर विभिन्न उपलब्धियों में अपनी मौलिक व्याख्याओं के सहारे एक सामंजस्य स्थापित करने का अधिक प्रयास किया है और इस सामंजस्य के विधान में अतिवादी बात चाहे कितने ही बड़े आचार्य की क्यों न हो, तर्क की पैनी छुरी से साफ कर दी गई है। इस काम में ध्वनिवाद, रसवाद, वक्रोक्तिवाद, और महिमभट्ट के अनुमितिवाद की विविध विसंगतियाँ उभर आई हैं। वाजपेयी जी का एक महत्त्व तो यही है कि उनकी पैनी दृष्टि

इन विसंगतियों को पकड़ सकी हैं, जबकि बड़े बड़े धुरन्धर आँखों से पट्टी बाँधें लीक पर परंपरा-पाठ किये चले जा रहे हैं।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ के बीच अनेक खाइयाँ हैं। परंपरारावादी दृष्टि उन्हें नहीं पकड़ पाती, प्रायः 'अभिनववाक्यं प्रमाणम्' चलता है। वाजपेयी जी ने इन विसंगतियों को इस रूप में तो नहीं उभारा, पर उनमें से अनेक को पकड़ा है और बड़ी दूरी तक सामंजस्य-विधान किया है। इसीलिए वे अपने कथ्य के अन्त में कह उठे हैं—'इतना जानते हैं कि ऐसी और इतनी सामग्री इस भाषण में ला (दी) गई है, जिसमें आप लोग बरसों उलझते-सुलझते रहेंगे।' ('मेरे कुछ मौलिक विचार', पृ० ५६)। खैर यह बात अलग की रही कि कौन कितने समय तक उलझता-सुलझता है।

वाजपेयी जी की पैनी दृष्टि ने ठीक पकड़ा है कि ध्वनिकार की दृष्टि में सहृदय-श्लाघ्यता' प्रतीयमान में ही नहीं वाच्य अर्थ में भी स्वीकार्य है। इस सहृदयश्लाघ्यता के आधार सौंदर्य, वैचित्र्य, चमत्कार, आनन्द ही हो सकते हैं। ये एक ही तत्व के विविध पहलू हैं और इस भूमिका में 'काव्यानन्द', 'रस', 'अलंकार' जैसे शब्द वाजपेयी जी के विवेचन में व्यापकता पा गये हैं। यह व्यापकता उन्होंने नई नहीं दी, किसी न किसी युग में इन शब्दों को मिल चुकी है। शास्त्र और इतिहास उनके साथ है।

तब उनके कथ्य का निष्कर्ष यह निकलता है: काव्य का मूल आत्मतत्त्व है 'रस', रस अर्थात् काव्यानन्द। इस आधेय रस के आधार दोनों ही हैं शब्द और अर्थ। शब्द में भी रस रहता है, अर्थ के विविध स्तरों में भी। वाच्यार्थ में भी रस या काव्यानन्द होता है, प्रतीयमान अर्थ में भी। स्वभावोक्ति में भी काव्यत्व है, वक्रोक्ति में भी। 'रस' शब्द अपने व्यापक अर्थ में शृंगारादि ९ या १० रसों तक ही सीमित नहीं। उनमें भी रस अर्थात् चमत्कारप्रद आनन्द रहता है। "काव्य-मर्मज्ञ को चमत्कारपूर्ण शब्द में रस मिलता है, वाच्य अर्थ में रस मिलता है, प्रतीयमान अर्थ में रस मिलता है, प्रतीयमान अर्थों में ही शृंगारादि रस हैं।"—वही, पृ० २३।

'रस' ही नहीं 'अलंकार' शब्द भी अपनी (प्राचीन) व्यापकता में प्रस्तुत हुआ है। वैचित्र्य ही चमत्कार है और चमत्कार में ही वह रस है जो काव्य की आत्मा है। शब्द-वैचित्र्य में 'शब्दालंकार' और अर्थवैचित्र्य में अर्थालंकार'। अर्थालंकारों का दूसरा वर्ग है वह, जिसे 'ध्वनि' कहते हैं। 'भावध्वनि और रसध्वनि भी अर्थालंकार ही हैं।—वही, पृ० २३। 'चमत्कार वही जिससे सहृदयों को रस मिले'।—वही, पृ० २४। 'यों' ध्वनि का बहुत महत्व है, परंतु वाच्य अर्थ कोई चीज ही नहीं, यह बेतुकी बात है।'—वही, पृ० २५। वाजपेयी जी ने ध्वनिकार की सही दृष्टि को सही परिप्रेक्ष्य में व्याख्यात किया है और उसे परवर्तिनी वाद-ग्रस्तता से मुक्ति दिखाई है। 'चमत्कार वही जिससे सहृदयों को रस मिले। यदि कहीं प्रतीयमान अर्थ से अधिक चमत्कार वाच्य अर्थ में है, तो विवेचकों ने उसका दर्जा नीचा कर दिया। उसे 'गुणीभूतव्यंग्य' नाम देकर मध्यम दर्जे का काव्य माना है।—कोई तुक है? वाच्य में व्यंग्य से अधिक चमत्कार होना ही न चाहिए, यह कोई राजाज्ञा है?'—पृ० २४। यह कोरी वाच्यार्थ की हिमायत भर नहीं, ध्वनिवाद में उभरी संकुचित दृष्टि से मूल ध्वनि चेतना की मुक्ति भी है।

'रस' या 'अलंकार' शब्द आज एक विशेष अर्थ-सीमाएँ ग्रहण कर चुके हैं, तब उनको पुनः व्यापक अर्थ-चेतनाओं के साथ ग्रहण करना कठिन हो चला है। वाजपेयी जी की बात आपाततः अटपटी लगेगी, गुनने पर सहज। यही उनकी बात की उलझन-सुलझन है। पर इसके प्रस्तुतीकरण में विविध अवधारणाओं की मूल चेतनाएँ समंजस रूप में सही प्रस्तुतीकरण पा सकी हैं, यही वाजपेयीजी की बात का महत्व है।

काव्यानन्द का आधार शब्द, वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ—सभी प्रातिस्विक रूप में हो सकते हैं, इस बात को पंडितराज जगन्नाथ ने भी कुछ-कुछ दूसरे ढंग से कहा था। वाजपेयी जी की इस मान्यता में काव्यत्व की व्यापक आधार-भूमि व्यवस्थित होती है, रसवाद, ध्वनिवाद, अलंकारवाद की संकुचित सीमाओं से वह ऊपर उठती है और साहित्य के नवीन स्वरूप की उदीयमान चेतना से उसका प्रकृत समन्वय अधिक व्यावहारिक बनता है।

काव्य के तीन या चार भेद मानने की दृष्टि मूल ध्वनिकार से संगत और संपुष्ट नहीं होती। वाजपेयी जी उसको अस्वीकार करते हैं। उसके वर्गीकरण का आधार वे समाजोन्मुखी चेतना से बनाते हैं। कुन्तक के वक्रोक्तिवाद और महिमभट्ट के अनुमानवाद की मौलिक दृष्टियों का योगदान उभारते हैं, उनकी उपेक्षा पर खीझते हैं, विश्वनाथ और मम्मट को लताड़ते हैं, साथ ही कुन्तक और महिम को भी उनकी सीमाओं के लिए माफ नहीं करते। यानी वाजपेयी नाम का जीव किसी से अभिभूत होना नहीं जानता, अपनी आँख खोलकर देखता है और जो तर्क और व्यापक सामंजस्यपूर्ण चेतना पर खरा उतरे उसे मुक्त-कंठ स्वीकारता है।

वाजपेयीजी ने ठीक कहा है, उनके इस एक ही लेख में न जाने कितने विन्दु उभार दिये गये हैं। सबको उठाकर निरखना-परखना एक लम्बी किताब लिखवा देगा। और किताब ही लिखनी हो तो वाजपेयी जी को लेकर लिखने से क्या फायदा? क्या मिलेगा उसे लिखकर। अतः मौन ही ठीक है। बस, मान लीजिए, वाजपेयी जी ने काव्यशास्त्र पर कुछ कहा ही नहीं, जो कहा सो वैसा ही असंगत जैसा वे भाषा के बारे में कहते आये हैं। हाँ, जरूरत होगी तो उनकी बात पचाने का हाजमा हमारा दुरुस्त न हो, ऐसा अभी तो नहीं लगता!

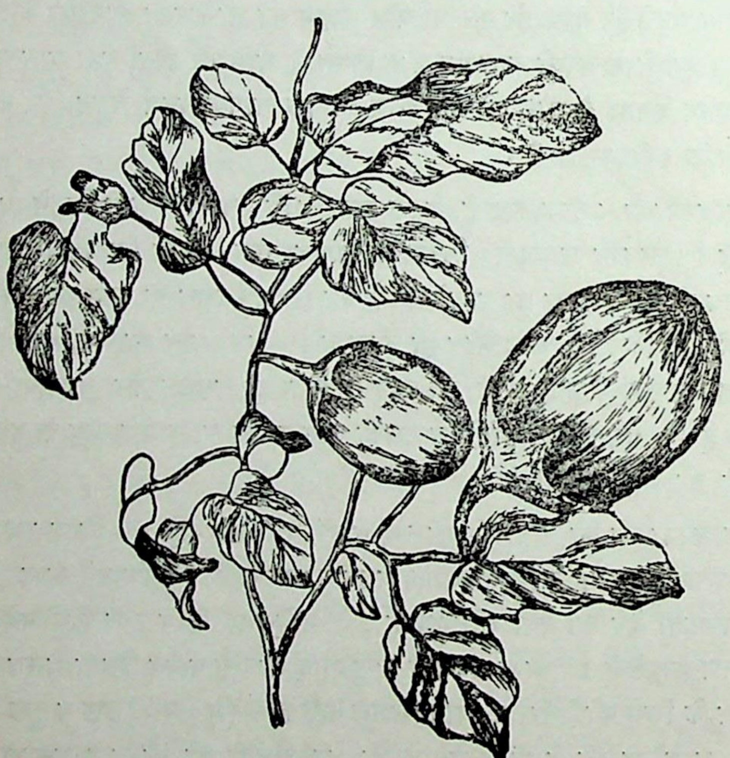
वाजपेयी जी की बातों की सीमाएँ न हों, यह बात नहीं। विश्वनाथ का कथन 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' काव्यशास्त्र का वेदवाक्य तो नहीं; 'अलंकार' शब्द को आज इतनी व्यापकता देने का क्या औचित्य है? महिमभट्ट के पक्ष में दिये गये कुछ तर्क पूरा परीक्षण चाहते हैं। अन्य संदर्भ में प्रस्तुत हुए भी ऐसे वाक्य 'किसी आस्वाद का रूप प्रकट करने के लिए कोई भी 'अनुभाव' सक्षम नहीं हैं—(पृ० २८) कुछ-न-कुछ चौंका ही देते हैं। वाजपेयी जी ने अभिनवगुप्त की उपलब्धियों को भी नहीं उभारा, उसकी सीमाओं के लिए भी उसे माफ-सा कर दिया है। लगता है, वे उससे खुश ही हैं।

और, इस लेख की शैली और भाषा! लोग समझते हैं, काव्यशास्त्रीय चिन्तन तो गुरु-गंभीर शब्दावली में ही प्रस्तुत हो सकता है। उसके लिए विशिष्ट शैली और

शास्त्रीय शब्दावली चाहिए ही चाहिए, तभी हम 'वाग्देवतावतार' बनेंगे । वे लोग इस लेख को स्वयं पढ़ लें, यही निवेदन किया जा सकता है ।

कहते हैं, शास्त्रीय आलोचना वस्तु-परक होती हैं और उसमें आलोचक के व्यक्तित्व का समावेश बहुत दूर तक संभव नहीं होता । पर इस लेख में तो वाजपेयी जी पग-पग पर झाँकते ही नहीं, सामने खड़े मिलते हैं, अपनी बड़ी-बड़ी मूँछों के बीच से फूटनेवाली विजयिनी मुस्क्यान में व्यंग्य करते; अपनी उमर और अपनी नैतिक मान्यताओं के अनुरूप काव्यशास्त्रीय चेतना को नैतिक मूल्यों से भासित करते, सिद्धान्तों को ही नहीं, शब्दों को नई-नई अर्थच्छटाएँ देते, हाथ में अपने मोटे बेंत का डंडा लिये जो उनके चलने में चाहे कभी सहायक कम हो पर आपको 'समझाने' और 'दिशा दिखाने' में नहीं चूकेगा । पर उनके पास जाइए। सहृदयश्लाघ्य रस के उदात्त और उदार सरोवर हैं वे । आपको भीतर तक सींच देंगे ।

इस मनीषी को प्रणाम करते ही बनता है ।



आचार्य वाजपेयी के काव्यशास्त्रीय विचार

डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित

आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

पूना विश्वविद्यालय

जबलपुर विश्वविद्यालय के तेरहवें दीक्षान्त सप्ताह के अवसर पर आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने काव्य और काव्यशास्त्र विषय से सम्बन्धित तीन व्याख्यान दिये थे। इन तीन व्याख्यानों में आचार्य वाजपेयी ने क्रमशः काव्य का उद्भव और विकास, हमारा काव्य-शास्त्र तथा काव्यार्थ न समझने से अनर्थ विषय पर सूत्र-शैली में अपने विचार प्रस्तुत किये थे। जबलपुर विश्वविद्यालय की ओर से काव्य और काव्यशास्त्र नाम से प्रकाशित छोटी पुस्तिका में ये तीनों व्याख्यान १९७० में प्रकाशित हो चुके हैं। आचार्य वाजपेयी के काव्यशास्त्र-विषयक विचारों को जानने के लिए यह पुस्तिका आधार-रूप है। इस पुस्तिका में व्यक्त विचारों की व्याप्ति को देखते हुए एक छोटे लेख में सब पर विचार करना संभव नहीं है, अतः हम यहाँ कुछ विचारों को केवल संकेत का और कुछ को विवेचन का विषय बनायेंगे।

आचार्य श्री की मेधा जैसी व्याकरण के क्षेत्र में अपनी तेजस्विता और स्वतन्त्रता का प्रदर्शन करती रही है, काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी उनके चिन्तन की प्रखरता कुछ वैसी ही है। व्यर्थ के वाग्विस्तार को छोड़कर वे सीधे उन धारणाओं पर आक्रमण करते हैं जिनसे उनकी या तो सहमति नहीं है या जो विहित परिपाटी से अतिरिक्त उनकी मौलिकता की माँग करती हैं। उन्होंने अपने व्याख्यानों में सामान्यतः जिन विषयों पर विचार किया है, वे हैं काव्य का जन्म, काव्यशास्त्र का आरम्भ, स्वभावोक्ति, अलंकार-विवेचन में कुछ गलतियाँ, काव्यार्थ न समझने से भ्रम, कवि-समय और कवि के गुण। विवेचन में जिन विषयों पर उन्होंने विशेष बल दिया है और जहाँ वे विशेषतया चुनौती के साथ उपस्थित होते हैं, वे स्थल हैं—अलंकार का स्वरूप-चिन्तन, रस, चमत्कार और ध्वनि का विवेचन, ब्रह्मानंद सहोदरता का स्पष्टीकरण, काव्य-भेदों की कल्पना और सबसे बढ़कर गुणीभूत व्यंग्य की मूल धारणाओं से असहमति। मुख्यतः उनके विवेचन का क्षेत्र रस तथा ध्वनि रहा है और प्रसंगतः अलंकार और वक्रोक्ति। स्वीकृति की दृष्टि से वे रसवादी हैं, किन्तु रस की नयी व्याख्या करते हुए, साथ ही अलंकारवादी भी। काव्य-रचना के सन्दर्भ में उनकी दृष्टि उपयोगितावादी है। आचार्यों में उनका मेल विश्वनाथ कविराज, पण्डितराज जगन्नाथ, कुन्तक और भामह के साथ और सबसे अधिक महिमभट्ट से बैठता है और अलंकार को लेकर उनकी दृष्टि का मेल हिन्दी में किसी से हो सकता है तो आचार्य केशवदास से।

काव्य का जन्म कब और कहाँ हुआ ? इस विषय में आचार्य जी का स्पष्ट मत है कि जहाँ ऋग्वेद की रचना हुई वहीं काव्य का जन्म भी हुआ। ऋग्वेद जैसी पुष्ट रचना को देखकर यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि उसकी रचना के पूर्व साधारण काव्य की रचना न हुई होगी और ऋग्वेद सहसा लिख दिया गया होगा। आचार्य जी की इस धारणा का विरोध करने के लिए कहीं कोई आधार नहीं है। ऋग्वेद की पुष्ट रचना को देखकर यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है कि उससे पूर्व भी काव्य की रचना हुई होगी। सूरदास के काव्य से प्रभावित होकर आचार्य शुक्ल ने उनसे पूर्व ब्रजभाषा-काव्य की कल्पना की ही थी और वह शोध से बाद में प्रमाणित भी हुई। किन्तु आचार्य जी की इस धारणा के पीछे कुछ और भी है, जिसके आधार पर उन्होंने यह विचार किया है और उसे दृष्टि से ओझल कर देने से बात का अति सामान्यीकरण मात्र होकर रह जाता है। वस्तुतः उनकी इस धारणा के पीछे वेदों की अपौरुषेयता-सिद्धान्त का निषेध काम कर रहा है। वेदों को अपौरुषेय मान लिया जाय, तो उनकी पुष्टता देखकर उनसे पूर्व हुई रचना की उपस्थिति का प्रश्न भी नहीं रह जाता। वेदों की मानुषी रचना मानने पर ही यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है।

जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' में देवों के अतिचार और उनकी विलास-प्रियता का केवल चित्रण ही नहीं किया है, उसे ही उनके विनाश का कारण भी माना है। आचार्य जी ने भी इंद्र को लेकर इस अति-विलासिता को लक्षित किया है और उसे 'शोहदेपन' की संज्ञा दी है। उनका कथन है कि "वेद-रचना के समय भी काव्य-गीत बनते थे, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि कविजन प्रायः विलासिता का उद्रेक करनेवाले काव्यों में ही मस्त रहते थे।" इनके पक्ष से रची जानेवाली कविताएँ भी सौंदर्यवादी और विलासितामयी रही होंगी, जब कि असुर-आर्यों के कवि-गुरु शुक्राचार्य अपनी कविता से मृत असुरों में भी प्राण डालते रहे। यही कविता उनकी संजीवनी विद्या थी। इसके आधार पर आचार्य वाजपेयी का मत है कि "कवीनां उशनाः कविः"। उक्ति और "संजीवनी विद्या" की कथा इसी ओर संकेत करती है कि १—कविता को जीवन को बल देनेवाली होना चाहिए या वही कविता कविता है जो जीवन को शक्ति देती है, और २—जिसकी कविता यह शक्ति देती है वही उत्तम कवि है।

आचार्य जी के इन निष्कर्षों से उनकी दो विशिष्ट मान्यताओं का सम्बन्ध है। एक यह कि वे काव्य में शृंगार के केवल मर्यादावादी पक्ष के समर्थक हैं और दूसरे यह कि उनकी दृष्टि उपयोगितावादी है, सौंदर्यवादी नहीं। अपने भाषणों में रसाभास-विवेचन तथा काव्य-भेद-विचार के अवसर पर इन मान्यताओं को बड़े सुस्पष्ट शब्दों में व्यक्त भी किया है। आस्वाद के आधार पर किये जानेवाले काव्य-भेदों का निषेध करते हुए उन्होंने सुझाया है कि "श्रेणी-विभाजन दूसरी तरह से हो सकता है। उपयोगिता के आधार पर अन्य सभी कलाओं से श्रेष्ट काव्य-कला है। उसी तरह उपयोगिता का आधार काव्य के श्रेणी-विभाजन में भी हो सकता है। आस्वाद में बराबर होने पर भी उपयोगी, अनुपयोगी और दुरुपयोगी भेद से काव्य की तीन श्रेणियाँ निसर्ग-सिद्ध हैं।" आस्वाद के साथ शक्ति देनेवाला अथवा केवल आस्वाद में अत्यधिक उत्कृष्ट किन्तु विकार

उत्पन्न न करनेवाली रचना उत्तम, वैसी शक्ति न दे सके, परन्तु कोई विकार भी उत्पन्न न करे वह मध्यम और आस्वाद में उत्कृष्ट होनेपर भी जो विकार पैदा करे, वह निकृष्ट। शिव और मनोबल की प्रेरणा देनेवाला काव्य उत्तम, जिससे वैसा बल न मिले वह दूसरे दर्जे का और जिसके प्रभाव से व्यक्ति और समाज का पतन हो वह अधम काव्य होगा। आचार्य जी की इस कसौटी के अनुसार 'रामचरितमानस' उत्तम, रस देनेवाली छायावादी-रहस्यवादी रचनाएँ मध्यम और दाम्पत्य-रस को शृंगार-रस कहकर दुराचार-अनाचार फैलानेवाले काव्य को निकृष्ट अथवा अधम कहा जायगा।

श्रेणियाँ बनाना साहित्य में बहुत कारगर नहीं होता। हर बार कुछ रचनाएँ उन श्रेणियों से अलग अपना अस्तित्व घोषित करके उन श्रेणियों के कल्पक को चुनौती देती हुई उसके सामने आ खड़ी होती हैं। वाजपेयी जी ने जो श्रेणियाँ बनाईं उनके विषय में भी ऐसा ही हुआ तो कुछ अनहोनी नहीं हुई। उन्हें एक तो छायावादी-रहस्यवादी रसदायी कविताओं के साथ वन-पर्वत, सागर और नद-नदियों का चित्रण, संध्या-वर्णन तथा प्रातःवर्णन को भी मध्यम श्रेणी में रखना पड़ा और दूसरे इनमें भी रस की स्थिति और अधिकता का भेद करके फिर उस कोटि को भी लाँघ जाना पड़ा। उनका कहना है कि "यदि ऐसे वर्णनों में रस बहुत अधिक हो, तो फिर इन्हें भी उत्तम श्रेणी काव्य कहा जायगा।" आचार्य जी छायावादी-रहस्यवादी रचनाओं में रस तो मानते हैं, जो कि वे पहले तो मानते ही नहीं थे, किन्तु 'बहुत अधिक रस' उनमें आज भी नहीं मानते, अन्यथा वर्णनात्मक कविता के विषय में उस 'बहुत अधिक' की चर्चा करके भी वे इन रचनाओं के विषय में वैसा मानने से मौन न रहते। 'बहुत अधिक रस' देना तो अलग उनकी दृष्टि में तो वे रचनाएँ कोई शक्ति भी नहीं देतीं। खैरियत इतनी है कि वे उनके मत में भी विकार पैदा नहीं करतीं। और बस इसीलिए कि विकार पैदा नहीं करतीं वे मध्यम श्रेणी की हैं, अन्यथा निकृष्ट होने में कोई कसर बाकी नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के श्रेणी-विभाजन की अस्वीकृति के लिए आज की स्थिति में बहुत चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी।

शृंगार को रसराज कहकर उसके अंतर्गत जैसे चित्र अंकित किये गये हैं, उससे आचार्य जी को ही नहीं बहुत-से सहृदयों को नाराजगी है। शास्त्र की दृष्टि में ऐसे अनौचित्य-प्रवर्तित स्थल रस के नहीं रसाभास के हैं। लेकिन वे वैसे हैं तो उनकी काव्य में स्वीकृति ही क्यों? रसाभास कहकर भी रस के अन्तर्गत ही उनका समावेश शास्त्र करता आया है। ध्यान देने पर पता चल जाता है कि प्रबन्ध में उन स्थितियों का समावेश जीव-सृष्टि के चरित्र-वैविध्य के प्रदर्शन के काम आता है और मुक्तकों में भी बहुत बार उनकी उपस्थिति का समाधान यही दिया गया है कि उससे ऐसी स्थितियों का तिरस्कार ही अभिप्रेत है। आचार्य जी शायद दोनों उक्तियों से उतना संतुष्ट नहीं हो पाते। शायद वे नहीं मानते कि ऐसे कदाचार के लिए ऐसा मृदुल समाधान प्रस्तुत किया जाय, जिससे घृणा व्यंजित न हो। इसी से वे रसाभास-भावाभास को 'फिसल-पाखाना' कहकर अपनी सम्पूर्ण घृणा और उनकी उपयोगिता दोनों को एक साथ व्यक्त करते हैं।

अन्यान्य विषयों के बीच आचार्य जी द्वारा उठाये गये रस, चमत्कार, ध्वनि और अलंकार-विषयक प्रश्न ही महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्य जी की मान्यता है कि रस ही काव्य को जीवन प्रदान करता है, अतः विश्वनाथ कविराज ने जो 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' कहकर काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है, वही पूर्ण लक्षण है। यह बात तो बहुतों ने बहुत बार कही है, अतएव आचार्य श्री की इस उक्ति को उसी आधार पर सहसा स्वीकार करने का लोभ हो सकता है, किन्तु वह निरापद नहीं है। वाजपेयी जी रस को नौ रसों की सीमा में बाँधकर नहीं देखते। वैसा करना ही तो उनकी दृष्टि में भूल है और उसी से रचना और आलोचना, दोनों गलत रास्ते चली गयी हैं। रस उनके विचार से आस्वाद अथवा आनन्द का पर्यायमात्र है, काव्यानन्द के लिए वह केवल रूढ़ हो गया है।

रस को आनन्द या आस्वाद का पर्याय मानने का आचार्य जी का अर्थ यह कि जिस किसी भी साधन से आनन्द प्राप्त होता है या उसका आस्वाद लिया जाता है, वह सब रसात्मक है और उन सबमें रस है। रस कोई ऐसी विलक्षण वस्तु नहीं कि वह केवल काव्य में होता हो, या केवल उससे प्राप्त हो। आगरे के दालमोठ से लेकर अन्यान्य पदार्थों के रस की ही नहीं वे प्याज के छिलकों और बादाम की गुठली के रस तक की चर्चा करते हैं और समस्त कलाओं में भी उसे स्वीकार करते हैं। काव्य के सन्दर्भ में उनका कथन है कि "इसी तरह काव्यमर्मज्ञ को चमत्कारपूर्ण शब्द में रस मिलता है, वाच्य अर्थ में रस मिलता है, प्रतीयमान अर्थ में रस मिलता है। प्रतीयमान अर्थों में ही शृंगार आदि रस भी हैं। वह रस जहाँ नहीं वहाँ काव्यत्व-व्यवहार हो ही नहीं सकता। वह रस चमत्कार-पूर्ण प्रयोग में रहता है। इसीलिए शब्दालंकार तथा अर्थालंकार को काव्य-भेदों में उनको भी रखना पड़ा, जो शृंगार आदि रसों को या ध्वनिमात्र को ही काव्य की आत्मा मानकर चले।"

रस को इतने व्यापक रूप में रखकर देखने से और पदार्थगत रस से उसकी समानता स्थापित करने से यह भ्रम हो जाने की संभावना है कि काव्यरस भी पदार्थरस के समान ऐन्द्रिय होता है। पदार्थगत रस का ज्ञान इन्द्रिय-सम्पर्क होते ही हो जाता है। काव्य, विशेषतः नाट्य में यह इन्द्रिय-सम्पर्क है अवश्य और आधारभूत है परन्तु न तो उससे रस की प्रतीति सम्पर्क होते ही होती है और न वह प्रतीति केवल इन्द्रिय-स्वाद तक रहती है। काव्य-रस की कल्पना का सम्बन्ध भावों की सघन-तरल अनुभूति से है, जिसमें मग्नता की स्थिति ऐंद्रिय-स्वाद से सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। भावों की इस अनुभूति को ही रेखांकित करने के लिए आचार्यों ने रस और अलंकार के बीच अथवा उन दोनों के चमत्कार के बीच अन्तर किया है। अलंकार चाहे शब्द के हों चाहे अर्थ के, दोनों ही चमत्कृत तो करते हैं किन्तु न तो किसी भाव के अभाव में उसे जगा ही सकते हैं और न उसके होने पर भावोद्बोध से आगे बढ़कर केवल अपने बल पर वह प्रबल और सघन अनुभूति ही जाग्रत कर पाते हैं, जिसे रस कहा जाता है। उनका चमत्कार यदि शब्द का होता है तो ऐंद्रिय झंकृतियाँ जगा देता है, और यदि अर्थ का होता है, तो अपने वैचित्र्य से चकाचौंध पैदा करता है। काव्य में भाव हुए तो फिर वह उनके उद्बुद्ध और प्रबल करने में सहायक

अथवा साधन-स्वरूप भी बन सकता है। साथ ही शब्द का हो चाहे अर्थ का, कोरा चमत्कार न केवल किसी भी भाव को नहीं जगाता बल्कि कभी-कभी उसे हानि भी पहुँचाता है। फलतः यह मानना होगा कि रस-चमत्कार और अलंकार-चमत्कार दोनों एक ही नहीं हैं और इसीलिए रस को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए भी विशिष्टार्थक रस को चाहे भावाश्रित रस के रूप में मानें, चाहे नौ रसों के रूप में, उसे मानना अलग ही होगा। यह ठीक है कि 'रसे सारश्चमत्कारः' पंक्ति भी है और काव्य को 'चमत्कारैकप्राणतया' समझा-देखा भी जाता है, किन्तु चमत्कार और चमत्कार में अन्तर है। बाजीगरी और संगीत, चित्र या काव्य का चमत्कार एक ही नहीं होता।

आचार्य जी ने स्वयं भी यह माना है कि "साधारण आम, अनार, अंगूर आदि का रस सभी समान रूप से लेते हैं। सबको आनन्द एक सा आता है। परन्तु काव्य, संगीत जैसी कलाओं का रस ऐसा नहीं है। वह असाधारण रस है और इसीलिए उसे 'अलौकिक' कहा गया है।" किन्तु वे फिर भी काव्य-रस को 'ब्रह्मानंद-सहोदर' अथवा "अनिर्वचनीय" कहे जाने के पक्ष में नहीं हैं। वे व्यंग्य करते हुए कहते हैं: "समझाया गया है—'यह रस ब्रह्मास्वाद-सहोदर है—ब्रह्मानंद का सा आनन्द है 'रस' में।" 'ब्रह्मानंद तो सभी को सुलभ है ही, सब उस आनन्द से परिचित हैं, बस वैसा ही काव्य का रस है। कितनी सरलता से समझा दिया गया है रस का रूप। और यह भी कहा गया है वह रस-स्वसंबंध है, अनिर्वचनीय है। जो काव्यमर्मज्ञ—सहृदय—हैं, वे ही उस रस का अनुभव कर सकते हैं, पर वे दूसरे को कुछ बतला नहीं सकते कि वह कैसा है। पूछो, जब वह ऐसा है, तब तुम समझा क्या रहे हो?"

आचार्य जी काफी विस्तार से समझाते हुए इस बात पर बल देते हैं कि आस्वाद भले ही पदार्थ का ही क्यों न हो, सदैव स्वसंबंध अर्थात् जो ग्रहण करता है, उसके द्वारा ही जाना जानेवाला और अनिर्वचनीय अर्थात् दूसरे को न समझाया जा सकनेवाला होता है। उसका वैज्ञानिक द्वारा विश्लेषण किया जा सकता है, उसे दूसरे को समझाया नहीं जा सकता। उसकी विधि मात्र बतायी जा सकती है। साथ ही चूँकि जाननेवाला ही उसे जानता है अतएव रस भी 'सहृदय-संवेद्य' कहा जाता है तो कोई आश्चर्य नहीं।

आचार्य जी की बात गलत नहीं। फिर भी 'ब्रह्मास्वाद' के तत्व जिस तरह समझाये गये हैं, या दर्शनों में ब्रह्म की प्राप्ति की अवस्था का जो बखान किया गया है, रस की प्राप्ति से भी उसी प्रकार की अवस्था की संभावना देखकर यदि उसे 'ब्रह्मास्वाद-सहोदर' कह दिया गया है तो कम-से-कम उन तत्वों की पहचान तो करायी जा सकी है जिनके पहचानने से कुछ-कुछ अनुमान तो लगाया जा सकता है। यों तो केवल अलौकिक कह देने से भी कहाँ कुछ पता चलता है। स्वानुभूति से बढ़कर तो कुछ प्रमाण है ही नहीं, किन्तु उस स्वानुभूति को भी बाद में किसी तरह समझना हो तो उसके लिए 'ब्रह्मास्वाद' के परिचित तत्वों का सहारा लिया जा सकता है। शास्त्र की उपयोगिता यह न सही कि उसे पढ़ कर काव्य की रचना की जा सकती हो, यह तो है कि किये गये काव्य की

अधिकाधिक समझ तो पैदा की जा सकती है, पुनः परीक्षण द्वारा कृत को परिष्कृत तो किया जा सकता है। वैसे ही यहाँ भी मानना चाहिए।

आचार्य जी आस्वाद के संदर्भ में एक और विचारणीय प्रश्न उपस्थित करते हैं। बल्कि उनका यह विधान ही है कि "आस्वाद का तारतम्य श्रेणी-विभाजन का आधार नहीं हो सकता। किसी को कोई चीज सर्वाधिक प्रिय होती है, तो दूसरे को कोई दूसरी ही।" अतः वे काव्य के प्रचलित उत्तमादि भेदों का निषेध करते हुए उपयोगिता के आधार पर उसके भेद करते हैं।

काव्य के वर्ग-विभाजन को लेकर यों तो स्वयं आचार्यों में, यहाँ तक कि ध्वनिवादी आचार्यों में भी परस्पर मतभेद हैं, अतएव यहाँ आचार्य जी के मतभेद से भी आश्चर्य नहीं होना चाहिए। दूसरे, स्वयं हिन्दी में ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसी उपयोगितावादी दृष्टि के पोषक रहे हैं और उन्होंने उसी के आधार पर सूर तथा तुलसी के काव्य में परस्पर भेद किया है। परन्तु यहाँ वाजपेयी जी की दृष्टि में एकान्त उपयोगितावाद नहीं है, अन्यथा वे काव्य-भेद करते हुए उपयोगिता के साथ आस्वाद को भी एक आधार न मानते। असल में उनका आक्रोश तो रस के नाम पर शृंगार के ऐसे दृश्य उपस्थित करने के प्रति है जिससे अनाचार फैलता हो। यही उनकी दृष्टि में दुरुपयोग है। आस्वाद की प्रभुता उन्हें स्वीकार है और तब तक स्वीकार है जब तक वह विकार पैदा नहीं करता। यहाँ तक कि ऐसे "अत्यधिक उत्कृष्ट" आस्वाद के कारण ही वे सूरदास के उस बाल-वर्णन को जो "वैसा उपयोगी" नहीं है, वात्सल्य रस का काव्य मानकर उसे उत्तम श्रेणी में ही रखते हैं। यहाँ तक कि वे रसाधिक्य के कारण ही प्रकृति-वर्णन वाले काव्य को भी उत्तम काव्य मानते हैं। प्रश्न यह है कि यह रस की अधिकता क्या है? क्या वही जिसे वाजपेयी जी व्यापक रस मानते हैं, उसकी अधिकता? क्या यह रस की अधिकता अलंकार और वस्तु से जनित रस की है, हो सकती है? या इसका कोई दूसरा आधार है? उत्तर में कहा जायगा कि यह उन दोनों के रस से भिन्न है और भिन्न ही हो सकती है। रस की अधिकता अनुभूति की गहनता के आधार पर ही हो सकती है। जिस वर्णन से जितना ही अधिक सहृदय की भावानुभूतियाँ जाग्रत होती हैं और जितना ही वे रस के मूल स्वरूप के अनुकूल विकारहीन तथा उदात्त होती हैं, उतना ही सहृदय को रस अधिक आता है। इसीलिए हमने पहले भी चमत्कार और चमत्कार के बीच भेद को स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में हमारा कहना पुनः यही है कि यदि रस के मूल स्वरूप को ध्यान में रखा जाय और उसके दुरुपयोग को देखकर उसे ही रस समझने की भूल न की जाय तो न तो शृंगारादि नवरसों के निषेध की आवश्यकता होगी और न आस्वाद को आधार न मानने की ही।

आस्वाद को आधार मानकर जो काव्य के उत्तमादि भेद किये गये हैं, उनका रहस्य भी यही है कि वहाँ अनुभूति और उसके जागरण-व्यक्तीकरण की प्रबलता-निर्बलता पर ध्यान है। आचार्य वाजपेयी जी ने ध्वनिवादी आचार्यों के इस मत के प्रति अपनी प्रबल तिरस्कृति व्यक्त की है कि उन्हें गुणीभूत-व्यंग्य काव्य को इसलिए मध्यम काव्य माना कि

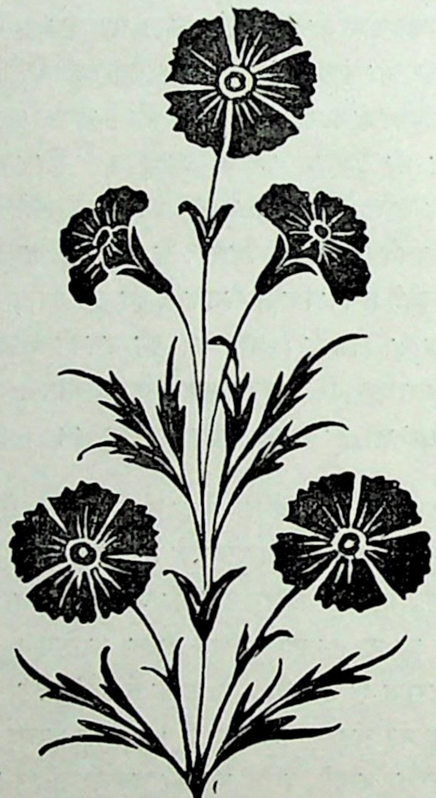
वहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से दब कर कम चमत्कारी रह गया । इसे उन्होंने केवल शास्त्र का उल्लंघन हो जाने के कारण दी गयी व्यवस्था मान लिया है और प्रश्न किया है कि "कोई तुक है ? वाच्य में व्यंग्य से अधिक चमत्कार होना ही न चाहिए, यह कोई राजाज्ञा है ?"

यहाँ भी वाजपेयी जी ने वस्तुतः रस की व्यापकता को ही ध्यान में रखते हुए यह मान लिया है कि वाच्य-चमत्कार से भी रस आता है, अतएव व्यंग्यार्थ के दब जाने से कोई हानि नहीं होती । रस को उन्होंने उसके अनुभूति-समर्पित रूप में ग्रहण नहीं किया । ध्वनिकार का अभिप्राय यह है कि काव्य से अनुभूति का सीधा सम्बन्ध होना चाहिए, केवल शब्द-चातुर्य या उक्ति-चमत्कार का नहीं । यह तो ठीक है कि कभी-कभी ऐसा सिरजा और सराहा जाता है जिसमें अनुभूति को जाग्रत करने की शक्ति कम और अलंकार प्रधान होते हैं । यहीं वाचक चमत्कार के सामने व्यंग्य का चमत्कार हार जाता है । सहज है कि इस हार से काव्य की उस जीवनी-शक्ति का ह्रास होता है जो पाठक का बल बन जाती है । ऐसे स्थलों पर भी कुछ-न-कुछ रस तो रहता ही है, किन्तु गौण रहता है । इसीलिए यह गुणीभूत-व्यंग्य है । जीवनी-शक्ति की निर्बलता के कारण ही वह मध्यम भी है । वाजपेयी जी ने भी उशना कवि के उदाहरण से जिस संजीवनी विद्या की बात कही है, वह यही जीवनी-शक्ति है । इसीलिए ध्वनिकार रस-ध्वनि की चर्चा करते हैं और उसे उत्तम काव्य मानते हैं । उनके विचार से तो जहाँ शब्द और वाच्यार्थ व्यंग्य के प्रति इस प्रकार समर्पित होते हैं कि किसी अलंकार की उपस्थिति अलग से चमत्कारी नहीं लगती, वही ध्वनि-काव्य का क्षेत्र है । यहाँ तक की उनकी दृष्टि में तो व्यंग्यों का भी परस्पर संकर नहीं होना चाहिए, कि सहृदय संशय में पड़ जाये । वस्तुतः इस भेद-विवेचन में अनुभूति-दशा की प्रधानता ही उनके लक्ष्य में रही है ।

अन्त में, चित्रकाव्य । आचार्य वाजपेयी जी ने पूर्वाचार्यों द्वारा कथित चित्र-काव्य की कल्पना को यह कह कर अमान्य ठहराया है कि भला कहीं चित्र में अंकित किये गये घोड़े को भी घोड़ों की प्रदर्शनी में रखकर उसे भी घोड़ा कहा जा सकता है ? अतएव उनका मत है कि कहना ही था तो काव्य-चित्र कहना चाहिए । वस्तुतः आचार्य जी का यह मत विश्वनाथ कविराज से प्रभावित है, ठीक वैसे ही जैसे गुणीभूत व्यंग्य सम्बन्धी उनका विचार महिमभट्ट का अनुसरण करता है । चित्र-काव्य कहकर ध्वनिकार जिसे वैचित्र्य से वंचित नहीं करना चाहते, बल्कि रस की अनुपस्थिति की सूचना देना चाहते हैं, उसे ही काव्य-चित्र कहकर यह घोषित करने का प्रयत्न किया गया है कि यदि वह रसनीय ही नहीं है तो काव्य भी नहीं हो सकता और ऐसी स्थिति में वह अगर कुछ है तो काव्य का चित्र मात्र है । वस्तुतः यहाँ भी इतना ही मानना चाहिये कि गुणीभूत व्यंग्य में तो कवि की दृष्टि रस-सन्निवेश और निर्वाह पर रहती है परंतु वह अलंकारों के सामने गौण बन जाता है, उसी प्रकार चित्र-काव्य में रस की मात्रा भी अत्यन्त कम हो जाती है और न उसके निर्वाह की ओर कवि का ही ध्यान होता है और न सहृदय ही उसमें रमता है । वहाँ अलंकार में ही कविता डूब जाती है, जैसे यमक के निबन्धन में । काव्य रचना के स्तर-

भेद और कवि-कौशल को समझने में उक्ति के इस भेद का भी स्थान है और इसमें भी वैचित्र्य-परक चमत्कार है, इसीलिए यह चित्र-काव्य है। अस्तु,

आचार्य वाजपेयी जी के आक्षेप भी शास्त्र पर ही आधारित हैं, किन्तु विपक्ष में उपस्थित शास्त्र के तर्कों को उन्होंने प्रधान रूप से उघारने का प्रयत्न किया है। उनके मन्तव्यों पर पुनः शास्त्र-परीक्षण होना चाहिए। यहाँ स्थानाभाव से उनके समस्त विचारों और शास्त्र की पंक्तियों में न जाकर संक्षेप में केवल कुछ ही बातों का निर्देश किया गया है।



आचार्य श्री वाजपेयी की काव्यशास्त्रीय मान्यताएँ

डा० राममूर्त्ति त्रिपाठी

आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

विशिष्ट प्रतिभा जिस क्षेत्र को चुनती है, उसी में अपना स्थान उल्लेख्य बना लेती है। यों आचार्य वाजपेयी हिन्दी जगत् में एक वैयाकरण के रूप में प्रख्यात हैं––पर उनकी लेखनी अन्य विषयों में भी सक्रिय रही है––साहित्य और साहित्य शास्त्र भी उनका अपना विशिष्ट क्षेत्र है। संप्रति, मेरे सामने उनका साहित्य शास्त्रीय चिन्तन और तत्प्रसूत मान्यताएँ जबलपुर विश्वविद्यालय में दिए गए तीन व्याख्यानों के संकलित रूप में हैं। आचार्य वाजपेयी ने इन व्याख्यानों में केवल उन्हीं पक्षों की चर्चा की है––जिनमें उनकी कुछ अपनी मौलिकता है।

उनकी प्रथम स्थापना यह है कि वैदिक ऋचाओं में निहित विश्वकल्याण-कामी ऋषियों की प्रार्थनाओं को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय इन्द्रप्रमुख देवगण का काव्य विलासिता प्रधान रहा होगा और असुरों का काव्य जीवनदायी––वैसे इस अनुमान का पोषक आज अपने पास कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। गीता में श्रीकृष्ण ने "कवीनामुशना कविः" कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि आदर्श कवि के रूप में सर्वोत्तम स्थिति शुक्राचार्य की थी, जो असुरों के गुरु थे। वैसे स्वयम् परमात्मा को ही "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" द्वारा कवि कहा गया है–कारण, उससे श्रेष्ठ रचनाकार कोई नहीं। पर जब स्वयम् परमात्मा ही कवि के रूप में सर्वोत्कृष्ट विभूति "शुक्राचार्य" को स्वीकार करता हो––तो क्या कहा जाय ? "शुक्राचार्य के पास संजीवनी विद्या थी"––इस प्रसिद्धि के आधार पर वाजपेयी जी की यह धारणा है कि उनकी कविता में मृतकों को भी अमर बना देने की शक्ति थी। ऐसी रही होगी शुक्राचार्य की आदर्श कविता। उनके काव्य से ऐसी रसधारा प्रवाहित होती थी जिसका पान कर असुरगण निरन्तर सुरों को पराजित कर दिया करते थे। इसीलिए सुरों के पक्षधर ऋषियों की यह कामना होती थी कि ऐसी वाणी का––प्रभावशालिनी वाणी का––विधान किया जाना चाहिए कि जिससे सुरगण असुरों को पराजित कर सकें।

तदेव वाचः प्रथमं मंसीय
येनाऽसुराँ अभिप्रसाम

वाजपेयी जी ने कवि के आदर्शरूप को स्पष्ट करने के निमित्त एक दृष्टान्त बहुत ही उत्तम दिया है। कहा है कि शिशु की दृष्टि से जो स्थिति माँ की होती है, समाज की

दृष्टि से वही स्थिति कवि की है। शिशु को स्वस्थ रखने के निमित्त किसी अपेय—अखाद्य वस्तु का सेवन जिस प्रकार माँ नहीं करती वैसे जिस कवि-व्यक्तित्व का रस काव्यात्मक हो—उसके निर्माण में कोई असामाजिक तत्व विनियुक्त न हो। माँ का अपेय और अखाद्य पेय और खाद्य बनकर उसके स्तन्य में विकृति पैदा करता है और उसका दुष्प्रभाव शिशु के स्वास्थ्य पर पड़ता है—ठीक उसी प्रकार यदि कवि अपने व्यक्तित्व का निर्माण असामाजिक—अलोकमांगलिक तत्वों के आचरण और स्वीकरण से करता है—तो उसके कवित्व-स्रोत व्यक्तित्व में कुछ ऐसे तत्व संक्रान्त हो सकते हैं जो काव्यात्मक रस को विकृत कर दें और समान शिशु उसका पान करके अस्वस्थ हो जाय। इसी संकलन में एकत्र उन्होंने यह भी कहा है कि कलागत सर्वोत्तमता का निकर्ष उसकी उपयोगिता ही है—जीवन और समाज को लोकमंगल-पर्यवसायी दिशा में गतिशील करने के अनुरूप प्रेरणा और प्रभाव पैदा करने की क्षमता ही है।

कलावादियों को वाजपेयी जी का यह उपयोगितापरक दृष्टिकोण निश्चय ही खटकेगा—इसीलिए उन्होंने कहा है "कला का अर्थ है—आनन्द देनेवाली चीज—काव्य भी एक कला है—सर्वोत्तम कला। इसकी सर्वोत्तमता इसकी उच्चविध उपयोगिता में है।" सामंजस्य इसी मान्यता में हो पाता है कि कला की उपयोगिता और आनंदमयता दोनों अविरोधी हैं। समस्या यह अवश्य खड़ी की जा सकती है कि प्राधान्य किसका ? आनंद का या उपयोगिता का ? इस समस्या का समाधान उनके इस वाक्य से मिल जाता है—"इसका प्रभाव हृदय पर पड़ता है" अर्थात् काव्य वहीं है जो प्रभावी पहले हो—पाठक के हृदय को संवाद के माध्यम से तन्मयीभूत करनेवाला हो। वाङमय के अन्य रूप भी उपादेय और उपयोगी हो सकते हैं, पर तन्मयीभवन की दशा में भी उठा ले जायँ—यह संभव नहीं। यह काव्य की असाधारण विशेषता है। अपनी इस असाधारण विशेषता या रसमयता के साथ उसमें उपयोगिता का तत्व भी यदि अंतर्हित हो—तो कला सर्वोत्तम। यदि कवित्व का उत्स कवि-व्यक्तित्व स्वस्थ तत्वों से संघटित होगा—तो "प्रभाव" सदा स्वस्थ, आनंदमय तथा उपयोगितागर्भ होगा। वाजपेयी जी की दृष्टि में उक्त गीता वाक्य के अनुसार जीवन को बल देनेवाली कविता उत्तम, और ऐसी कविता करनेवाला कवि उत्तम। उनकी यह स्थापना "कवीनामुशना कविः" के उद्घोष पर आधारित है।

श्री अरविंद ऋचाओं या मंत्रों को कविता का सर्वोत्कृष्ट रूप मानते हैं। उनके अनुसार जो कविता जितनी ही रचनात्मक प्रहर्षमय मनोभूमि की लयमय वाग्रूप अभिव्यक्ति होगी—वह उतनी ही उत्कृष्ट होगी। मंत्रों में उन्हें इस प्रहर्ष की निरतिशय स्थिति दिखायी पड़ती है—अतः वे उन्हें काव्य का आदर्शरूप मानते हैं। विपरीत इसके वाजपेयी जी का विचार है—"वेद को काव्य कहने से उसका गौरव कम होता है। काव्य में वर्णन होता है और काव्यशास्त्र में विवेचन, धर्मशास्त्र में कर्त्तव्यनिर्देश—वेदों में सब कुछ है—पर बीजरूप में"। वैसे भी अरविंद मानते हैं कि कवि पैगम्बर, दार्शनिक और वैज्ञानिक नहीं है। पैगम्बर निरावृत्त उपदेश देता है, दार्शनिक विश्लेषणात्मक

उपस्थापन में क्षम होता है जब कि वैज्ञानिक बारीक निरीक्षण में कवि की विशेषता उसकी (vision) "प्रातिभदृष्टि" में है—जिसमें अनुभूत सत्य सुन्दर और प्रह्लादमय रूप में स्फुरित होता है। वाजपेयी जी मंत्रों को "काव्यों" से भी ऊपर "कुछ और" मानते हैं।

काव्य वाक्य का कलात्मक रूप है और उसकी कलात्मकता रसात्मकता में है—चमत्कार में है—तदनुरूप बाँकपन या वैचित्र्य में है। वाजपेयी जी काव्यत्व के लिए रसात्मकता का होना अनिवार्य मानते हैं, वे ध्वनिवादियों से इस बात पर असहमत हैं कि "चित्र-काव्य"—शब्दालंकार तथा अर्थालंकार—में रसात्मकता नहीं होती। ध्वनिवादी वहाँ काव्य का व्यवहार केवल **काव्योचित सन्निवेशवश** करते हैं। वाजपेयी जी इसे 'चित्र काव्य' नहीं, 'काव्याचित्र' कहना चाहते हैं—सूझ है उनकी। वैसे ध्वनिवादी चित्रकाव्य में भी व्यंग्य की सत्ता, प्रतीयमान की सत्ता मानते हैं, पर कहते हैं—"अव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्"—अव्यङ्ग्य अर्थात् "अस्फुटतरातिरिक्तव्यङ्ग्य-रहितम् इत्यर्थः"। अर्थात् चित्रकाव्य में व्यंग्य "अस्फुटतर" रूप में ही रहता है। इस संदर्भ में उनकी दूसरी स्थापना यह है कि काव्य में दो ही अंग हैं—शब्द तथा अर्थ। अर्थ वाच्य और प्रतीयमान दो तरह के हैं ('वाच्य' को "लक्ष्य" का उपलक्षण मान लिया जाय, तो सबका भी समावेश हो जाता)। ध्वन्यालोककार जो वाच्य और प्रतीयमान—दोनों को "सहृदय-श्लाघ्य" कहते हैं—वह इसीलिए कि उभयत्र रसात्मकता है—काव्योचित चारुता है। वाजपेयी जी की दृष्टि से शब्दालंकार और अर्थालंकार के अन्तर्गत सभी प्रकार की वैचित्र्य-गर्भ-उक्तियों का समावेश हो जाता है। ध्वनि के समस्त भेद-प्रभेदों का समावेश उन्होंने अर्थालंकार के अन्तर्गत ही मान लिया है। सारांश यह कि काव्यत्व के लिए रसात्मक वैचित्र्य अपेक्षित है और इस रसात्मक वैचित्र्य का स्रोत ही अलंकार है—अतः चाहे शब्दालंकार हो या अर्थालंकार रसात्मक वैचित्र्य सर्वत्र अपेक्षित है। अतः रसात्मक वैचित्र्य के स्रोत अलंकार के दो भेद—शब्दालंकार और अर्थालंकार। अर्थालंकार दो प्रकार के—वाच्य-वैचित्र्यमय और प्रतीयमान-वैचित्र्यमय।

वाजपेयी जी ध्वनिवादियों की इस स्थापना से भी असहमत हैं कि वाच्यवैचित्र्य या वाच्यहेतु का चमत्कार से प्रतीयमान-हेतुक-चमत्कार सर्वदा अतिशायी ही होता है, फलतः जहाँ प्रतीयमान-हेतुक-चमत्कार से वाच्य-हेतुक-चमत्कार बढ़ जाय या समकक्ष हो जाय—तो वहाँ गुणीभूतव्यंग्य नामक भेद माना जाय। वाजपेयी जी की धारणा है कि जहाँ "वाद" का भूत सवार होता है—वहाँ कुछ न कुछ दुराग्रह अवश्य होता है। ध्वनिवादियों का भी उनकी दृष्टि में—यह एक प्रकार का दुराग्रह ही है। बात में कुछ वजन भी है। कालिदास उपमा के कवि हैं और श्री हर्ष उत्प्रेक्षा के। उत्प्रेक्षा में उपमा व्यंग्य होती है। यदि वाच्य से व्यंग्य सदा सर्वदा उत्कृष्ट ही होता है—यह मान लिया जाय, तब तो श्री हर्ष को कालिदास से काफी आगे होना चाहिए, पर विद्वज्जगत् में यह मान्यता नहीं है। वैसे इसके साथ यह भी विचारणीय है कि "उत्तान" और "पिहितापिहित" अर्थों में से कौन अधिक आकर्षक होता है ? यह तो कवि की क्षमता है कि वह जिसे चाहे उत्कृष्ट रूप में उभार सकती है।

इतना ही नहीं, ध्वनिवादियों के विपक्ष में उन्हें महिम भट्ट का पक्ष रुचिकर लगता है। असल में पाण्डित्य का एक लक्षण है—दोषज्ञता—दोषदर्शन-क्षमता। महिम में यह वैशिष्ट्य है और वाजपेयी जी का इसमें संवाद है—संवाद तन्मयीभवन की दशा में उठा ले जाता है—अतः महिम भट्ट आकर्षक लगें—तो वह स्वाभाविक है। वैसे व्यंजना-विरोधी महिम के तर्कों का विश्लेषण–खण्डन भी आचार्यों ने किया है। प्रमाणान्तरा-वेद्य, शब्द की अभिधाशक्ति से अनिवेद्य, पर शब्दवेद्य अर्थ यदि सहृदय-सम्मत है—तो उसका प्रत्याख्यान किस प्रकार होगा? क्या अनुमिति के लिए वाच्य और अनुमेय में जो अव्यभिचार होता है—वह वाच्य और व्यंग्य में है? व्यंग्यार्थ तो सहृदयों का लाड़-प्यार का अर्थ है—ललित अर्थ है। अस्तु। यह महिम भट्ट की दोष-दर्शनात्मक वैप-श्चित्य ही है—कि उनका दोषदर्शनात्मक विवेचन उत्तम बन पड़ा है। वाजपेयी जी ने महिम की इस विशेषता की भी सराहना की है। वैसे वाजपेयी जी कहते हैं—"यों ध्वनि का बहुत महत्व है, परन्तु वाच्य अर्थ कोई चीज ही नहीं है—यह बेतुकी बात है"—मतलब यह कि वे भी ध्वनि की सत्ता और उसकी महत्ता से इनकार नहीं करते।

वाजपेयी जी ने अपने इन व्याख्यानों में कइयों की खबर ली है। साहित्य दर्पण-कार की "वक्रोक्ति" विषयक धारणा नितान्त भ्रांत है। कहाँ निरवधि उक्तिगत वक्रता बाँकपन और कहाँ विश्वनाथ महापात्र की अलंकारात्मक वक्रोक्ति? उनकी दृष्टि में "रस" विषयक अर्थ की समझ भी लोगों की ऐसी ही है। "रस" अनवधि है, उसे शृंगारादि नव रसों तक ही सीमित समझ लेना समझ लेनेवालों की समझ की बलिहारी है—वह निरवधि है। सहारनपुरी गन्ने के रस को ही रसराज समझकर अन्य रसों से अपनी दृष्टि हटा लेना कहाँ तक उचित है? उनकी दृष्टि में इस रसात्मकता का सर्वाधिक माधुर्य वक्रोक्ति में है ठीक वैसे ही जैसे गन्ने का सर्वाधिक साधुर्य सहारनपुरी गन्ने में होता है। वस्तुतः वक्रता काव्य का निरवधि व्यापक तत्व है।

व्यंग्यार्थनिरूपित चमत्कार के आधार पर ध्वनिवादियों द्वारा किए गए वर्गीकरण का खण्डन करते हुए वाजपेयी जी ने उपयोगी, अनुपयोगी और दुरुपयोगी के आधार पर जो वर्गीकरण किया है वह साहित्यिक-सम्मत आधार पर नहीं है। साहित्य केवल "सौंदर्य" जानता है। यों साहित्य की चरितार्थता सामाजिकों के ही बीच है, अतः अनौचित्य का संस्पर्श स्वयम् विगलित हो जाता है।

काव्यवादों में वाजपेयी जी केवल तीन वादों को महत्व देते हैं—ध्वनिवाद, अनु-मितिवाद तथा वक्रोक्तिवाद। रस कोई वाद नहीं है—वह तो निर्भ्रान्ति एवम् सर्वसम्मत तत्व है। अनुमितिवाद के प्रति सम्मान भाव होने पर भी वाजपेयी जी "प्रतीयमान" अर्थ का अपलाप नहीं करते। वक्रोक्तिवाद का आख्यान करते हुए उन्होंने बताया है कि कुन्तक "स्वभाव" में चमत्कार नहीं मानते। लेकिन स्वयम् कुन्तक ने "स्वभाव" की बड़ी महिमा गाई है। उन्होंने कहा है—"स्वभावस्यैवांजस्येन निरूपणं वक्रतायाः परं रहस्यम्"—स्वभाव का सहज निरूपण ही वक्रता का सर्वस्व है। ऐसा स्वीकार करने-वाले कुन्तक के मन में स्पष्ट ही "स्वभाव" के प्रति अत्यन्त आस्था या झुकाव प्रतीत होता है।

वाजपेयी जी का अडिग आत्मविश्वास उनकी अन्य स्थापनाओं, मान्यताओं और प्रतिवादों में मिलता है। आलंकारिकों का गड्डरिका प्रवाह, नूतन अलंकार की उद्भावना, कविसमय की अद्भुत बौद्धिक संगति इस संकलित पुस्तिका के ऐसे स्थल हैं—जिनमें वाजपेयी जी की सूझबूझ की दाद देनी पड़ती है।

इन विवेचनाओं के आलोक में आचार्य वाजपेयी का जो स्वरूप उभरता है—वह निस्संदेह अभिवंदनीय है। अभिनंदन के इस महायाग में इन्हीं शब्दों द्वारा मैं भी अपनी पुष्पांजलि समर्पित करता हूँ।



व्याकरण का काव्य बनाम काव्य का व्याकरण

डा० रमेश कुंतल मेघ

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

गुरु नानक विश्वविद्यालय, अमृतसर

संस्कृत के पंडित किशोरीदास वाजपेयी मूलतः शब्दशास्त्र और शब्दार्थ-दर्शन के विचारक हैं। व्याकरण को सामाजिक व्यवहार तथा करणीय अभ्यासों से संबद्ध करने में भी उनकी पहल हमारा ध्यान केन्द्रित करती है। तथापि साहित्यालोचन और काव्यशास्त्र के क्षेत्र में न तो उन्होंने इतनी रुचि दर्शाई और न ही समकालीन युगबोध उन्हें इस जोखिम में घसीटने को रज़ामंद हुआ। नतीजा यह हुआ कि वैयाकरण के आतंक से मंडित होते गये। साहित्य का संसार उनसे आत्मनिर्वासित-सा हो गया।

"**काव्य और काव्यशास्त्र**†" में उन्होंने 'भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न संप्रदायों और उनके पारस्परिक संबंधों पर सूत्रवत् शैली में' विचार किया है।

वे यह मानकर आगे चले हैं कि पहले काव्य बनता है; फिर काव्यशास्त्र। ऋग्वेद की रचना के साथ-साथ ही वे काव्य का उद्गम मानते हैं। क्रीड़ा-परायण आर्यदेवों की माईथोपोईमा को उन्होंने 'शोहदापन' कहा है तथा ऋषियों की ऋचा को संजीवनी वाणी। अतः देवों के विलास-काव्य बनाम ऋषियों के अग्निकाव्य के द्वंद्व के बीच ही सौंदर्योपासना तथा मंगलहेतु संघर्ष के सामाजिक हाशिये खुलते हैं। इसी के उपक्रम में भाषा के लाक्षणिक प्रयोग होते हैं, तथा भाषा पूर्ण होती है—'**वाक्य** बन जाता है।'"[1] वाक्य का कलात्मक प्रयोग ही '**काव्य**' कहलाता है।

उन्होंने 'कलात्मक' का तात्पर्य आनंददायक लिया है। काव्य में कला का आनंद रस कहलाता है। अतः 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।' सारांश : वाक्य का **रसमय** (सजा-सँवारा, प्रतीयमान अर्थयुक्त) **वर्णन** काव्य है।

रसमय वर्णन में शब्द में भी चमत्कार तथा अर्थ में भी चमत्कार होता है। अर्थात् —**चमत्कार** में (शोभा की अपेक्षा) **अलंकार** का सन्निवेश होता है। यहीं **वाच्यार्थ** बनाम प्रतीयमानार्थ (व्यंग्य) का बाइनरीविरोध खुलता है। इस तरह वाजपेयी जी दो धुरियाँ तय करते हैं—अपने ढंग से। रस-धुरी में **ध्वनि** है। यह शब्द में भी है (गुणीभूत व्यंग्य); तथा अर्थ में भी (अभिव्यंजना)। अलंकार-धुरी में चमत्कार है।

---

†जबलपुर विश्वविद्यालय में भारतीय काव्यशास्त्र के विविध पक्षों पर दिये गये तीन व्याख्यानों का संकलन। प्रकाशक, वहीं, फरवरी, १९७०।

१. वहीं, पृ० ३।

यह भी शब्द में है (शब्दालंकार) तथा अर्थ में (अर्थालंकार)। अंततः वे कलात्मक प्रयोग और चमत्कारपूर्ण प्रयोग को एक समान बना ही देते हैं।[२]

शब्द से वाक्य से काव्य तक के इस व्यापार में वे अर्थालंकार वाले काव्य को **अधम**, शब्दालंकार वाले काव्य को **अधमाधम**, शब्द-ध्वनि वाले काव्य को **मध्यम**; तथा अर्थ-ध्वनि वाले काव्य को **उत्तम** की कोटि में रखकर परंपरा की सिद्धि ही करते हैं। एक मानदंड बनता है, वाक्यवीज का। शब्द और अर्थ तक के मानकों में **चमत्कार** है; प्रतीयमान (ध्वनि, या अनुमेय, या व्यंग्य) अर्थ के मानक में **रस** है।

इसके उपरांत वे प्रयाण करते हैं। वे इस शास्त्रदीक्षा से असहमत हैं कि अगर वाच्यार्थ में (व्यंग्यार्थ के मुकाबले) चमत्कार अधिक हो जाए तो भी उसका दर्जा गिरा रहेगा।[३] उनका अभिप्राय यह है कि यदि शब्दक्षेत्र में ही ज्यादा चमत्कार हो तो वह अर्थक्षेत्र के चमत्कार (ध्वनि) के बराबर का या श्रेष्ठतर भी हो सकता है। ज़ाहिर है कि उनका **वैयाकरण** प्रतीयमान अर्थाभिव्यंजनाओं के बजाय वाक्यकेंद्रित (व्याकरण-धर्मा) **अलंकारशास्त्री** बनकर ही 'रसात्मक वाक्य' अथवा 'चमत्कारिकार्थ-प्रतिपादक शब्द' को वर्चस्व देता है। यह उनके वैयाकरण का अलंकारशास्त्री में लीन होने का अनूठा उद्‌घाटन है। इसीलिये मुड़कर वे काव्य का श्रेणी-विभाजन **उपयोगिता** के आधार पर करते हैं। **आस्वाद** के साथ **शक्ति** देनेवाला काव्य उत्तम है; आस्वाद में उत्कृष्ट होने के साथ अनुपयोगी होने पर भी (किन्तु विकाररहित होने पर) वह उत्तम काव्य होगा (सूर का वात्सल्य-वर्णन)। किन्तु वे छायावादी तथा रहस्यवादी काव्य को मध्यमश्रेणी का मानते हैं क्योंकि उनमें **शक्ति** नहीं है।[४]

× × ×

वैयाकरण तथा आलंकारिक के धर्मों से संस्कारित पंडित किशोरीदास वाजपेयी ने अनेक काव्यशास्त्रियों पर भी अपने अभिमत दिये हैं जो उनकी शास्त्रदृष्टि को अधिक स्पष्ट करते हैं।

असुर-कवि शुक्र की 'संजीवनी विद्या' को वे वाणी का ही वह रूप मानते हैं जो रसमयी कविता है अर्थात् जो निरंतर (असुर जाति के) सहृदयों को **शक्ति** देती रहती है। वे 'रस' और 'शक्ति' का विलक्षण संबंध ही स्थापित नहीं करते बल्कि उनका चमत्कार-पूर्ण परिपाक करते हैं। शक्ति को वे **अग्नि** (के लाक्षणिक प्रयोग) से भी संलग्न करते हैं।[५]

शब्द-चमत्कार तथा अर्थ-चमत्कार के द्वैत और ऐक्य को क़ायम करने के साथ ही वे शब्द-धुरी को ही प्राथमिकता और प्रमुखता देते हुए प्रतीत होते हैं। महिम भट्ट की भी सहायता लेते हैं। महिम भट्ट की तरह मानो वे भी मानते हैं कि शब्द की शक्ति

---

२. वही; पृ० ४, ७।
३. वही, पृ० ६।
४. वही, पृ० १५।
५. वही, पृ० २–३।

तो एक ही है--अभिधा ! ! यही शब्दार्थज्ञान संबंधी शक्ति है। शेष तथाकथित शक्तियाँ तो अनुमापक-हेतु हैं। अतः 'अनुमेय' अर्थ भी शब्दविशेष में रहता है :—यह (अभि-) व्यक्ति का विवेक है। "व्यक्ति-विवेक' का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश काव्य-दोषों का विवेचन है। बड़ी विद्वत्ता तथा काव्यमर्मज्ञता इस प्रकरण में प्रकट हुई है। यहीं से 'काव्यदोष' का प्रकरण आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में और विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' में लिया है; परन्तु वह गंभीर विश्लेषण नहीं; और यह भी किसी ने नहीं लिखा कि यह अंश कहाँ से लिया है[६]।"

ज़ाहिर है कि इस ज़मीन पर वे आनंदवर्धन की अवहेलना करते। यह किया भी कि; 'आनंदवर्धनाचार्य जी दूसरे ही रूप में प्रकट हुए ! उन्होंने 'ध्वनि' के अस्सी प्रतिशत भेदों के उदाहरण ऐसे 'श्रृंगार रस' से सराबोर दिये हैं जिनका प्रभाव समाज पर बहुत बुरा पड़ सकता है—पड़ा भी।"[७]

व्याकरण–अलंकार दर्शन के इस सूत्रबंध में महिम भट्ट के साथ उन्होंने (अलंकार के **चमत्कार** के सहवर्तन में) कुंतक के (वक्रोक्ति के) **वैचित्र्य** को बहुत महत्व दिया है।[८] उन्होंने महापात्र विश्वनाथ की इस बात पर भर्त्सना भी की है कि कुंतक के 'वक्रोक्ति-जीवितम्' को बिना देखे ही उन्होंने वक्रोक्ति को एक साधारण अलंकार समझ लिया। बस ! अब वे स्पष्ट करते हैं कि वक्रोक्ति का अर्थ है—'बाँकपन से कही हुई बात'। तभी उसमें रस आता है। अतः रस का आधार (वाक्याश्रित) वक्रोक्ति है। "बड़ी खूबी से आचार्य कुंतक ने इस नई धारा का सोदाहरण प्रतिपादन किया है और यत्र-तत्र काव्य का ऐसा विवेचन किया है, जो अन्यत्र प्राप्त नहीं। महाकवि कालिदास के कुछ पद्यों की जो विवेचना की है कुंतक ने, वह उनकी अपनी चीज हैं। वैसा विवेचन न 'ध्वन्यालोक' में कहीं है ; न 'काव्यप्रकाश' में, न 'साहित्यदर्पण' में और न 'रसगंगाधर' में ही। 'वक्रोक्तिजीवितम्' काव्यशास्त्र का अनुपम ग्रंथ है।"[९] वाजपेयी जी ने स्वभावोक्ति में भी 'बाँकपन' स्वीकार किया है।[१०]

व्याकरणशास्त्र-अलंकारशास्त्र की इस तार्किक मैत्री का परिणाम कुंतक को सर्वोपरि पद देने में हुआ। यह भी हुआ कि **शब्द-केन्द्र** का समकालीन (उर्फ़ चमत्कारपूर्ण)

---

६. वही, पृ० २२।
७. वही, पृ० १६।
८. 'यद्यपि उनका यह सूत्र बहुत व्यापक है 'वैचित्र्य ही चमत्कार है और चमत्कार में ही वह रस है जो काव्य की आत्मा है'।—पृ० ८।
९. वही, पृ० ११। आगे भी : 'बाँकपन से किसी चीज को कहना ही शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा ध्वनि है। वक्रोक्ति के ही भेद- प्रभेद सब अलंकार और ध्वनि-भेद हैं।'—पृ० २१।
१०. वही, पृ० २५।

विस्फार **चित्रकाव्य** में हुआ जिसे वे आधुनिक 'बिंब' की धारणा के बेहद नज़दीक ले आये और आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भावधुरी से बिल्कुल पृथक् तथा स्वतंत्र भी रहे।[११]

× ×

एक तार्किक तथा वैयाकरण के नाते पंडित किशोरीदास वाजपेयी ने अनेक प्रकार की **शब्द-क्रीड़ाएँ** भी की हैं, कुछ मिथकों की पुनर्व्याख्याएँ की हैं तथा कवि-समयों के काव्यात्मक सत्यों की जाँच की है।

प्रमदा द्वारा अशोक वृक्ष पर पाद प्रहार से उसके कुसुमित हो उठने, या मुख में भरे मद्य का कुल्ला कर देने पर बकुल के खिल उठने, या कमलकोरकों में भ्रमर के बंदी हो जाने से संबंधित कवि समयों के भौतिक सत्यों की छानबीन भी उन्होंने की। कहा कि संभवतः 'अशोक' नाम के या 'बकुल' नाम के शोहदे को किसी भावती चुड़ैल ने लात मार दी होगी, या मद्यवसित थूक से लंछित कर दिया होगा। प्रकारान्तर से वे व्यक्ति वृक्ष-विशेष समझ लिये गये होंगे। इस तरह (उनके अनुसार) ये प्रकृति विरुद्ध बातें काव्य को बट्टा लगाती हैं।[१२] सारांश है कि वे **रूढ़ि** का तिरस्कार करके सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण के यथार्थ को ही स्वीकार कराना चाहते थे, भले ही इससे काव्य के प्रतीकार्थों या रूपकार्थों की हानि हो जाए। स्वयं भी संध्या समय कमलों के संपुटित होने तथा भ्रमरों के बंदी होने की व्याख्या में नेत्रों (कमल) के बंद होने पर पुतलियों (भ्रमर) के भीतर बंदी हो जाने से करके भी वे कवि समयों की लाक्षणिकता को नहीं, वाच्यता को ही कसौटी बनाने के हिमायती हैं।

शब्द-क्रीड़ा के ये उपक्रम केवल वाच्य तथा लक्ष्य के बीच ही नहीं होते, इनका प्रसार बहुत गूढ़ है। वे 'शकुन्तला' का उद्‌गम शकुनिला (चिड़ियों को लानेवाली में) खोजते हैं, या 'सु-कुन्तला' में। इसी तरह सीता की 'अग्नि-परीक्षा' वस्तुतः भीषण परिस्थिति में अपने धर्म की पूर्णतः रक्षा (अग्नि-परीक्षा) में उत्तीर्ण होना है। राम द्वारा दक्षिण में शिवलिंग की पूजा ने द्राविड़ों और आर्यों के बीच 'सेतु' बनाया; किन्तु इसका वाच्यार्थ भौतिक सेतुबंध मान लिया गया। इसी तरह 'कुशीलवौ' (दृश्य काव्य का अभिनय समेत गायन करनेवाले कलाकार) भी प्रकारांतर से 'कुशलवौ' हो गये।[१३] वे एक वैयाकरण के नाते इन अ-नयों का भी उद्‌घाटन करते हैं किन्तु इन्हें 'भ्रम' का दर्जा ही देते हैं; सजग तथा सरस कविकर्म का नहीं। वे तर्क के सामने कवि-कल्पना को अविवेकपूर्ण जैसा ही सुझाते हैं।

अंततः इस भाषा-प्रकरण में मिथकों की व्याख्याएँ आती हैं। यहाँ भी वे शब्द-केन्द्र पर व्युत्पत्तिपरक या ध्वन्यर्थमूलक अर्थों (भ्रमों, रूढ़ियों) की ओर इशारा करते हैं।

सब कुछ सह लेनेवाली (सर्वसहा) पृथ्वी के 'सर्वसहत्व' गुण के कारण सीता को **'पृथ्वी की पुत्री'** कहा गया किन्तु वे शिकायत करते हैं कि लक्ष्यार्थ विलुप्त हो गया और

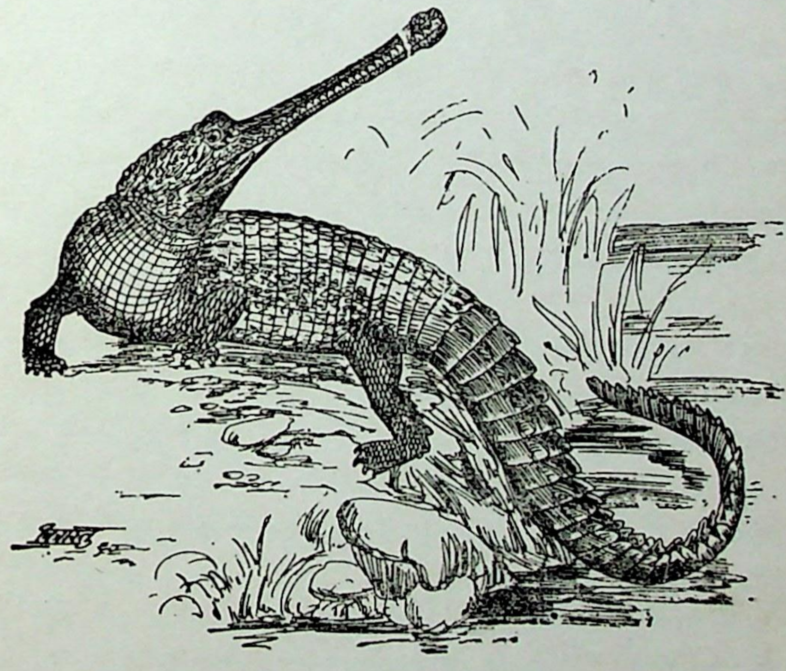
---

११. वही, पृ० १०, ६.।
१२. वही, पृ० ३१.।
१३. वही, पृ० ३६.।

'लोगों ने समझ लिया कि पृथ्वी से ही सीता जी का जन्म हुआ था। फिर इसकी पुष्टि में कथाएँ लिखी गईं।'[१४] वस्तुतः मिथकीय प्रक्रिया का एक रहस्य यह भी है कि रूपक के दो उपकरणों में उलट पुलट हो जाती है। शक्तिशालिता और तेजस्विता के लिये पवन तथा इन्द्र (के मिथक) प्रसिद्ध हैं। अतः 'पवनपुत्र' के रूप में हनुमान और भीम, तथा अर्जुन के लक्ष्यार्थ उभरे। किन्तु जब मिथकों में (अर्जुन) कुंतीपुत्र हो गये तो नैतिक संकट उभरा। वस्तुतः वाजपेयी जी मिथकों को लक्ष्यार्थ तक विश्लेषित करना चाहते हैं। किन्तु प्राक्तार्किक अवस्था वाली मिथकों की विश्लेषणा से—विशेषतः वैयाकरण के व्युत्पत्तिपरक विश्लेषणों से—तो मिथकों की हत्या हो जाती है।

\+ + +

वैयाकरण पंडित किशोरीदास वाजपेयी शब्द-केन्द्र के महारथी हैं :—शब्दार्थ-चमत्कार, अलंकार, वक्रोक्ति, लक्ष्यार्थ आदि पर आग्रह उसी गति के पड़ाव हैं। वे व्याकरणशास्त्र से काव्यशास्त्र की ओर अनुगमन करते समय भी निरंतर इस सत्य के प्रति सजग हैं कि 'काव्यार्थ' की समझ से परे (कल्पना, कवि-समय, रूढ़ि, मिथक आदि के द्वारा) जाने पर विवेक भटक जाता है; तथा **अनर्थ** भी फैल जाता है। तथापि शब्द-क्रोड़ पर उनका आग्रह काव्य-भाषा की न्यूनतम इकाई —'वाक्य'—के रूपान्तरण के काव्यधर्मी व्याकरणशास्त्र का अनुसंधान करता है।



---

१४. वही, पृ० ३३.

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी : सर्जक दृष्टि

डा० प्रेमशंकर

आचार्य तथा अध्यक्ष हिन्दी विभाग

सागर विश्वविद्यालय

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी पुरानी पीढ़ी के उन आचार्यों में हैं जिन्होंने साहित्य की सहज साधना की, उसे अपना व्यापार नहीं बनाया। उनकी साहित्यिक सक्रियता द्विवेदी युग से जुड़ी हुई है पर आज भी वे हम सबके आदरणीय हैं। प्रायः उन्हें भाषा-अध्ययन की सीमाओं में केन्द्रित कर दिया जाता है। निश्चय ही लगभग बीस वर्ष पूर्व काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित आचार्य जी का ग्रंथ 'शब्दानुशासन' इस विषय का प्रामाणिक अध्ययन है। यहाँ हम उन्हें मात्र वैयाकरण की स्थिति में नहीं पाते। उनका प्रयत्न है कि हिन्दी को उसकी ऐतिहासिक विकासयात्रा के क्रम में देखा जाय—संस्कृत, प्राकृत आदि को सामने रखकर। पर आचार्य जी व्याकरण को भाषा की सर्जनशीलता से जोड़कर देखते हैं और यहीं उनकी मौलिक विवेचन-क्षमता उजागर होती है। वे मानते हैं कि 'पहले भाषा बनती है, तब उसका व्याकरण बनता है।' यदि सर्जनशीलता में भाषा की कोई सार्थक भूमिका न होती, तो भाषा अपना गौरव ही खो देती। आचार्य वाजपेयी के सोच-विचार का महत्वपूर्ण प्रदेय मेरी समझ में यह है कि वे भाषा को उसकी सर्जनशीलता, क्षमताओं के सन्दर्भ में देखना चाहते हैं। वे नियमों के पक्षधर हैं और उसकी अवहेलना होते देखकर, अराजक स्थिति पर तीव्र प्रहार करते हैं; यहाँ तक कि कई बार बहुत परुष भी हो जाते हैं। पर इस आक्रोश के मूल में एक सात्विक सदाशयता मौजूद है कि रचना गुमराह न हो। हिन्दी व्याकरण को आधुनिक युग में श्री कामता-प्रसाद गुरु तथा आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने एक नई दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया और आज जब हिन्दी का जगत् निरन्तर विस्तार पा रहा है, हम उनके विचारों का सही उपयोग कर सकते हैं।

आचार्य वाजपेयी व्याकरण की महत्त्वपूर्ण स्थिति स्वीकारते हुए रचनाशीलता की स्वायत्तता को नकारना नहीं चाहते और वे प्रयोग-परम्परा को स्वीकृति देते हैं। वास्तव में भाषा-व्याकरण और साहित्य-रचना की अन्योन्याश्रित स्थिति को मानते हुए वे अपनी साहित्य दृष्टि निर्मल करते हैं। 'हिन्दी शब्दानुशासन' में व्याकरण, भाषा-विज्ञान के साथ उनकी साहित्य-दृष्टि भी व्यक्त हुई है। वे लिखते हैं : 'जब कोई भाषा विकसित होकर पूर्ण हो जाती है, जब वह अपने काम-काज में किसी दूसरी भाषा की मुहताज नहीं रहती और उसमें साहित्य-रचना भी होने लगती है, तब उसका व्याकरण बनता है, तब उसके अंग-प्रत्यंग का विश्लेषण-निरूपण किया जाता है। यही व्याकरण है। भाषा की चाल को व्याकरण बदल न देगा। यह उसकी शक्ति से बाहर की बात है।.... यदि कोई वैयाकरण अपने पाण्डित्य के दर्प से व्याकरण कुछ का कुछ बना देगा, तो भाषा

की प्रकृति उसकी अवज्ञा कर देगी—उसे मानेगी नहीं।' भाषा और सर्जनशीलता को साथ-साथ रखकर देखने में आचार्य जी ने हमारी अगुआई की है, जिस ओर प्रायः हम ध्यान नहीं देते। आज जब शैली विज्ञान तथा भाषा-संबंधी अन्य अध्ययनों की ओर विद्वान् अग्रसर हैं, आचार्य जी के प्रदेय को स्वीकारना चाहिए।

'साहित्यनिर्माण' में आचार्य वाजपेयी के कुछ लेख संकलित हैं जिनसे उनके वैविध्य का अनुमान किया जा सकता है। इसमें शास्त्रचर्चा है जिससे ज्ञात होता है कि आचार्य जी ने शास्त्रीय ग्रंथों का कितना गहरा अध्ययन किया है। यहीं वे साहित्य के विभिन्न पक्षों पर अपनी संक्षिप्त टिप्पणियाँ करते हैं और लगभग सभी रचना-विधाओं को लेकर चलते हैं। भाषाविज्ञान और व्याकरण उनके प्रिय विषय हैं, पर इसी के साथ वे दर्शन, अर्थशास्त्र आदि की भी चर्चा करते हैं। संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित होकर भी वे सामयिक संदर्भों के प्रति सजग दृष्टि रखते हैं और राजनीतिक विषयों पर टिप्पणी करते हैं। आचार्य जी की साहित्य-दृष्टि अपने समय और समाज की सीमाओं में रखकर देखी जानी चाहिए। इसीलिए 'काव्य में रहस्यवाद' नामक उनका लेख बहुत आक्रोशी और नकारात्मक प्रतीत हो सकता है, पर जब इसके मूल में विद्यमान लेखक की सामाजिक चेतना को देखते हैं, तो हमें पुनर्विचार के लिए बाध्य होना पड़ता है। वे मध्यकालीन रहस्यवाद का विरोध इसलिए करते हैं क्योंकि उनकी मान्यता है कि 'लोग' कामासक्त होकर निस्तेज हो गए थे। और इसी क्रम में वे आधुनिक रहस्यवाद को भी स्वीकृति नहीं दे पाते।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी 'शब्द को संसार की बड़ी चीज' मानते हैं और उसके लिए 'शब्दात्मक ज्योति' का उपयोग करते हैं। शब्दों की सही समझ, उसका सार्थक प्रयोग रचनाशीलता के विकास के लिए आवश्यक है। शब्द के 'सुप्रयोग' पर आचार्य जी का आग्रह है और वे धड़ल्ले से बनाए गए छन्दों के गढ़नेवालों को 'घसीटू कवि' कहकर फब्ती कसते हैं। शब्द के मर्म की जानकारी और उसका सर्जनात्मक उपयोग, वह बिन्दु है जो आचार्य जी को साधारण वैयाकरणों से अलगाता है और यहीं उनकी सर्जनशील दृष्टि को सराहना पड़ता है। वे वक्रोतिवाद को ध्वनिवाद से कम महत्त्व नहीं देते और रचना में 'सामंजस्य' का आग्रह करते हैं। आचार्य जी की साहित्यिक दृष्टि में सिद्धांतों के साथ व्यावहारिक समीक्षा की मैत्री है और वे अपने तर्क को पुष्ट करते हुए प्रमाण देते हैं। यदि सावधान न रहा जाय तो कई बार अनजाने ही आचार्य जी अपने भावों में हमें बहा ले जाते हैं, विशेषतया जब वे अपने समय की रचनाशीलता के प्रति अपना असंतोष व्यक्त करते हैं। ऐसे अवसरों पर परम्परा और शास्त्र से प्राप्त ज्ञान उन्हें वह गहरा आत्मविश्वास देता है कि कई बार वे आधुनिक प्रवाह के विरुद्ध खड़े होकर अपना मत व्यक्त करना चाहते हैं—लगभग चुनौती देते हुए।

आचार्य वाजपेयी जब शब्द-प्रयोग, सामंजस्य, औचित्य आदि का आग्रह करते हैं तब उनके समक्ष रचना की कुछ ऊँचाइयाँ बराबर मौजूद रहती हैं—वे उनके प्रतिमान हैं—एक प्रकार से। वे कहते हैं कि 'अनौचित्य प्रवेश रस-भंग है, और कवि अपने युग

का प्रतिनिधि होता है, ऐतिहासिक पात्रों में भी अपने युग को प्रतिबिम्बित करेगा।' पर तुलसी के प्रशंसक होते हुए भी अपनी औचित्य-सम्बन्धी मान्यता को प्रमाणित करने के लिए वे इसी महान् कवि की पंक्तियों पर आक्षेप करते हैं। 'कबितावली' का छंद 'विन्ध्य के वासी, उदासी, तपोव्रतधारी महा बिनु नारी दुखारे' के विषय में कहते हैं कि यदि इस प्रकार का हास, परिहास जनकपुर में होता तो प्रासंगिक हो सकता था, वनस्थली में यह उचित नहीं है। आचार्य जी की अपनी रुचि की रचनाओं से जितनी गहरी संलग्नता है उसका प्रमाण इसी से मिल जाता है कि वे वाल्मीकि, कालिदास, अथवा तुलसी की पंक्तियों का रससिद्ध विवेचन करते हैं। पर आचार्य जी के पास एक सजग विवेकी दृष्टि है और वे महान् से महान् कवि की न्यूनताएँ दिखाने में संकोच नहीं करते। 'रघुवंश' में परित्यक्त सीता का प्रसंग, कुन्तक की टिप्पणी और उसपर आचार्य जी का विवेचन विचारणीय है—उनकी सूक्ष्म विवेचन-क्षमता को समझ के लिए।

परम्परा और शास्त्र का आग्रह करने के अपने संकट हैं—सामाजिक संदर्भों से कट जाना। समय की दौड़ में आचार्य जी बहुत तेज नहीं भाग पाते—कई बार उनका पाण्डित्यभरा आत्मविश्वास उन्हें आत्मस्थ कर देता है। पर उनकी साहित्य में सामाजिकता का आग्रह करनेवाली दृष्टि बराबर सजग है। वे काव्य के किसी भी रूप में दुरुपयोग का विरोध करते हैं और वज्रयानी सम्प्रदाय की दुराचारी वृत्तियों का बोध करानेवाले वाममार्ग की भर्त्सना करते हैं। हिन्दी-साहित्य—विशेषतया काव्य के इतिवृत्त पर दृष्टि दौड़ाते हुए वे राष्ट्रीय भावना से परिचालित हैं और टिप्पणी करते हैं कि वाममार्गी प्रवृत्तियों के कारण मध्यकाल में भारतीय समाज पराजित हुआ। वे लिखते हैं कि 'वामाचार का ऐसा कुप्रभाव पड़ा कि सम्पूर्ण राष्ट्र सड़ गया।' पर जब आचार्य जी भक्तिकाव्य को भी शृंगारकाव्य के अन्तर्गत रखना चाहते हैं तब उनसे सहमत हो पाना संभव नहीं दिखाई देता।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने द्विवेदी युग के साथ अधिक संलग्न यात्रा की पर वे अन्य रचनाओं से भी साक्षात्कार करते रहे। 'साहित्यनिर्माण' में उन्होंने लगभग सभी विधाओं पर दिलचस्प टिप्पणियाँ की हैं, मसलन् कहानी पर : 'कहानियों की हिन्दी में बाढ़ है। धूल-धक्कड़ ही नहीं, अमेध्य और अपवित्र चीजें ऊपर उतरा रही हैं। वेग इतना है कि बड़े-बड़े हाथी बहे जा रहे हैं। तट-वृक्ष उखड़ रहे हैं। रस अपेय हो गया है। और तो और, रसैकजीवन मन-मीन भी गन्दगी से घबरा उठे हैं। हाँ, मेढक और बगले मजे में हैं। समय पर जब बाढ़ समाप्त होगी, गन्दगी दूर हो जायगी, तब निर्मल रस मिलेगा।' आचार्य जी हमें बहुत निर्मम लग सकते हैं, पर वे साहित्य के सामाजिक दायित्व को गम्भीरता से लेते हैं और इसमें हम कई बार उनसे पूर्ण सहमत न होकर भी, उनकी सदाशयता से इन्कार नहीं कर सकते। आचार्य जी अपने आदर्शों को लेकर चले, अपने प्रिय मूल्यों के लिए कई बार अकेले ही लड़े—उन्होंने देखा कि साहित्य के कुरुक्षेत्र में वे एकाकी ही हैं। पर उनकी प्रतिबद्धताएँ जो निश्चय ही साहित्यिक प्रतिबद्धताएँ हैं, उन्हें इतनी दूर ले आई हैं और उनकी निष्ठा नई पीढ़ी को भी अपना प्रणाम निवेदित करने के लिए बाध्य करती है।

—०—

हिन्दी व्याकरण को पं० किशोरीदास वाजपेयी की देन

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा

अध्यक्ष, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी

(भूतपूर्व कुलपति, पटना विश्वविद्यालय)

हिन्दी व्याकरण के क्षेत्र में पं० किशोरीदास वाजपेयी नवीन चेतना के अग्रदूत बनकर आये। वे इस बात की घोषणा करनेवाले प्रथम वैयाकरण हैं कि हिन्दी एक स्वतंत्र भाषा है, वह संस्कृत से अनुप्राणित अवश्य है, जैसे अन्य भारतीय भाषाएँ परन्तु वह अपने क्षेत्र में सार्वभौम सत्ता रखती है। यहाँ उसके अपने नियम कानून लागू होते हैं। संस्कृत का सब कुछ आँख बन्द करके हिन्दी न ले लेगी। उसमें संस्कृत या अन्य भाषाओं में आनेवाले शब्द उसकी अपनी प्रजा है। उन पर वह अपने नियमों से शासन करेगी।[1]

किसी अन्य भाषा के व्याकरण का हठात् शासन या अपने ऊपर उसके नियमों का आरोपित किया जाना उसे सह्य नहीं, चाहे वह संस्कृत या लैटिन का ही व्याकरण क्यों न हो। हिन्दी ही नहीं, सभी भाषाओं की अपनी प्रकृति होती है। उसे कोई व्याकरण क्या, महाव्याकरण भी नहीं बदल सकता।[2] परन्तु हाँ, व्याकरण भाषा का नियमन तब अवश्य कर सकता है, जबकि उसके पास अनुकूल तर्क हो और वह तर्क भाषा की प्रकृति के विरुद्ध न हो। 'प्रमाणवत्त्वादायातः प्रवाहः केन वार्यते' ?

वाजपेयी जी के उपर्युक्त विचार चाहे नये न, हों पर पूर्ववर्ती वैयाकरणों में से किसी ने भी उन्हें अपने व्याकरण में पूर्णतः चरितार्थ करने की प्रवृत्ति नहीं दिखालायी थी। यहाँ तक कि गुरु जी जैसे गम्भीर वैयाकरण ने भी हिन्दी व्याकरण को अंग्रेजी और संस्कृत व्याकरण के शासन से मुक्त करने का अपेक्षित प्रयास नहीं किया। इस दृष्टि से हिन्दी को हिन्दी का प्रथम विशुद्ध व्याकरण देने का श्रेय वाजपेयी जी को ही है।

यों तो हिन्दी व्याकरणों में प्रचलित दोषों के निराकरण का प्रयास वे सन् १९२४–२५ से ही करते आ रहे थे, पर इस दिशा में स्वतंत्र ग्रंथ-रचना का प्रथम प्रयास उन्होंने १९४३ ई० में किया, जिस वर्ष उनका 'ब्रजभाषा का व्याकरण' हिमालय एजेन्सी, कनखल से प्रकाशित हुआ। उसकी भूमिका में उन्होंने खड़ी हिन्दी के रूप एवं प्रकृति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण मौलिक सूचनाएँ दीं जिनसे प्रचलित व्याकरणों के अनेक दोषों पर पहली बार प्रकाश पड़ा। उसमें अन्य अनेक बातों के अतिरिक्त पं० कामता प्रसाद गुरु द्वारा दी

१. हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० ५६–५७।
२. वही, पृ० ६२।

गयी कारक की परिभाषा का भी उन्होंने खण्डन किया और संस्कृत वैयाकरणों की परिभाषा का समर्थन करते हुए लिखा कि क्रिया के साथ जिसका सम्बन्ध हो, उसे कारक कहते हैं।[1] इसी आधार पर उन्होंने सम्बध और सम्बोधन को कारक की कोटि से अलग करते हुए हिन्दी में केवल छह कारक माने।

'विभक्ति सटाकर' या हटाकर के प्रश्न पर उनका निर्णय था कि 'हिन्दी में दोनों विकल्प हैं, चाहे जैसे लिखो। परन्तु सटाकर लिखने की अपेक्षा हटाकर लिखने में सुविधा अधिक है'।[2]

हिन्दी क्रियाओं के वाच्य के सम्बन्ध में हिन्दी व्याकरणों में प्रचलित भ्रम का उसमें उन्होंने विस्तार से निराकरण किया। इस विषय में गुरु जी की भ्रांति का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा 'ऐसा जान पड़ता है कि गुरु जी हिन्दी के स्वरूप को ठीक-ठीक समझे बिना ही इसका व्याकरण लिखने बैठ गये और इसीलिए रग पर नश्तर लग गया। बात यह है कि उन्होंने हिन्दी का व्याकरण बनाने में संस्कृत, अंगरेजी तथा मराठी आदि के व्याकरणों पर ध्यान रखा : हिन्दी के स्वरूप पर नहीं, इसीलिए ऐसी भयंकर गलतियाँ हो गयी हैं। संस्कृत भाषा में अकर्मक क्रियाओं के कर्तृवाच्य तथा भाववाच्य में प्रयोग होते हैं। सकर्मकों के कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य में होते हैं। अकर्मक क्रिया में कर्म होता ही नहीं, इसलिए उनका कर्मवाच्य प्रयोग कहाँ से हो? सकर्मक क्रिया का वहाँ भाववाच्य प्रयोग नहीं होता। यह था तो संस्कृत भाषा के विषय में : पर गुरु जी ने शायद संसार भर की भाषाओं के बारे में उसे समझ लिया इसीलिए, हिन्दी भाषा के व्याकरण में भी उसे लिख दिया।'[3]

इसी संदर्भ में डा० बाबूराम सक्सेना की भूल की ओर इंगित करते हुए उन्होंने लिखा "डा० बाबूराम सक्सेना ने अपने भाषाविज्ञान में हिन्दी के वर्त्तमान स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि 'क्रिया में कर्मवाच्य के अलग रूप बिल्कुल गायब हो गये हैं और 'जाना' सहायक क्रिया से उसका काम चला लिया जाता है।' स्पष्ट है कि 'राम ने पुस्तक पढ़ी' इत्यादि भूतकाल की कर्मवाच्य क्रियाओं को डा० सक्सेना ने कर्तृवाच्य समझ रखा है, जैसा कि प्रचलित हिन्दी व्याकरणों में पढ़ा था। उन्होंने इसका कर्मवाच्य में यह रूप भी पढ़ा था—'राम से पुस्तक पढ़ी गयी'। इस विकृत वाक्य को कर्मवाच्य और उस कर्मवाच्य को कर्तृवाच्य समझ लेने का परिणाम यह हुआ कि 'भाषाविज्ञान' जैसे ग्रंथ में उन्होंने लिख दिया—'क्रिया के कर्मवाच्य के रूप बिल्कुल गायब हो गये हैं'। सो यह सब हिन्दी में प्रचलित व्याकरण पुस्तकों का प्रभाव है, जिनके पढ़ने से देश के करोड़ों छात्रों का करोड़ों घंटे प्रति दिन समय नष्ट होता है और करोड़ों रुपये पुस्तक खरीदने में व्यर्थ जाते हैं।"[4]

---

१. ब्रजभाषा का व्याकरण, भूमिका पृ० ३३।
२. ब्रजभाषा का व्याकरण, पृ० ४१।
३. वही, भूमिका, पृ० ५४–५५।
४. वही, पृ० ६०–६१।

इसी प्रकार 'प्रेरणा तथा कर्म-कर्तृ प्रयोग[1], विशेषण तथा उसके भेद[2], क्रिया-विशेषण[3], आदि अन्य अनेक विषयों के सम्बन्ध में प्रचलित व्याकरणों की भ्रान्तियों का निराकरण उन्होंने अपने उपर्युक्त ग्रंथ की भूमिका में किया।

वाजपेयी जी की दूसरी पुस्तक 'अच्छी हिन्दी का नमूना' का प्रकाशन १९४८ ई० में जनवाणी, कलकत्ता से हुआ। उसकी रचना रामचन्द्र वर्मा जी की 'अच्छी हिन्दी' के दोषों की ओर संकेत करने के उद्देश्य से हुई थी। उक्त ग्रंथ के द्वारा शब्द-प्रयोग तथा व्याकरण सम्बन्धी अनेक भ्रांत धारणाओं का निरसन हुआ। उनमें मुख्य रूप से भाषा-सम्बन्धी अशुद्धियों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और संशोधन, हिन्दी के व्याकरण और कोष, अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति, भाषा का इतिहास, वाक्य-विन्यास, मुहावरों के सही स्वरूप तथा विराम चिह्नों के प्रयोग पर महत्वपूर्ण मौलिक चिन्तन उपस्थित किया गया।

उनका 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' १९४९ ई० में जनवाणी कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। उनके मतानुसार यह हिन्दी का पहला निर्दोष व्याकरण है। उनकी इस मान्यता को चाहे हम स्वीकार न भी करें, फिर भी इतना स्वीकार करना ही होगा कि इसमें उन्होंने पूर्ववर्ती वैयाकरणों के अनेक दोषों का पहली बार समुचित परिमार्जन किया, जिससे हिन्दी का प्रकृत स्वरूप अधिक शुद्धता एवं स्पष्टता से लोगों के सामने आया।

१९४९ ई० में ही वाजपेयी जी का एक अन्य ग्रंथ हिन्दी निरुक्त आया जिसमें निरुक्त की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उन्होंने हिन्दी के अनेक शब्दों के विकास क्रम को स्पष्ट करने का प्रयास किया। ग्रंथ के विषय पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा "निरुक्तशास्त्र में भाषा के विकास पर विचार किया जाता है। जीवित या प्रचलित भाषा में परिवर्तन हुआ करता है। देश, काल तथा पात्र के भेद से शब्दों के उच्चारण में अन्तर आया करता है; क्योंकि उच्चारण यंत्रों की भिन्नरूपता शब्दों की स्वरूप-भिन्नता में कारण है। हम लोग जिस सिक्के को पैसा कहते हैं, उसी को पंजाब में 'पैहा' कहते हैं। स्पष्ट है कि 'पैसा' से 'पैहा' भिन्न शब्द नहीं है, फिर भी भिन्न है, स्वरूप-भेद है। अँगरेजों के देश में जो प्रतिष्ठा-सूचक शब्द 'सर' है, वह हमारे 'श्री' शब्द का ही घिसा-घिसाया रूपान्तर हो तो क्या अचरज की बात है? वैसे सर हमारे यहाँ भी बहुत पहले से है, जो पंचों में 'सरपंच' से स्पष्ट है। वही 'सर' जर्मनी में जाकर 'हर' हो गया। हमारे देश का 'संत' ईरान में 'हंत' हो जाता है और हमारा 'सम' वहाँ हम बन जाता है। एक ही देश में और एक ही काल में भी एक ही भाषा के एक शब्द में अनेकरूपता हम देख सकते हैं।

संस्कृत का 'दश' हिन्दी में 'दस' बन गया और यही दस फिर 'दहाई' तथा 'दहले' में अपने स को 'ह' बनाये हुए है। काल-भेद से भी भाषा में इसी तरह परिवर्तन होता है। देश-काल तथा अन्य ऐसे ही कारणों से शब्द में जो परिवर्तन होता है, अर्थ में जो विकास होता है, उसी के विचार को 'निरुक्त' कहते हैं।"[4]

---

१. ब्रजभाषा का व्याकरण पृ० ६४–६६।
२. वही, पृ० ६८।
३. वही, पृ० ७०।
४. हिन्दी निरुक्त, पृ० १–३।

शब्द का परिवर्तन आगम, विपर्यय, विकार और लोप चार तरह से हो सकता है। सो, चार तरह का शब्द-परिवर्तन और पाँचवाँ अर्थ-परिवर्तन निरुक्तशास्त्र में विचारणीय हैं। इन सभी प्रकारों को एक-एक कर स्पष्ट करते हुए उन्होंने इस ग्रंथ में हिन्दी के अनेक शब्दों के विकासक्रम का सुन्दर परिचय दिया है। इसमें हिन्दी शब्दों के निर्वचन के प्रसंग में उन्होंने अनेक ऐसे तथ्यों का उद्घाटन किया है, जिनकी ओर पूर्ववर्ती विद्वानों का ध्यान नहीं गया था।

१९५८ ई० में वाजपेयी जी का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिन्दी शब्दानुशासन' प्रकाशित हुआ। उसकी भूमिका में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'वाजपेयी जी संस्कृत व्याकरण के सुपंडित हैं, पर संस्कृत के अधिकांश विद्वानों की भाँति हिन्दी को संस्कृत की पूर्ण अनुयायिनी मानने का आग्रह उनमें नहीं है। वे हिन्दी की प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षक हैं। इस पुस्तक में हिन्दी की इस प्रकृति का बड़ा अच्छा परिचय दिया है। सब लोग उसके निष्कर्षों से सहमत नहीं होंगे किन्तु उन्होंने निष्कर्षों तक पहुँचने की पूरी प्रक्रिया बता दी है और विचारशील पाठक को स्वयं सोचने समझने को स्वतंत्र छोड़ दिया है। ···· मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक से हिन्दी व्याकरण को एक नयी दिशा प्राप्त होगी। अभी तक जो व्याकरण लिखे गये हैं वे प्रयोग-निर्देश तक ही सीमित हैं। इस व्याकरण में पहली बार तत्व दर्शन का स्वरूप स्पष्ट हुआ है'।[1]

इस ग्रंथ में वाजपेयी जी ने अपने आपको हिन्दी-भाषा के बाग का माली बताया है, जिसका काम 'झाड़-झंखाड़ को उखाड़ कर बाग को मोहक बनाना है—

अनुशासन के मार्ग में, उचित उखाड़-पखाड़।
माली कैसे बाग में, सहै झाड़-झंखाड़?

इसमें सन्देह नहीं कि वाजपेयी जी ने हिन्दी-वाटिका को सजाने-सँवारने में एक निपुण माली का कार्य किया है। एक ओर उनके पांडित्यपूर्ण विवेचन की खाद पाकर जहाँ वाटिका की भूमि अधिक उर्वर बनी है वहाँ उनकी सूक्ष्मेक्षिका की कतरनी से अनेक झाड़-झंखाड़ उन्मूलित हुए हैं। इससे हिन्दी की बाटिका में जो निखार आया है उसके लिए हिन्दी संसार सदा उनका ऋणी रहेगा।

हिन्दी शब्दानुशासन के पश्चात् १९५९ ई० में 'भारतीय भाषा विज्ञान,' १९६८ ई० में 'हिन्दी की वर्तनी तथा शब्द-विश्लेषण' तथा तदुपरांत और भी कई ग्रंथ प्रकाश में आये हैं, जिनसे हिन्दी का स्वरूप दिनानुदिन स्वच्छ और स्पष्ट होता गया है। वाजपेयी जी ने एक साथ सूत्रकार और भाष्यकार दोनों की भूमिका निभायी है। ऐसे मनीषी के अभिनंदन से अभिनंदन सार्थक होता है।

---

१. हिन्दी शब्दानुशासन, पूर्वपीठिका, पृ० १–२।

हिन्दी के पाणिनि आचार्य वाजपेयी

डा० भोलानाथ तिवारी
रीडर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
(प्रथित भाषाविज्ञानी)

ब्रजभाषा व्याकरण, अच्छी हिन्दी का नमूना, राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण, हिन्दी निरुक्त, अच्छी हिन्दी, हिन्दी शब्द-मीमांसा, हिन्दी शब्दानुशासन, भारतीय भाषा-विज्ञान, राष्ट्रभाषा का इतिहास, हिन्दी शब्द निर्णय, हिन्दी वर्तनी तथा शब्द-विश्लेषण के रूप में आचार्य वाजपेयी जी ने हिन्दी के भाषा-शास्त्रीय साहित्य की अभूतपूर्व श्रीवृद्धि की है, जिसके लिए हिन्दी उनके प्रति सदैव ऋणी रहेगी।

आचार्य वाजपेयी संस्कृत के विद्वान् हैं, किन्तु यह एक बहुत बड़ी बात है कि बहुत सी बातों में संस्कृत परम्परा से अलग रहते हुए उन्होंने हिन्दी का विवेचन-विश्लेषण मौलिक ढंग से किया है। वाजपेयी जी के पूर्व हिन्दी भाषा के विश्लेषण की दो-तीन परंपराएँ थीं, एक तो पश्चिमी परंपरा, जिसका चरम बिन्दु केलाग में मिलता है, दूसरी संस्कृत परंपरा जिसका पूरी तरह अनुसरण करते हुए कोई हिन्दी व्याकरण लिखा नहीं जा सका। तीसरी परंपरा इन दोनों के मिश्रण पर आधृत थी, जिसका सर्वोत्तम ग्रंथ आचार्य कामता प्रसाद गुरु का हिन्दी व्याकरण है। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने एक चौथी परंपरा की नींव रखी है जो अनेक बातों में इन तीनों से भिन्न है।

आचार्य वाजपेयी की अप्रतिम विश्लेषणशील प्रतिभा हिन्दी के लिए इस अर्थ में वरदान रही है कि उन्होंने कुछ अपवादों को छोड़कर हिन्दी को हिन्दी के रूप में देखने का यत्न किया है। वाजपेयी जी की सबसे बड़ी कमजोरी यह रही है कि वे पश्चिम के भाषा-शास्त्रीय विश्लेषण से प्रायः नहीं परिचित हैं, और इसी कारण वहाँ जो गंभीर चिन्तन और काम हुआ है, मुख्यतः इस सदी में, उससे वे लाभ नहीं उठा सके हैं; किन्तु एक अर्थ में यही उनकी विशेषता है। पश्चिमी कार्य और चिन्तन से अपरिचित होने के कारण उससे प्रभावित हुए बिना वे स्वतंत्र रूप से हिन्दी का विश्लेषण-विवेचन कर सके हैं। किन्तु इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि यदि वे इस क्षेत्र में पश्चिम के महत्वपूर्ण कार्य और चिंतन से परिचित होते तो वे निश्चय ही और भी परिपक्व कृतियाँ दे पाते।

वाजपेयी जी का मुख्य और केन्द्रीय काम हिन्दी भाषा से सम्बद्ध है। यह काम भी दो प्रकार का है: ऐतिहासिक और वर्णनात्मक। जहाँ तक ऐतिहासिक कामों का प्रश्न है उनके विचार एक सीमा तक ही विशेष महत्व के हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि बीम्स, ट्रम्प, केलाग, पिशेल, ग्रियर्सन, हार्नले, जूलब्लाख, टर्नर तथा चटर्जी आदि ने जो अंग्रेजी, जर्मन और फ्रांसीसी आदि में काम किए हैं, उनकी पूरी जानकारी के बिना आज के युग में हिन्दी पर ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण और वैज्ञानिक काम करना यदि

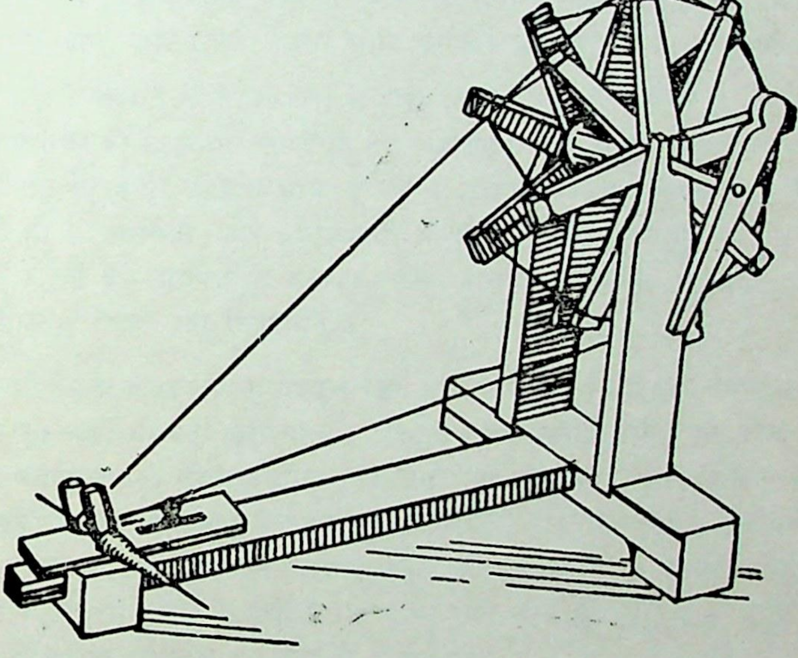
असंभव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य है। इन प्रतिभाओं ने लगभग १०० वर्षों तक जो चिन्तन और काम किया है, उसके प्रकाश बिना जो भी काम करेगा, उस काम को शुरू से करना पड़ेगा, क्योंकि वह इनके कामों से लाभान्वित होकर उस बिंदु से आगे नहीं बढ़ सकता, जहाँ तक इन लोगों ने उसे पहुँचाया है। यही कारण है कि वाजपेयी जी का ऐतिसिक विवेचन प्रायः उन्हीं बिन्दुओं के इर्द-गिर्द घूमता है जो इस दिशा में २५–३० वर्ष काम होने के बाद १८६०–६५ में उभर कर सामने आए थे तथा इन्हीं दिग्गजों के बाद के कामों ने जिन्हें काट दिया। हिन्दी के व्याकरणिक रूपों और शब्दों की वाजपेयी जी द्वारा दी गई व्युत्पत्तियाँ प्रायः इसी कोटि में आती हैं।

इसका एक दूसरा कारण यह है कि संस्कृत का विद्वान् संस्कृत से जब हिन्दी को जोड़ेगा, तो उससे इस प्रकार की गलतियाँ हो जाने की पूरी संभावना है। वस्तुतः संस्कृत और हिन्दी के बीच पालि, प्राकृत, अपभ्रंश का लगभग १५०० वर्षों का काल आता है जो हिन्दी के उद्भव की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। उसका गहराई से अध्ययन-विश्लेषण करनेवाला ही आधुनिक आर्य भाषाओं को संस्कृत से सम्यक् रूप से जोड़ सकता है। यदि कोई इन १५०० वर्षों के भाषा-विकास का ध्यान नहीं रखेगा तो स्पष्ट ही सीधे संस्कृत से हिन्दी आदि को जोड़ेगा। अतः कड़ी पूरी तरह नहीं जुड़ पाएगी। एक उदाहरण लें। वाजपेयी जी ने अपने कई ग्रंथों में हिन्दी 'ने' को संस्कृत की तृतीया विभक्ति 'एन' से विकसित माना है। संस्कृत से सीधे हिन्दी को जोड़ें तो यह बात बिल्कुल ठीक लगती है किन्तु पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में विकास देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के जन्म के बहुत पहले 'एन' परिवर्तित होते-होते 'एँ' और 'इँ' हो गया था और इन 'एँ' और 'इँ' से तो 'ने' नहीं विकसित हो सकेगा। इसीलिए बीम्स ने १८६० में ही कह दिया था कि 'एन' से 'ने' नहीं निकल सकता, यदि 'एन' के स्थान पर 'नेन' होता तो कुछ संभावना हो सकती थी। वस्तुतः संस्कृत-पालि-प्राकृत-अपभ्रंश का ऐतिहासिक अध्ययन उन ध्वनिपरिवर्तनों की एक सम्यक् दृष्टि देता है जो हिन्दी के विकास के लिए जिम्मेदार है, किन्तु यदि सीधे संस्कृत से हिन्दी को जोड़ें तो बीच की कड़ी न मिलने से ऐसी बातों के कहे जाने की संभावना बढ़ जाती है जो ऐतिहासिक दृष्टि से असंभव है, वाजपेयी जी द्वारा दी गई इन, उन की व्युत्पत्तियाँ भी इसी प्रकार की हैं। गुरुजी ने भी इस प्रकार की व्युत्पत्तियाँ दी हैं और उनका कारण भी वही है।

निष्कर्षतः ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में वाजपेयी जी का कार्य बहुत सराहनीय नहीं कहा जा सकता।

अब वर्णनात्मक की बात लें। वस्तुतः ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र की सारी कमी इस क्षेत्र में पूरी हो जाती है, और समवेततः इस क्षेत्र में वाजपेयी जी हिन्दी के अप्रतिम विद्वान् हैं और कुछ अपवादों को छोड़कर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि आचार्य कामता प्रसाद गुरु ने हिन्दी भाषा के विश्लेषण को जहाँ तक पहुँचाया था, वाजपेयी जी ने उसे वहाँ से उठाया और उसे काफी आगे तक पहुँचा दिया। मुख्यतः क्रिया के क्षेत्र में यह बात विशेष रूप से उल्लेख्य है, मेरा अपना व्याकरण इस वर्ष के अंत

तक आ रहा है और उसमें मैंने अनेक स्थलों पर वाजपेयी जी से असहमति प्रकट करने की धृष्टता की है, किन्तु इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि भाषा के एककालिक विश्लेषण में वाजपेयी जी की दृष्टि बड़ी ही पैनी है। वे प्रणम्य हैं। वे हिन्दी के पाणिनि हैं। मैं वाजपेयी जी के श्रीचरणों में अपनी श्रद्धा के सुमन चढ़ाता हूँ। वाजपेयी जी शतायु हों और हिन्दी के वर्णनात्मक अध्ययन-विश्लेषण के क्षेत्र में वे हिन्दी विद्वानों का मार्ग-दर्शन करते रहें, यही मेरी कामना है।



भारतीय-व्याकरण चिन्तन और आचार्य किशोरीदास वाजपेयी

डा० उदयनारायण तिवारी
विशिष्ट आचार्य भाषाशास्त्र,
श्री संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

अपने इस लघु निबन्ध में, सर्वप्रथम, मैं भारत में व्याकरण शास्त्र का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करूँगा । इसके बाद हिन्दी में उपलब्ध कतिपय पुराने व्याकरणों का उल्लेख करते हुए , आचार्य किशोरीदास वाजपेयी की कृति के सम्बन्ध में संक्षेप में अपने विचार व्यक्त करूँगा ।

भारत में व्याकरणशास्त्र की प्राचीनता

भारत में व्याकरणशास्त्र की प्राचीनता के सम्बन्ध में यह निस्संकोच रूप से कहा जा सकता है कि मूल वेद के अतिरिक्त जितना वैदिक वाङमय उपलब्ध है उसमें व्याकरणशास्त्र का उल्लेख मिलता है । कतिपय विद्वानों के अनुसार संहितापाठ से पद-पाठ की रचना के पूर्व ही, व्याकरणशास्त्र पूर्णता को प्राप्त हो चुका था और इस युग में ही प्रकृति-प्रत्यय, धातु, उपसर्ग एवं समास आदि का ज्ञान पूर्णतया निष्पन्न हो चुका था ।

लौकिक संस्कृत के वैयाकरणों में पाणिनि का स्थान सर्वोच्च है । उनकी कृति अष्टाध्यायी की उत्कृष्टता को देखते हुए, यह सहज में ही अनुमान किया जा सकता है कि पाणिनि के पूर्व ही लौकिक भाषा के रूप में, संस्कृत-व्याकरण-प्रणयन की परम्परा चल चुकी थी । पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में दस पूर्वाचार्यों के नाम का उल्लेख मिलता है । ये हैं—आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, साकल्य, सेनक तथा स्फोटायन ।

पाणिनि के कृतित्व का मूल्याङ्कन करने के लिए ग्रीक एवं लैटिन के वैयाकरणों के दृष्टिकोण की चर्चा भी यहाँ अपेक्षित है । यह एक उल्लेखनीय बात है कि ग्रीक तथा लैटिन के व्याकरण-ग्रंथों की पृष्ठभूमि, उनके धर्म तथा तथा दर्शन से अनुप्राणित है । पाणिनि की कृति का भारतीय धर्म अथवा दर्शन सम्बन्धी चिन्तन धाराओं से कोई सम्बन्ध नहीं है । उनकी कृति में उनके युग के शिष्ट प्रबुद्ध वर्ग के व्यक्तियों में प्रचलित बोलचाल की भाषा का स्वरूप प्रतिष्ठित हुआ है । भाषा शब्द की सिद्धि भी 'भाष्' धातु से है जिसका वास्तविक प्रयोजन भी ऐसा ही है ।

पाणिनि ने अपनी अभूतपूर्व कृति अष्टाध्यायी में, अपने समय के गुरुकुलों में जीवित परिनिष्ठित भाषा को छन्दस् की भाषा से पृथक् अस्तित्व प्रदान करते हुए लौकिक संस्कृत की संरचना अथवा गठन का अवगाहन किया । वे प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने भाषा की मूल वाक्-प्रवृत्तियों को तत्त्वतः ग्रहण किया और तत्पश्चात् उदीच्य भाषा को वर्णनात्मक व्याकरण के रूप में सम्पादित किया । इस तथ्य को अस्वीकार

नहीं किया जा सकता कि जिस प्रकार आधुनिक काल की भाषाओं में, सामाजिक तथा बौद्धिक स्तरों के कारण यत्किंचित् विभेद है, उसी प्रकार पाणिनि काल में भी रहा होगा।

उन्नीसवीं शताब्दी में स्वनिम (फोनीम) का आविष्कार हुआ जिससे भाषा के विश्लेषण कार्य में विशेष सहायता मिली। फोनीम के आविष्कारक रूसी भाषाविज्ञानी 'वाडविन डि कुर्तने' तथा उनके शिष्य 'कुजेवस्की' बताये जाते हैं। इनका समय सन् १८८१ ई० है। किन्तु सत्य तो यह है कि भारतीय मनीषी पाणिनि ने ईस्वी सन् से कई सौ वर्ष पूर्व ही वर्ण समाम्नाय के रूप में स्वनिम को प्राप्त किया था। वे इसकी प्रक्रिया से पूर्णतया परिचित थे और अष्टाध्यायी में इस प्रक्रिया का उन्होंने प्रयोग भी किया इसी संदर्भ में पाश्चात्य विद्वानों की उन दृढ़कण्ठ घोषणाओं को प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा जो पणिनि की विमल बुद्धि की सराहना करती हैं। आधुनिक काल के धुरंधर भाषाविज्ञानी स्वर्गीय ब्लूमफिल्ड ने, अपनी कृति में विभिन्न स्थलों पर विचार करते हुए कहा है—वास्तव में यह भारत देश था, जहाँ ऐसे ज्ञान का उदय हुआ जो यूरोप के लोगों की भाषा-सम्बन्धी विचारधारा में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित करनेवाला था····। (प्राचीन काल में) ऐसी परिस्थिति आ गयी थी कि उच्च वर्ग के लोग निम्न-वर्ग के लोगों की भाषा को अपनाने के लिये बाध्य हो रहे थे। ऐसी स्थिति में, हिन्दू वैयाकरणों का ध्यान वैदिक भाषा की ओर से उच्च वर्ग के लोगों की भाषा की ओर गया और वे उस भाषा के नियम-उपनियम बनाने में प्रवृत्त हुए जिसे आज "संस्कृत" कहते हैं। समय की प्रगति से इस भाषा में व्यवस्थित व्याकरण एवं कोष का निर्माण हुआ। (ऐसा प्रतीत होता है कि) पाणिनि के व्याकरण की रचना के पूर्व, वैयाकरणों की कई पीढ़ियाँ गुजर गयी होंगी। पाणिनि का व्याकरण वस्तुतः मानव ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है। आज तक संसार की किसी भी भाषा का इतना पूर्ण विवरण उपलब्ध नहीं है। आगे चल कर ब्राह्मण संस्कृति से ओतप्रोत भारत में, संस्कृत जो साहित्यिक एवं राज्य-भाषा बनी उसका आंशिक कारण पाणिनि का व्याकरण भी था। यदि यूरोप के विद्वानों को संस्कृत के वर्णनात्मक व्याकरण की भाँति ही ग्रीक व लैटिन के व्याकरण प्राप्त होते तो भारोपीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आज की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्रगति एवं शुद्ध रूप में होता।

इसी सन्दर्भ में एक दूसरे प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी बेंजामिन ली ह्वर्फ के ये वचन भी द्रष्टव्य हैं:—

यद्यपि भाषा शास्त्र बहुत प्राचीन विज्ञान है तथा इसका आधुनिक प्रयोगात्मक रूप जो अलिखित भाषा के विश्लेषण पर जोर देता है सर्वथा आधुनिक है। जहाँ तक हमें ज्ञात है, आज के रूप में ही, ईसा से कई शताब्दी पूर्व पाणिनि ने इस विज्ञान का शिलान्यास किया था। पाणिनि ने उस युग में वह ज्ञान प्राप्त कर लिया था जो हमें आज उपलब्ध हुआ है। संस्कृत भाषा के वर्णन अथवा संस्कृत भाषा को नियमबद्ध करने के लिये पाणिनि के सूत्र बीजगणित के जटिलसूत्रों की भाँति हैं। ग्रीक लोगों ने वस्तुतः इस विज्ञान की अधोगति कर रखी थी। उनकी कृतियों से ज्ञात होता है कि वैज्ञानिक के रूप में हिन्दुओं के मुकाबिले में ये कितने अधिक निम्नस्तर के थे। सच तो यह है कि उनकी भ्रान्तिपूर्ण धारणा का प्रभाव दो सहस्र वर्षों तक चलता रहा। वास्तव में उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ से,

जब से पश्चिम ने पाणिनि को प्राप्त किया है, तभी से आधुनिक भाषाशास्त्र का आरम्भ होता है। पाणिनि के व्याकरण की उल्लेखनीय बात यह है कि उसमें वर्णात्मक भाषाशास्त्र की आवश्यकताओं का पूर्ण समाहार है। पाणिनि की प्रतिज्ञाएँ अपने सूत्ररूप में भी पूर्ण हैं तथा संस्कृत व्याकरण के समस्त उपादानों तथा महत्वपूर्ण तत्त्वों को समाविष्ट किये हैं। प्रत्याहार, गणपाठ, विकरण, अनुबन्ध तथा इसी प्रकार के अन्य पारिभाषिक शब्दों की विपुल सम्पत्ति से अलंकृत पाणिनीय सूत्र, ऋषिप्रवर की अद्वितीय प्रतिभा का परिचय देने में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते।

पाणिनि के समान ही संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र के इतिहास में कात्यायन एवं पतंजलि का महत्वपूर्ण स्थान है। ये तीनों संस्कृत व्याकरण के मुनित्रय हैं। पतंजलिकृत महाभाष्य की शैली, सरल, सुबोध तथा वार्ताशैली पर आधारित है। महाभाष्य के अवलोकन से यह सिद्ध होता है कि पतंजलि के युग में, जनसाधारण से लेकर शिष्ट वर्ग तक, संस्कृत भाषा व्यवहार की भाषा के रूप में स्वीकृत थी।

पतंजलिकृत महाभाष्य, अपने विराट् रूप में, सिन्धु के समान है जिसमें व्याकरण-विषयक अन्य रचनाओं की सरिताएँ समाहित देखी जा सकती हैं। पतंजलि के महाभाष्य का यथार्थ मूल्यांकन तो भर्तृहरि के इन शब्दों में ही दिखाई देता है :—

कृतेथ पातञ्जलिनां गुरूणां तीर्थदर्शिनां। सर्वेषां न्याय बीजानां महाभाष्ये निबन्धने।

डा० एस० के० वेलवेलकर ने अपनी कृति "सिस्टम आव संस्कृत ग्रामर" में, व्याकरण विषयक दस सम्प्रदायों एवं उनके ग्रंथों का उल्लेख किया है। इनके संबंध में विचार करने पर इस निबन्ध का कलेवर बहुत बड़ा हो जायेगा अतः आगे मैं पालि एवं प्राकृत के वैयाकरणों का नामोल्लेख मात्र करूँगा। यहाँ यह बात ज्ञातव्य है कि पालि-प्राकृत एवं अपभ्रंश के वैयाकरणों ने अपने ग्रंथों के प्रणयन में संस्कृत की सूत्रप्रणाली को ही अपनाया। पालि एवं प्राकृत के व्याकरण ग्रंथों के सम्बन्ध में यह आलोचना सर्वांशतः सत्य है कि संस्कृत व्याकरण के समान ये उत्कृष्ट एवं सफल नहीं हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि भारतीय जनता का संस्कृत के प्रति जो पूज्य भाव था वह मध्य युग की प्राकृतों को उपलब्ध न हो सका।

पालि तथा प्राकृत के व्याकरण

पालि के वैयाकरणों में, मुख्य रूप से, कच्चायन, मोग्गलान एवं अग्गवंश के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से कच्चायन का समय ८—९ वीं शताब्दी तथा मोग्गलान का समय १२वीं शताब्दी है। अग्गवंश ब्रह्मदेश के निवासी थे और इनका भी समय १२ वीं शताब्दी के आसपास माना जाता है।

प्राकृत के वैयाकरणों में वररुचि (छठीं शताब्दी), चण्ड एवं पुरुषोत्तम (११वीं शताब्दी) एवं हेमचंद्र (११ वीं शताब्दी) के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें भी जैन आचार्य हेमचन्द्र सर्वाधिक विख्यात हैं। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश, इन तीनों भाषाओं के प्रकांड पंडित होने के कारण, उन्होंने अपने ग्रंथ "सिद्ध हेम शब्दानुशासन" में एक-एक करके, इन तीनों भाषाओं के व्याकरण लिखे। उनके व्याकरण के आरंभिक सात अध्यायों में संस्कृत का विवेचन है तथा आठवें अध्याय में प्राकृत एवं अपभ्रंश का।

संस्कृत व्याकरण के परिप्रेक्ष्य में जब हम पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश व्याकरण की कृतियों का अध्ययन एवं मनन करते हैं तो इनमें गंभीर चिन्तन एवं सूक्ष्म तर्क-वितर्क का अभाव दृष्टिगोचर होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि शनैः शनैः भारतीय मनीषा ह्रास-पथ पर, अग्रसर हो रही है। इस स्थिति में भी अपभ्रंश युग तक व्याकरण-रचना के लिये पाणिनीय व्याकरण की सूत्र-शैली ही अपनायी गयी है।

हिन्दी व्याकरण की परम्परा

नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के अविर्भाव का युग १००० ई० माना जाता है किन्तु सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण के पूर्व का कोई व्याकरण हिन्दी में उपलब्ध नहीं है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी व्याकरण-प्रणयन की दिशा में आरंभिक प्रयत्न करनेवाले प्रायः सभी विद्वान् विदेशी थे। ये यूरोप के विभिन्न देशों से व्यापार एवं धर्म-प्रचार के लिये भारत आये थे। चूँकि सत्रहवीं शताब्दी में हिन्दी आन्तप्रदेशिक विचार-विनिमय एवं व्यापार की भाषा बन चुकी थी अतः ये विदेशी विद्वान्, हिन्दी भाषा के व्याकरण के प्रणयन में प्रवृत्त हुए। इन विद्वानों को न तो हिन्दी की संरचना का ज्ञान था और न ये इसकी प्रकृति से ही परिचित थे अतः उन्होंने हिन्दी के कामचलाऊ ज्ञान के आधार पर ही हिन्दीव्याकरण की रचना की। इनमें **जान जोशुआ केटलर** का स्थान सर्वप्रथम है और यही हिन्दी के प्रथम वैयाकरण हैं। धर्म से ये लूथरन पादरी थे। ये प्रूशिया के एल बिनजेन नामक स्थान में पैदा हुए थे। इन्होंने डच ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रतिनिधि के रूप में, मुगल बादशाह शाहआलम, बहादुरशाह तथा जहाँदरशाह से मान्यता प्राप्त की थी। इन्होंने डच भाषा के माध्यम से अपना हिन्दी व्याकरण लिखा था। बाद में इसका अनुवाद लैटिन में हुआ था। इनके व्याकरण के कुछ अंश को हिन्दी में उपलब्ध करने का श्रेय भारत के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी स्वर्गीय डा० सुनीतिकुमार चटर्जी को है। केटलर के व्याकरण का नाम **हिन्दुस्तानी भाषा** है। इसका प्रणयन सन् १६९८ में, आगरे में हुआ था।

इसी शृंखला में **बेंजामिन शुल्ज** कृत **हिन्दुस्तानी व्याकरण** का स्थान दूसरा है। इसकी रचना सन् १७४५ ई० में, हैदराबाद में हुई थी।

तीसरी कृति **अलफ़ाबेतुम ब्रह्मानिकुम** का प्रणयन पटने में सन् १७७१ ई० में हुआ था। इसके प्रणेता **कैसियानो बेलिगत्ती** थे। वास्तव में इस तीसरी कृति का सम्बन्ध नागरी लिपि से है। ये तीनों कृतियाँ दिल्ली से लेकर हैदराबाद तक तथा सन् १६५० से १८०० ई० तक प्रचलित हिन्दी के रूप को हमारे समक्ष प्रकट करती हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि इन तीनों प्रारंभिक व्याकरणों का हिन्दी अनुवाद मेरे शिष्य मैथ्यु वेच्चुर ने उपलब्ध कर दिया है।

इन तीनों व्याकरणों के प्रणेताओं का भाषा के शिष्ट रूप पर उतना ध्यान नहीं था जितना उसके बाजारू रूप अथवा बोलचाल के रूप पर। ये विदेशी लोगों के उपयोग के लिए लिखे गये थे और भारतीय जनता के लिये इनका कुछ उपयोग न था। यह होते हुए भी इनका ऐतिहासिक महत्व है।

इन व्याकरणों के बाद, कई अन्य योरोपीय विद्वानों—जार्ज हाड्ले, जॉन फरग्यूसन, जॉन गिल क्राइस्ट, रोए बेक, जॉन शेक्सपियर, विलियम प्राइस, एम० टी० आदम, बेलेन्टाइन, डंकन फार्बोस आदि—ने हिन्दी के व्याकरण लिखे, जो सामग्री-संकलन एवं विवेचन की दृष्टि से अच्छे थे।

पं० कामताप्रसाद गुरु से पूर्व के व्याकरण

पं० कामताप्रसाद गुरु ने अपने व्याकरण के परिशिष्ट में "हिन्दी व्याकरण की सर्वमान्य पुस्तकें" शीर्षक के अन्तर्गत, हिन्दी में लिखित बारह तथा अंग्रेजी में लिखित आठ कृतियों का उल्लेख किया है। इन व्याकरण-ग्रंथों के संबंध में सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि युग की माँग के अनुसार ये लिखे गये थे। अब तक हिन्दी का प्रचार-प्रसार-क्षेत्र बहुत व्यापक हो चला था और आरम्भ से लेकर प्रवेशिका परीक्षा के पाठ्य-ग्रंथों में हिन्दी व्याकरण को भी स्थान मिला था। अतः यह स्वाभाविक था कि ये छात्रोपयोगी हों।

हिन्दी की स्थिति

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आरम्भ में हिन्दी का केन्द्र कलकत्ता था किन्तु सन् १८९३ ई० में काशी नागरीप्रचारिणी सभा तथा सन् १९१० ई० में, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की स्थापना से, हिन्दी का केन्द्र शनैः शनैः काशी एवं प्रयाग की ओर खिसकने लगा। सन् १९०१ ई० में इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित होने वाली "सरस्वती" के सम्पादक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी बने। इससे हिन्दी को उत्कर्ष-पथ पर अग्रसर होने के लिए बल मिला। किसी भाषा को समुन्नत करने के लिये उसमें एकरूपता लाने की आवश्यकता होती है और यह कार्य उस भाषा के व्याकरण द्वारा होता है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने "सरस्वती" के सम्पादन के साथ-साथ हिन्दी-व्याकरण के परिष्कार का कार्य भी आरम्भ कर दिया किन्तु अभी भी हिन्दी में एक सर्वमान्य व्याकरण की आवश्यकता थी और इस गुरुतर कार्य को पं० कामताप्रसाद गुरु ने सम्पन्न किया।

हिन्दी-व्याकरण क्षेत्र में पं० कामताप्रसाद गुरु का आविर्भाव

पं० कामताप्रसाद गुरु का **'हिन्दी व्याकरण,'** नागरीप्रचारिणी सभा काशी से सं० १९७७ (सन् १९२१ ई०) में प्रकाशित हुआ था। इसके पूर्व गुरु जी व्याकरण एवं रचना विषयक तीन अन्य पुस्तकों का प्रकाशन कर चुके थे। ये थीं —**'भाषा वाक्य पृथक्करण', 'हिंदी बालबोध व्याकरण'** तथा **'सहज हिंदी-रचना।'** इनके अतिरिक्त आपने व्याकरण विषयक कई पाण्डित्यपूर्ण लेख भी लिखे थे जो "सरस्वती" के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हुए थे। "सरस्वती" सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, गुरु जी की पुस्तकों एवं लेखों से बहुत प्रभावित थे। अतः उन्होंने तथा पं० माधवराव सप्रे ने मिलकर नागरीप्रचारिणी सभा के अधिकारियों से गुरु जी द्वारा एक बृहत् हिन्दी व्याकरण लिखवाने का अनुरोध किया। 'सभा' ने यह अनुरोध स्वीकार किया तथा सं० १९७२ (सन् १९१५ ई०) में गुरु जी से एक वृहत् हिन्दी व्याकरण लिखने का अनुरोध किया। गुरु जी ने इसे सहर्ष स्वीकार किया और वे सहज भाव से "हिन्दी व्याकरण" के प्रणयन में

प्रवृत्त हुए। इस व्याकरण की रचना में गुरु जी को पाँच वर्षों तक निरन्तर परिश्रम करना पड़ा था। सं० १९७७ (सन् १९२० ई०) में उन्होंने ग्रंथ की पांडुलिपि सभा को सौंप दी थी। यह मुद्रित हुई और इसकी प्रतियाँ देश के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों एवं सभा द्वारा नियोजित व्याकरण संशोधन समिति के सदस्यों के पास विचारार्थ भेज दी गई थीं। संशोधन समिति के सदस्यों ने विचार-विमर्श के बाद इसे गुरु जी को लौटा दिया था और इसके बाद गुरु जी ने अपनी कृति में आवश्यक संशोधन कर इसे प्रकाशनार्थ सभा के पास भेज दिया था। इस प्रकार सं० १९७७ (सन् १९२१ ई०) में गुरु जी की यह कृति प्रकाशित होकर हिन्दी-संसार के समक्ष आयी।

गुरु जी का **हिन्दी व्याकरण** हिन्दी के उत्थान में एक नये युग का संदेशवाहक बन कर आया। इसके द्वारा एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई। सच बात तो यह है कि पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के जिस परिनिष्ठित रूप को प्रतिष्ठापित करना चाहते थे उसका यह व्याकरण मूर्त्त रूप था। गुरु जी ने द्विवेदी जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए लिखा है—

"पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का मैं विशेषतया कृतज्ञ हूँ क्योंकि आपने हस्तलिखित प्रति का अधिकांश भाग पढ़कर अनेक उपयोगी सूचनाएँ देने की कृपा और परिश्रम किया है।"

गुरु जी ने अपने व्याकरण की रचना में जिन पूर्ववर्ती ग्रंथों से सहायता ली थी, उनका उल्लेख करते हुए आप लिखते हैं :—

इस ग्रंथ की रचना में, मैंने पूर्वोक्त (बाबू गंगाप्रसाद और पं० रामकर्ण शर्मा द्वारा लिखित) दोनों व्याकरणों से यत्र-तत्र सहायता ली है और हिन्दी व्याकरण के आज तक छपे हुए हिन्दी और अंग्रेजी ग्रंथों का भी थोड़ा बहुत उपयोग किया है। द्विवेदी जी लिखित 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' और 'ब्रिटिश विश्वकोष' के 'हिन्दुस्तानी' नामक लेख के आधार पर, इस पुस्तक में, हिन्दी की उत्पत्ति लिखी गयी है। अरबी-फारसी शब्दों की व्युत्पत्ति के लिये, मैं अधिकांश में राजा शिवप्रसाद कृत "हिन्दी व्याकरण" और प्लाट्स कृत "हिन्दुस्तानी ग्रामर" का ऋणी हूँ। काले कृत "उच्च संस्कृत व्याकरण" से मैंने संस्कृत व्याकरण के कुछ अंश लिये हैं। सबसे अधिक सहायता मुझे दामले कृत "शास्त्रीय मराठी व्याकरण" से मिली है जिसकी शैली पर मैंने अधिकांश में अपना व्याकरण लिखा है। पूर्वोक्त पुस्तक से मैंने, हिन्दी में घटित होने वाले व्याकरण विषयक कई एक वर्गीकरण, विवेचन, नियम और न्याय-सम्मत लक्षण, आवश्यक परिवर्तन के साथ लिये हैं। संस्कृत व्याकरण के कुछ उदाहरण भी मैंने इस पुस्तक से संग्रह किये हैं। पूर्वोक्त ग्रंथों के अतिरिक्त अंग्रेजी, बंगला और गुजराती व्याकरणों से भी कहीं सहायता ली गयी है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गुरु जी ने ऊपर के ग्रंथों से सहायता तो ली थी लेकिन उनमें से किसी का अन्धानुकरण नहीं किया था। सिद्धांतों के निरूपण में उन्होंने अधिकांशतः स्वतंत्र चिन्तन एवं विवेक का सहारा लिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि ऊपर के ग्रंथों से सहायता लेने पर भी गुरु जी की मौलिकता अक्षुण्ण रही। गुरु जी के

हिन्दी व्याकरण की अत्यधिक ख्याति हुई और वे हिन्दी के शीर्षस्थ वैयाकरण माने गये। उनका हिन्दी व्याकरण गत पाँच दशकों तक एकमात्र लोकप्रिय एवं सर्वमान्य व्याकरण रहा।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी

महाभाष्यकार पतंजलि ने व्याकरण-प्रणयन के मुख्यतः पाँच प्रयोजन बताये हैं। ये हैं :—रक्षा, ऊहा, आगम, लघु और असन्देह। 'रक्षा' से तात्पर्य यह है कि व्याकरण के द्वारा ही भाषा की रक्षा होती है।

'ऊहा' से तात्पर्य अपूर्व तर्क से है। व्याकरण का प्रणेता ऐसा तार्किक एवं विशेषज्ञ होना चाहिए जो भाषा के मर्मस्थान का स्पर्श करते हुए अभिनव उद्भावनाओं को प्रत्यक्ष कर सके।

'आगम' शब्द यहाँ 'लोप' एवं 'वर्णविकार' का उपलक्षण है। उपलक्षण वह भाव है जो अपने अर्थ के साथ-साथ अपने अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ का भी बोध करा दे।

वास्तव में व्याकरण नियम शास्त्र है। 'नियम' शब्द का अर्थ बाँधना, लाघव या संक्षेप करना है। व्याकरण के नियम अत्यंत संक्षिप्त होने चाहिये।

वैयाकरण का एक विशिष्ट गुण है 'असंदेह'। सन्देह मानसिक विकार है। व्याकरण न जाननेवाले को ही भाषा की शुद्धि के विषय में शंका होती है। इसीलिये व्याकरणविद् को भाषाविषयक कोई सन्देह नहीं होता।

जब हम व्याकरण के प्रयोजन विषयक ऊपर के तत्वों को दृष्टि-पथ में रखकर आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के पूर्व के वैयाकरणों की कृतियों के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो पं० कामताप्रसाद गुरु को छोड़ कर उनमें प्रायः 'ऊहा' का अभाव दृष्टिगोचर होता है। इसका एक कारण यह है कि ये व्याकरण या तो विदेशी मिशनरियों द्वारा लिखे गये थे या स्कूल की पाठ्य पुस्तकों के रूप में इनका प्रणयन हुआ था।

आचार्य वाजपेयी ने हिन्दी-व्याकरण के विषय में इतना अधिक गम्भीर चिन्तन एवं मनन किया है और उनमें 'ऊहा' का इतना आधिक्य है कि निस्संदेह आप हिन्दी के प्रथम वैज्ञानिक वैयाकरण हैं। सच तो यह है कि हिन्दी के वैज्ञानिक व्याकरण-लेखन का कार्य उनके 'ब्रजभाषा-व्याकरण' के प्रकाशन सं० २००० (सन् १९४७ ई०) से प्रारम्भ होता है। वाजपेयी जी के हिन्दी-व्याकरण विषयक चिन्तन का कार्य तो सन् १९२४ –२५ से ही प्रारम्भ होता है किन्तु ब्रजभाषा व्याकरण के प्रकाशन के तीन वर्ष पूर्व सन् १९४० ई० से यदि हम हिन्दी के वैज्ञानिक व्याकरण-लेखन-कार्य का समारम्भ मानें, तो यह सर्वथा उचित होगा क्योंकि इस समय तक ब्रजभाषा व्याकरण की पाण्डुलिपि तैयार हो गयी थी। सन् १९४० की तिथि इस लिये भी समीचीन है कि इसी समय से अमेरिका में भाषाविषयक नवीन गम्भीर चिन्तन का कार्य प्रारम्भ हुआ था।

वाजपेयी जी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हिन्दी-व्याकरण-लेखन में आपने एक मात्र हिन्दी को ही अपने दृष्टि-पथ में रखा है। आप संस्कृत के पंडित हैं किन्तु आपने

हिन्दी व्याकरण को संस्कृत संरचना के ढाँचे में ढालने का कभी प्रयत्न नहीं किया। यह उल्लेखनीय है कि वाजपेयी जी अंग्रेजी बिल्कुल नहीं जानते अतः उनके सम्बन्ध में परिभाषा आदि के लिये भी अंग्रेजी से सहायता लेने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। **इस प्रकार आचार्य वाजपेयी हिन्दी के प्रथम संरचनावादी वैयाकरण हैं।** इस बात की प्रकारान्तर से सूचना देने के लिए ही आप ने अपने 'राष्ट्रभाषा के प्रथम व्याकरण" के मुख्य पृष्ठ पर निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है :--

इन्द्रादयोपि गीर्वाण्याः।
व्याकरणे कृत कौशलाः॥
तथापि पाणिनीयं हि
प्रथमं व्याकरणं स्मृतम्।

वाजपेयी जी द्वारा लिखित "ब्रजभाषा व्याकरण" का ऐतिहासिक महत्त्व है। यद्यपि यह ब्रज-भाषा का व्याकरण है किन्तु इसकी भूमिका में आपने खड़ी बोली हिन्दी के सम्बन्ध में ऐसी अनेक मौलिक बातें कही हैं जिनसे एक ओर उनकी प्रखर प्रतिभा का परिचय मिलता है तो दूसरी ओर प्रचलित व्याकरणों की त्रुटियों की ओर प्रथम बार विद्वानों का ध्यान आकर्षित होता है। ब्रजभाषा व्याकरण की भूमिका में आप व्याकरण के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं :—"व्याकरण उस शास्त्र का नाम है जिसमें भाषा के अंग-प्रत्यंग का पूर्ण विवेचन किया जाता है" (पृ० २)। आप पुराने हिन्दी वैयाकरणों की परिभाषाओं का खंडन करते हुए लिखते हैं--"भाषा का शुद्ध बोलना तो माँ से या घर के दूसरे लोगों से सीखा जाता है और शुद्ध लिखना गुरु से। परन्तु माँ-बाप या गुरुजन आदि "व्याकरण" नहीं हैं। हाँ, जो जिसकी मातृभाषा नहीं है वह उसे सीखने में और उसके शुद्ध प्रयोग में, अवश्य व्याकरण का सहारा लेगा। सारांश यह कि व्याकरण भाषा के विवेचन का नाम है।"

अपने विचार-विन्दु को स्पष्ट करने ले के लिए वाजपेयी जी की अपनी शैली है। पं० कामताप्रसाद गुरु, आपकी प्रेरणा के स्रोत हैं किन्तु कई स्थानों पर अपनी खंडन-मंडन शैली के द्वारा आप ने गुरु जी की कड़ी आलोचना की है। ब्रजभाषा व्याकरण में, क्रिया के विषय में विचार करते हुए आप लिखते हैं--

ऐसा जान पड़ता है कि गुरु जी हिन्दी के स्वरूप को ठीक-ठीक समझे बिना ही इसका व्याकरण लिखने बैठ गये और इसलिये 'रग पर नश्तर' लग गया। बात यह है कि उन्होंने हिन्दी का व्याकरण बनाने में संस्कृत, अंग्रेजी तथा मराठी आदि के व्याकरणों पर ध्यान रखा, हिन्दी के स्वरूप पर नहीं, इसीलिये ऐसी भयंकर गलतियाँ हो गयीं हैं। संस्कृत भाषा में अकर्मक क्रियाओं के कर्तृवाच्य तथा भाववाच्य में प्रयोग होते हैं। सकर्मकों के कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य में होते हैं। अकर्मक क्रियाओं में कर्म होता ही नहीं, इसलिये इनका कर्मवाच्य प्रयोग कहाँ से हो? सकर्मक क्रिया का वहाँ भाववाच्य प्रयोग नहीं होता। था तो यह संस्कृत भाषा के विषय में, पर गुरु जी ने शायद संसार भर को

भाषाओं के बारे में उसे समझ लिया। इसीलिये हिन्दी भाषा के व्याकरण के बारे में भी उसे लिख दिया"। (ब्र० भा० व्या०, भू० पृ० ५४–५५)।

इसी प्रकार प्रेरणा तथा कर्म-कर्तृ प्रयोग की चर्चा करते हुए 'ब्रजभाषा व्याकरण' की भूमिका में आप लिखते हैं :—"हिन्दी व्याकरणों में 'प्रेरणा' तथा 'कर्म-कर्तृ' प्रयोग समझने में गलती की गयी है और 'कटना' का 'काटना' तथा 'कटाना' आदि प्रेरणार्थक रूप लिखे गये हैं, सो यह सब भूल है। देखना यह चाहिए कि मूल धातु क्या है? साधारण क्रिया प्रेरणा में जब आती है, तब स्वरूप विस्तार होकर उसके दो "कर्ता" हो जाते हैं—प्रयोज्य और प्रयोजक। इसी तरह साधारण क्रिया जब 'कर्म'-कर्तृ' प्रक्रिया में प्रयुक्त होती है, तब उसका असली कर्त्ता उड़ जाता है। जब वक्ता अपनी इच्छा से 'कर्त्ता' का उच्चारण नहीं करता है, तब 'कर्मकर्त्तृ' प्रयोग होता है (कर्म-वाच्य नहीं)। 'काटना' एक मुख्य क्रिया है, 'कटना' नहीं, क्योंकि इस क्रिया का कोई 'कर्त्ता' चाहिये। "कर्म-कर्तृ" प्रयोग में जब सकर्मक क्रिया का 'कर्म' 'कर्ता' बन जाता है तब वह (कर्म न रहने से) अकर्मक हो जाती है"। (ब्र० भा० का व्या०, पृ० ६४–६६)।

क्रियाविशेषण के प्रसंग में, गुरु जी के मत की आलोचना करते हुए आप लिखते हैं :—

"पं० कामताप्रसाद गुरु ने तथा उनके अनुसार चलकर हिन्दी के अन्यान्य सभी व्याकरणकारों ने क्रियाविशेषण के सम्बन्ध में भी बहुत गड़बड़ी पैदा कर दी है। इन्होंने क्रियाविशेषण का लक्षण तो ठीक लिखा है, परन्तु उदाहरण देने में, सब बिगाड़ दिया है। गुरु जी ने तथा अन्यान्य व्याकरणकारों ने "जब, "तब" "अभी", "इधर", "उधर" "यहाँ", "वहाँ", आदि सभी अव्ययों को 'क्रियाविशेषण' मान लिया है और बड़े विस्तार से उनका निरूपण किया है। यह सब भ्रम है और अंग्रेजी व्याकरण के अन्धानुकरण का फल है। जो अव्यय हो, वह क्रियाविशेषण भी जरूर हो, यह कोई नियम नहीं है। यदि कोई अव्यय क्रिया की विशेषता बतलाता है तब वह अवश्य क्रियाविशेषण होगा अन्यथा हर्गिज नहीं। "जब", "तब" आदि समय सूचक अव्यय क्रियाविशेषण नहीं हैं। इससे क्रिया में कोई विशेषता नहीं मालूम होती। तब क्रियाविशेषण इन्हें कैसे कहा जाय?" फिर "प्रयोगभेद से शब्दभेद" को स्पष्ट करते हुए आप कहते हैं कि 'एक ही शब्द भिन्न-भिन्न प्रयोग-भेद के कारण भिन्न-भिन्न शब्द-भेद बन जाता है'। (ब्र० भा० व्या०, भू०, पृ० ७७)।

'ब्रजभाषा व्याकरण' के बाद वाजपेयी जी की दूसरी कृति "अच्छी हिन्दी का नमूना' है। इसका प्रकाशन सं० २००५ (सन् १९४८ ई०) में 'जनवाणी प्रकाशन' कलकत्ता से हुआ था। इसकी रचना बाबू रामचन्द्र वर्मा कृत "अच्छी हिन्दी" के दोषों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने के लिये हुई थी।

इसके उपरांत वाजपेयी जी का "राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण" सं० २००६ (सन् १९४९ ई०) में 'जनवाणी प्रकाशन', कलकत्ता, से प्रकाशित हुआ। इसकी रचना मुख्य रूप से अहिन्दी-भाषियों को दृष्टि में रखकर की गयी थी। इसकी भूमिका में वाजपेयी जी लिखते हैं :—

"इससे हिन्दी का सरलतम रूप स्पष्ट होगा, अहिन्दी भाषी-जन बहुत जल्दी शुद्ध हिन्दी लिखना-बोलना सीखेंगे और इस छोटे-से व्याकरण के द्वारा हिन्दी-भाषी विद्वानों को भी बहुत कुछ लाभ पहुँचेगा; क्योंकि इसमें "हिन्दी व्याकरण के मौलिक तथा आधारभूत सिद्धांतों की उद्भावना हुई है।"

ऊपर के ग्रंथ के बाद सं० २००६ (सन् १९४९ ई०) में जनवाणी प्रकाशन से वाजपेयी जी का 'हिन्दी निरुक्त' प्रकाशित हुआ। इसमें वाजपेयी जी ने हिन्दी के अनेक शब्दों का निर्वचन दिया है। निर्वचन को स्पष्ट करते समय आपने ध्वनि-विकास-क्रम को भी स्पष्ट किया है। वाजपेयी जी के इन तीनों ग्रंथों—'अच्छी हिन्दी का नमूना', 'राष्ट्रभाषा का व्याकरण' एवं 'हिन्दी निरुक्त'—में भाषा-तत्त्व विषयक ऐसे अनेक मौलिक विचार आये हैं जिनके सम्बन्ध में इनके पूर्व किसी ने दृष्टिपात तक नहीं किया था। इनके सम्बन्ध में गहराई से विचार करने से इस निबन्ध का कलेवर बहुत बड़ा हो जायेगा अतः भविष्य के लिये इसे छोड़कर यहाँ वाजपेयी जी की सर्वश्रेष्ठ कृति "हिन्दी शब्दानुशासन" के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

वाजपेयी जी के इस पाण्डित्यपूर्ण कृति का प्रकाशन नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी से सं० २०१४ (सन् १९५८ ई०) में हुआ था। गुरु जी के "हिन्दी" व्याकरण' की भाँति ही वाजपेयी जी की इस कृति के प्रकाशन का भी उल्लेखनीय इतिहास है जिस पर यहाँ संक्षेप में प्रकाश डालना आवश्यक है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन वाजपेयी जी के पाण्डित्य एवं उनकी कृतियों से परिचित थे। उन्हें वाजपेयी जी के अक्खड़ स्वभाव की भी जानकारी थी। श्री राहुल जी ने कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले 'नया समाज' के सन् १९५४ ई० के सितम्बर अंक में "आचार्य किशोरीदास वाजपेयी" शीर्षक एक लेख लिखा। इस लेख में राहुल जी ने वाजपेयी जी के 'व्याकरण' एवं 'निरुक्त' विषयक गम्भीर ज्ञान की प्रशंसा की थी तथा हिन्दी संसार से यह संस्तुति की थी कि लोग उनकी प्रतिभा का समुचित आदर करते हुए उन्हें हिन्दी-व्याकरण-लेखन-कार्य में नियोजित करें।

राहुल जी के इस लेख का हिन्दी-संसार पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। संयोग से उस समय पं० अमरनाथ झा, काशी नागरीप्रचारिणी सभा के सभापति थे। राहुल जी के लेख से प्रभावित होकर झा महोदय ने नागरीप्रचारिणी सभा की प्रबन्ध समिति को यह सुझाव दिया कि पं० किशोरीदास वाजपेयी से 'हिन्दी शब्दसागर' के संशोधन अथवा व्याकरण-निर्माण का कार्य लिया जाय। इसके परिणामस्वरूप २४ सितम्बर, सन् १९५४ ई० को सभा की साहित्य-उपसमिति ने वाजपेयी जी से एक सुविचारित योजनानुसार हिन्दीव्याकरण-निर्माण कराने का निश्चय किया। प्रस्तावित व्याकरण की

सामान्य रूप रेखा का निर्धारण करने के लिये एक मंडल संघटित किया गया जिसके सदस्य श्री कृष्णानन्द, श्री करुणापति त्रिपाठी, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा श्री चन्द्रबली पाण्डेय मनोनीत हुए। इस मंडल के संयोजक पं० करुणापति त्रिपाठी बनाये गये। १५ अक्टूबर, सन् १९५४ को सभा के व्याकरण-योजना-मंडल ने तीन प्रस्ताव रखे :—(१) पं० किशोरीदास वाजपेयी को सूचित किया जाय कि प्रस्तावित व्याकरण लगभग ६०० पृष्ठों (डबल डिमाई सोलह पेजी) का हो। (२) यह व्याकरण हिन्दी के आधुनिक स्वरूप और उसकी प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए संस्कृत का आवश्यक आधार ग्रहण करके आधुनिक पद्धति पर लिखा जाय। यदि इस विषय की कोई योजना उन्होंने बनाई हो तो उसे विचारार्थ मँगा लिया जाय। इस बीच वे अपना लेखन-कार्य चालू रखें। (३) व्याकरण में जो उदाहरण दिये जायँ वे हिन्दी के मान्य लेखकों के ग्रंथों से ही लिये जायँ।

व्याकरण-परामर्श-मंडल में कुल दस सदस्य मनोनीत किये गये —श्री करुणापति-त्रिपाठी (संयोजक), श्री कृष्णानन्द, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री चन्द्रबली पाण्डेय, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, श्री काका कालेलकर, श्री अम्बिका-प्रसाद वाजपेयी, श्री राहुल सांकृत्यायन, तथा श्री श्रीकृष्ण लाल। वाजपेयी जी ने दो, वर्ष में ही पूरा व्याकरण लिखकर तैयार कर दिया। परन्तु इस व्याकरण के छपने में एक वर्ष का विलम्ब हो गया। इसका कारण यह था कि व्याकरण-परामर्श-मंडल के सदस्य और पं० किशोरीदास जी वाजपेयी कुछ बातों में सहमत न हो सके। मंडल के सदस्यों ने वाजपेयी जी को इस विचार-पूर्ण रचना के लिये साधुवाद देते हुए भी कुछ बातों में अपनी असहमति प्रकट की। ८ अगस्त १९५७ ई० को व्याकरण-परामर्श-मंडल ने "हिन्दी शब्दानुशासन" को सर्वसम्मत और सर्वमान्य बनाने के उद्देश्य से वाजपेयी जी के सम्मुख कुछ अपने सुझाव रखे थे जो इस प्रकार थे—(१) भाषा पक्ष—(क) भाषा अधिक संतुलित और शास्त्रानुरूप गंभीर होनी चाहिए। (ख) अप्रासंगिक उक्तियाँ और हलके मुहावरे न रखे जायँ तो उत्तम हो। (२) विषय पक्ष—(क) व्याकरण शास्त्र का मेल भाषा और ऐतिहासिक विकास तथा भाषाविज्ञान से होना आवश्यक है। ऐसे वक्तव्य इसमें न रखे जायँ जो उपर्युक्त दृष्टियों से संदिग्ध और विवादास्पद हों। (ख) वैयक्तिक प्रसंग (अपने या अन्य लेखकों के सम्बन्ध में) जहाँ तक सम्भव हो, न आने चाहिये। सावधानी से केवल सिद्धान्तों का ही आवश्यक विवेचन और विश्लेषण हो। किन्तु उपर्युक्त बातों के सम्बन्ध में वाजपेयी जी और मंडल के सदस्यों में पूर्ण सहमति न हो सकी। यह असहमति शैली, सिद्धान्त और वर्तनी, तीनों ही क्षेत्रों में कुछ न कुछ बनी रह गयी। अन्त में ४ नवम्बर, १९५७ ई० को व्याकरण-परामर्शमण्डल ने यह निश्चय किया कि "हिन्दी शब्दानुशासन" का प्रकाशन वाजपेयी जी की शैली, सिद्धान्त और वर्तनी के ही अनुरूप किया जाय और "प्रकाशकीय वक्तव्य" में इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया जाय। इतने वाद-विवाद के उपरांत सन् १९५८ ई० में यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ।

हिन्दी शब्दानुशासन

'ब्रजभाषा व्याकरण की भूमिका' से कई उद्धरण देकर, ऊपर, वाजपेयी जी के व्याकरण विषयक गम्भीर एवं मौलिक चिन्तन के सम्बन्ध में कहा जा चुका

है। इस बात की भी चर्चा की जा चुकी है कि वाजपेयी जी की शैली खण्डन-मण्डन की है किन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि वाजपेयी जी ईर्ष्या-द्वेष के वशीभूत होकर आलोचना नहीं करते। "अच्छी हिन्दी का नमूना" में आपने बाबू रामचन्द्र वर्मा की कड़ी आलोचना की है किन्तु वर्मा जी को आप सदैव श्रद्धास्पद मानते रहे। इसी प्रकार अपनी कृतियों में वाजपेयी जी ने पं० कामताप्रसाद गुरु की आलोचना की है किन्तु गुरु जी तो उनके प्रेरणा के स्रोत थे।

अब यहाँ वाजपेयी जी की सर्वोत्कृष्ट कृति "हिन्दी शब्दानुशासन" के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार किया जाता है। 'हिन्दी शब्दानुशासन' के एक के बाद तीन संस्करण हुए। इससे यह तो स्पष्ट है कि हिन्दी-संसार ने इसका स्वागत किया और व्याकरण जैसे शुष्क विषय के अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। दूसरे संस्करण में ही वाजपेयी जी ने अपनी इस कृति में कई नवीन तत्त्वों का समावेश किया था। इनमें से एक तत्त्व है—"बोलियाँ और भाषाएँ"। इस विषय में विचार करते हुए वाजपेयी जी 'हिन्दी शब्दानुशासन' में लिखते हैं :—

पहले मैं भी अवधी, राजस्थानी, कूर्माञ्चली आदि भाषाओं को (स्वतंत्र भाषाएँ न मानकर) हिन्दी की बोलियाँ मानता था। 'हिन्दी शब्दानुशासन' में भी यथाप्रसंग ऐसा ही लिखा है। परन्तु 'भारतीय भाषाविज्ञान' लिखते समय जब 'भाषा' की परिभाषा की, तो मत बदल गया और निश्चय हुआ कि 'अवधी', 'पांचाली', राजस्थानी आदि स्वतंत्र भाषाएँ हैं। इन सब के अपने अपने स्वतंत्र नियम और विधि-विधान हैं। इन्हें स्वतंत्र भाषाएँ न मानकर हिन्दी की बोलियाँ ही कहें तो फिर बँगला, मराठी, गुजराती आदि को भी "हिन्दी को बोलियाँ" कहना होगा। जिस भाषा का व्याकरण "हिन्दी शब्दानुशासन" है और जिस भाषा में ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं, उससे अवधी आदि की बनावट कितनी भिन्न है, समझने की चीज है।

अपने मत के समर्थन में वाजपेयी जी ने 'अवधी', 'भोजपुरी' एवं 'राजस्थानी' से उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि इनकी व्याकरणिक संरचना एक दूसरे से कितनी भिन्न है। सामान्य लोगों की यह धारणा है कि 'बोली' साहित्य-विहीन तथा भाषा साहित्य-सम्पन्न होती है। इस विचारधारा का खण्डन करते हुए वाजपेयी जी आगे कहते हैं :—

"किसी भाषा में साहित्य नहीं बना तो क्या वह 'भाषा' ही नहीं रही ? किसी थाली में नित्य भोजन की दाल-रोटी रखी जाती है, खीर नहीं परोसी गई तो क्या उसे थाली ही नहीं कहेंगे ? प्रत्यय-विभक्तियों में रूपांतर हो जाना ही सजातीय भाषाओं की भिन्नता का नियामक है। इस दृष्टि से "अवधी" आदि स्वतंत्र भाषाएँ हैं। **किसी एक ही भाषा के अवान्तर भेद उसकी बोलियाँ कहे जाएँगे**। यानी प्रत्यय आदि भिन्न न होकर शब्द-राशि में कुछ हेर-फेर हो या इसी तरह की दूसरी चीज हो तो वे सब भेद एक ही भाषा की बोलियाँ कहे जाएँगे।"

वाजपेयी जी ने, ऊपर, 'बोली' और 'भाषा' का जो अन्तर बताया है, वह रचनात्मक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से नितान्त वैज्ञानिक है।

आज से लगभग तीस-बत्तीस वर्ष पूर्व, जब, इन पंक्तियों के लेखक ने अपनी पुस्तक "भोजपुरी भाषा और साहित्य" में, 'भोजपुरी, को 'भाषा' कहा था तो कई विद्वानों को बहुत बुरा लगा था। उनकी यह धारणा थी कि 'भोजपुरी' को भाषा घोषित कर मैं हिन्दी का अहित कर रहा हूँ क्योंकि भोजपुरी हिन्दी की एक बोली है।

अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी आदि का हिन्दी से क्या सम्बन्ध है, इसे स्पष्ट करते हुए "हिन्दी भाषा संघ" शीर्षक के अन्तर्गत वाजपेयी जी पुनः लिखते हैं—

"अवधी, राजस्थानी, ब्रजभाषा, भोजपुरी, मैथिली आदि स्वतंत्र भाषाओं का एक संघ बन गया, न जाने कब ? इसको हम "हिन्दी संघ" कहते हैं; यानी 'हिन्दी-संघ' की भाषाओं में स्वयं हिन्दी, अवधी, राजस्थानी, मैथिली आदि भाषाएँ 'स्वतः सदस्य' हैं। इनका 'कामनवेल्थ' बहुत पुराना है।"

वाजपेयी जी ने इन बोलियों की वास्तविक स्थिति स्पष्ट कर तथा इन्हें भाषा घोषित कर वास्तव में बहुत श्रेष्ठ कार्य किया है। आपने भविष्य में, हिन्दी तथा इनमें किसी प्रकार की संघर्ष की सम्भावना पर ही कुठाराघात किया है।

हिन्दी में 'शब्दनिर्माण', 'विभक्ति-विकास', 'तद्धितीय अव्यय', 'सर्वनाम' एवं 'अव्यय-विकास' के विषय में, आपने 'शब्दानुशासन' में जो सामग्री प्रस्तुत की है, वह नितांत मौलिक एवं विचारोत्तेजक है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि 'हिन्दी शब्दानुशासन' हिन्दी का प्रथम वैज्ञानिक व्याकरण है और इसके प्रणेता आचार्य किशोरीदास वाजपेयी हिन्दी के प्रथम वैयाकरण हैं। इस छोटे से निबन्ध में 'हिन्दी शब्दानुशासन' एवं वाजपेयी जी की अन्य कृतियों के सम्बन्ध में पूर्ण आलोचना असम्भव है।' आज इस बात की आवश्यकता है कि वाजपेयी जी के व्याकरण विषयक चिन्तन के मूल्याङ्कन के लिये, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की ओर से एक अखिल भारतीय स्तर की संगोष्ठी की जाय तथा आप की कृतियों के विभिन्न पक्षों पर लिखित निबन्ध पढ़े जायँ। इसके साथ ही हिन्दी क्षेत्र के विभिन्न विश्वविद्यालयों की ओर से वाजपेयी जी को डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की जाय। इससे वाजपेयी जी का जितना सम्मान होगा उससे कहीं अधिक राष्ट्रभाषा हिन्दी के गौरव की अभिवृद्धि होगी। यह अत्यन्त परिताप की बात है कि हमारे विश्वविद्यालय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय, लाला भगवान दीन, एवं बाबू रामचन्द्र वर्मा जैसे उद्भट हिन्दी के विद्वानों एवं आचार्यों का सम्मान न कर सके। तब हिन्दी तथा उसकी सहयोगी भारतीय नव्य आर्य एवं आर्येतर भाषाएँ—बँगला, गुजराती, मराठी, उड़िया, तमिल, तेलुगु, मलयालम एवं कन्नड़—गँवारू भाषाएँ थीं। वह वास्तव में भारतीय ज्ञानगरिमा के लिये अन्धकार का युग था। उस युग का अब अवसान हो चुका है और आज नवजागरण का सूर्य चारों ओर अपनी कोमल किरणें बिखेर रहा है। आशा है, भारतीय जनगण अपनी प्रतिभाओं का समादर करेंगे तथा उनकी मंगल आरती उतारेंगे।

❀

आचार्य वाजपेयीकृत राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण †

डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'
अलीगढ़ विश्वविद्यालय

हिन्दी भाषा के व्याकरणों की इतिहास-परम्परा में एक ईसाई विद्वान् ने पहल की थी। तदुपरान्त सर्वश्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, कामताप्रसाद गुरु तथा गंगा-प्रसाद उपाध्याय के लिखे व्याकरण उत्तम समझे गये। आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के अधिनायकत्व में नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ने एक व्याकरण-समिति का निर्माण किया, जिसने पं० कामताप्रसाद गुरु से 'हिन्दी व्याकरण' लिखवाया जो हिन्दी-क्षेत्र में सर्वमान्य हुआ। किन्तु आचार्य वाजपेयी और गुरु जी का परस्पर कुछ बातों पर वार्तालाप भी हुआ था।

व्याकरण और भाषाविज्ञान का लक्ष्य और दृष्टिकोण लगभग समान है। सन् १९३३ ई० में डा० धीरेन्द्र वर्मा ने एक पुस्तक लिखी 'हिन्दी भाषा का इतिहास' और डा० उदयनारायण तिवारी ने भी सन् १९५५ई० में 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास' नाम से एक पुस्तक लिखी। इन दोनों पुस्तकों में हिन्दी भाषा के व्याकरण के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। डा० हरदेव बाहरी ने 'हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप' में हिन्दी के व्याकरणिक पक्ष पर प्रकाश डाला है। यह पुस्तक सन् १९६५ ई० में प्रकाशित हुई। सन् १९७१ ई० में प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा तथा डा० रामदेव त्रिपाठी ने 'हिन्दी भाषा का विकास' में हिन्दी-व्याकरण की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया है और अन्य पूर्ववर्ती भाषाशास्त्रियों के मतों का भी उल्लेख किया है। इस पुस्तक में आचार्य वाजपेयी जी की मान्यताओं को स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त सभी ग्रंथों पर एक तुलनात्मक दृष्टि डालने के उपरांत जब हम आचार्य पं० किशोरीदास जी वाजपेयी कृत 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' का अध्ययन करते हैं, तब विदित होता है कि हिन्दी के व्याकरणिक क्षेत्र में आचार्य पं० किशोरीदास जी वाज-पेयी ने ही विभक्ति, कारक, विशेषण, वाच्य आदि की समस्याओं का वैज्ञानिक समाधान सर्वप्रथम प्रस्तुत किया था। यदि हम यह कहें कि आचार्य वाजपेयी का 'ब्रजभाषा-व्याकरण' हिन्दी-व्याकरण-शास्त्र का बीज, 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' हिन्दी-व्याकरण-शास्त्र का फूल और 'हिन्दी शब्दानुशासन' हिन्दी-व्याकरण-शास्त्र का फल है, तो हमारा कथन अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा। 'हिन्दी-शब्दानुशासन' एक प्रकार से 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' पुस्तक का संवर्धित बृहत् संस्करण है।

सन् १९४९ ई० में 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' प्रकाशित हुआ था। उससे पहले पं० कामताप्रसाद गुरु का 'हिन्दी-व्याकरण' हिन्दी जगत् में एक मान्य व्याकरण

---

† जनवाणी प्रकाशन, ३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता—७, सन् १९४९ ई०, संवर्द्धित संस्करण, सन् १९५७ ई०।

घोषित हो चुका था। उसमें पं० कामताप्रसाद गुरु ने कारक, विभक्ति और क्रिया-वाच्यों के संबंध में जो और जैसी स्थापना की थी, लगभग वैसी ही बातें सर्वश्री डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० उदयनारायण तिवारी, डा० हरदेव बाहरी आदि के ग्रंथों में लिखी गयी हैं।

स्व० पं० कामताप्रसाद गुरु (हिन्दी-व्याकरण, सं० २०१४ वि०, पृ० २२०) आठ कारक मानते हैं और उनकी विभक्तियों के प्रकार भी आठ ही मानते हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा भी 'हिन्दी भाषा का इतिहास' (सन् १९४०, पृ० २५८) में **'का', 'की', 'के'** को सम्बन्ध कारक के चिह्न मानते हैं। उसी अध्याय के पृ० २४८ पर डा० वर्मा **'को, से, में, का, के, की'**, आदि को विभक्ति भी कहते हैं। **'घरों'** के अंतिम—**ओं** को डा० वर्मा ने विभक्ति के बहुवचन का चिह्न भी माना है।

सारांश यह कि पं० कामताप्रसाद गुरु और डा० धीरेन्द्र वर्मा के मतानुसार **'का', 'की', 'के'** सम्बन्ध कारक की विभक्तियाँ हैं। डा० उदयनारायण तिवारी भी अपने ग्रंथ (हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, सं० २०१२ वि०, पृ० ४४२) में अपना मत पं० कामताप्रसाद गुरु के मार्ग पर चलते हुए व्यक्त करते हैं कि हिन्दी में कारक तो आठ ही हैं। किन्तु डा० तिवारी के मत में **का, की, के,** परसर्ग हैं—यह बहुत कुछ पाश्चात्य प्रभाव है। 'परसर्ग' शब्द का प्रयोग हिन्दी में सर्वप्रथम डा० बाबूराम सक्सेना ने अंग्रेजी शब्द 'पोस्टपोज़ीशन' (Postposition) के लिए किया था। आजकल हिन्दी की भाषा-विज्ञान की पुस्तकों में प्रायः **ने 'को से, के, का, की, में, पर** आदि को परसर्ग ही लिखा जाता है। किन्तु आचार्य वाजपेयी इन्हें परसर्ग नहीं कहते। उनकी व्याकरणिक पारिभाषिक शब्दावली संस्कृत-व्याकरण के आधार पर गृहीत है।

पंडित कामताप्रसाद गुरु के 'हिन्दी-व्याकरण' में जहाँ हिन्दी में आठ कारक और उनके चिह्नों को आठ विभक्तियाँ माना गया है, वहाँ उसी व्याकरण के अन्तर्गत क्रिया से सम्बद्ध अध्याय में कर्तृवाच्य और कर्तरि प्रयोग; कर्मवाच्य और कर्मणि प्रयोग; तथा भाववाच्य और भावे प्रयोग में भी अन्तर बताया गया है। गुरु जी से प्रभावित होकर ही डा० हरदेव बाहरी अपनी पुस्तक, **'हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप'**, (किताब महल, इलाहाबाद, सन् १९६५ ई०, पृ० १८१) में लिखते हैं कि "हिन्दी का कर्तरि प्रयोग **'मैंने पुस्तक पढ़ी'** प्राचीन कर्मणि प्रयोग **'मया पुस्तकं पठितम्'** से परिवर्तित होकर बना है। भावे प्रयोग में अलग रूप नहीं है। **'मुझसे खाया नहीं जाता'** अर्थ में भले ही भावे प्रयोग के अनुरूप हो, किन्तु इसका रूप वही है जो कर्मणि प्रयोग का।"

आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी ने 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' लिखकर सर्वप्रथम हिन्दी-जगत् को बताया कि **'ने, को, से, में, पर,** के' आदि हिन्दी में विभक्तियाँ हैं, जो सदैव एकरूपा हैं। ये विभक्तियाँ विभिन्न कारकों में आ सकती हैं। **'को'** विभक्ति कई कारकों में आ सकती है।

"मैं राम **को** देखता हूँ" वाक्य में **'को'** विभक्ति का प्रयोग कर्म कारक में है। लेकिन "राम **को** अभी सन्ध्या करनी है" वाक्य में **'को'** विभक्ति कर्त्ता-कारक में प्रयुक्त

हुई है। "राम **को** माँ ने दूध दिया" वाक्य की '**को**' विभक्ति संप्रदान कारक में प्रयुक्त है। "सन्ध्या **को** सात बजे आना" वाक्य में '**को**' विभक्ति का प्रयोग अधिकरण कारक में हुआ है। यह दृष्टि आचार्य वाजपेयी जी ने ही दी थी।

इतना ही नहीं आचार्य वाजपेयी ने सर्वप्रथम यह भी हिन्दी-जगत् को बताया कि कारक और विभक्ति की पहचान अर्थ पर निर्भर है। "चार पैसे **पर** ईमान खो दिया।" वाक्य में आयी हुई '**पर**' विभक्ति अधिकरण कारक की नहीं है, अपितु भिन्न है। यह लाक्षणिक प्रयोग है।

"राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण" ही हमें सर्वप्रथम यह बता सका कि "राम **का** लड़का पढ़ता है" वाक्य में '**का**' तद्धित-प्रत्यय है; लेकिन "राम **के** एक लड़का है" में '**के**' संबन्ध-विभक्ति है। विभक्ति सदा एकरूपा होती है; लिंग-वचन के प्रभाव से अछूती। जैसे—

(१) राम **के** एक लड़का है। (२) राम **के** दो लड़के हैं। (३) राम **के** एक लड़की है। (४) राम **के** दो लड़कियाँ हैं।

तद्धित-प्रत्यय के रूप में '**का**' परिवर्तनशील है। जैसे—

(१) राम **का** लड़का (२) राम **की** लड़की (३) राम **के** लड़के (४) राम की लड़कियाँ।

विभक्ति और तद्धित-प्रत्यय का भेद हिन्दी भाषा की प्रकृति का अध्ययन करते हुए सर्वप्रथम हमें आचार्य पं० किशोरीदास जी ने ही बताया था। इतने पर भी आज हिन्दी-भाषा के अनेक शोध-पंडित "राम **का** लड़का पढ़ता है" में आये हुए '**का**' को सम्बन्ध-कारकीय परसर्ग लिखते हैं। अंग्रेजी के प्रभाव में आकर वे भले ही परसर्ग शब्द का प्रयोग 'Postposition' के स्थान में करें; किन्तु वे यह तो समझ लें कि हिन्दी में परसर्ग एकरूप रहते हैं और विशेषणीय तद्धित-प्रत्यय लिंग से प्रभावित होते हैं। निम्नांकित वाक्यों में '**को**' अक्षुण्ण है—(१) लड़के **को** पढ़ाओ (२) लड़की **को** पढ़ाओ। (३) लड़कों **को** पढ़ाओ (४) लड़कियों **को** पढ़ाओ। (५) वह लड़कों **को** पढ़ाए (६) वे लड़कियों **को** पढ़ाएँ।

स्पष्ट है कि इन उपर्युक्त वाक्यों में '**को**' अपरिवर्तनशील है। अतः आचार्य वाजपेयी के मतानुसार '**को**' यहाँ कर्मकारक की विभक्ति है। ऐसी वैज्ञानिक दृष्टि हमें 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' ही सर्वप्रथम प्रदान करता है।

(१) राम **का** लड़का पढ़ता है। (२) राम **की** लड़की पढ़ती है।—इन वाक्यों में '**का**' परिवर्तनशील है; लिंग से प्रभावित है। अतः परसर्ग (विभक्ति) नहीं है; तद्धित-प्रत्यय है।

पंडित कामताप्रसाद गुरु के 'हिन्दी-व्याकरण' के आधार पर ही डा० हरदेव बाहरी का कथन कर्त्तरि-प्रयोग और कर्मणि-प्रयोग के सम्बन्ध (हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप, सन् १९६५ ई०, पृ० १८१) में व्यक्त किया गया है। वह उद्धृत किया जा चुका है।

डा० हरदेव बाहरी लिखते हैं कि हिन्दी में 'मैंने पुस्तक पढ़ी' कर्तरि-प्रयोग है **और** संस्कृत में 'मया पुस्तकं पठितम्' कर्मणि-प्रयोग है। ऐसी भ्रान्तियाँ अनेक हिन्दी-शोध-छात्र कर रहे हैं। 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' यदि स्कूलों और कालेजों के पाठ्य-क्रम में अनिवार्य रूपेण स्वीकृत हो जाता, तो सन् १९५०–५१ ई० में ही ऐसी वाच्य-परक भूलें ठीक हो गयी होती।

"मैंने पुस्तक पढ़ी" वाक्य में **'पुस्तक'** कर्म स्त्रीलिंग—एकवचन है। **'पढ़ी'** क्रिया भी स्त्रीलिंग—एकवचन है। क्रिया कर्म के लिंग, वचन के अनुसार है, अतः 'पढ़ी' कर्म-वाच्य की क्रिया है। यदि कर्म 'ग्रंथ' होता, तो क्रिया 'पढ़ा' होती। जैसे; "मैंने ग्रंथ पढ़ा"। "मया पुस्तकं पठितम्" भी कर्मवाच्य में है।

अतः आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' के प्रशस्त राज-मार्ग पर चलते हुए हम कह सकते हैं कि "मैंने पुस्तक पढ़ी" और "मया पुस्तकं पठितम्" वाक्य की क्रियाएँ कर्मवाच्य में ही हैं। "लड़का पुस्तक **पढ़ता** है" या "लड़की पुस्तक **पढ़ती** है" की क्रियाएँ कर्तृवाच्य में हैं, क्योंकि ये क्रियाएँ लिंग-वचन में कर्ता के अनुसार हैं।

आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी ने 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' (सन् १९५७, पृ० ७८) में स्पष्ट लिखा है कि 'कर्तृ वाच्य' को ही 'कर्तरि प्रयोग' कहते हैं। 'कर्म-वाच्य' और 'कर्मणि-प्रयोग' एक ही बात है।

हिन्दी में भूतकालीन सकर्मक क्रिया भाववाच्य भी होती है—

(१) मैंने लड़की **को** देखा। (भाववाच्य)
(२) लड़के ने लड़कियों **को** देखा। (,, ,,)
(३) लड़की ने लड़कों **को** देखा। (,, ,,)

हिन्दी में संस्कृत की भाँति अकर्मक क्रियाएँ तो भाववाच्य में आती ही हैं। जैसे—

(१) लड़के से नहीं चला जाता।
(२) लड़की से नहीं चला जाता।
(३) लड़कों से नहीं चला जाता।
(४) लड़कियों से नहीं चला जाता।

कर्ता के लिंग-वचन का कोई प्रभाव क्रिया पर नहीं। सर्वत्र **'चला जाता'** प्रयोग है। अतः 'चला जाता' भाववाच्य की क्रिया है।

लेकिन 'लड़का रोता है' और 'लड़की रोती है' में क्रियाएँ कर्तृ वाच्य की **हैं**; क्योंकि लिंग-वचन में कर्ता से प्रभावित हैं।

"राम काशी **गया**"; "सीता शहर **गई**' में क्रियाएँ कर्तरि-प्रयोग (कर्तृवाच्य) की ही हैं—इसे "राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण" सन् १९४९ ई० में ही स्पष्ट कर चुका था। यदि कोई उसे न पढ़े, तो आचार्य किशोरीदास जी वाजपेयी का क्या दोष है?

प्रेरणार्थक क्रियाओं के प्रयोग में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' में कर्ता और कर्म के सम्बन्ध में जो विशिष्ट बात कही है, उसके प्रति

किसी का ध्यान पहले नहीं गया था। निम्नांकित वाक्य में '**कपड़े**' कर्म तो है, किन्तु '**मा**' और '**लड़के से**' पद भी कर्ता कारक में हैं—

(१) **मा लड़के** से **कपड़े** उठवाती है।

इस वाक्य में '**मा**' प्रेरक कर्ता और '**लड़के से**' प्रयोज्य कर्ता है। 'कपड़े' पद तो कर्म कारक में है ही। इसी तरह "तलवार ने शत्रु का सिर काटा" वाक्य पर विचार करते हुए आचार्य वाजपेयी जी ने बताया है कि यह 'करण-कर्तृ' प्रयोग है। यहाँ 'तलवार' करण है, जिसका प्रयोग कर्ता की तरह हुआ है। यहाँ पर कर्म है 'शत्रु का सिर'। अतः '**काटा**' क्रिया कर्मवाच्य में है, जो कर्म के लिंग-वचन के अनुसार है।

इसी तरह "कपड़े सिल रहे हैं" में क्रिया अपने कर्म 'कपड़े' के लिंग-वचन के अनुसार है। यहाँ कर्म को कर्ता के रूप में प्रयुक्त किया गया है। अतः यह कर्मकर्तृक प्रयोग है।

ये सारी समस्याएँ 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' में उठायी गयी हैं और उनका तर्कपूर्ण शैली में समाधान प्रस्तुत किया गया है। हिन्दीतर प्रदेशों के हिन्दी-पाठकों के लिए 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' राजमार्ग प्रस्तुत करता है।

हिन्दी की धातु √'ह्' का विकास सं० √अस् से है—सं० अस् ≥ अह् > अहहि > अहइ > अहै > है। अहहिं > अहइँ > अहैं > हैं। करहि > करइ > करै = करता है—यह सब कुछ 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' में है।

तुलसीदास ने "रामचरितमानस' (बाल० दो० २८३।१) में 'जानहि' का प्रयोग 'तू जानता है' के अर्थ में किया है। जानहि = जानइ = जानै = जानता है। क्रिया के इस वर्तमानकालीन प्रयोग के मूल और विकास पर सर्वप्रथम आचार्य किशोरीदास जी वाजपेयी ने सन् १९४९ ई० में ही प्रकाश डाल दिया था। अवधी० जानहि, जानइ = ब्रजी० जानै।

हिन्दी के अपने समास और संधियाँ कुछ अपनी व्यक्तिगत विशिष्टताएँ रखती हैं—इसे 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' में **दीनानाथ, मूसलाधार** और **सत्यानाश** शब्दों को प्रस्तुत करके स्पष्ट किया गया है। दीन + नाथ = दीनानाथ। मूसल + धार = मूसलाधार।

अभी तक किसी भाषाशास्त्री ने इस बात का पता नहीं लगाया कि हिन्दी (राष्ट्रभाषा हिन्दी) की वास्तविक जननी कौन-सी अपभ्रंश है? हमें किसी अपभ्रंश में ऐसे रूप नहीं मिलते, जिसके व्याकरणिक रूप में "**लड़का आया**" और "**लड़के आए**" मूल में अन्तर्निहित हों। आचार्य वाजपेयी जी ने लिखा है कि संभावित प्राकृत रूप "पुत्ता आगदा" से हिन्दी में "लड़का आया" और "पुत्ते आगदे" से हिन्दी में "लड़के आये" विकसित हैं। जब तक वास्तविक मूल प्राकृत या अपभ्रंश का पता नहीं लगता, तब तक वाजपेयी जी की संभावना को आधार माना जा सकता है। हेमचंद ने अपने अपभ्रंश-व्याकरण में पुंलिग-एकवचन संज्ञा '**घोड़ो**' और बहुवचन संज्ञा '**घोड़ा**' का उल्लेख किया

है। राजस्थानी और गुजराती में ऐसी स्थिति पायी जाती है। ब्रजभाषा में एकवचन में 'पामरौ' और बहुवचन में 'पामरे' संज्ञा रूप होते हैं। किन्तु मानक हिन्दी अर्थात् राष्ट्रभाषा हिन्दी में एकवचन **'फावड़ा'** और बहुवचन **'फावड़े'** होता है। हेमचंद्रीय अपभ्रंश भी राष्ट्रभाषा की स्रोत-समस्या को हल नहीं करती। हाँ **"ढोल्ला साँवला धण चंपा वर्ण्णी"** (अपभ्रंश-व्याकरण ८।४।३३०।१) और **"भल्ला हुआ** जो मारिआ **बहिणि** महारा कंतु" (अपभ्रंश व्या० ८।४।३५१।१) जैसे दो उदाहरण आकारांत संज्ञा, विशेषण और क्रिया के मूल की ओर कुछ संकेत अवश्य करते हैं। शेष सब उदाहरण राष्ट्रभाषा हिन्दी के मूल को सिद्ध करने के लिए मौन हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी केवल "भल्ला हुआ, जो मरिआ...." को उद्धृत करके शौरसेनी अपभ्रंश को हिन्दी की मूल जननी-भाषा बताया है, जो संतोषप्रद नहीं माना जा सकता। राष्ट्रभाषा हिन्दी की जननी अपभ्रंश कौन सी है—इसकी खोज करना बहुत आवश्यक है। देखें, कौन हिन्दी-शोध-पंडित आचार्य किशोरीदास वाजपेयी की संभावित प्राकृत को वास्तविक प्राकृत बताने में बाज़ी मारता है।

हिन्दी के व्याकरण के साथ-साथ आचार्य वाजपेयी जी ने वर्तनी समस्या का भी समाधान अपने 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' द्वारा किया है। उन्होंने हिन्दी-जगत् को बताया कि हिन्दी में **'छह'**, **'लताएँ' हुए, गये, गयी, राष्ट्रीय** आदि लिखना चाहिए। अंग्रेजी 'In' के लिए **'अन्तर्'** और 'Inter' के लिए **'अन्तर'** लिखना ठीक है। जैसे Inter University अन्तरविश्वविद्यालय, Inland letter अन्तर्देशीय पत्र।

पहले अनेक हिन्दी लेखक अपनी-अपनी ढपली पर अपना-अपना राग अलाप रहे थे। कोई **'एकतारा'** लिखता था और कोई **'इकतारा'**। कोई **'दोपहरी'** लिखता था और कोई **'दुपहरी'**। आचार्य वाजपेयी जी ने बताया कि हिन्दी अपने ठेठ शब्दों में या तद्भव शब्दों में कुछ परिवर्तन कर लेती है अर्थात् आद्य स्वर यदि दीर्घ हुआ, तो उसे प्रायः ह्रस्व कर देती है। जैसे—**इकतारा, दुपहरी, पँचमेल, अठपहलू** आदि।

हिन्दी के भाषाविदों ने बहुत कुछ आचार्य वाजपेयी जी के ग्रंथों से लिया है, किन्तु उनका ऋण तथा आभार स्वीकार न करने के कारण यदि आचार्य जी को कुछ क्रोध या आक्रोश आ जाता है, तो हिन्दी के लेखक बुरा क्यों मान जाते हैं? चोरी पर सीनाजोरी किसे बुरी नहीं लगती? यदि हम यह भी मान लें कि आचार्य वाजपेयी स्वभाव से कुछ खुरखुरे और अक्खड़ हैं, तो भी हम लोगों को हिन्दी भाषा के कल्याण की दृष्टि से उनके नखरे सह लेने चाहिए। थोड़ी सी नाज़बरदारी उठाकर हम उनसे हिन्दी का कल्याण करा लें, तो अच्छा ही है। "लात मार पुचकारिए होइ दुधारू धेनु" का सिद्धान्त हमें ग्रहण करना चाहिए। महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डा० अमरनाथ झा और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे साहित्य-महारथियों के लिए हमारे कोटिशः प्रणाम अर्पित हैं कि उन्होंने आचार्य किशोरीदास वाजपेयी की नाज़रबरदारी उठा करके उनसे हिन्दी भाषा का व्याकरण लिखा लिया। यदि हम इस वर्तमान हिन्दी-पाणिनि की नाज़बरदारी उठाते रहेंगे, तो हमें काव्यशास्त्र पर भी अमूल्य ग्रंथ मिल सकता है।

वैसे 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' और 'हिन्दी शब्दानुशासन' लिखकर ही आचार्य वाजपेयी अमर हैं और रहेंगे। मैं इनके दीर्घायुष्य के लिए प्रभु से प्रार्थना करता हूँ और उत्तर प्रदेश के विश्वविद्यालयों से अनुरोध करता हूँ कि वे इस मनीषी को डी० लिट्० की उपाधि से संमानित करके अपने को कृतार्थ करें।

हिन्दी-जगत् से मैं यहाँ अपने मन की सच्ची अनुभूति भी कहना चाहता हूँ। आचार्य जी से मैं तब से परिचित हूँ जब वे 'मराल' (आगरा) के संपादक थे। मैंने हिन्दी-व्याकरण के क्षेत्र में उनके ग्रंथों से बहुत-कुछ सीखा है। इस क्षेत्र में मैं उन्हें अपना गुरु मानता हूँ। उनके मेरे व्यक्तिगत संबंध भी हैं। सच्ची बात यह है कि वे नारिकेल की भाँति हैं। सरल, सच्चे और विनीत व्यक्ति के लिए पंडित जी बड़े सरल, सरस और आकर्षक हैं। निष्कपट होकर उनसे मन की सच्ची बात कहिए और तब देखिए कि उनके हृदय से कैसी मंदाकिनी प्रवाहित होती है।

संस्कृत का आदि वैयाकरण इन्द्र था, फिर भी पाणिनि ही संस्कृत के मूर्द्धन्य वैयाकरण प्रसिद्ध हुए। उसी तरह हिन्दी के अनेक वैयाकरण होने पर भी हिन्दी के पाणिनि के रूप में आचार्य वाजपेयी ही समादृत किये जाएँगे। अब हिन्दी-जगत् उनकी मान्यताओं को स्वीकार करता जा रहा है। इस विपुला पृथ्वी पर आचार्य वाजपेयी जी के समानधर्मा उत्पन्न होते जा रहे हैं और भविष्य में भी होंगे। एक भाषाविज्ञान का ग्रंथ प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा तथा डा० रामदेव त्रिपाठी आचार्य, डी० लिट्० ने 'हिन्दी भाषा का विकास' (सन् १९७१ ई०) नाम से लिखा है। उसमें लेखक-द्वय ने आचार्य जी के निष्कर्षों को साभार स्वीकार किया है और वह पुस्तक श्री कामताप्रसाद गुरु तथा आचार्य किशोरीदास वाजपेयी को समर्पित भी की गयी है। लेखक-द्वय ने श्री गुरु को हिन्दी-व्याकरण का व्यवस्थापक और आचार्य वाजपेयी को परिष्कारक माना है। हिन्दी के इस पाणिनि के चरणों में मेरा शतशः नमन। आचार्य वाजपेयी विजयतेतराम्।



ब्रजभाषा का व्याकरण[1]

डा० कैलाशचन्द्र भाटिया,

प्रोफेसर—लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय अकादमी,

मसूरी—२४८१७९ (उ० प्र०)।

आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी हिन्दी की प्रकृति पर मौलिक दृष्टि से चिन्तन एवं अनुशीलन गत आधी शताब्दी से कर रहे हैं। उन्होंने अब तक इस दिशा में अनेक पुस्तकें लिखी हैं। हिन्दी भाषा की विभिन्न समस्याओं पर जितने शोधपूर्ण लेख आचार्य वाजपेयी ने लिखे हैं, किसी दूसरे ने नहीं। सामयिक समस्याओं पर आपने सटीक टिप्पणियाँ बड़ी निर्भीकता से समय समय पर लिखी हैं।

आपके द्वारा लिखी गई भाषापरक पुस्तकों में सर्वप्रथम 'ब्रजभाषा व्याकरण' (सन् १९४३ ई०)[2] ही हैं, जिसके बाद 'अच्छी हिन्दी का नमूना' (सन् १९४८) तथा 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण (१९५३ ई०) हैं। 'ब्रजभाषा का व्याकरण' पर व्याकरणाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने ही अपने एक लेख में आलोचना की थी और इसे हिंदी के व्याकरणों का व्याकरण[3] बतलाया था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि 'ब्रज साहित्य मंडल' के तत्वावधान में ब्रजभाषा के व्याकरण के निर्माण के लिए जो समिति बनाई गई थी उसमें डा० धीरेन्द्र वर्मा, श्री रसिकेन्दु जी के साथ आचार्य वाजपेयी भी सम्मिलित थे।

इस पुस्तक की सर्वाधिक विशेषता यह है कि इसकी विस्तृत भूमिका में (पृ०१–८७) पहली बार परिनिष्ठित हिंदी की ज्वलन्त समस्याओं पर लिखा गया जिसमें उपक्रम, व्याकरण का रूप, हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, हिन्दी के विविध रूप, भाषा का स्वरूप तथा अंग विन्यास, शब्दों का स्वागत, शुद्धि और शासन, शब्दों का अनुशासन, वाक्यविन्यास, वाक्य और महावाक्य, सन्धियाँ, वर्णलोप, सन्धि की अनिवार्यवता, ह्रस्व-विधान, विभक्ति और कारक, कारक, शब्द ही कारक नहीं हैं, विभक्ति सटाकर या हटाकर, क्रियाओं के वाच्य, कर्ता के अनुसार क्रिया, कर्मवाक्य, भाववाच्य, आदि ४७ शीर्षक

---

१. ब्रजभाषा का व्याकरण—पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री, संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण, १९४८, प्र० रामनारायणलाल, प्रयाग।

२. हाल में प्रकाशित लेख (आचार्य वाजपेयी जी) के अनुसार प्रकाशन वर्ष १९४४ था।

३. वस्तुतः पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी जी ने इस ग्रंथ के भूमिका भाग को यह बतलाया था।

सम्मिलित हैं। इनमें से प्रारंभिक ३२ शीर्षकों का सीधा संबंध हिन्दी के परिनिष्ठित रूप से है। आचार्य वाजपेयी जी के आगे के चिन्तन का वस्तुतः यही मूलाधार है।

मूल पुस्तक फिर आगे के दस अध्यायों में विभक्त है—कारक और विभक्तियाँ (८६–११८), विशेषण (११९–१२८), अव्यय (१२९–१३९), मूल क्रिया और उनके प्रयोग (१४०––१७४), क्रिया का विकास (१७५–१९१), क्रिया के दो महत्व-पूर्ण प्रयोग-भेद (१९१–२०८), कृदन्त प्रकरण (२०९–२२४), तद्धित प्रत्यय (२२५–२३०), समास (२३१–२३४) तथा प्रकीर्णक (२३५–२५६)। 'प्रकीर्णक' के अन्तर्गत डा० धीरेन्द्र वर्मा का व्रजभाषा व्याकरण, भाषाविज्ञान की एक उलझन, पद-व्याख्या का दिग्दर्शन आदि शीर्षक सम्मिलित हैं।

पुस्तक के प्रारम्भ में ही 'व्रजभाषा' का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा गया है, 'ब्रजभाषा हिन्दी की एक प्रधान 'बोली' है जिसे सबसे पहले साहित्यिक रूप-मिला।' आचार्य जी के अनुसार तीन बातें महत्वपूर्ण हैं––व्याकरण का सामान्य स्वरूप, भाषा, हिन्दी के प्रचलित व्याकरण। उनके अनुसार 'यदि यह विषय छोड़ दिया जाय तो 'व्रजभाषा का व्याकरण' कच्ची नींव पर रहेगा। आचार्य जी ने केवल चार बोलियों को प्रधानता दी है जिनको 'साहित्यिक' रूप दिया गया—व्रजभाषा, अवधी, मेरठी (राष्ट्र-भाषा के रूप में गृहीत) तथा राजस्थानी। ब्रज की 'बोली' क्यों एक व्यापक साहित्यिक भाषा बन गयी ? (कई कारणों से) देश भर ने इसे साहित्यिक भाषा के रूप में ग्रहण किया था।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्य वाजपेयी जी को ब्रजभाषा का सम्यक् ज्ञान था—साहित्यिक तथा उच्चरित दोनों। आपने ब्रजवास भी कई बार किया था–– और विशेष रूप से वृन्दावन। साहित्यिक दृष्टि से ब्रजभाषा में काव्य-रचना भी की। काव्यमर्मज्ञ आप प्रारम्भ से रहे हैं। ब्रजभाषा में रचित तीन सौ दोहों का संग्रह 'तरंगिणी' शीर्षक से प्रकाशित भी हुआ था। इस काव्यसंग्रह को युगदेन कहा जा सकता है क्योंकि इसकी तत्कालीन सभी सुप्रसिद्ध आलोचकों ने प्रशंसा की थी जिनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा पं० कृष्णविहारी मिश्र आदि उल्लेखनीय हैं।

ब्रजभाषा का यह व्याकरण किसी स्थान विशेष की बोली का व्याकरण नहीं है वरन् ब्रजभाषा के उस साहित्यिक रूप का व्याकरण है जो व्यापक क्षेत्र में समझी जाती थी और काफी लम्बे काल तक 'काव्यभाषा' के रूप में प्रतिष्ठित रही। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य जी ने लिखा है—'ब्रजभाषा-कविता की भाषा को ब्रज में बोली जानेवाली 'बोली' से बिल्कुल मिलाकर देखना गलती है। दोनों में वही अन्तर मिलेगा जो सुन्दर उपवन में और कुदरती जंगल में होता है।···बुन्देलखण्डी, अवधी तथा मेरठी आदि बोलियों का प्रत्यक्ष प्रभाव साहित्यिक ब्रजभाषा पर पड़ा है विशेषतः बुन्देलखण्डी का।······ मैं साहित्यिक ब्रजभाषा की बात कर रहा हूँ, भौगोलिक ब्रजबोली की नहीं। वह तो संकुचित दायरे में है।' इस हेतु भिखारीदास का कथन दिया गया है :

भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहैं सुमति सब लोय।
मिलै संस्कृत फारसी, पै अति सुगम जु होय।।

(काव्य-निर्णय से)

वैसे वाजपेयी जी ने भी यह स्वीकार किया हैं कि 'विशुद्ध ब्रजभाषा मथुरा और उसके आस पास के जिलों ही में समझी जाती है (पृ० ७०); और मैं तो साहित्यिक ब्रजभाषा की बात कर रहा हूँ भौगोलिक ब्रजबोली की नहीं। वह तो संकुचित दायरे में है' (पृ० ७४)—उनकी महत्वपूर्ण उक्ति है जिसके लिए आपने अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ ब्रज में 'को' के स्थान पर 'कूँ' है जब कि साहित्यिक 'ब्रज में 'कौं', जो बाद में जाकर कहीं-कहीं 'को' भी हो गया।

इस दृष्टि से आचार्य जी ने सूरदास जी को आदर्श ब्रजभाषा का कवि माना है और उनका संपूर्ण व्याकरण भी लगभग 'सूरसागर' पर आधारित है। अभी जनवरी के तृतीय सप्ताह में क० मुं हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ के तत्वावधान में आयोजित सूर पंच-शती संगोष्ठी में सुप्रसिद्ध आलोचक डा० नामवर सिंह ने सूर के महत्व को प्रतिपादित करते हुए स्पष्ट किया कि सर्वोपरि महत्व यह है कि महाकवि सूर ने 'काव्यभाषा' का ऐसा स्वरूप हमारे सामने रखा जो शताब्दियों तक अन्य कवियों का आधार बना रहा। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर ने लिखा है कि "ब्रज में बोली जाने वाली 'बोली' अपने उसी रूप में साहित्य की ब्रजभाषा नहीं बन गई है। उसमें बहुत कुछ खरास-तरास और परि-वर्तन-परिवर्द्धन हुआ है।"

मूल व्याकरण के प्रारंभ में ब्रजभाषा के कारक और विभक्तियों (ओ, ने, कौं, हि, सौं, ते (तें), को (के) की, (में) (मैं), महँ (माहिँ) पै, पर) पर विचार विस्तार से किया गया है। अन्य कारकीय रूप जैसे पै, कौं– कौं का भी कर्त्ता के रूप में प्रयोग मिलता है इसका उद्घाटन किया गया है। 'पै' के विविध प्रयोगों की विशद व्याख्या की गई है और कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य के सूक्ष्म भेद को स्पष्ट किया गया है। इस संबंध में दिया गया मुख्य नियम द्रष्टव्य है :—

> "जब क्रिया कर्तृवाच्य होती है उसके साथ कोई विभक्ति नहीं लगती। वर्तमान-काल भविष्यत्काल में विधि तथा आज्ञा ही प्रायः कर्तृवाच्य क्रियाएँ होती हैं। अकर्मक क्रियाएँ भूतकाल में भी कर्तृवाच्य होती हैं।"

दोनों का अन्तर स्पष्ट किया गया है :

१. बेंचत फिरति मधुर दधि गोपी।

वर्त०। स्त्री — कर्ता। स्त्री

२. बेंचत फिरत दवाई मोहन।

। कर्ता। पुं०।

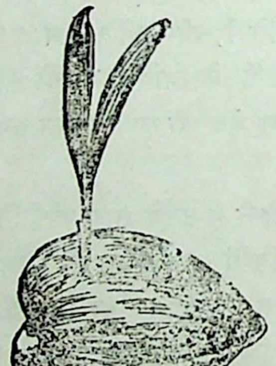
इस प्रकार सर्वनाम (११४–११८), विशेषण (उद्देश्य तथा विधेय दोनों रूपों में) का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। ब्रजभाषा की मूल प्रवृत्ति की ओर भी यहाँ संकेत है "ब्रजभाषा में अधिकांशतः 'ओ' का व्यवहार होता है--झगरो, कियो, गयो आदि। यानी 'आ' की जगह 'ओ' प्रायिक है ब्रजभाषा में।"

उदाहरणार्थ :--कारो (काला), पीरो (पीला), मीठो (मीठा)।

विशेषण-विशेषण की बात सर्वप्रथम आचार्य वाजपेयी जी ने इस पुस्तक में स्पष्ट की है। 'अति के मीठे वचन' में 'अति' विशेषण-विशेषण है। यहीं यह उल्लेखनीय है कि उस समय कुछ वैयाकरण इसको 'अन्तविशेषण' से अभिहित कर रहे थे।

'मूलक्रिया और उनके प्रयोग' में वाजपेयी जी ने काफी मौलिक प्रश्नों को उठाया है और स्पष्टीकरण भी दिया है। पग पग पर उनका चिन्तन देखा जा सकता है। 'उठना, बैठना, रोना, लजाना, मूल अकर्मक क्रियाएँ हुईं। प्रेरणा आदि में इनके रूप कुछ और हो जाते हैं। अकर्मक क्रियाओं के 'कर्मकर्तृ' प्रयोग हो ही नहीं सकते क्योंकि कर्म यहाँ है ही नहीं।. . . . .सकर्मक मूल क्रियाओं के 'कर्मकर्तृ' रूप को मूल क्रिया मान लिया है। विकास को मूल रूप मान लिया (पृ०१४३)। इस दृष्टि से क्रिया का विवेचन अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

पिछले २५ वर्षों में ब्रजभाषा पर अनेक कार्य हुए हैं, ब्रज के प्रत्येक जिले (मथुरा, आगरा, अलीगढ़, बुलन्दशहर, ग्वालियर, एटा, आदि) पर बोली-विज्ञान की दृष्टि से शोधकार्य हो चुके हैं फिर भी वाजपेयी जी के ब्रजभाषा व्याकरण का महत्व बना हुआ है।



हिन्दी शब्दानुशासन

डा० रामविलास शर्मा

अंग्रेजी की दासता से मुक्ति पाने के बाद भारतीय जनता के सामने नयी भाषा-सम्बन्धी समस्याओं का प्रस्तुत होना स्वाभाविक है। जनता की राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यवाही पहले की अपेक्षा कहीं बड़े पैमाने पर उसकी अपनी भाषाओं में होगी। इसलिये भाषा का परिनिष्ठित रूप होना, उसके शब्द-प्रयोगों और वाक्य-रचना आदि के बारे में सर्वस्वीकृत मान्यताओं का स्थिर होना आवश्यक है। इस कार्य की ओर हिन्दी के विद्वान् पहले से भी सचेत हैं जिनमें पं० किशोरीदास वाजपेयी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिन्दी शब्दानुशासन के मार्ग में दो बाधाएँ हैं। पहली संस्कृत के अनुरूप हिन्दी व्याकरण रचने की प्रवृति; दूसरी इस क्षेत्र में यूरोप के विद्वानों—विशेषकर अंग्रेज भाषा-वैज्ञानिकों—के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति। प्रसन्नता की बात है कि वाजपेयी जी ने दोनों बाधाओं की चिन्ता न करके इस विषय पर अपनी पुस्तक लिखी है।

"हिन्दी शब्दानुशासन" में शब्दों के प्रयोग, वाक्य-रचना आदि के बारे में जो कुछ कहा गया है, वह तो महत्वपूर्ण है ही, सभी भाषाशास्त्रियों के ध्यान देने की बात इसमें वाजपेयी जी का भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण है।

भाषा स्थिर है या परिवर्तनशील? वाजपेयी जी भाषा को दीर्घजीवी मानते हैं, साथ ही वह परिवर्तनशील भी है। उसमें यह परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होता है। "काल की ही तरह देश-भेद से भी भाषा बदलती है, बहुत धीरे-धीरे।" (पृ० ४) तथा—"लाखों करोड़ों वर्ष अच्छी भाषा जीवित रहती है।" (उप०)। भाषा के इस दीर्घ जीवन को ध्यान में रखकर ही यह बात समझ में आ सकती है कि आधुनिक भाषाओं के अनेक तत्व बहुत ही पुराने हैं, भले ही किसी भाषा का जीवन अक्षरशः करोड़ों वर्ष का सिद्ध न हो सके। भाषा की आयु मानव-समाज की आयु पर ही निर्भर है।

भाषा के कौन से तत्व जल्दी बदलते हैं, कौन से देर में बदलते हैं या नहीं बदलते, इस विषय में वाजपेयी जी ने लिखा है, "किसी भी भाषा के मूल शब्द उसका 'मूल धन' हैं, या होते हैं—१—क्रियापद, २—अव्यय, ३—विभक्तियाँ तथा ४—सर्वनाम। ये चार मुख्य स्तम्भ हैं, जिन पर किसी भी भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व टिका रहता है। ये शब्द कभी बदलते नहीं, कभी किसी दूसरी भाषा से कोई भाषा नहीं लेती।" (पृ ४०)। यदि इस नियम के अनुसार हिंदी-उर्दू समस्या पर विचार किया जाय तो बहुत जल्दी समझ में आ जाय कि ये दोनों भिन्न भाषाएँ हैं या एक हैं। इसी प्रकार अवधी, ब्रज, बुंदेलखंडी, स्वतंत्र भाषाएँ हैं या हिन्दी की बोलियाँ हैं—इस प्रश्न का उत्तर देने में भी सहायता मिले। वास्तव में भाषा-विज्ञान के अनेक पंडित भाषा के "मूल धन" की समस्या से परिचित ही नहीं हैं। इसी कारण तमिल आदि दक्षिण की भाषाओं के मूल धन पर ध्यान

न देकर उन्हें भी संस्कृत की पुत्रियाँ कह दिया जाता है। क्रियापद, सर्वनाम आदि तत्वों का भी आदान-प्रदान होता है यथा "आजमाना" क्रिया, किन्तु इस तरह के उदाहरणों से यह सिद्ध नहीं होता कि भाषा की स्वतन्त्रता उपर्युक्त तत्त्वों पर अवलंबित नहीं हैं।

वाजपेयी जी भाषा को विकासमान समझते हैं; जनता के प्रयोग भाषा की मुख्य नियामक शक्ति हैं। उनका कहना है कि "जन-प्रवाह ने जिस शब्द को जैसा बना दिया है, वह वैसा बन गया।" (पृ० ४३)। यदि जन-प्रवाह के प्रति हिन्दी विद्वानों की धारणा होती तो उनकी शैली तत्सम-प्रधान न होकर सरल, तद्भव-प्रधान, भारतेन्दु और प्रेमचन्द की शैली के अधिक निकट होती। वाजपेयी जी को तद्भव शब्दों से प्रेम है। जनप्रवाह को महत्व देने के कारण वे हिन्दी की प्रकृति को हिन्दी के अन्य वैयाकरणों और भाषा-विज्ञानियों की अपेक्षा ज्यादा पहचानते हैं। उन्होंने उचित ओज से घोषित किया है, "तद्भव शब्दों का तो अटूट भंडार है और इनकी जगह संस्कृत के तद्रूप शब्द चल ही नहीं सकते, जैसे दस, बीस।" (पृ० ४४)। वे व्याकरण का महत्व जानते हैं और उसकी सीमाएँ भी पहचानते हैं। "व्याकरण का दर्पभंग, पद-प्रयोग के मार्ग में, जनता कर देती है।" (पृ० ६२)। "जब पाणिनि का प्रयोग भाषा में गति-विरुद्ध होने के कारण नहीं चला, तो हम पामर जनों की चर्चा ही क्या!" (पृ० ८०)। "बीस-बीस करोड़ जनता के प्रवाह को नियम बना कर कैसे कोई मोड़े?" (पृ० १८५)। हिन्दी ही नहीं, अनेक अहिन्दी भाषा-विज्ञानी कभी कभी हिन्दी व्याकरण को अपनी रुचि के अनुसार गढ़ने की इच्छा प्रकट करते हैं। विषेश रूप से वे चाहते हैं कि हिन्दी से लिंगभेद मिटा दिया जाय। लेकिन जनप्रवाह को नियम बनाकर मोड़े कौन? "हिन्दी ही नहीं, सभी भाषाओं की अपनी प्रकृति होती है। उसे कोई व्याकरण क्या, महाव्याकरण भी बदल नहीं सकता।" (पृ०५७)। वाजपेयी जी ने बार-बार हिन्दी की प्रकृति पर जोर दिया है, उसे स्वतन्त्र भाषा मानकर उसकी विशेषताओं का अध्ययन किया है। सही वैज्ञानिक पद्धति भी यही है। इसके विपरीत उन विद्वानों का व्यवहार है जो न संस्कृत की प्रकृति पहचानते हैं, न हिन्दी की। अपने मन से गढ़े हुए—अथवा संस्कृत से उधार लिये हुए—चौखटे में हिन्दी के हाथ-पैर बाँध देते हैं।

ऊपर के उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्याकरण जैसे विषय पर भी पुस्तक लिखने में विवेचन का सामाजिक दृष्टिकोण महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। यदि वह जनता को मूर्ख, शुद्ध भाषा को बिगाड़नेवाली, विद्वानों को ही भाषा का मूल स्रोत और स्व-रचित व्याकरण को भाषा का नियामक माने तो वह कभी वैज्ञानिक पद्धति से इस विषय पर पुस्तक नहीं लिख सकता। वाजपेयी जी को हिन्दी के शब्दों से प्रेम है; वे उनके लिये कोश में दर्ज मृत इकाई न होकर जीते जागते प्राणी हैं जिनका व्यवहार देखकर कभी वे विस्मय में पड़ जाते हैं, कभी स्वयं उनके साथ खेलने लगते हैं, परन्तु सदा ही उनकी गतिविधि का अध्ययन करते रहते हैं। शब्द ही नहीं, वर्णों की प्रकृति का उल्लेख वे यों करते हैं मानों वे प्राणियों के समान विशेषताओं वाले हों। ह के साथ ह नहीं मिलता; स के साथ स मिल जाता है। क्यों? "स की अपेक्षा ह जोरदार है—असली बब्बर।"

(पृ० ९९)। अनुनासिक वर्णों की चर्चा करते हुए उन्हें याद आ जाता है—"कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि।" और वे एक उपमा ढूंढ़ लाते हैं, "जैसा 'न' वैसा ही अनुस्वार मधुर। दूध और मिसरी का मेल।" (पृ० ९७)। इस शब्द-प्रेम के साथ उनकी विचारपद्धति दर्शनीय है। वे भाषा-तत्वों को स्थिर न मानकर गतिशील और परिवर्तनशील मानते हैं। "भाषा के प्रवाह में बहते-बहते कई संश्लिष्ट शब्द विश्लिष्ट हो जाते हैं और कई विश्लिष्ट संश्लिष्ट होकर चलने लगते हैं।" (पृ० १४६)। इसलिये शब्दों के रूप को स्थिर न मानकर परिवर्तनशील समझते हुए ही विवेचन करना उचित होता है।

दृष्टिकोण और विचार पद्धति के बाद इस पुस्तक की विशेषता है, संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के परस्पर संबन्ध का विवेचन। संस्कृत और हिन्दी का सम्बन्ध ठीक से न समझने के कारण न जाने कितना अनर्थ हुआ है और हो रहा है। उसे राष्ट्रभाषा बनाने के फेर में बहुत से लेखक उसकी प्रकृति की अवहेलना करके उसे संस्कृत की ओर घसीटने का प्रयास करते रहे हैं। वाजपेयी जी ने अपनी पुस्तक के आरंभ में ही लिखा है, "हिन्दी की उत्पत्ति उस संस्कृत भाषा से नहीं है, जो कि वेदों में, उपनिषदों में तथा वाल्मीकि या कालिदास आदि के काव्य-ग्रंथों में हमें उपलब्ध है।" (पृ० १)। इस वाक्य को मोटे-मोटे अक्षरों में लिख कर हर कोशनिर्माण कार्यालय, नागरी प्रचारिणी सभा और साहित्य-सम्मेलन की हर शाखा के दफ्तर और प्रत्येक विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में टाँग देना चाहिए जिससे कि आये दिन हिन्दी को संस्कृत की पुत्री न घोषित किया जाय। पुत्री घोषित करने का कारण भाषा के शब्दभंडार से भिन्न, उसके व्याकरण के महत्व को न पहचानना है। वाजपेयी जी ने उचित ही प्रश्न किया है, "करोति से 'करता है' एकदम कैसे निकल पड़ेगा? रामः करोति की तरह सीता करोति भी संस्कृत में चलता है, परंतु हिन्दी में 'लड़का चलता है, करता है, खाता है' और 'लड़की चलती है, करती है, खाती है' होता है। कितना अन्तर! यह ठीक है कि 'चल, खा, कर' शब्द-रूप संस्कृत के 'चल्, कृ, खाद्' से मिलते-जुलते हैं। परंतु इस मेलजोल का यह मतलब नहीं कि 'चलति' से 'चलता है' निकल पड़ा! दोनों की चाल एकदम अलग-अलग है।" यह तर्क-पद्धति बिलकुल सही है। जब तक यह सिद्ध नहीं होता कि हिन्दी व्याकरण की विशेषताओं का मूल स्रोत संस्कृत-व्याकरण है, तब तक शब्द-साम्य के आधार पर हिन्दी को संस्कृत की पुत्री नहीं कहा जा सकता।

वाजपेयी जी संस्कृत और हिन्दी को किसी एक मूल भाषा की दो शाखाएँ मानते हैं। "दोनों का पृथक् और स्वतंत्र पद्धति पर विकास हुआ है; परंतु हैं दोनों एक ही मूल भाषा की शाखाएँ। बहुत बड़ी-बड़ी शाखाएँ हैं ये; इतनी बड़ी कि तना कहीं दिखाई भी नहीं देता और इतना विस्तार कि कोई सहसा समझ नहीं पाता कि कहाँ से ये चली हैं!" (पृ० १)। इससे सिद्ध हुआ कि वाजपेयी जी के अनुसार हिन्दी के अनेक मूल तत्व अत्यंत प्राचीन हैं और संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की सीढ़ी के सहारे हम हिन्दी की प्रकृति तक नहीं पहुँच सकते। वाजपेयी जी ने एक मिसाल दी है: 'इस पुस्तक की चार प्रतियाँ हमें देना।' उपसर्ग प्रति का प्रयोग संज्ञा की तरह हुआ है। यह प्रवृत्ति हिन्दी में कहाँ से आई?

"हिन्दी में यों उपसर्गों का स्वतंत्र प्रयोग करने की प्रवृत्ति 'मूल भाषा' से ही आई है।" (पृ० २५)।

संस्कृत के आकारान्त स्त्रीवाचक शब्दों को हिन्दी उनकी "लंबमानता" हटाकर अपनाती है: द्राक्षा को दाख, खट्वा को खाट बनाकर। "तो, यह संस्कृत (तथा उपलब्ध प्राकृतों) से एकदम उलटी पद्धति है न? यह पद्धति प्राकृत के किस रूप से आई? 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में जो जनभाषा व्यवहृत होती होगी, उसी की यह पद्धति हो सकती है।" (पृ० १९)। इस तरह के उदाहरण देकर वाजपेयी जी ने संस्कृत से भिन्न हिन्दी की विशेषताओं का प्रतिपादन किया है। यहाँ उनका संकेत इस तथ्य की ओर भी जान पड़ता है कि संस्कृत के समानान्तर यहाँ विभिन्न जनपदों में अन्य भाषाएँ बोली जाती थीं। उन्हीं प्राचीन भाषाओं से हिन्दी आदि नवीन भाषाओं का उद्भव और विकास हुआ है।

हिन्दी में 'तुम्हीं ने' 'हमीं ने', आदि प्रयोग उचित हैं। हम और ने के बीच में में 'ही' आ गया। "यह हिन्दी की प्रकृति है। संस्कृत में ऐसा नहीं होता।" (पृ० २५)। संस्कृत में राष्ट्रिय भले शुद्ध हो, हिन्दी में राष्ट्रीय ही चलेगा क्योंकि "हिन्दी एक स्वतंत्र भाषा है" और "वह अपने क्षेत्र में सार्वभौम सत्ता रखती है।" (पृ० ५६)। इसी तरह 'विस्तार से' की जगह 'विस्तर से' न चलेगा। संस्कृत में दीनबन्धु किन्तु हिन्दी में दीनबन्धु के साथ दीनानाथ भी ठीक है। ऐसे ही मूसलाधार और सत्यानाश शब्द ठीक हैं क्योंकि "हिन्दी सर्वत्र संस्कृत-नियमों से बँधी नहीं है।" (पृ० ५८)। संस्कृत और हिन्दी की प्रकृति में अन्य भेद इस प्रकार हैं। हिन्दी की प्रवृत्ति अनुनासिक-प्रधान है, संस्कृत की अनुस्वार-प्रधान। (पृ० ९०)। संस्कृत में विसर्गों के बिना काम नहीं चलता। "ठेठ हिन्दी शब्दों में विसर्ग कहीं न मिलेंगे।" (पृ० ९३)। क्या हम इसे भाषा का ह्रास कहें? नहीं, "उस झंझट से अलग होने का ही परिणाम तो भाषा-विकास है।" (उप०)। अनेक पुनरुत्थानवादियों के विपरीत वाजपेयी जी को इस बात पर जरा भी अफसोस नहीं है कि संस्कृत अब भारत की राष्ट्रभाषा नहीं है। न वे इस कार्य में दत्तचित्त हैं कि उसे फिर राष्ट्रभाषा बनाया जाय। लेखक के निवेदन में उनका दावा है, "निःसन्देह हिन्दी की पद्धति संस्कृत से भी अधिक कलात्मक तथा वैज्ञानिक है, यह आप स्वयं इस पुस्तक का अध्ययन करके कहेंगे।"

प्राकृतों को वाजपेयी जी ने कृत्रिम बतलाया है। साहित्यिक प्राकृतें मूलतः संस्कृत के शब्द भंडार को और अधिकतर उसी के व्याकरण-नियमों को लेकर चलती हैं। इसलिये उन्हें कृत्रिम कहना उचित है। जैसे हिन्दी की उत्पत्ति संस्कृत से सिद्ध नहीं की जा सकती, वैसे ही वह प्राकृतों से भी सिद्ध नहीं की जा सकती। "प्राकृत के (दूसरी तथा तीसरी अवस्था के) जो भी रूप साहित्य में उपलब्ध हैं, उनसे हिन्दी की पटरी बैठती नहीं है। इन सभी प्राकृतों में वर्तमान काल की क्रियाएँ तिङन्त हैं, जिनमें कर्ता के अनुसार पुल्लिग-स्त्रीलिंग में कोई रूप परिवर्तन नहीं होता। 'पिआ पुच्छइ' और 'माआ पुच्छइ' उभयत्र 'पुच्छइ' है। यह संस्कृत के 'पिता पृच्छति' 'माता पृच्छति' की छाया है। हिन्दी में रूप बदलता है—'पिता पूछता है'—'माता पूछती है'। हिन्दी की यह विशेषता

किसी भी प्राकृत में दिखाई नहीं देती।" (पृ० १४)। इस सूक्ष्म विवेचन का कारण यह है कि वाजपेयी जी ने शब्दों के परिवर्तित रूप दिखाकर संतोष नहीं कर लिया; उन्होंने व्याकरण के नियमों को ध्यान में रखते हुए संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी समस्या का विवेचन किया है।

शब्दानुशासन के प्रसंग में वाजपेयी जी ने हिन्दी की अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया है। हिन्दी अपने तथा संस्कृत के रूपान्तरित करके अपनाए हुए शब्दों में पुंविभक्ति लगाती है यथा, मीठा पानी, कड़वा पत्ता, कसैला फल। इसी तरह दंड तत्सम रूप में दंड ही रहता है, किन्तु तद्भव रूप में डंडा हो जाता है। (पृ० १७)। संस्कृत की धातुएँ हिन्दी में स्वरान्त हो गई हैं। (पृ० ३८)। ऋ का प्रयोग संस्कृत में खूब है "परंतु हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं का गठन ऐसा है कि यहाँ 'ऋ' का एकान्त अभाव है!" (पृ० ८३)। हिन्दी में विभक्ति हटा कर लिखी जाती है और लिखी जानी चाहिए। हिन्दी के सन्धिनियम, समासनियम अपने हैं।

वाजपेयी जी ने हिन्दी की बोलियों का संक्षिप्त विवेचन किया है। उन्होंने पंजाबी को स्वतंत्र भाषा, किन्तु राजस्थानी, कमायूनी और गढ़वाली को हिन्दी की बोलियाँ ही कहा है। मैथिली, ब्रज, अवधी आदि को उन्होंने उचित ही हिन्दी की बोली घोषित किया है। उनका यह सुझाव ध्यान देने योग्य है कि हिन्दी को अपनी बोलियों से शब्द लेने चाहिए। वाजपेयी जी एक ओर सिर के बदले मूंड़ चलाने के पक्ष में नहीं हैं, दूसरी ओर जनपदों के शब्दों को प्रत्येक दशा में हिन्दी की परिधि से बाहर भी रखना नहीं चाहते। इसी प्रकार वे उर्दू के प्रचलित शब्दों को अपनाने और भाषा में उनका व्यवहार करने के पक्ष में हैं। "मेरी भाषा में 'असली', 'चीज', 'जरूर' आदि विदेशी शब्द आते हैं। रम गए हैं। मैं इन्हें जबरदस्ती निकालता नहीं।" (पृ० ४६)। यह नीति प्रशंसनीय है, क्योंकि बहुत से लेखक वास्तविक, वस्तु और आवश्यक के अभाव में भाषा को हिन्दी समझते ही नहीं।

पुस्तक में वाजपेयी ने शब्दों के प्रयोग के बारे में जो मत प्रकट किया है, वह सभी को मान्य भले न हो, विचारणीय सबके लिये अवश्य है। उनके सुझावों से हिन्दी का परिनिष्ठित रूप स्थिर होगा, इसमें सन्देह नहीं। लिंग-विवेचन के प्रकरण में उन्होंने जितनी बातें कही हैं, उनसे अहिन्दी-प्रेमियों को कम से कम इतना जरूर मालूम हो जायगा कि इस जटिलता के ऐतिहासिक कारण हैं। अनेक मौलिक उद्भावनाओं में कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण ये हैं। वाजपेयी जी ने "कितना" का मूल रूप "केतना" माना है, "इतना का "एतना", "उतना" का "ओतना"। (पृ० ८८–८९)। इससे तथा ऐसे अन्य उदाहरणों से पता चलता है कि वर्तमान हिन्दी के विकास में पूर्वी बोलियों की भूमिका नगण्य नहीं है और इस विषय पर और अनुसंधान होना चाहिए।

महाप्राण व्यंजनों के प्रसंग में वाजपेयी जी ने लिखा है, "भाषा के विकास में 'ह' वर्ण का जो स्थान है, अन्य किसी वर्ण का नहीं।"(पृ०९८)। कश्मीर से असम तक और

पश्चिम में गुजरात और महाराष्ट्र तक श, स के स्थान में विशेष रूप से तथा ध, थ आदि व्यंजनों के स्थान में साधारणतः यह ह अपना रंग जमाता हुआ दिखाई देता है। इस पर ध्यान दिये बिना कम से कम उत्तर भारत की भाषाओं का विकास समझ में नहीं आ सकता।

जो लोग 'को', 'ने' आदि को विभक्ति के बदले परसर्ग कहते हैं, उनके तर्क का उत्तर देते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है, "संस्कृत की विभक्तियाँ भी तो किन्हीं शब्दों के घिसे हुए रूप कही जा सकती हैं न ?" (पृष्ठ १७१)। संस्कृत की विभक्तियाँ पहले स्वतंत्र शब्द थीं, यह स्थापना काफी हद तक तुलनात्मक भाषाविज्ञान से सिद्ध होती है।

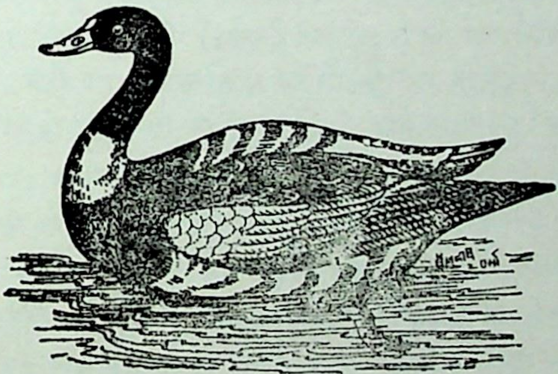
सकर्मक क्रियाओं के भूतकाल में कर्ता ने विभक्ति के साथ रहता है; राम ने काम किया; राम ने पुस्तक ली। लेकिन राम पुस्तक लाया, लड़की फल लाई—इन वाक्यों में ने का अभाव है। वाजपेयी जी ने बड़ी सूझबूझ से इस रहस्य का उद्घाटन किया है कि "ला" धातु संयुक्त है; अन्त में "आ" है। इसीलिये भूतकाल में "आया" की तरह "लाया" के साथ भी कर्ता को "ने" स्वीकार नहीं है। (पृष्ठ १४७)। इस तरह के उदाहरणों से पाठक कल्पना कर सकते हैं कि वाजपेयी जी ने कितने वर्षों तक, कितनी लगन से और कितने निःस्वार्थ भाव से इन समस्याओं पर विचार किया होगा। उनकी यह साधना अनुकरणीय है।

पूर्वी बोलियों से भिन्न हिन्दी में "ने" के प्रयोग के बारे में उन्होंने लिखा है, "यह 'ने' हिन्दी में प्राकृत के किस रूप से आई है, पता नहीं चलता! परन्तु आई तो प्राकृत की ही किसी धारा से है, इसमें सन्देह नहीं। साधारण अपढ़ जनता संस्कृत से कैसे प्रभावित हो सकती है! प्राकृत का वह ('ने' वाला) रूप निश्चय ही 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में, कुरु जनपद में (उत्तर प्रदेश के मेरठ डिवीजन में) जनगृहीत रहा होगा। अन्यथा वहाँ 'ने' कैसे कूद पड़ती ? और कहीं क्यों न कूद पड़ी ? संस्कृत के गढ़ काशी-क्षेत्र में वह क्यों न अवतरित हो गई ? 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में कदाचित् संस्कृत भी कृदन्त-प्रधान ही कभी चलती हो।" राजशेखर ने लिखा था कि उदीच्य लोग कृदन्त क्रियाएँ बहुत पसंद करते हैं, यह हवाला देने के बाद वाजपेयी जी ने लिखा है, "इसका मतलब यह भी हो सकता है कि इस क्षेत्र के संस्कृत-विद्वानों पर अपनी जनभाषा का प्रभाव पड़ा और वे अपनी मातृभाषा की पद्धति पर (संस्कृत के) कृदन्त प्रयोग अधिक करने लगें। यह भी संभव है कि संस्कृत नहीं, उस समय की 'खड़ी बोली' के बारे में ही उनकी कलम से वैसा निकला हो, यद्यपि संस्कृत ग्रन्थ में वे वैसा कह रहे हैं। उस समय 'खड़ी बोली' प्रकट होकर जनव्यवहार में मदद दे रही थी।" (पृष्ठ २६)। इस पद्धति से हिन्दी-संस्कृत के सम्बन्धों पर विचार किया जाय तो भाषाविज्ञान की अनेक समस्याएँ हल हो सकती हैं। यहाँ मौलिक उद्भावना यह है कि संस्कृत ने ही हिन्दी को प्रभावित नहीं किया, हिन्दी ने भी संस्कृत को प्रभावित किया है।

वैदिक ताति से ताई (सुन्दरताई का ताई), वैदिक रामेभिः से रामेहिं, करहिं से करे का विकास, अस्-भू तथा हिन्दी की ह, हो धातुओं का विवेचन—ऐसे अनेक तथ्य इस पुस्तक में मिलेंगे, जो पहले चमत्कारी लगते हैं, फिर स्वाभाविक। कम से कम अपनी

भाषा को नयी दृष्टि से देखने और उसके प्रयोगों पर नये सिरे से विचार करने की प्रेरणा वे देते हैं। यह इस पुस्तक की बहुत बड़ी सफलता है।

व्याकरण और भाषाविज्ञान की पुस्तकें प्रायः नीरस होती हैं। विषय, जितना कठिन होता है, उससे ज्यादा कठिन विद्वत्ता की धाक जमाने के लिए बनाया जाता है। वाजपेयी जी ने अपनी पुस्तक को यथेष्ट रोचक बनाया है। इसमें ग्राम गीतों के टुकड़े हैं—"बगदि गयो पुलिया ते मेरो सरमीलो भरतार।" शैली अनेक उपमाओं से अलंकृत है। व्यंग्य और हास्य की छटा अलग दर्शनीय है। सभा के अधिकारियों का आग्रह न मानकर वाजपेयी जी ने अपनी शैली को ज्यों का त्यों रखा, उसे बदलने से इन्कार कर दिया, यह उन्होंने बहुत अच्छा किया। पाठकों से हमारा आग्रह है कि "हिन्दी शब्दानुशासन" नाम से आतंकित न होकर वे इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें। व्याकरण में रुचि न होने पर भी उन्हें पुस्तक से आनन्द-लाभ होगा; क्योंकि वह जनसाधारण के लिए भी लिखी गई है।



हिन्दी शब्दानुशासन

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

मित्रवर पं० किशोरीदास वाजपेयी जी का यह हिंदी शब्दानुशासन उनके दीर्घ-कालीन चिन्तन और मनन का सुन्दर परिणाम है। इसे देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। वाजपेयी जी संस्कृत व्याकरण के सुपण्डित हैं, पर (संस्कृत के अधिकांश विद्वानों की तरह) हिन्दी को संस्कृत की पूर्ण अनुगामिनी मानने का आग्रह उनमें नहीं है। वे हिन्दी की प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षक हैं। 'हिन्दी शब्दानुशासन' में उन्होंने हिन्दी की इस प्रकृति का बड़ा अच्छा परिचय दिया है। सब लोग उनके निष्कर्षों से (अभी) सहमत न होंगे; परन्तु उन्होंने निष्कर्षों तक पहुँचने की पूरी प्रक्रिया बता दी है और विचारशील पाठक को स्वयं सोचने-समझने को स्वतंत्र छोड़ दिया है। यह इस पुस्तक की बड़ी भारी विशेषता है। पाठक वाजपेयी जी की विचार-पद्धति को, उसके समग्र रूप में, अच्छी तरह देख सकता है।

संस्कृत का व्याकरण केवल प्रकृति-प्रत्यय का विधान मात्र नहीं है। वह अपने-आप में परिपूर्ण दर्शन है। उसका रहस्य जाननेवाला भाषा मात्र का रहस्य समझ सकता है। आधुनिक भाषाविज्ञान ने कई बातों में बड़ी उन्नति की है; किन्तु प्रत्येक भाषा-शास्त्री संस्कृत-व्याकरण की अत्यन्त परिष्कृत विचारशैली का महत्त्व स्वीकार करता है। वाज-पेयी जी ने उस व्याकरण शास्त्र की निर्मल दृष्टि पाई है। आधुनिक भाषा-विज्ञान के निष्कर्षों की वे कहीं-कहीं ग्रंथ में आलोचना कर गए हैं; पर वस्तुतः वह भाषाविज्ञानियों के व्यक्तिगत रूप से गृहीत निष्कर्षों का ही विरोध है, भाषाविज्ञान का नहीं।

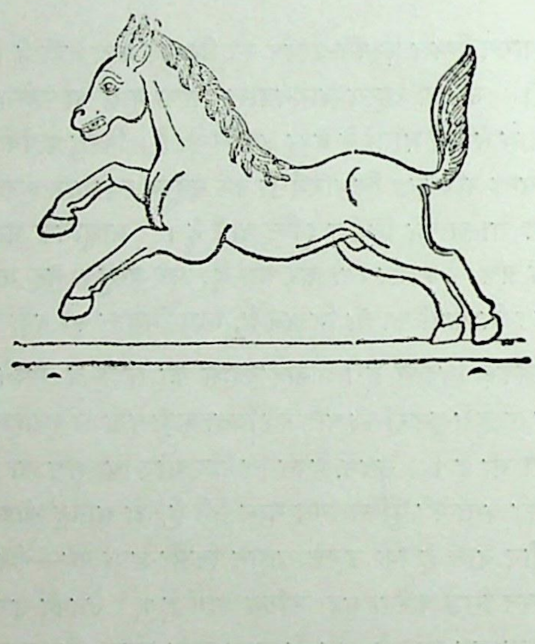
वाजपेयी जी फक्कड़ विद्वान् हैं। कबीरदास की तरह वे अपने विचारों पर दृढ़ रहते हैं और उन्हीं की तरह वे दूसरों की बात को बिना कड़ी परीक्षा के ग्रहण नहीं करते। उनमें एक अजीब सरलता भी है। उनमें अपने विचार और विश्वास का आग्रह अवश्य है; परन्तु जब वे दूसरों की बात को युक्तिसंगत मान लेते हैं, तो आग्रह छोड़ने में जरा भी नहीं हिचकते। यह और बात है कि उनके सामने किसी बात को—जिसे वे अग्राह्य समझ चुके हों—युक्तिसंगत सिद्ध करना बड़ा कठिन कार्य है। उनकी सरलता के साथ दृढ़ विश्वास का जो 'मणिकांचन-योग है, उसे ही कभी-कभी लोग, 'अक्खड़पन' मान लेते हैं। मैंने उन्हें जितना ही निकट से देखा है, उतना ही उनके फक्कड़पन स्वभाव के प्रति मेरा आकर्षण बढ़ा है। इस पुस्तक के कई प्रसंगों में उन्होंने ही (अपने वाराणसी-प्रवास के समय) मुझे बड़े धैर्य से अपनी बात समझाई; झुँझलाए बिलकुल नहीं; पर सब समय उनकी बात मैं ठीक से समझ नहीं सका। जब भी मैंने कुछ समझकर उनकी बात मान ली, तभी उनका चेहरा आनन्द से खिल उठा। मेरा दुर्भाग्य यह रहा कि मैं कई अवसरों पर उनको आनन्दोद्दीप्त नहीं देख पाया। परन्तु वाजपेयी जी हार माननेवाले नहीं

हैं। उन्हें पूरा विश्वास है कि किसी शुभ मुहूर्त में मेरा (इन पंक्तियों के लेखक का) रहा-सहा भ्रम भी दूर हो जाएगा।

वाजपेयी जी का यह ग्रन्थ हिन्दी व्याकरण को एक नए परिपार्श्व में देखने का आलोक देता है। यह इसकी बड़ी भारी विशेषता है। शास्त्रीय विचार-पद्धति में निष्कर्ष की अपेक्षा निकर्ष तक पहुँचने की प्रक्रिया अधिक महत्वपूर्ण है। वाजपेयी जी का यह प्रयत्न निश्चित रूप से प्रौढ़ विद्वानों को सोचने के लिए बाध्य करेगा।

मुझे इस बात का खेद है कि वाजपेयी जी की प्रतिभा का यथोचित सम्मान हिन्दी संसार ने नहीं किया। उनके पास अभी देने योग्य बहुत सामग्री है। काशी-नागरी प्रचारिणी सभा ने 'हिन्दी-शब्दानुशासन' के रूप में उनकी प्रतिभा का एक अंश ही हिन्दी संसार के सामने रखा है।

मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक से हिन्दी व्याकरण को एक नई दिशा प्राप्त होगी। अभी तक हिन्दी के जो व्याकरण लिखे गए, वे प्रयोगनिर्देश तक ही सीमित हैं। इस पुस्तक में पहली बार व्याकरण के तत्त्व-दर्शन का स्वरूप स्पष्ट हुआ है।



हिन्दी शब्दानुशासन का संदर्भ तथा अपनी बात

डा० महावीरसरन जैन,
आचार्य तथा अध्यक्ष हिंदी तथा भाषाविज्ञान विभाग,
जबलपुर विश्वविद्यालय

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। आचार्य वाजपेयी—जो सहज-सम्यक् ज्ञान से अभिमंडित हैं—जिनकी ज्ञान-आभा का सौवाँ भाग भी बहुतों को उपलब्ध नहीं है—उन्हीं पर एक लेख लिखना है। यह सूचना ग्रंथ के संयोजक डा० विष्णुदत्त राकेश ने विगत माह ही दे दी थी। मैंने अकिंचन श्रद्धांजलि के रूप में लेख लिखना स्वीकार भी कर लिया था। इसी बीच मुझे हिन्दी-प्रसार-व्याख्यान-यात्रा के संदर्भ से दक्षिण भारत के विश्वविद्यालयों में जाना पड़ा। सब कुछ भूल गया। लौटने पर डा० विष्णुदत्त राकेश के ढेर सारे पत्र प्राप्त हुए। मन लज्जित हुआ। प्रयत्न लाघव के रूप में मैंने अपना एक लेख उन्हें भेज दिया। श्रद्धा के लड्डू टेढ़े भी भले—–सोचकर मन को विश्राम भी मिला और श्रम न करने का बहाना भी। मैं निश्चिन्त था। अप्रत्याशित रूप से अभी-अभी डा० विष्णुदत्त राकेश का एक पत्र प्राप्त हुआ है। इसमें उन्होंने लिखा है कि "आपका लेख मिला—किन्तु हमने नियम बनाया है कि वाजपेयी जी की कृति के मूल्यांकन से संबंधित लेख ही छापेंगे अतः आप 'शब्दानुशासन' के किसी प्रकरण विशेष पर २, ४ पृष्ठों का ही सही, लेख अवश्य भेज दें। लगभग ५० शीर्षस्थ विद्वानों के लेख प्राप्त हुए हैं। यह ग्रंथ गौरव का प्रतीक है। आप लेख अवश्य भेजें।" पत्र का एक एक वाक्य बहुत सी बातें व्यंजित करता है। राकेश जी यह तो पहले ही सूचित कर चुके हैं कि ग्रंथ प्रेस में जा चुका है। इस कारण यदि लेख भेजना है तो आज ही अभी भेजना है। मेरे सामने 'हिन्दी शब्दानुशासन' के तृतीय संस्करण की प्रति विद्यमान है। 'शब्दानुशासन' को पहले कई बार पढ़ चुका हूँ—उसकी उपलब्धियों से परिचित हूँ किन्तु मूल्यांकन का कार्य तो समय की अपेक्षा करता है—तथ्य-दोहन, मंथन, तत्वान्वेषण, परीक्षण, विश्लेषण, विवेचन, पुनर्व्याख्यान के अनन्तर ही 'मूल्यांकन' सम्भव है। इस कारण सम्प्रति मैं शब्दानुशासन के संदर्भ से कुछ बातें उन्मुक्त भाव से कहना चाहता हूँ—–अनुसंधान एवं शोध-तंत्र की लकीरों से हटकर। वाजपेयी जी के प्रति भक्ति की संस्पर्शती सीमा तक आदर भाव रखते हुए भी उनकी विवेचन दृष्टि के स्वरूप एवं सीमा की समीक्षा का साहस करना चाहता हूँ।

किसी भाषा विशेष के समकालीन, ऐतिहासिक तथा उसके भाषिक तत्वों की अन्य भाषाओं अथवा बोलियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से भाषावैज्ञानिक अध्ययन के निम्नलिखित प्रमुख पक्ष हो जाते हैं—

१—समकालिक—

इस प्रकार के अध्ययनों का महत्व द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् से आरम्भ हुआ है। इन अध्ययनों को वर्णनात्मक एवं अथवा संरचनात्मक पद्धतियों के

आधार पर सम्पन्न किया गया। इस प्रकार के अध्ययन में अध्येता किसी क्षेत्रविशेष के भाषा-भाषियों द्वारा समसामयिक व्यवहृत भाषा की ध्वनि, रूप एवं वाक्य की व्यवस्थाओं की विशिष्टताओं का विश्लेषण एवं विवेचन करता है। भाषा के प्रत्येक स्तर पर रचना की विशिष्ट व्यवस्थाओं को ज्ञात करता है। इन स्तरों के विविध प्रकार के खंडों एवं विस्तारों में अभिरचनाएँ प्राप्त होती हैं। इन अभिरचनाओं की नियमबद्धता एवं इनका परस्पर सम्बन्ध निरूपण ही उस स्तर की व्यवस्था को स्पष्ट करता है। प्रत्येक स्तर की इकाई अपने से निम्न स्तर की इकाई के एक अथवा एकाधिक सदस्यों से निर्मित होती है। किसी भाषा के व्याकरण में स्तरों की सीमाएँ तथा व्याकरणिक इकाइयों का अधिक्रम सर्वथा स्पष्ट एवं निश्चित नहीं होता, किन्तु प्रत्येक भाषा में प्रत्येक स्तर पर संरचना की विशिष्टता होती है तथा उसमें संभावित अभिरचनाओं का निश्चित समुच्चय होता है। व्याकरण के तत्व शब्द नहीं होते, वे तो वर्गों की प्रतीकात्मक अमूर्तताएँ हैं, जो संरचनात्मक शृंखला की स्थितियों में कार्य करने की क्षमता रखते हैं। प्रत्येक भाषा की अपनी व्यवस्था एवं संरचना होती है। प्रत्येक भाषा व्यवस्थाओं की व्यवस्था है। यदि व्यवस्था एवं संरचना को भिन्न अर्थ देना चाहें तो कह सकते हैं कि संरचना तत्वों के विन्यास एवं क्रमिक संबंधी विशेषताओं का उद्घाटन करती है किन्तु व्यवस्था के अन्तर्गत किसी रचना की रूपतालिका में विनिमय होनेवाले शब्द आदि व्याकरणिक इकाइयों के रूप-तालिकात्मक अन्तर-सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार 'संरचना' मूलतः वाक्यरचना के क्रमिक सम्बन्धों के अध्ययन के लिए प्रयुक्त होता है, जब कि 'व्यवस्था' शब्द का प्रयोग रचना के किसी निश्चित स्थान पर प्रयुक्त होनेवाली तथा एक दूसरे को स्थानापन्न कर देनेवाली इकाइयों के पारस्परिक संबंधों के अध्ययन के लिए होता है।

२—ऐतिहासक—

काल क्रमानुसार भाषागत विकास का अध्ययन।

३—तुलनात्मक—

आजकल अधिकांश भाषावैज्ञानिक समकालिक स्तर पर वर्णनात्मक पद्धति से अध्ययन कर रहे हैं। वाजपेयी जी की अध्ययनपद्धति इससे भिन्न एवं विशिष्ट है। 'शब्दानुशासन' में वाजपेयी जी ने हिन्दी के व्याकरणिक रूपों के उद्भव, विकास एवं निकास की विधाराओं में अवगाहन करने के अनन्तर उनकी 'हिन्दी-संघ' (हिन्दी क्षेत्र) की अन्य उपभाषाओं एवं बोलियों के साथ तुलना की है। इस प्रकार उनकी विवेचना-पद्धति मूलतः ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक है तथा उनके तत्वविवेचन के आयाम अति व्यापक एवं विस्तृत हैं। इसी कारण उनके अध्ययनों के निष्कर्ष, व्याकरणिक रूपों का स्वरूप एवं मान्यताओं में भिन्नता एवं विशिष्टता है। एक ही वस्तु को भिन्न दृष्टियों से देखने पर वर्णन की भिन्नताएँ स्वाभाविक हैं। एक ही सामग्री का विश्लेषण अनेक विधियों एवं पद्धतियों से किया जा सकता है। विवेचना के लिए पद्धति साधन होती है, साध्य नहीं। कभी-कभी पद्धति को ही महत्वपूर्ण मानने पर किस प्रकार की स्थितियों का सामना करना पड़ सकता है—इसके लिए मैं आधुनिक भाषावैज्ञानिकों के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ। संरचनात्मक पद्धति पर अवलम्बित होकर जब कोई भाषावैज्ञानिक : लड़का, लड़के, लड़कों, लड़की, लड़कियों, इत्यादि रूपों का रूपग्रामिक

विश्लेषण करता है तो वह इन समस्त शब्द-रूपों में समान रूप : लड़क्—पाता है। इसके आगे अविकारी कारक एकवचन, पुल्लिग विभक्ति (–आ) के योग से : लड़का :, अविकारी कारक बहुवचन पुल्लिग (–ए$_1$) के योग के सें : लड़के :, विकारी कारक एकवचन पुल्लिग विभक्ति (–ए$_2$) के योग से : लड़के :, विकारी कारक बहुवचन पुल्लिग विभक्ति (–ओं) के योग से : लड़कों : प्रकार से व्याख्या करता है।

आवर्तक तत्वों के समान अंश एवं उनके भिन्न अंश की दृष्टि से रूपग्रामिक विश्लेषण करने के सिद्धान्त की पूर्ति इस पद्धति से हो रही है। इस प्रकार से विश्लेषण करने पर हम : लड़क्–: को मूलप्रातिपादिक के रूप में स्वीकार करते हैं और पद्धति के सिद्धान्त की रक्षा करते हैं। किन्तु इस पद्धति का अनुगमन करने पर हिन्दी के अधिकांश संज्ञा प्रातिपादिक व्यंजनान्त हो जाते हैं। उस स्थिति में आकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त, आदि एकवचन पुल्लिग अविकारी संज्ञा शब्द व्यंजनान्त प्रातिपदिक हो जाते हैं। एकवचन, पुल्लिग अविकारी विभक्ति का द्योतन कराने के लिए हमें: आ$_1$–, आ$_2$–, इ–, ई––उ–, ऊ– : आदि अनेक सहरूपग्रामों (Allomorphs) की कल्पना करनी पड़ती हैं। इनका वितरण न तो ध्वन्यात्मक प्रतिबंधित रूप में और न ही रूपग्रामिक प्रतिबंधित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है; केवल शब्दकोषीय धरातल पर ही इन्हें प्रतिबंधित करना पड़ता है। अर्थात् कोई विभक्ति चिह्न किस प्रकार के शब्दों के पश्चात् आ रहा है इसे बतलाने के लिए उसके आगे हजारों-लाखों शब्द-प्रातिपदिकों की लम्बी चौड़ी सूची प्रस्तुत करना आवश्यक हो जाती है। इस प्रकार पद्धति के सिद्धांत की रक्षा के चक्कर में पड़कर व्याकरण-रचना का उद्देश्य ही पराजित हो जाता है।

पद्धति को ही महत्व देनेवाले भाषावैज्ञानिक वाजपेयी जी की स्थापनाओं पर यदि तत्व-विवेचन की दृष्टि से विचार करें तो इससे उन्हें 'हिन्दी शब्दानुशासन' में बहुत सी मौलिक एवं वैज्ञानिक सामग्री प्राप्त हो सकेगी।

वाजपेयी जी की सारी मान्यताओं से प्रत्येक व्यक्ति का सहमत होना न तो जरूरी है और न यह स्वाभाविक ही है। मगर असहमत होते समय हमें कारणों की खोज करनी चाहिए तथा यह देखना चाहिए कि हमारी दृष्टि एवं दूसरे व्यक्ति की दृष्टि में कहाँ क्या अन्तर है? उदाहरण के रूप में वाजपेयी जी 'ऐसा, वैसा,' आदि विशेषणों को समास-रचना द्वारा निष्पन्न मानते हैं। हिन्दी में 'सा' का स्वतंत्र रूप से प्रयोग नहीं होता। इस कारण हिन्दी की प्रकृति की दृष्टि से "ऐसा", "वैसा" में समासरचना नहीं मानी जा सकती। वस्तुतः वाजपेयी जी 'सा' पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार कर रहे हैं। 'सा'—पर उसके तत्सम रूप 'सम्' की दृष्टि से विचार करने के कारण उन्हें 'ऐसा,' 'वैसा' की रचना सामासिक प्रतीत होती है। इस प्रकार उनकी अपनी दृष्टि की जो निजता है उसके कारण उनकी स्थापनाएँ भी विशिष्ट हो जाती हैं।

व्याकरणिक रूपों की ऐतिहासिक व्याख्या के कुछ ऐसे स्थल हैं, जो मौलिक एवं वैज्ञानिक हैं। उक्त व्याख्या से प्रसूत निष्कर्ष एवं वर्णनात्मक पद्धति से विश्लेषित सामग्री-स्वरूप में यद्यपि बाह्यतल पर किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध सूत्र दृष्टिगत नहीं होता तथापि अन्तस्तल में विचारणा की एकता विद्यमान है।

वाजपेयी जी ने 'शब्दानुशासन' में 'ऐसा' 'वैसा', आदि विशेषणों को सर्वनामों में 'सम' के तद्भव रूप 'सा' के योग से समास रूप में तथा 'इधर,' 'उधर', 'यहाँ', 'वहाँ', 'जहाँ', 'तहाँ', अव्ययों को सर्वनामों के साथ तद्धित प्रत्ययों के योग से व्युत्पन्न माना है।

सन् १९६७ ई० में डी० लिट् उपाधि के लिए स्वीकृत 'परिनिष्ठित हिन्दी का वर्णनात्मक विश्लेषण' शीर्षक शोध प्रबन्ध में मैंने सार्वनामिक-विशेषणों एवं क्रिया-विशेषणों की व्युत्पत्ति सर्वनामों से मानने संबंधी विचारधारा की आलोचना की थी। आलोचना करते समय मैंने तैसा: प्रकारवाचक विशेषण, : तहाँ : स्थानवाचक क्रियाविशेषण, : त्यों : रीतिवाचक क्रिया-विशेषण, : तब : कालवाचक क्रियाविशेषण आदि रूपों को किसी सर्वनाम से व्युत्पन्न मानने संबंधी कठिनाइयों का विवरण भी प्रस्तुत किया था। पं० कामताप्रसाद गुरु द्वारा इन्हें : सो : सर्वनाम से व्युत्पन्न मानने की भी मैंने आलोचना की थी। वस्तुतः मैंने भाषा की विवेचना में 'सममिति' (Symmetry) के सिद्धान्त पर बल दिया था।

उसी शोध प्रबंध में, मैंने निवेदन किया था कि विद्वान् जिन सार्वनामिक विशेषणों एवं क्रिया-विशेषणों को सर्वनामों से व्युत्पन्न मानते हैं, उन्हें सर्वनामों से नहीं अपितु सर्वनामों के मूल रूपों से व्युत्पन्न माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में : इतना, उतना, जितना, कितना, ऐसा, वैसा, जैसा, कैसा, यहाँ, वहाँ, जहाँ, कहाँ, अब, जब, कब, तब : आदि शब्द-रूपों के दोनों सन्निहित घटक (Immediate Constituents) आबद्ध रूप होंगे। इनमें पूर्व सन्निहित घटक सर्वनाम मूल रूपग्राम तथा पश्चात् सन्निहित घटक पर-व्युत्पादक प्रत्यय होगा।

वाजपेयी जी ने हिन्दी शब्दानुशासन के नवीन संस्करण में हिन्दी सर्वनामों के प्रातिपदिकों की जो विवेचना की है, वह सर्वनामों के मूल रूपग्रामों की विचारणा के काफी निकट है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि मूल रूपग्रामों की मैंने जो विवेचना की थी तथा वाजपेयी जी ने सर्वनामों के मूल प्रातिपादिकों की जो व्याख्या की है उनमें बाह्यतल से देखने पर समानता तो छोड़िए; कोई सम्बन्ध सूत्र भी नजर नहीं आता। इसका कारण समझना आवश्यक है। मेरी विवेचना भाषा के विश्लेषण की वर्णनात्मक पद्धति पर आधारित थी किन्तु वाजपेयी जी की व्याख्या शब्द रूपों की ऐतिहासिक विकास परम्परा एवं तुलनात्मक पद्धति पर आधारित है। इसी कारण वाजपेयी जी 'यह', 'इसे', 'इन, 'इन्हें' आदि रूपों की उद्भव एवं विकास परम्परा का सूक्ष्म विवेचन कर उनकी अवधी, पंजाबी, ब्रजभाषा एवं पूर्वी भाषाओं से निर्भ्रान्त तुलना करके उक्त पदों का प्रातिपदिक स्पष्ट एवं असंदिग्ध रूप से 'एस' स्वीकार करते हैं।

: यह, इस, इतना, ऐसा, यहाँ अब : आदि शब्द रूपों का वर्णनात्मक विश्लेषण करने पर इनका मूल प्रातिपादिक (निकटवर्ती अन्य पुरुष वाचक सर्वनाम) मूल रूपग्राम का कोई एक ही विशिष्ट ध्वन्यात्मक रूप नहीं होगा। उक्त रूपग्राम एकाधिक सहरूप-ग्रामों द्वारा अभिव्यक्त है, जो परस्पर परिपूरक-वितरण में होने के कारण एक रूपग्राम में वर्गबद्ध हैं। उक्त पद्धति से यह विवेचन इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :—

[नि० अ० पु० सर्व० मू० रूप०]

[य्–] काकल्य संघर्षी व्यंजनों के पूर्व ।

[इ–] दन्त्य स्पर्श व्यंजनों के पूर्व ।

[अ–] द्व्योष्ठ्य स्पर्श व्यंजनों के पूर्व ।

[ऐ] वर्त्स्य संघर्षी व्यंजनों के पूर्व ।

[ϕ–] अर्द्ध स्वर : य् : के पूर्व ।

इस प्रकार यद्यपि वाजपेयी जी की व्याख्या तथा उक्त विवेचना में बाह्य तल पर किसी प्रकार का कोई मेल नहीं है, तथापि जिस विचार से प्रेरित होकर दोनों प्रकार की विवेचनायें की गयी हैं वह 'प्रेरक-विचार' समान है। इस प्रकार दोनों के अन्तःतल में समानता है। एक दृष्टि मूल प्रातिपदिक की खोज विकास परम्परा के संदर्भ में करती है तथा दूसरी दृष्टि समकालिक स्तर पर उपलब्ध भाषिक सामग्री के विश्लेषण द्वारा करती है। दोनों की एकता इस बात में निहित है कि सर्वनाम शब्दों को अखंडित रूप में नहीं, अपितु उनको विश्लेषित मानकर अपनी अपनी विधियों से 'मूल-प्रातिपदिक' की खोज की गयी है।

इसी संदर्भ में, मैं एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हिन्दी के सर्वनाम शब्दों को विश्लेषित करके मूल प्रातिपदिकों की खोज करना ही एकमात्र वैज्ञानिक दृष्टि नहीं है। एक ही भाषा की सामग्री का एक ही पद्धति से विश्लेषण भी भिन्न प्रकार से सम्भव है। वर्णनात्मक पद्धति का अनुगमन करते हुए भी एक विश्लेषणकर्ता : तू, तुझ, तुम, तुम्हें, तुम्हारा : जैसे शब्द रूपों के आधार पर सबमें प्राप्त समान अंश {त्–} को मध्यम पुरुष वाचक सर्वनाम का मूल रूपग्राम मान सकता है किन्तु दूसरा विश्लेषणकर्ता सर्वनामों की सम्पूर्ण तालिका के संदर्भ में सर्वनाम रूपों को अखंडित इकाई के रूप में स्वीकार किये जाने संबंधी अपने तर्क भी प्रस्तुत कर सकता है। भाषा-विश्लेषण एवं विवेचन के जो आधार हैं उनमें कभी-कभी तालमेल नहीं बैठता। उस स्थिति में यदि दो विश्लेषणकर्ता भिन्न आधारों को प्रमुखता देते हैं तो उनकी विवेचित सामग्री का स्वरूप भिन्न हो सकता है।

वाजपेयी जी यद्यपि आधुनिक भाषाविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं करते, तथापि उनकी दृष्टि मौलिक होती है और संभवतः इसी कारण वे अन-जाने अपनी विवेचना में आधुनिक भाषाविज्ञान की प्रतिपत्तिकाओं के निकट बैठे दिखाई दे जाते हैं। जब वे कहते हैं कि "क" के आगे "ब" प्रत्यय लाये और "कब" बन गया"–– तो उनकी यह बात परम्परागत वैयाकरणिकों की समझ में भले ही न आवे जो किसी प्रातिपदिक अथवा धातु के पूर्व अथवा पश्चात् उपसर्ग एवं प्रत्यय की योजना द्वारा ही शब्द-व्युत्पन्नता पर विचार करते हैं किन्तु यह विवेचन भाषाविज्ञान मूल व्युत्पन्न प्रातिपदिक रचना की विचारधारा के अनुकूल है जो यह स्वीकार करके चलती है कि भाषाओं में व्युत्पन्न प्रातिपदिकों की रचना बिना किसी मूलाधार रूप के एकाधिक आबद्ध रूपों के योग द्वारा भी सम्भव है।

वाजपेयी जी की साधना अप्रतिहत गति से विकसित है। उन्होंने अपनी बहुत सी स्थापनाओं में स्वयं परिवर्तन किया है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि उनके भाषा सम्बन्धी विचारों में सन् १९३० से अब तक निरन्तर विकास हुआ है, हो भी रहा है।

वाजपेयी जी ने भाषा के प्रत्येक तत्व का विवेचन विकासात्मक परम्परा के संदर्भ में किया है। किसी तत्व का विकास, निकास आदि जब तक पूरी तरह न बताया जाय तब तक उन्हें संतोष नहीं होता।

उनकी स्थापनाओं एवं मान्यताओं के मूल्यांकन के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें उनकी विश्लेषण दृष्टि एवं पद्धति के संदर्भ में रखकर देखा जावे।

प्रश्न उपस्थित होता है कि वाजपेयी जी की बहुत सी मान्यतायें भाषाविज्ञान के अन्य विद्वानों की मान्यताओं से भिन्न क्यों हैं तथा उनकी कुछ मान्यताओं को अन्य विद्वान् स्वीकार क्यों नहीं करते। इसके निम्नलिखित कारण मुझे प्रतीत होते हैं :—

(क) वाजपेयी जी के विचारों को सही परिप्रेक्ष्य में रखकर नहीं समझा गया है।

(ख) उनकी विवेचन-पद्धति एवं वर्णनात्मक विवेचन-पद्धति का अन्तर।

(ग) उन्होंने तुलनात्मक विवेचन के लिए संस्कृत को सामने रखा है।

(घ) कभी-कभी वाजपेयी जी भी अपनी दृष्टि के कारण भाषाविज्ञान की बहुत सी मान्यताओं को स्वीकार नहीं कर पाते जिसके कारण उनके निष्कर्ष भिन्न हो जाते हैं। इस संदर्भ में, मैं दो उदाहरण प्रस्तुत करूँगा। एक उदाहरण ध्वन्यात्मक स्तर से सम्बन्धित है तथा दूसरा रूपग्रामिक स्तर से। वाजपेयी जी हिन्दी की 'पढ़' जैसी धातुओं को हलन्त नहीं अपितु अकारान्त रूप में स्वीकार करते हैं। इसका कारण सम्भवतः यही है कि संस्कृत एवं प्राकृत में प्रातिपदिक हलन्त होता है किन्तु पद में कोई न कोई विभक्ति अवश्य लगती है। अपभ्रंश में भी अन्तः स्वर को ह्रस्व रूप में उच्चरित करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यथा :—

गृहिणी > घरिणि। पुंडरीक > पुंडरिय।

हिन्दी क्षेत्र की ही बहुत सी उपभाषाओं में अन्त्य 'अ' को अति ह्रस्व रूप में उच्चरित किया जाता है। इस प्रकार विकास परम्परा एवं तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर 'पढ़' अकारान्त प्रतीत होता है। लिखा भी अकारान्त ही जा रहा है।

यहाँ मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि मानक हिन्दी के उच्चारण की दृष्टि से लिखित अकारान्त शब्दों को प्रायः व्यंजनान्त रूप में ही उच्चरित किया जाता है। 'प्रायः' का प्रयोग मैंने इसलिए किया है कि यदि शब्द के अन्त में व्यंजनों का गुच्छ होता है तब तो 'अ' स्वर के उच्चारण की संभावनायें रहती हैं किन्तु यदि शब्द के अन्त का लिखित स्वरूप 'स्वर + व्यंजन + 'अ' स्वर होता है तो उच्चारण के धरातल पर अन्त्य 'अ' का उच्चारण नहीं होता; शब्द व्यंजनान्त ही होता है। अन्त्य स्वर के लोप एवं अकारान्त को व्यंजनान्त रूप में बोलने की प्रवृत्ति का आरम्भ परवर्ती अपभ्रंश एवं प्राचीन हिन्दी से ही हो गया था। इसी कारण हमें महिला > महिल, बाला > बाल उदाहरण मिलते हैं। आज

अवधी आदि में अन्त्य 'अ' भले ही सुरक्षित हो; हिन्दी का खड़ी बोली पर आधारित जो मानक भाषा-रूप व्यवहृत होता है उसमें अकारान्त शब्दों का उच्चारण व्यंजनान्त होता है।

वाजपेयी जी शब्दों को व्यंजनान्त नहीं अपितु अकारान्त रूप में स्वीकार करते हैं। इसी कारण वे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस परामर्श को कि 'पढ़े' 'पढ़ेगा' आदि में 'इ' प्रत्यय न मानकर 'ए' मान लिया जाए तो अच्छा रहे' को स्वीकार नहीं कर पाते।

रूपग्रामिक स्तर पर--

वाजपेयी जी ने हिन्दी की 'ने' 'को' 'से' आदि को विभक्तियों के रूप में स्वीकार किया है जब कि अन्य भाषावैज्ञानिक इन्हें परसर्ग मानते हैं। इस अन्तर के भी कारण विवेचन-पद्धति में अन्तर आ गया है। वाजपेयी जी ने तर्क दिया है कि परसर्ग मानने-वाले कहते हैं कि 'को' आदि का प्रयोग प्रकृति से सटाकर नहीं होता इसीलिए ये परसर्ग हैं। वाजपेयी जी ने इस तर्क की आलोचना की है। उनकी आलोचना बहुत तार्किक है। सटाकर लिखने या न लिखने के आधार पर विभक्तियों एवं परसर्गों का अन्तर नहीं किया जा सकता। वास्तव में 'परसर्ग' की मान्यता के संबंध में वाजपेयी जी को जो तर्क प्राप्त हुए होंगे वे वास्तव में लचर एवं अवैज्ञानिक थे इसी कारण वाजपेयी जी ने उनकी आलोचना की।

मेरा मोह भी 'परसर्ग' शब्द के प्रति नहीं है। शब्दविशेष के प्रति मोह रखने या न रखने से कोई अन्तर भी नहीं पड़ता। वास्तव में यदि विभक्ति से भिन्न प्रकार की व्याकरणिक व्यवस्था है तभी उस भिन्न व्यवस्था को 'विभक्ति' से अलग किसी नाम से पुकारे जाने की सार्थकता हो सकती है।

इस दृष्टि से 'को' 'से' 'ने' आदि को प्रकृति से सटाकर या हटाकर लिखने के कारण नहीं अपितु इनका शब्द के वैभक्तिक रूप के पश्चात् प्रयोग होने के कारण इन्हें विभक्ति से भिन्न नाम से पुकारने की आवश्यकता है। 'लड़का' में जब 'ए' विभक्ति लगकर 'लड़के' रूप निष्पन्न हो जाता है तथा जब कहा जाता है कि "लड़के को'--तब 'को' का प्रयोग विभक्तियुक्त लड़के के पश्चात् हो रहा है; इस कारण 'को' आदि को परसर्ग नाम से पुकारा जाता है। 'ए' को पहली विभक्ति एवं 'को' को दूसरी विभक्ति के रूप में मानना भी संगत नहीं है; दोनों के बीच अव्यय का भी प्रयोग सम्भव है--'लड़के भर को दे दो।'।

वास्तव में वाजपेयी जी की अपनी मान्यता है और उसका कारण है। वाजपेयी जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'तुलनात्मक विवेचन के लिए इस ग्रंथ में संस्कृत को ही सामने रखा गया है और संस्कृत की "इन" आदि विभक्तियों से ही हिन्दी की 'ने' जैसी विभक्तियों की निष्पत्ति बतायी गयी है।' इस मान्यता के आलोक में यदि वाजपेयी जी 'ने, को, से' को विभक्तियाँ स्वीकार करते हैं तो यह स्वाभाविक ही है।

संस्कृत एवं हिन्दी भाषा की प्रकृतिगत भिन्नता के संदर्भ को ध्यान में रखने पर मान्यता का भिन्न होना स्वाभाविक हो जाता है। संस्कृत की प्रकृति संश्लिष्ट थी। आज भी सिन्धी एवं पंजाबी में अपादान एवं अधिकरण कारकों में; गुजराती में करण एवं अधिकरण में, मराठी में करण, सम्प्रदान तथा अधिकरण में; उड़िया में अधिकरण में विभक्तियों के द्वारा रचना होती है। मानक हिन्दी ने आयोगात्मकता की ओर अधिक विकास किया है। विशेष रूप से 'नाम' रूपों में।

भाषा का प्रवाह संश्लिष्ट से विश्लिष्ट की ओर हुआ है। प्राकृत काल में ही विभक्ति रूपों की संख्या में कमी हो गयी थी। विभिन्न कारकों के लिए एक विभक्ति तथा एक कारक के लिए विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग होने लगा था। अपभ्रंश तक आते आते विभक्ति रूपों की संख्या में और कमी हो गयी। कर्ता-कर्म-संबोधन तीनों में समान विभक्तियों का प्रयोग आरम्भ हो गया। इसी प्रकार एक ओर करण-अधिकरण के लिए तो दूसरी ओर सम्प्रदान- सम्बन्ध के लिए समान विभक्तियों का प्रयोग होने लगा। उदाहरणार्थ, अपभ्रंश के विभक्ति-रूपों को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :—

	एक वचन		बहुवचन	
			पुल्लिग	स्त्रीलिंग
कर्ता-कर्म-सम्बोधन	अ,–आ,–उ,–ओ		–अ,–आ	–अ,–आ,–उ
	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिग	स्त्रीलिंग	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
करण–अधिकरण	–ए, –एं –एण, –इण –इं	–एं –इ –हिं	–हिं –एहिं	–हिं
संप्रदान-सम्बन्ध	–हो –आसु –स्स	–हे –हि	–हं –आहं	 –हं
अपादान	–हो, हे–हु	–हे,–हि	–आहुं	–हिं

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में विभक्ति-रूपों की संख्या क्रमशः घटी है। जिन भाषाओं की संश्लिष्ट प्रकृति अभी भी विद्यमान है, उनमें रूपों की संख्या अभी भी अधिक है किन्तु जिन भाषाओं ने वियोगात्मकता की ओर तेजी से कदम बढ़ाया है, उनमें विभक्ति प्रत्ययों की संख्या बहुत कम रह गयी है। इस दृष्टि से यदि हम मराठी एवं

हिन्दी का अध्ययन करें तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है। मराठी में संज्ञा शब्द के जहाँ अनेक वैभक्तिक रूप विद्यमान हैं––मुलास (द्वितीया), मुलाने (तृतीया), मुलाला (चतुर्थी), मूलाहून (पंचमी), मुलाचा (षष्ठी), मुलात (सप्तमी), मुला (सम्बोधन) वहाँ दूसरी ओर हिन्दी में पुल्लिग संज्ञा शब्दों में या तो केवल विकारी कारक बहुवचन के लिए अथवा अविकारी कारक बहुवचन, विकारी कारक एकवचन एवम् विकारी बहुवचन के लिए विभक्तियाँ जुड़ती हैं। स्त्रीलिंग संज्ञा शब्दों में एकवचन में प्रातिपदिक ही प्रयुक्त होता है।

अपभ्रंश में विभक्ति रूपों की कमी के कारण अर्थों में अस्पष्टता आने लगी होगी। कारकों के अर्थों को व्यक्त करने के लिए इसी कारण अपभ्रंश में शब्द के वैभक्तिक रूप के पश्चात् अलग से शब्दों अथवा शब्दांशों का प्रयोग आरम्भ हो गया। शब्द के वैभक्तिक रूप के पश्चात् कारकीय अर्थों को व्यक्त करनेवाले ऐसे ही शब्द या शब्दांशों को 'परसर्ग' के नाम से पुकारा जाता है। इन्हें 'विभक्ति' नाम से इस कारण नहीं पुकारा गया क्योंकि ये शब्द के विभक्तियुक्त रूप के पश्चात् ही प्रयुक्त हुए। इस कारण इन्हें 'परसर्ग' का नाम दिया गया। इतना निश्चित है कि अपभ्रंश में परसर्गों की सुनिश्चित रूप से स्थिति मिलती है। करण के लिए–सहुँ,–सउँ,–समाणु; सम्प्रदान के लिए ––तेहिं,–केहिं, अपादान के लिए–लइ,–होन्तउ,–ठिन,–पासिउ, सम्बन्ध के लिए–तण,–तणि–केरउ तथा अधिकरण के लिए––मज्झे,–मज्झि जैसे परसर्गों का बहुल प्रयोग अपभ्रंश साहित्य में हुआ है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में परसर्गो का विकास हुआ है। इनके प्रयोग में सभी भाषाओं की स्थिति समान नहीं है। आज भी कुछ भाषाएँ कारकीय अर्थों को परसर्गों से नहीं अपितु शब्द के विभक्तियुक्त रूपों से द्योतित कर रही हैं किन्तु फिर भी परसर्गों का प्रयोग कम या अधिक सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में होता है। जिन भाषाओं में विभक्तियुक्त शब्द द्वारा कारक का अर्थ व्यक्त किया जाता है उनमें भी अलग-अलग कारक के लिए अलग- अलग विभक्ति रूपों का सम्बन्ध सुनिश्चित नहीं है। यथा––मराठी में एक ही कारक को व्यक्त करने के लिए अनेक विभक्तियों का प्रयोग होता है तथा एक ही विभक्ति अनेक कारकों का अर्थ व्यक्त करती है। उनमें भी तृतीया के–ने-नी, पंचमी के–ऊन,-हून तथा षष्ठी में प्रयुक्त––चा, ची, चे, च्या आदि रूपों को परसर्ग कोटि में रखा जा सकता है। इसी प्रकार बंगला की प्रकृति भी अपेक्षाकृत संश्लिष्ट है किन्तु वहाँ भी दिया, द्वारा, के दिया, संगे, हइते, थेके जैसे शब्दांशों की स्थिति परसर्गों की ही है। यथा––

मन दिया पढ़ (मन से पढ़ो); तोमा द्वारा हाइबे ना (तुमसे नहीं होगा)
बहू के दिया गंधाउ (बहू से रसोई बनवाओ)
आमी बंधु संगे देखा करिते गेल (मैं मित्र से मिलने गया)
बाड़ी हइते चलिया गेल (घर से चला गया)
बाड़ी थेके चलिया गेल (घर से चला गया)

गुजराती में भी सम्प्रदान में 'माटे' तथा सम्बन्ध के लिए ना, नी का प्रयोग होता है। पंजाबी में भी सम्बन्ध में 'दा', दी' का प्रयोग होता है।

परसर्गों के प्रयोग के सम्बन्ध में हिन्दी की स्थिति अधिक स्पष्ट है। हिन्दी में संज्ञा शब्दों में कारकीय अर्थों को विश्लिष्ट प्रकृति के परसर्गों द्वारा ही व्यक्त किया जाता है।

हिन्दी में परसर्गों का विकास आरम्भ से ही अधिक हुआ। हिन्दी के आदि-कालीन साहित्य में ही विभिन्न रूपों को सम्पन्न करने के लिए परसर्गों का प्रयोग मिलता है। कर्ता के अर्थ में डा० उदयनारायण तिवारी ने चंदबरदाई की भाषा में 'ने' का प्रयोग स्वीकार किया है। कीर्तिलता की भाषा में कर्ता के अर्थ में —आ, ए,—ओ का प्रयोग हुआ है।

कर्म के अर्थ में 'को' का प्रयोग ११वीं सदी से राउलवेल में मिलने लगता है। बीसलदेव रास में 'नूँ' एवम् कीर्तिलता में 'हि' 'हिं', का प्रयोग कर्मकारक के अर्थ में हुआ है।

करण के अर्थ में कीर्तिलता में 'ए' 'एन' 'हि' का, पृथ्वीराज रासो में 'ते', 'वाचा', 'से' 'सहुं' 'सूँ' 'सों' तथा खुसरो के काव्य में 'से' का प्रयोग मिलता है।

इस प्रकार संज्ञा विभक्ति प्रकरण में जहाँ अन्य भाषा वैज्ञानिक संज्ञा के अविकारी, विकारी रूपों की विवेचना करते हैं वहाँ वाजपेयी जी ने 'ने' 'को' 'से' सबकी साथ-साथ व्याख्या की है।

उपर्युक्त प्रकार की सीमाओं के होते हुए भी उन्होंने हिन्दी भाषा की प्रकृति की अत्यन्त विस्तृत, गहन एवं मौलिक विवेचना की है। उसमें बहुत से ऐसे सूत्र हैं जिनके आधार पर भाषावैज्ञानिक विश्लेषण एवं विवेचन की बहुत सी पद्धतिगत स्थापनाओं एवं मान्यताओं को भी उद्भूत किया जा सकता है। वाजपेयी जी ने जिस परिवेश में रहकर अकेले ही जितना कार्य किया है, उससे भारतीय ऋषि-मुनि परम्परा का स्मरण हो जाता है। उनकी 'शब्दानुशासन' कृति के संदर्भ में मैंने अपनी कुछ बातें कहने का प्रयास किया है। समय के अभाव में एक छोटे से लेख में कृति के गुणों का मूल्यांकन मेरे लिए सम्भव नहीं है। मैंने यह बतलाने का प्रयास किया है कि "उनकी मान्यताओं को उन्हीं की अध्ययनदृष्टि के संदर्भ में रखकर देखा जाना चाहिए।" उनकी अध्ययन दृष्टि की आधारभित्ति तत्वों के विकास, निकास की व्याख्या तथा तत्वों का अन्य भाषाओं एवं बोलियों के साथ तुलना करने तथा उसकी पार्श्वभित्ति हिन्दी का संस्कृत से मिलान करने की प्रवृत्तियों पर आधारित हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में उनके कृतित्व का मूल्यांकन करना अधिक उपयुक्त होगा।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी और उनका हिन्दी शब्दानुशासन

डा० देवीशंकर द्विवेदी

अध्यक्ष भाषिकी तथा लोकतत्व,

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

'हिन्दी शब्दानुशासन' आचार्य किशोरीदास वाजपेयी की अमर कृति है जिसने उन्हें हिन्दी के अमर वैयाकरण के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है।

वाजपेयी जी भाषाविज्ञान की किसी नियमित परम्परा में पले हुए विद्वान् नहीं हैं, वे स्वतः स्फूर्त भाषाविज्ञानी हैं। यही कारण है कि वे किसी अत्यन्त सुनिश्चित और पूर्वनिर्धारित स्वरूप के भीतर भाषायी तथ्यों को प्रस्तुत करने के लिये सचेष्ट नहीं होते, न वे ऐसी किसी एकरूपता के आद्योपांत निर्वाह का प्रयत्न करते हैं। उनकी अन्य कृतियों की भाँति हिन्दी शब्दानुशासन से भी मुझे वाजपेयी जी एक ऐसे वन्य-गुलाब जैसे दिखाई देते हैं जो पथरीली भूमि में केवल अपने पौरुष के बल पर सहज ही उग आया है और जो अपनी प्रबल सुगन्ध से लोगों को चमत्कृत या प्रभावित ही नहीं करता है बल्कि कई बार उन्हें झकझोर कर अपनी जाज्वल्यमान उपस्थिति की सूचना देता है। ऐसा गुलाब अपनी सुगन्ध को आसपास के सुगन्धगत परिवेश में क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थाबद्ध नहीं करता, न वह सुगन्ध के सम्यक् वितरण की ही व्यवस्था में बँधता है। वह तो अपनी तीव्र सुगन्ध के झोंके पर झोंके फेंकता रहता है।

वाजपेयी जी विलक्षण प्रतिभा के धनी हैं। भारतीय भाषाविज्ञान के क्षेत्र में वाजपैयी जी अपनी मौलिकता, सूझ-बूझ, साहस और आत्म-विश्वास में बेजोड़ हैं। बाबू रामचन्द्र वर्मा और डा० रामविलास शर्मा को मिलाकर वे एक ऐसी त्रयी का निर्माण करते हैं जो अपनी ज्योतिर्मयता में अद्वितीय है। अच्छा ही है कि इन तीनों विद्वानों ने भाषा-चिन्तन के क्षेत्र में बिल्कुल एक परिधि नहीं अपनाई अन्यथा जितने विस्तार में इस त्रयी ने कार्य किया है, उस विस्तार में यह कार्य न हो पाता।

वाजपेयी जी हठी माने जाते हैं। मुझे लगता है कि इससे बड़ा असत्य शायद ही कोई हो। अपने पढ़ने लिखने के क्रम में और सोच-विचार के क्रम में उन्हें जहाँ कहीं अपनी कोई बात निराधार लगी है, उसे छोड़ने में उन्होंने विलम्ब नहीं लगाया और इस संशोधन का उद्घोष करने में उन्होंने संकोच नहीं किया। खुले हृदय और खुली बुद्धि का व्यक्ति और कैसा होगा! जिस बात से वे आश्वस्त नहीं होते, उससे सहमत भी नहीं होते। यदि वे किसी बात की प्रामाणिकता से आश्वस्त नहीं हैं तो उसे मान लेने के लिये उन्हें ब्रह्मा भी विवश नहीं कर सकता। यदि यहीं गुण हठ कहा जाता है तो भगवान् यह हठ औरों को भी दे।

ऐसा नहीं है कि मैं वाजपेयी जी की सारी उद्भावनाओं तथा मान्यताओं से सहमत हूँ या हो जाता हूँ। वास्तविकता तो यह है कि अनेक स्थानों पर मैं उनसे सहज ही असहमत हो जाता हूँ। यह चेष्टा भी करता हूँ कि उनके दृष्टिकोण को समझूँ और कोई ऐसा मार्ग निकालूँ जिससे उनके मत से आश्वस्त हो सकूँ और एक प्रमाणिक विकल्प के रूप में ही सही, लेकिन उनकी बात भी मान लूँ। मेरी यह चेष्टा शायद ही कभी सफल हुई हो। उदाहरणार्थ, पढ़ + इ = पढ़े (पृ० ३, १०३)[1], सो + इ = सोए (पृ० १०३) विश्लेषण का औचित्य समझ में नहीं आता। यदि वर्णनात्मक स्तर पर हिन्दी और उसकी बोलियों को एक ही सूत्र से व्याख्यायित करने का दृष्टिकोण हो तो भी 'इ' को चुनने का लाभ या औचित्य नहीं दिखता, यदि ऐतिहासिक विकास पर दृष्टि हो तो भी इसे इस रूप में प्रस्तुत करना समीचीन नहीं लगता और यदि 'इ' को स्वानिमिक धरातल पर न लेकर मर्षस्वानिमिक या मार्षिमिक धरातल पर लिया जाय तो भी 'इ' का औचित्य नहीं दिखता।

अशुद्धियों या मतभेदों के दो-एक स्थल और गिनाना आवश्यक मानें तो पृ० ५ पर उनका यह वक्तव्य ले सकते हैं कि संसार की कोई भी दूसरी भाषा ऐसी नहीं जिसके शब्दों के आदि में ण् मिलता हो। निश्चय ही यह वक्तव्य देने के पहले वाजपेयी जी ने अफ्रीका और अमेरिका की मूर्धन्य ध्वनियों की भरमार वाली भाषाओं पर दृष्टिपात नहीं किया। फिर, इस वक्तव्य से जो निष्कर्ष निकलता है वह भाषा मात्र की सहज सार्वकालिक प्रकृति का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। पृ० ३–४ और ७ पर उन्होंने कहा है कि हिन्दी की प्रकृति संस्कृत से मिलती है, इसलिये उनको हिन्दी का व्याकरण संस्कृत के आधार पर (प्राकृतों के आधार पर नहीं) बनाना ठीक लगता है। यह 'प्रकृति' क्या उतनी ही होती है या है जितनी उन्होंने निर्दिष्ट की है? जितना प्रकृतिसाम्य उन्होंने निर्दिष्ट किया है, क्या उतना प्रकृति-साम्य एक भाषा का व्याकरण दूसरी भाषा के आधार पर बनाए जाने के लिए पर्याप्त है? क्या एक भाषा का व्याकरण एक ही प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है?

इतनी कुछ पंक्तियाँ मैंने यह प्रमाणित करने के लिए लिखी हैं कि मैं वाजपेयी जी का प्रतिबद्ध प्रशंसक नहीं हूँ और ऐसा नहीं है कि उनकी प्रशंसा करना मेरा धर्म है। इसके बाद मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि हम पृ० ९–१० पर उनका यह वक्तव्य देखें कि अवधी आदि स्वतंत्र भाषाएँ हैं और अपने हृदय पर हाथ रख कर यह कहें कि वाजपेयी जी सरीखा हिन्दी-प्रेमी और उनकी शैक्षणिक पृष्ठभूमि का व्यक्ति यदि भाषा की प्रकृति का विश्लेषण करके यह वक्तव्य देता है तो क्या यह साधारण बात है! मैं उनके इस मत को अकाट्य नहीं कह रहा हूँ, मैं केवल इतना कह रहा हूँ कि यहाँ एक ऐसा विद्वान् विद्यमान है, जो निकष बनाता है तो निःसंग भाव से सब पर लगाता है। यह वाजपेयी जी की बौद्धिक ईमानदारी का चरमोत्कर्ष है। पृ० ११ पर वे हिन्दी भाषा-संघ की वस्तुनिष्ठ और सुपरीक्षित उद्भावना करते हैं।

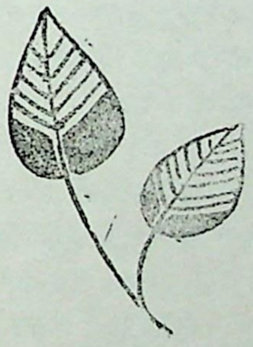
---

१. इस निबंध के सारे पृष्ठ-संदर्भ 'हिन्दी शब्दानुशासन' के तृतीय संस्करण के हैं।

भाषाविज्ञान के विद्यार्थियों को शायद आज यह सुनकर आश्चर्य हो सकता है कि लोग 'राम ने रोटी खाई' को कर्तृवाच्य बताया करते थे और यह विचार नहीं किया जाता था कि वाच्य शब्द और वाक्य के गठन के धरातल पर किस प्रकार निर्धारित की जानेवाली व्याकरणिक कोटि है। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी को ऐसी समस्याओं से जूझना पड़ा।

उनकी विचारशीलता उनकी कृतियों में सर्वत्र विद्यमान है। पृ० १५–१६ पर 'भ्यस्' की चर्चा, पृ० १२७ पर 'ने' के दो स्तरों की चर्चा और पृ० १२४ पर 'विभक्ति' की चर्चा थोड़े से नमूने हैं।

वाजपेयी जी का 'हिन्दी शब्दानुशासन' व्याकरण कम है, व्याकरण-दर्शन अधिक है। उसमें ऐतिहासिक, गठनात्मक और तुलनात्मक दृष्टियाँ घुली-मिली हैं। उसमें व्याकरण का कोई सुनिश्चित ढाँचा भले न, हो, बहुत से स्थलों पर मतभेद की गुंजाइश हो, भले ही कई त्रुटियाँ हों, उसकी जो विशेषता सबसे ऊपर उठ जाती है, वह है प्रातिभ विचारों की बहुलता। यह पुस्तक देखकर ऐसा लगता है जैसे किसी अत्यंत सामर्थ्यवान राजहंस ने मोतियों का ढेर लगा दिया हो। उन्हें सजाने-सँवारने-निखारने का काम कोई और भी कर सकता है, ऐसे और इतने मोती तो यह राजहंस ही ला सकता था।



मौलिक चिन्तन का प्रतीक : हिंदी शब्दानुशासन

डा० छविनाथ त्रिपाठी,

रीडर, हिंदी-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

'हिन्दी शब्दानुशासन' निरुक्त, व्याकरण और भाषाविज्ञान के मूलभूत तत्वों का समाहार करके लिखी गई एक सर्वथा मौलिक और अनोखी कृति है। हिन्दी में भारतीय चिन्तन-पद्धति पर लिखा गया एक भी ऐसा व्याकरण उपलब्ध नहीं है, जिसमें हिन्दी के मूल रहस्यों, उसकी विशिष्ट प्रकृतियों तथा प्रवृत्तियों का इतना सूक्ष्म विश्लेषण किया गया हो। भारतीय विद्वानों द्वारा लिखित व्याकरणों का आधार संस्कृत व्याकरण का अनुगमन रहा है, जब कि पाश्चात्य विद्वानों ने हिन्दी का व्याकरण प्रस्तुत करते समय केवल शब्दों के उच्चारण और वर्तमान प्रयोगों पर ही अधिक बल दिया है। एक में गतानुगतिकता या अन्धानुकरण है तो दूसरे में उस ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव है, जिससे शब्दों के मूल स्रोत, परिवर्तन के स्वरूप और उसके कारणों का निर्देश किया जाता है। एक उत्कृष्ट व्याकरण के निर्माण के लिए किसी अन्य भाषा की व्याकरण-पद्धति अपना कर चलने से संबद्ध भाषा का निजी वैशिष्ट्य नहीं उभर पाता। केवल विश्लेषणात्मक पद्धति अपनाने से किसी शब्द का आनुवंशिकता सहित पूर्ण परिचय नहीं मिल पाता; शोधपरक दृष्टि का अभाव किसी शब्द की प्रयोग-स्थिति को 'क्यों और कैसे' के उत्तर से संवलित नहीं करने देता। हिन्दी शब्दानुशासन दोनों प्रकार की एकांगी दृष्टियों के दोष से सर्वथा मुक्त है।

भारतीय परंपरा के अनुसार भाषा-चिन्तन के एक मात्र ऋषि आचार्य किशोरीदास वाजपेयी हैं। तथ्यों और तत्त्वों की खोज में उनके जैसा मौलिक चिन्तनशील अन्य कोई भी व्यक्ति दिखाई नहीं पड़ता। कुछ लोग हिन्दी की प्रकृति को समझने के लिए उस ब्रिटिश या अमेरिकन भाषावैज्ञानिक पद्धति का आश्रय लेते हैं, जिसका विकास अंग्रेजी भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति के विश्लेषण द्वारा संपन्न हुआ है। इस आयातित विदेशी ढाँचे में वे हिन्दी को 'फिट' करते हैं, भले ही ऐसा करते समय इस भाषा का अंग-भंग ही क्यों न हो जाय। भारतीय परंपरा की सुपरिचित एवं उपयुक्त पारिभाषिक पदावली का त्याग कर वे अपनी अपनी (स्वनिर्मित) मनमाने ढंग की पारिभाषिक पदावली का प्रयोग करते हैं। यही कारण है कि तीन दशकों के बाद भी इन विदेशी स्कूलों की आयातित सरणि द्वारा किसी भी स्वतन्त्र-चिन्तन की प्रक्रिया का विकास हिन्दी भाषा के परिप्रेक्ष्य में नहीं हो पाया है। उदाहरण के लिए संरचनात्मक विश्लेषण में वे वाक्य—पद—प्रातिपदिक और स्वनों का क्रम तो स्वीकार करते हैं, किन्तु 'शब्द' जैसा तत्त्व इस अनुक्रम में निरर्थक है। जब 'शब्द' जैसी कोई वस्तु है ही नहीं तो 'शब्दानुशासन' नाम ही क्यों बनेगा ? यह दूसरी बात है कि इन तथाकथित आधुनिक भाषावैज्ञानिकों द्वारा लिखित भाषाविज्ञान की कोई भी कृति ऐसी नहीं मिलेगी, जिसमें सैकड़ों बार 'शब्द' का प्रयोग न किया गया हो।

हिन्दी शब्दानुशासन में प्रयुक्त पारिभाषिक पदावली परंपराप्राप्त एवं सुपरिचित तो है ही, जहाँ नई पारिभाषिक पदावली के सृजन की आवश्यकता पड़ी है, वहाँ भी सुपरिचितता का ध्यान रखा गया है।[1] भाषा सम्बन्धी सतत प्रवाही चिन्तन-प्रक्रिया का विकसनशील रूप इसी प्रकार से व्यक्त होता है।

आचार्य वाजपेयी जी का यह दृष्टिकोण है कि वर्तमान हिन्दी का अपभ्रंश से सम्बन्ध नाममात्र ही है[2]; हिन्दी की प्रकृति उससे नहीं मिलती। उदाहरणार्थ प्राकृत या अपभ्रंश के क्रियापदों में लिंग-भेद नहीं है; इसके लिए संस्कृत के कृदन्त रूपों की ओर विशेष ध्यान देना होगा, जहाँ लिंग-भेद विद्यमान है। संस्कृत की ओर हिन्दी के झुकाव के कुछ विशिष्ट कारण हैं, 'कृतिप्रज्ञा उदीच्याः' उनमें से केवल एक कारण है। तेरहवीं से पन्द्रहवीं शती तक की उपलब्ध गद्य कृतियों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि न केवल शब्द-समृद्धि के लिए अपितु संरचना के लिए भी हिन्दी उत्तरोत्तर संस्कृत की ओर झुकती गई है। राजस्थान की 'आराधना' से लेकर मिथिला में रचित विद्यापति की पदावली तक यह प्रवृत्ति समान रूप से उपलब्ध होती है। वर्णक ग्रंथों में यह प्रवृत्ति अधिक स्पष्टता से उभरी है।[3] यह प्रवृत्ति उस समय और भी तीव्र हो गई जब अरबी-फारसी की पदावली का अधिकाधिक प्रयोग करती हुई जनभाषा ने उर्दू के रूप में एक नया पथ ग्रहण किया और हिन्दी पूरी तरह संस्कृत की ओर उन्मुख हो गई। इन प्रवृत्तियों से असंपृक्त 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा हिन्दी में कभी भी स्वीकृति नहीं प्राप्त कर सकी। हिन्दी के विगत पाँच सौ वर्षों का भाषा-सम्बन्धी इतिहास जिस दिशा में बढ़ता रहा है, उसके कारण ही अपभ्रंश से इसकी दूरी बढ़ती गई है, संस्कृत से हिन्दी का संबंध घनिष्ठतर होता गया है और हिन्दी की प्रकृति तथा प्रवृत्ति का उचित विश्लेषण संस्कृत के परिप्रेक्ष्य में ही तर्कसंगत हो सकता है। इसके लिए किसी सफाई की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी की संरचना का विश्लेषण आयातित अमेरिकन पद्धति से करने के कारण ही बालक्, लड़क् आदि को प्रातिपदिक मानना पड़ता है जो हिन्दी की परंपरा और प्रकृति के सर्वथा विपरीत प्रतीत होता है।

हिन्दी की प्रकृति को समझने और उसका उचित विश्लेषण करने के लिए समीपवर्ती भाषाओं और बोलियों की प्रवृत्तियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी अपेक्षित है। किसी भी सुनिश्चित निष्कर्ष के प्रतिपादन के पूर्व 'हिन्दी शब्दानुशासन' ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी और पंजाबी की सदृश प्रवृत्तियों का भी पर्यवेक्षण कर लेता है। साध्य की सिद्धि के लिए ऐसा व्यापक सर्वेक्षण किसी भी अन्य व्याकरण या भाषाविज्ञान के ग्रंथ में नहीं मिलता। भाषा-चिन्तन की इस प्रक्रिया ने हिन्दी भाषा से सम्बन्धित अनेक समस्याओं का मौलिक समाधान इस कृति द्वारा प्रस्तुत किया है।

---

१. 'उपधातु', पृ० ४५६।

२. भूमिका, पृ० ७।

३. द्रष्टव्य—ज्योतिरीश्वर का वर्णरत्नाकर।

हिन्दी शब्दानुशासन में नियमों को सूत्र रूप में प्रस्तुत करने की ऋषि-कल्पना भी स्थल स्थल पर व्यक्त हुई है—'हिन्दी संघ' का लिपि के साथ ही एक आन्तरिक सम्बन्ध सूत्र भी है—'क' सम्बन्ध प्रत्यय।[४] हिन्दी में विसर्ग लोप से प्रातिपदिक बनाने की प्रक्रिया है।[५] प्रतिपद दृश्यमान शब्दरूप प्रातिपदिक कहलाता है।[६] हिन्दी की कारकीय विभक्तियाँ या परसर्ग संस्कृत की ही किसी न किसी विभक्ति के विकसित रूप हैं।[७] तद्धितीय प्रत्यय पदों से नहीं, प्रातिपदिकों से लगते हैं।[८] हिन्दी की विभक्तियाँ दो प्रकार की हैं—विश्लिष्ट (इस ने) और संश्लिस्ट (इसे)।[९] के, रे, ने, सम्बन्ध प्रत्यय हैं, वभक्ति नहीं।[१०] विभक्तियाँ दो प्रकार की हैं—कारक और उपपद विभक्ति।[११] इन्हें परसर्ग कहना उचित नहीं है।[१२] अव्ययों में विभक्तियाँ लगती हैं पर अव्यय का रूप नहीं बदलता।[१३] विशेषण का विशेषण, 'प्रविशेषण' है।[१४] विधेय विशेषण को ही पूरक कहा जाता था।[१५] शब्दों की व्युत्पत्ति कृदन्त, तद्धित और समास द्वारा संभव है।[१६] हिन्दी क्रियाओं की प्रवृत्ति त्रिधा है—तिङन्त, कृदन्त और मिश्रित (तिङन्त + कृदन्त या कृदन्त + तिङन्त)।[१७] भूतकाल में अद्यतन-अनद्यतन भेद नहीं है।[१८] आदि।

सरल-सहज भाषा तथा आचार्यों की प्रश्नोत्तर एवं शंका-समाधान शैली में गुरु-गम्भीर विवेचन शब्दानुशासन की एक अनन्य विशेषता है। इस शैली के कारण ही हिन्दी भाषा की कई महत्वपूर्ण समस्याएँ सुलझी हैं, जो इससे पूर्व के लिखित व्याकरणों में ज्यों की त्यों छोड़ दी गई थीं। कोई, क्या, कुछ सर्वनाम नहीं, अव्यय हैं।[१९] 'कुछ' विशेषण भी है। ही, इ अव्यय हैं। विभक्ति तथा अव्ययों के 'ह' का लोप वैकल्पिक है, यहाँ हिन्दी ब्रज से भिन्न है। 'ने' संस्कृत की तृतीया विभक्ति 'इन' से बना है। कर्म या भाववाच्य में ही इसका प्रयोग होता है। भूतकाल में केवल कृदन्त क्रियाओं का प्रयोग-बाहुल्य हिन्दी की विशेषता है, अतः यहाँ 'ने' की उपस्थिति मिलती है।[२०] आँख, दाँत आदि में अनुनासिक स्वरों का बाहुल्य प्राकृत प्रभाव है। धात्वर्थबोधक भाववाचक संज्ञाओं का निर्धारण और वर्गीकरण सर्वथा नवीन और मौलिक है।[२१]

शब्दों की निरुक्ति के लिए संस्कृत पद्धति अपनाई गई है और विकास प्रक्रिया दिखलाने के लिए लोप, आगम, संप्रसारण, वर्ण-व्यत्यय आदि भाषा-वैज्ञानिक स्वीकृत सिद्धान्तों का आश्रय लिया गया है। संस्कृत परम्परा का यहाँ अन्धानुकरण नहीं है। स्थान-स्थान पर संस्कृत से हिन्दी की निजी प्रकृति की तुलना करते हुए भेदक तथ्यों को प्रकाश में लाया गया है। संस्कृत का स्त्रीलिंग प्रत्यय आ (टाप्, डाप्, चाप्) केवल

---

४ शब्दानुशासन, पृ० ११।
५ वही, पृ० १३।
६ वही, पृ० १४।
७ वही, पृ० १५–१७।
८ वही, पृ, १६।
९ वही, पृ० १२५।
१० वही, पृ० १२७।
११ वही, पृ० १३५।
१२ वही, पृ० १७१-७२, २६१।
१३ वही, पृ० १७७।
१४ वही, पृ० २२०।
१५ वही, पृ० २१९।
१६ वही, पृ० २६५।
१७ वही, पृ० ४१२।
१८ वही, पृ० ४३८।
१९ वही, पृ० २३।
२० वही, पृ० २७।
२१ वही, पृ० २६६–६७।

तत्सम शब्दों में ही मिलता है, तद्भव में नहीं है। संस्कृत के वैकल्पिक रूपों (विस्तर, विस्तार) को स्वीकार करने की अपेक्षा हिन्दी ने एकरूपता (विस्तार) पर अधिक बल दिया है। संस्कृत की सभी संधियों को हिन्दी ने नहीं अपनाया, जैसे 'ढ्र लोपे' नहीं है। विदेशी शब्दों को भी वह सरलीकृत रूप में ही स्वीकार करती है; हॉस्पिटल नहीं, अस्पताल स्वीकृत है। फारसी शब्दों का नुक्ता या बिन्दी नहीं ग्रहण किया गया। संस्कृत का का 'इत' तद्धित प्रत्यय हिन्दी में कृदन्त और तद्धित दोनों रूपों में चलता है, संस्कृत के कृत् और तद्धित (इत) प्रत्ययों जैसा भेद हिन्दी में नहीं है। 'हर्षित' का इत संस्कृत में कृत् और हिन्दी में तद्धित है। अव्यय के साथ (एकत्रित) भी यह लगता है।[२२] हिन्दी के भूतकाल में संस्कृत जैसा अद्यतन-अनद्यतन भेद नहीं है। हिन्दी में प्रेरणार्थक क्रियाओं की बनावट भी संस्कृत की प्रक्रिया से भिन्न है।

हिन्दी शब्दानुशासन के नूतन (तृतीय) संस्करण में कुछ नये तथ्यों का अनुसंधान भी किया गया है। इन्हीं में हिन्दी सर्वनामों के प्रातिपदिक भी हैं। भाषाविज्ञान की वर्तमान प्रवृत्ति किसी भाषा के प्रचलित रूपों के विश्लेषण तक ही सीमित है। मैं, तू, यह, वह, जो, कौन अविकारी सर्वनाम हैं और हम, हमें, हमारा, हमारे; तुम, तुम्हें, तुम्हारा, तुम्हारे; ये, इस, इन, इन्हें; वे, उस, उन, उन्हें; जिस, जिसे, जिन, जिन्हें; तथा किस, किसे, किन, किन्हें इनके विकारी रूप हैं। इनके प्रातिपदिकों का निर्धारण निश्चय ही चिन्तन-प्रक्रिया का अग्रिम चरण है। प्रतिपद श्रूयमाण प्रातिपदिक की खोज में 'यह' का सम्बन्ध 'एषः' से और 'वह' का सम्बन्ध 'सः' से जोड़ा गया है। सः < सो < ओस < ओह < वोह < वह; विकास प्रक्रिया के अनुरूप ही है। 'व' की श्रुति के साथ 'वोह' दक्खिनी हिन्दी में मिलता है। सः और तौ, ते, एक ही प्रातिपदिक के रूप नहीं हैं। यह अनुमान इसी आधार पर किया जाता है कि सः में स तथा तौ, ते में त श्रूयमाण है और ये दो प्रातिपदिक हैं। ऐसी परिस्थिति में 'वह' में ओस की श्रूयमाणता कहाँ है? 'यह' में भी 'एषः' की श्रूयमाणता नहीं है। अतः एषः और सः, यह और वह के विकास के उत्स भले ही कहे जायँ, प्रातिपदिक कैसे कहे जाएँगे?

ज, त, क प्रातिपदिक हैं, क्योंकि ये अपने पदों में श्रूयमाण हैं; यहाँ प्रातिपदिक की परिभाषा खंडित नहीं होती। 'अब' की संरचना में भी 'ओस + ब' मानते समय जब, तब, कब से मिथ्या-सादृश्य स्वीकार करना पड़ता है। कुरु प्रदेश में 'इब' चलता है। 'इब' का 'इ' 'ओस' में कहीं भी विद्यमान नहीं है। यह, वह के प्रातिपदिकों की खोज के लिए अभी चिन्तन की आवश्यकता अनुभव होती है। सिद्ध रूपों से विकसित हिन्दी शब्द पुनः कारकीय विभक्तियों का प्रयोग करते ही हैं अतः 'इस' और 'किस' के लिए भी सिद्ध रूपों की खोज की जा सकती है। 'अ' का 'इस' आदेश क्यों?[२३] 'र कौनो कसूर नाहीं बा' में 'र' 'एहकर' का अवशेष नहीं है। यह पूर्वी के 'राउर' का संक्षिप्त

---

२२ हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० २९८–९९।

२३ हिन्दी शब्दानुशासन, भूमिका, पृ० १७—२३।

रूप भी हो सकता है। 'जो राउर अनुशासन पाऊँ।' पूर्व में राउर' 'रउरे' 'रउवाँ' इसी के अन्य रूप हैं। अतः यह भी चिन्त्य है।[२४]

'क्या' और 'कुछ' सर्वनाम नहीं, अव्यय हैं। यह ठीक है कि क्या ने, क्या को रूप नहीं चलते; पर 'कुछ' की स्थिति 'क्या' जैसी नहीं है। 'कुछ' अव्यय है, अनिश्चित अल्प परिमाण वाचक विशेषण है, 'वह' अनिश्चित अल्प संख्या वाचक विशेषण है।[२५] अव्यय से कारकीय विभक्तियाँ नहीं लगतीं, पर निम्नलिखित प्रयोग में—

'वहाँ सैकड़ों व्यक्ति एकत्र हुए। कुछ ने रोटी खाई, कुछ ने खीर। कुछ को धन मिला; कुछ खाली हाथ लौटे।' 'कुछ' की स्थिति 'क्या' जैसी नहीं है।

विशेष्य के अप्रयोग की स्थिति में विशेषणों का संज्ञाओं की भाँति प्रयोग होता है। 'अच्छों अच्छों ने लुटिया डुबा दी' जैसे प्रयोग चलते हैं। 'सैकड़ों व्यक्ति' में से कुछ के स्थानापन्न 'कुछ' हैं। स्थानापन्नता का यह गुण सर्वनाम का है। इसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है कि 'कुछ' सर्वनाम क्यों नहीं है।

सरलीकरण की प्रवृत्ति या प्रयोग-बाहुल्य की दृष्टि से ही अस् और भू धातुओं के रूप एक में मिले। भाषा-विकास की प्रक्रिया में अहम् और वयम् तथा त्वम् और यूयम् भिन्न भिन्न प्रातिपदिकों के रूप होकर भी समानार्थकता के कारण एक दूसरे रूपों के स्थानापन्न बन गए। प्रयोग की प्रधानता तो व्याकरण भी स्वीकार करते ही हैं। अज्ञात प्रातिपदिकों की खोज आवश्यक है; एकमात्र हिन्दी शब्दानुशासन ही इसकी प्रेरणा प्रदान करता है।

'ही' और 'भी' अव्यय हैं। अनिश्चितार्थक 'ई' अव्यय की खोज निश्चय ही शब्दानुशासन की अपनी देन है। 'कब + ई = कबी (कभी)' की कल्पना हिन्दी में नहीं थी; 'कब + ही = कभी' ही समझा जाता रहा है। कोई, किसी, में 'ई' ही है, ही नहीं।

शब्द-चिन्तन की प्रक्रिया में सूक्ष्म और सही की पकड़ तथा विचारों और निष्कर्षों में अनवरत संशोधन तथा परिष्करण का आवाहन 'शब्दानुशासन' को एक वैज्ञानिक धरातल प्रदान करता है। स्वयं अपने ही पूर्व निष्कर्षों को त्रुटिपूर्ण पाने पर उसमें संशोधन कर देने से यह कृति पूर्वाग्रहों से पूर्णतः मुक्त है। 'इ' और 'ईं' विभक्तियाँ संस्कृत की बहुवचन विभक्ति 'नि' (फलानि) से विकसित हैं। 'ह' का आगम होता है। इससे इन्हें, उन्हें को समझने में सहायता मिली है और पूर्वधारणाओं में परिष्कार हुआ है।

व्याकरण भाषा का विश्लेषण मात्र ही नहीं करता, उसकी अन्तर्निहित प्रकृति का उद्घाटन भी करता है। उसकी प्रवृत्तियों की परख कर परिष्कार का मार्ग दिखलाता है। शब्द-निरुक्तियाँ शब्द और उसके अर्थ दोनों के मर्म का उद्घाटन करती हैं और उचित प्रयोग का दिशानिर्देश करती हैं। हिन्दी शब्दानुशासन हिन्दी व्याकरण और हिन्दी निरुक्त का ऐसा अन्यतम ग्रन्थ है, जैसा इस समय तो कोई अन्य ग्रंथ दिखाई नहीं पड़ता। इससे आगे शब्द-चिन्तन की परम्परा को बढ़ाने के लिए प्रचुर तप की आवश्यकता पड़ेगी।

---

२४ वही, पृ० १८।
२५ वही, पृ० २४।

हिन्दी शब्दानुशासन : उपलब्धि और सीमा

डा० अनन्त चौधरी
हिन्दी विभाग, पटना कालेज,
पटना विश्वविद्यालय.

वाजपेयी जी का यह अभिनव पाण्डित्यपूर्ण व्याकरण वि० सं० २०१४ (सन् १९५८ ई०) में नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। इसके मुख्य खण्ड तीन हैं—'पूर्व पीठिका', 'पूर्वार्द्ध' और 'उत्तरार्द्ध'। इनके अतिरिक्त ग्रंथ के अन्त में 'परिशिष्ट' भी है, जिसमें हिन्दी की कुछ बोलियों के अतिरिक्त पंजाबी आदि का सामान्य परिचय देने के पश्चात् 'व्याकरण' तथा 'भाषाविज्ञान' का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

'पूर्व पीठिका' ७५ पृष्ठों की है। उसमें वाजपेयी जी के द्वारा जिन तथ्यों की स्थापना की गयी है, वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं :—

१. जिस भाषा में वेदों की रचना हुई, साधारणतः 'वही संसार की मूल भाषा' थी।

२. एक ही भाषा के (व्यवहार भेद से) कई रूप हो जाते हैं—साधारण भाषा, शिष्ट भाषा, साहित्यिक भाषा।

३. प्राकृत जनों की भाषा एक उद्दाम नदी की तरह अपनी स्वतन्त्र गति से चलती रहती है; इसलिए मार्ग बदलती रहती है। साहित्यिक भाषा को एक बड़ी नहर समझिए, जो कि व्यवस्था से चलती है। इसके मार्ग आदि में वैसा परिवर्तन नहीं होता। परन्तु फिर भी, बहुत लम्बे काल में कहीं कुछ परिवर्तन सम्भव है।

४. साहित्यिक भाषा में होनेवाला परिवर्तन कृत्रिम होता है, किन्तु जनभाषा का परिवर्तन अकृत्रिम (स्वाभाविक) होता है।

५. 'मूल भाषा' में वेद-जैसे उत्कृष्ट साहित्य की रचना होने लगी, तो उसका रूप संस्कृत हो चला। साधारण जनों की भाषा वही प्राकृत रही। सो, मूल भाषा के दो रूप हो गए—वेदों की 'संस्कृत भाषा' और लोक व्यवहार की साधारण 'प्राकृत भाषा'। वाजपेयी जी ने वेदों की भाषा को 'प्रथम संस्कृत' और वैदिक युग की साधारण जनभाषा को 'प्रथम प्राकृत' कहा है।

६. 'मूल भाषा' का नाम तब 'प्राकृत भाषा' कहलाने लगा। वैदिक काल की प्राकृत का कुछ आभास (वेद के) 'गाथा' छन्दों में मिलता है, ऐसा माना जाता है। संभव है, उस समय प्राकृत में भी सामान्य साहित्य-रचना होती हो और उसके लिए कोई विशेष छन्द निर्धारित हो गया हो और वही 'गाथा' हो।

७. बुद्ध और महावीर के समय तक आते-आते 'प्रथम प्राकृत' का रूप बिल्कुल परिवर्तित हो गया। यह प्राकृत की दूसरी अवस्था थी। इसे ही वाजपेयी जी ने 'दूसरी प्राकृत' कहा है।

८. देश-भेद से प्राकृत के अनेक भेद थे। जिन प्राकृतों में साहित्य-रचना होती थी, उनके नाम हैं—मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि। परन्तु जिन प्राकृतों में वैसा साहित्य नहीं बना, उनके नामों का निर्देश प्राकृत-व्याख्याताओं ने नहीं किया है। बंगाल, उत्कल, पंजाब तथा उत्तरप्रदेश के पश्चिमोत्तर भाग में जो प्राकृत-रूप चल रहे थे, उनके नामों का कोई उल्लेख नहीं है।

९. 'पाली' ऐसी प्राकृत है, जिसे न मागधी कह सकते हैं, न महाराष्ट्री और न 'शौरसेनी' ही। बुद्धवचन देश भर की सम्पत्ति बन गये, तब वे 'मागधी' जैसी किसी प्रादेशिक भाषा में ही कैसे बँधे रहते? ऐसा जान पड़ता है कि प्रदेश-भेद से विभिन्न प्राकृत भाषाएँ होने पर भी कोई एक पुराना साहित्यिक रूप (प्राकृत का) ऐसा भी था, जिसे देश भर में स्थान प्राप्त था —देश के सभी भागों में जो समझी जाती थी। उसी राष्ट्रीय प्राकृत में 'त्रिपिटक' आदि लिखे गये और आगे चलकर वह अन्तरराष्ट्रीय चीज बन गई—तिब्बत, चीन, लंका, स्याम, बरमा, काबुल आदि न जाने कहाँ-कहाँ बुद्धवचन 'पाली' को ले गये।

१०. कालान्तर में दूसरी प्राकृत के रूप भी बदल गये। "इन तीसरी प्राकृतों को, या प्राकृत की तीसरी अवस्था के रूपों को, लोग 'अपभ्रंश' कहते हैं, जो ठीक नहीं। 'तीसरी प्राकृत' कहना ठीक है।"

११. देश भर में जो तीसरी प्राकृत के विविध रूप चल रहे थे, उनका आगे विकास हुआ और ये पूर्ण विकसित रूप ही आज की हमारी प्रान्तीय या प्रादेशिक भाषाएँ हैं।

१२. उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद से लेकर पंजाब के अम्बाला जिले तक की लम्बी पट्टी में जो प्राकृतें बोली जाती थीं, उसका नाम-निर्देश भी नहीं किया गया है। इसी प्रदेश के मध्य भाग की तीसरी प्राकृत 'अपभ्रंश' से हिन्दी का प्रादुर्भाव हुआ, जो आज राष्ट्रभाषा है, हिन्द की भाषा, तत्त्वतः 'हिन्दी' है।

१३. कुरुजनपद की प्राकृत का नाम 'कौरवी' होना चाहिए। परन्तु कोई नाम मिलता नहीं है। लोगों ने समझ लिया कि जिन प्राकृतों के नाम मिलते हैं, वे ही उस समय थीं और बस समझ लिया गया कि 'मागधी' ही बिहार में तथा बंगाल-उड़ीसा में बोली जाती थी। परिणामतः यह भी लिख दिया गया कि मागधी के अपभ्रंश (तीसरी प्राकृत) से मगही, मैथिली, भोजपुरी, बंगला तथा उड़िया भाषाएँ बनीं। इसी तरह शौरसेनी अपभ्रंश से 'ब्रज भाषा' तथा 'खड़ी बोली' (राष्ट्रभाषा) का विकास हुआ। इसी भ्रम से आगे चल कर यह भी लिख दिया गया कि 'ब्रज भाषा' से खड़ी बोली निकली है। यह सब प्रमाद है।

१४. अपभ्रंश का जो रूप हमें साहित्य में दिखाई देता है, बोलचाल की भाषा भी वैसी ही होगी; नहीं कहा जा सकता। और, यदि यह मान लिया जाए कि उपलब्ध

प्राकृत-काव्यों में जो भाषा है, वही उस समय की जनभाषा थी, तो कहना पड़ेगा कि वैसी किसी प्राकृत से हिन्दी का कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। उस प्राकृत की अपेक्षा तो संस्कृत ही हिन्दी के अधिक समीप है या फिर कोई प्राकृत होगी, जिसमें वर्ण-संहार वैसा न हुआ होगा। परन्तु उसका रूप आज हमारे सामने नहीं है। इस प्राकृत में साहित्य न रचा गया होगा। परन्तु गोरख आदि की वाणी में कुछ झलक जरूर मिल रही है। उसी प्राकृत से हिन्दी की उत्पत्ति समझिए। निश्चय ही वह कुरुजनपद की प्राकृत (या जनभाषा) संस्कृत से बहुत दूर न हटी होगी। उसी का विकसित रूप हिन्दी है।

१५. प्राकृत के (दूसरी या तीसरी अवस्था के) जो भी रूप साहित्य में उपलब्ध हैं, उनसे हिन्दी की पटरी बैठती नहीं है। इन सभी प्राकृतों में वर्तमान काल की क्रियाएँ तिङन्त हैं; जिनमें कर्त्ता के अनुसार पुल्लिग-स्त्रीलिंग में कोई रूप-परिवर्तन नहीं होता। हिन्दी में रूप बदलता है। हिन्दी की यह विशेषता किसी भी प्राकृत में दिखाई नहीं देती। जिस (कुरुजनपद) प्राकृत में यह बात थी, उसका कोई रूप हमारे सामने है नहीं। कई कड़ियाँ टूटी हैं। कुछ भी हो, साहित्य में उपलब्ध प्राकृतों में से कोई भी ऐसी नहीं है, जिससे हिन्दी (खड़ी बोली) का उद्गम माना जा सके। हाँ, अवधी आदि का संबंध उनसे जरूर हैं।

१६. कुरुजनपद (उत्तर प्रदेश के मेरठ-डिवीजन) की बोली को 'खड़ी बोली' नाम भाषाशास्त्रियों ने नहीं, साधारण साहित्यिकों ने दिया। परन्तु इसकी व्युत्पत्ति के बारे में लोग भटकते रहे। प्रारम्भ में तो खड़ी बोली नाम इसलिए पड़ा कि इसमें कवियों को मधुरता न जान पड़ी। परन्तु 'खड़ी बोली' नाम भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी खरा उतरता है। 'मीठा', 'जाता', 'खाता' में जो खड़ी पाई (अन्त में) देखते हैं, वह हिन्दी के अतिरिक्त इनकी किसी भी दूसरी 'बोली' में न मिलेगी। सो, इस खड़ी पाई के कारण इसका नाम 'खड़ी बोली' बहुत सार्थक है।

१७. यह (खड़ी पाई) संस्कृत के विसर्गों का विकास है। ऐसा जान पड़ता है, जान पड़ने की बात नहीं, निश्चय है कि संस्कृत के पुल्लिग, एकवचन (बालकः) आदि के विसर्गों का विकास हिन्दी में 'आ' (ा) के रूप में किया है। हम इस 'आ' विभक्ति को 'पु० प्रत्यय' भी कहते हैं। हमने इसे 'पु० विभक्ति' नाम दिया; क्योंकि यह एक संस्कृत विभक्ति का विकास है।

१८. संस्कृत से सीधे ही हिन्दी ने यह खड़ी पाई निकाल ली हो, ऐसा नहीं है। प्राकृत की दूसरी-तीसरी अवस्था में कोई-न-कोई रूप ऐसा होगा, जो हमारे सामने इस समय नहीं है। जिस प्राकृत का विकास हिन्दी है, उसका साहित्यिक रूप हमारे सामने नहीं है। इसलिए नहीं कह सकते कि इसका प्रयोग कहाँ किस तरह होता था।

१९. हिन्दी अपनी यह पु० विभक्ति संस्कृत के तद्रूप (तत्सम) शब्दों में नहीं लगाती। परन्तु 'अपने' तथा संस्कृत के रूपान्तरित करके अपनाए हुए (तद्भव) शब्दों में जरूर यह पु० विभिक्ति लगा देती हैं।

२०. 'आ' को हिन्दी ने 'अपने' शब्दों में 'पु० प्रत्यय' के रूप में ग्रहण किया है जब कि संस्कृत ने 'आ' को स्त्री० प्रत्यय के रूप में अपनाया है।

२१. खड़ी बोली, अवधी, व्रजभाषा, राजस्थानी, पंजाबी, मराठी, गुजराती, बंगला तथा उड़िया के धातु प्रायः समान ही हैं, अन्तर केवल प्रत्ययों में है। यों कहीं-कहीं प्रत्ययों में भी एकरूपता है।

२२. हिन्दी की अन्य बोलियों से खड़ी बोली को पृथक् करनेवाली कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) विभक्ति तथा अव्ययों के 'ह्' का लोप खड़ी बोली की एक प्रमुख विशेषता है। यह लोप कहीं नित्य होता है, कहीं वैकल्पिक और कहीं होता ही नहीं। जैसे, —चारो, तीनों, छहो, इसी, उसी, हमी, आदि। (ख) हिन्दी ने उपसर्गों का भी स्वतन्त्र प्रयोग किया है। जैसे, 'इस पुस्तक की चार प्रतियाँ हमें देना'। (ग) राष्ट्रभाषा में एक और बड़ी विशेषता है, इसके 'अभी, कभी तभी' आदि प्रयोग। अन्यत्र 'अबहीं, तबहीं' आदि चलते हैं। (घ) 'ने' विभक्ति तथा कृदन्त क्रियाओं का बाहुल्य राष्ट्रभाषा की अपनी विशेषता है।

२३. संस्कृत की सभी धातुएँ प्राकृत-पद्धति से हिन्दी में जाकर स्वरान्त हो गयी हैं। हिन्दी में एक भी धातु व्यंजनान्त नहीं है।

२४. हिन्दी प्राकृत-परम्परा की भाषा है और इसका 'अपना' विपुल शब्द-भाण्डार है। संस्कृत साहित्य में उपलब्ध अनन्त शब्द-राशि भी इसकी 'अपनी' ही सम्पत्ति है और संस्कृत की 'धातु' तो अटूट शब्द-स्रोत के रूप में इसे प्राप्त है। परन्तु तो भी, हिन्दी एक स्वतंत्र भाषा है और किसी भी भाषा के मूल शब्द या 'मूलधन' होते हैं——१. क्रिया-पद, २. अव्यय, ३. विभक्तियाँ तथा ४. सर्वनाम। ये चार मुख्य स्तम्भ हैं, जिनपर किसी भी भाषा का स्वतंत्र अस्तित्व टिका रहता है। ये शब्द कभी बदलते नहीं, कभी भी किसी दूसरी भाषा से कोई भाषा नहीं लेती है।

२५. संस्कृत के शब्द हिन्दी में कई तरह से चल रहे हैं। बहुत अधिक शब्द ऐसे हैं, जो तद्रूप चलते हैं; जैसे, प्रभाव, प्रभु, प्रेम आदि। तद्भव शब्दों का तो अटूट भाण्डार है और इनकी जगह संस्कृत के तद्रूप शब्द चले ही नहीं, जैसे दस, बीस आदि। संख्यावाचक—'एक' को छोड़कर शेष सब शब्द हिन्दी के 'अपने' हैं; चाहे ये जिस तरह बने हों। कुछ शब्द उभय था चलते हैं—तद्रूप भी और तद्भव भी; जैसे, सूरज—सूर्य, सँदेश—सन्देश, बिक्री—बिक्रय आदि। हिन्दी ने संस्कृत शब्दों का जो तद्भव रूप दिया है, उसमें उच्चारण-सौकर्य ही नहीं, औचित्य का भी ध्यान रखा गया है। 'प्रिय' से स्त्रीसुलभ 'पिय' शब्द बना, पु० विभक्ति से 'पिया' भी। परन्तु 'प्रिया' सदा इसी रूप में रहा है।

२६. हिन्दी ने संस्कृत की प्रायः सब सन्धियाँ ज्यों की त्यों अपना कर भी 'रो रि' तथा 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः'——वाली संस्कृत-सन्धि ग्रहण नहीं की है। संस्कृत के

'ज्ञानेन्द्र' 'सुधोपम' आदि शब्द-प्रयोग यहाँ बराबर चलते आए हैं, चल रहे हैं और प्रलय-पर्यन्त चलते रहेंगे; परन्तु 'पुनारचना' या 'अन्तारमण' यहाँ न चलेंगे। हिन्दी सर्वत्र संस्कृत-नियमों से बँधी नहीं है। संस्कृत में जहाँ 'दीनबन्धु' चलता है हिन्दी ने वहाँ 'दीनानाथ' भी स्वीकार किया है। संस्कृत में जैसे विश्वामित्र बन गया, उसी तरह हिन्दी में 'दीनानाथ' तथा 'मूसलाधार' बन गए।

२७. हिन्दी में फारसी आदि के जो शब्द खप गए हैं, वे हिन्दी उच्चारण में ही चलते हैं। 'ज' 'फ' आदि के नीचे बिन्दी लगाकर फारसी आदि के तद्रूप शब्द हिन्दी में चलाने का उद्योग व्यर्थ, हानिकर तथा उपहासास्पद भी है। हिन्दी वालों का उच्चारण ही वैसा नहीं।

२८. जैसी भाषा है, उसका ज्यों का त्यों रूप व्याकरण में आना चाहिए। भाषा की चाल को व्याकरण बदल न देगा। यह उसकी शक्ति से बाहर की बात है। व्याकरण लक्ष्यप्रधान शास्त्र है। जैसा लक्ष्य (शब्द-प्रयोग) लोकप्रचलित है, उसका वैसा ही लक्षण बनाना पड़ेगा—उसका वैसा ही निरूपण करना होगा।

२९. व्याकरण भाषा का नियमन तब अवश्य कर सकता है, जब कि उसके पास अनुकूल तर्क हो और वह तर्क भाषा की प्रकृति के विरुद्ध न हो। प्रमाणवत्त्वादायातः प्रवाहः केन वार्यते? उस प्रवाह को कौन रोक सकता है, जिसे प्रमाण का बल भी प्राप्त है।

वाजपेयी जी की उपर्युक्त स्थापनाओं में से कुछेक को छोड़कर अधिकांश नवीन, निर्दोष, सबल तथा नितान्त उपयोगी हैं। मुख्यतः खड़ी बोली की उत्पत्ति तथा उसके पूर्वस्रोत के संबंध में उनके द्वारा व्यक्त विचार एतद्विषयक अनेक भ्रांतियों को दूर करने-वाले प्रमाणित हुए हैं। इसके अतिरिक्त, उन्होंने खड़ी हिन्दी की जिन मुख्य विशेषताओं की संक्षिप्त चर्चा की है, उनमें से भी अधिकांश ऐसी हैं, जिनकी ओर पूर्ववर्ती विद्वानों का ध्यान समुचित रूप से नहीं गया था।

निर्बल तथा सदोष स्थापनाओं में प्रथम तो 'मूल भाषा' संबंधी स्थापना आती है। वैदिकयुगीन आर्यभाषा को संसार की 'मूल भाषा' मानना युक्तिसंगत तथ्य नहीं है। भाषा का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव चाहे भारत में हुआ हो या अन्यत्र, इतना निश्चित है कि वह वैदिक युग से हजारों हजार वर्ष पूर्व से बोली जा रही थी। ऐसी स्थिति में वैदिक युग की भाषा को 'मूल भाषा' कहना भाषाविज्ञान के सर्वमान्य सिद्धान्तों का उल्लंघन करना होगा। इसी तरह वेदों की भाषा के लिए भाषार्थक 'संस्कृत' संज्ञा का प्रयोग भी उचित नहीं कहा जा सकता; क्योंकि भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग परवर्ती युग की भाषा के लिए हुआ था। इसके अतिरिक्त, खड़ी बोली के नामकरण तथा उसकी 'खड़ी पाई' के विकास के संबंध में वाजपेयी जी की स्थापनाएँ तर्कसङ्गत तथा प्रमाणपुष्ट नहीं होने के कारण, संभवतः किसी के लिए भी मान्य नहीं हो सकतीं। फिर, उनका दृढ़ निश्चय के साथ यह कहना कि 'कोई भी विशेषण योरप की किसी भी भाषा का हिन्दी ने नहीं लिया' बहुत समीचीन नहीं है। इसी प्रकार विवेच्य ग्रंथ के संबंध में उनका यह कथन कि 'इसमें

सन्देह नहीं कि इसे हिन्दी का पहला व्याकरण लोग अवश्य कहेंगे' बहुत उपयुक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके पूर्व लिखे गये सैकड़ों व्याकरणों को, चाहे वे सदोष और अपूर्ण ही क्यों न हों, भुलाया नहीं जा सकता। हाँ, इतना निश्चित है कि वाजपेयी जी के व्याकरण इतिहास में युगान्तकारी सिद्ध हुए हैं।

'वर्णविचार' के प्रारम्भ में भाषा की परिभाषा उन्होंने इस प्रकार दी है—भाषा सार्थक शब्दों का समूह है'। 'सार्थक' से उनका तात्पर्य है—'परम्पराप्राप्त संकेत-व्यवस्था से युक्त शब्द'। किन्तु इस स्पष्टीकरण के पश्चात् भी उक्त परिभाषा में भाषा के सभी लक्षण नहीं घटते। जिस प्रकार सुगंधयुक्त फूलों के समूह मात्र को माला नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार अर्थ-सङ्केतित शब्दों के समूह मात्र को भाषा नहीं कह सकते। भाषा के अन्तर्गत शब्दों की एक सुनिश्चित व्यवस्था होती है, साथ ही उसका सामाजिक उद्देश्य एक उपयोगिता होती है। इन बातों पर उक्त परिभाषा के द्वारा कोई प्रकाश नहीं पड़ता ? अतः इसे अपूर्ण कहा जा सकता है।

उन्होंने अ, इ, उ, ऋ, इन चार स्वरों को हिन्दी के मूल स्वरों में परिगणित किया है, किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि "ऋ स्वर हिन्दी के गठन में नहीं है। संस्कृत (तद्रूप) शब्दों में ही वह यहाँ रहता है। इसका बहिष्कार वैसे शब्दों में संभव नहीं है"।

आ, ई, ऊ, ओ, ॠ को उपर्युक्त मूल स्वरों का दीर्घ रूप बताते हुए उन्होंने लिखा है कि "ये मूल स्वरों के ही (दीर्घ उच्चारण) के लिपि-सङ्केत हैं। ॠ का दीर्घ उच्चारण तो हिन्दी में है ही नहीं, पर शेष तीन स्वरों का वैसा उच्चारण बहुत अधिक है। आ, ई, ऊ उन मूल स्वरों से पृथक् नहीं हैं। स्थान-भेद से वर्ण-भेद होता है। यहाँ वैसा नहीं है। अ—आ के उच्चारण में स्थान-भेद नहीं है: इसी तरह इ—ई तथा उ—ऊ की बात समझिए। इसके पश्चात् ए, ऐ, ओ और औ का परिचय संयुक्त स्वरों के रूप में दिया है। ए और ओ के ह्रस्व रूप की उपस्थिति हिन्दी की बोलियों में तो मानी है, किन्तु राष्ट्रभाषा में नहीं।

स्वर के अनुनासिक और अननुनासिक भेदों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने 'अनुनासिक' शब्द के स्थान पर 'सानुनासिक' शब्द के प्रयोग को अनुपयुक्त ठहराया है। फिर अनुनासिक और अनुस्वार के अन्तर को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि अनुस्वार एक पृथक् ध्वनि है, इसीलिए इसके उच्चारण की एक मात्रा गिनकर तदाश्रय स्वर 'गुरु' माना जाता है; किन्तु अनुस्वार का उच्चारण स्वर के अनन्तर होता है। इसी प्रकार, अनुस्वार और विसर्ग का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है कि "ये ध्वनियाँ न तो स्वर हैं, न व्यंजन हैं। हाँ, स्वरों के सहारे इन्हें चलते जरूर देखा जाता है। स्वतन्त्र गति नहीं, इसीलिए ये स्वर नहीं हैं और व्यंजनों की तरह ये स्वर के पूर्व नहीं, पश्चात् आते हैं, इसलिए व्यंजन नहीं। वर्णों की दो श्रेणियों में से किसी के भी साथ इनका जातीय योग नहीं है। इसलिए इन दोनों ध्वनियों को 'अयोगवाह' कहते हैं। न स्वरों से योग न व्यंजनों से, फिर भी अर्थ वहन करते हैं। इसीलिए 'अयोगवाह'।

विसर्ग के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि 'अनुस्वार' की तरह विसर्ग भी स्वर के बाद आते हैं। संस्कृत में विसर्गों के बिना काम ही नहीं चल सकता। वहाँ अनेक कारकों की अभिव्यक्ति विसर्गों के बल पर ही है। हिन्दी के गठन में विसर्गों का कोई सम्बन्ध नहीं। हाँ, जो शिक्षित जन अपनी भाषा संस्कृत के तद्रूप से समृद्ध —गम्भीर करना चाहें, करें। वे विसर्गों का यथास्थिति प्रयोग करें, करते ही हैं। परन्तु संस्कृत शब्दों में ही। ठेठ हिन्दी में विसर्ग का प्रयोग नहीं पाया जाता।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् व्यंजनों को संस्कृत व्याकरणानुसार अन्तस्थ, ऊष्म और वर्गीय तथा अल्पप्राण, महाप्राण और अनुनासिक अल्पप्राण के वर्गों में विभक्त कर उनका अलग-अलग सामान्य परिचय दिया गया है। अनुनासिक अल्पप्राण अर्थात् वर्गीय पंचम व्यंजनों का परिचय देते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है कि 'हिन्दी के गठन में 'ङ' 'ञ' तथा 'ण' का कोई योग नहीं है। जो मिठास 'न' तथा 'म' में है वह इन तीनों में नहीं है। इसीलिए हिन्दी ने 'न' तथा 'म' को ही अपनाया है। संस्कृत (तद्रूप) शब्द जो हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं, उनमें ही ये (ङ, ञ, ण) व्यंजन आते हैं :—'वाङमय', 'चाञ्चल्य' 'पाण्डित्य' आदि। ङ तथा ञ की अपेक्षा ण अधिक आता है। 'ङ' संस्कृत में भी बहुत कम अन्त्य रूप से (प्रत्यङ' आदि में) आता है; पर ञ तो (अन्त में) मिलेगा ही नहीं। आदि में तो कभी भी ये (ङ, ञ, ण) आएँगे ही नहीं। हाँ, प्राकृत में जरूर णकारादि शब्दों की भरमार है। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार 'म्' को प्रायः 'न्' को कभी-कभी अनुस्वार हुआ करता है और अनुस्वार को भी यथास्थान ङ, ञ्, ण्, न् तथा म् हुआ करता है। अनुनासिक स्वरों की तरह अनुनासिक व्यंजन भी द्विस्थानीय हैं, साथ ही उन्हीं की तरह ये भी 'संयुक्त वर्ण' नहीं हैं।

ऊष्म महाप्राण श, ष, स, ह के प्रसंग में उन्होंने लिखा है कि "हिन्दी के गठन में तो 'स' मात्र काम में आता है। संस्कृत (तद्रूप) शब्द जो हिन्दी में चलते हैं, उनमें 'श' तथा 'ष' आता है। कुछ विदेशी शब्द भी हिन्दी में श घटित चलते हैं—पेचिश, शाबाश, शोर आदि। इस प्रसंग में उनसे एक भूल यह हुई है कि उहोंने ए, ऐ, ओ, और औ की तरह वर्गीय महाप्राण व्यंजनों को भी 'संयुक्त व्यंजन' मान लिया है।

वाजपेयी जी ने वर्ण या ध्वनि विषयक उपर्युक्त विवेचन मुख्य रूप से संस्कृत व्याकरण के ही आधार पर किया है। दुर्भाग्य से आधुनिक ध्वनिवैज्ञानिक उपलब्धियों तथा निष्कर्षों से अपरिचित होने के कारण वे एतद्विषयक अपनी उक्त मान्यताओं में तदनुरूप यथोचित सुधार लाने से वंचित रह गये हैं।

सन्धि-प्रसङ्ग में उन्होंने पहले हिन्दी के सन्धि-नियमों की और फिर संस्कृत-सन्धि की संक्षिप्त चर्चा की है। हिन्दी-सन्धि के विषय में उन्होंने लिखा है कि "हिन्दी में प्रायः सभी संज्ञाएँ, सर्वनाम, विशेषण तथा धातु आदि स्वरान्त हैं। व्यंजनान्त शब्दों की कोई स्थिति यहाँ नहीं। इसलिए लोप तथा अन्य सन्धियाँ प्रायः स्वरों में ही देखी जाती हैं। कहीं स्वर का लोप होने पर व्यंजन मात्र जब रह जाता है, तब पास के दूसरे व्यंजन से उसकी संधि जरूर होती देखी जाती है। अब, जब,

कब, तब, अव्ययों से परे यदि 'ही' अव्यय आए तो उन अव्ययों के अन्त्य 'अ' का वैकल्पिक लोप हो जाता है और तब अवशिष्ट 'ब्' तथा ('ही' का) 'ह्' मिल कर 'भ्' हो जाते हैं और यह 'भ्' अपने उसी पुराने आश्रय 'ई' में चिपट जाता है। तब रूप बन जाते हैं—अभी, जभी, कभी, तभी। यों व्यंजन-सन्धि भी देखी जाती है।" इसी प्रकार व्यंजन-सन्धि के अन्य उदाहरण देते हुए उन्होंने लिखा है कि "यह, वह, जो, कौन सर्वनामों से परे जब 'ने'—'को' आदि कोई विभक्ति हो, तो ये इस, उस, जिस, किस जैसे रूप ग्रहण कर लेते हैं—'इस के ही'। यह 'ही' जोर देने के लिए आता है और इतना जोरदार है कि प्रकृति तथा प्रत्यय के बीच में जबर्दस्ती घुस बैठता है। तब प्रकृति के अन्त्य स्वर 'अ' को लेकर यह छिप जाता है और अपने आश्रय 'ई' को सामने कर देता है। तब अव-अवशिष्ट अन्त्य 'स्' इस 'ई' से जा मिलता है। रूप बन जाते हैं—'इसी के', 'उसी के' आदि। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि 'अभी से' तथा 'किसी को' आदि 'सन्धिरूपों से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी इन 'को' 'ने' आदि विभक्तियों को प्रकृति से विभक्त (हटाकर) लिखने की प्रेरणा देती है। फिर, अन्य सन्धियों की चर्चा उन्होंने इस प्रकार की है—"कभी-कभी दो स्वरों में ही सन्धि हो जाती है। विधि-अर्थ प्रकट करने के लिए हिन्दी में 'इ' प्रत्यय होता है, जो संस्कृत के 'इय' के 'य' को उड़ाकर बना-बनाया जान पड़ता है। धातु के अन्त्य 'अ' तथा प्रत्यय के 'इ' को मिलकर 'ए' (अवधी में 'ऐं') सन्धि हो जाती है। और तब धातु का बचा हुआ (अन्त्य व्यंजन) इस 'ए' (या ऐ) में जा मिलता है। पढ़ + इ—पढ़े, कर + इ—करे आदि। दीर्घ स्वरान्त धातुओं से परे यह विध्यर्थक 'इ' प्रत्यय स्वयं (अकेला ही) 'ए' बन जाता है। सो + इ-सोए, रो + इ–रोए आदि। यदि धातु दीर्घ ईकारान्त हो, तो (धातु के ई को विकल्प से 'इय्' हो जाता है और इस 'इय्' के 'य्' का विकल्प से लोप हो जाता है। जी + ए—जिय् + ए = जिये। 'य्' का लोप हो जाने पर रूप होगा—जिए, और 'ई' को जब 'इय्' होगा ही नहीं, तब जीए। प्रत्यय का (या प्रत्ययादेश का) 'य्', इ, ई तथा ए में मिलने पर विकल्प से लुप्त हो जाता है—सवर्ण प्रबल स्वर निर्बल व्यंजन को दबा देता है। इसीलिए गए——गये, आए—आये, लाये—लाए तथा गई—गयी, आई—आयी, लायी—लाई यों द्विविध रूप होते हैं। लोप हो जाने पर सवर्ण दीर्घ सन्धि भी हो जाती है—किया + ई—कि + ई = की, पिया + ई—पि + ई = पी आदि। यहाँ पुं विभक्ति 'आ' जब स्त्रीलिंग में 'ई' के रूप में परिवर्तित हो गई, तब 'य्' का नित्य लोप और नित्य सवर्ण—दीर्घ एकादेश। 'कियी, 'पियी' आदि प्रयोग नहीं होते, गलत हैं। 'गया', 'गयी' आदि में य् की स्पष्ट श्रुति है, असवर्ण स्वर में। इसीलिए लोप नहीं। यह–वह सर्वनामों से परे 'ही' अव्यय आ जाए, तो अपने सगे (सर्वनाम के) ह को समाप्त कर देता हैं। स्वर-सहित 'ह' उड़ जाता है। 'ह' तो महाप्राण है न। दो शेर एक जगह नहीं रहते। सो—वह + ही—वही, यह + ही—यही। यह लगभग 'नित्यलोप' है। इसी तरह 'यहीं' 'वहीं' आदि स्थानवाचक अव्ययों से परे 'ही' आ जाए, तो इनके 'ही' की भी वही दशा होती है; परंतु अनुनासिकत्व 'हीं' अव्यय छीन कर अपने पास रख लेता है। यहाँ + हीं—यहीं, वहाँ + ही–वहीं, कहाँ + ही–कहीं। कभी-कभी विदेशी शब्द में भी वर्ण लोप आदि होता है।

'खरीदार' की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। स्वर-लोप भी होता है—हर + एक—हरेक। यह वैकल्पिक लोप है। 'हरएक' भी लिखते-बोलते हैं। वर्णहानि ही नहीं वर्णवृद्धि भी देखी जाती है। 'दीन' के सामने (समास में) 'नाथ' जब आ जाता है, तो 'दीन' के 'न' में स्थित 'अ' दीर्घ हो जाता है—दीन + नाथ—दीनानाथ। इसी तरह 'मूसल सी धार' के अर्थ में—मूसल + धार—मूसलाधार। कभी-कभी 'मू' का 'ऊ' ह्रस्व भी हो जाता है—'मुसलाधार'। संस्कृत में जैसे 'विश्वामित्र', उसी तरह हिन्दी में 'दीनानाथ' आदि हैं। अकारान्त धातुओं से भिन्न, अन्य स्वरान्त धातुओं से परे जब यह 'उ' प्रत्यय आता है, तब स्वयं (अकेला) ही 'ओ' बन जाता है—खा + उ—खाओ, जा + उ—जाओ, सो + उ—सोओ, पी + उ—पीओ। कभी-कभी धातु के 'ई' को 'इय्' कर देते हैं—'सियो' 'पियो'। वह 'इय्' संस्कृत के 'इयङ' की ही प्रतिमूर्त्ति है। स्त्रीलिंग बहुवचन-सूचक 'आ' परे हो, तो भी 'इ' तथा 'ई' को 'इय्' हो जाता है—बुद्धि + आँ—बुद्धियाँ, नदी + आँ—नदियाँ आदि। कोई अन्य स्वर स्त्रीलिंग शब्दों के अन्त में हो, तो सामने का यह 'आँ' 'एँ' रूप में रहता है। यदि अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द है, तो अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है। यदि अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द है, तो अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है और व्यंजन आगे के 'एं' में जा मिलता है:—बहन + एँ—बहनें, टिकट + एँ—टिकटें, सड़क + एँ—सड़कें। यदि अन्य कोई स्वर शब्द के अन्त में हो, तो 'एँ' तदवस्थ बना रहता है लता + एँ—लताएँ, माता + एँ—माताएँ, गौ + एँ गौएँ, धेनु + एँ—धेनुएँ। यदि 'ऊ' अन्त में हो, तो 'उव्' होकर 'व्' का लोप हो जाता है :—बहू + एँ—बहुएँ।

हिन्दी में प्रचलित संस्कृत के तद्रूप शब्दों में होनेवाली सन्धियों की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है कि "हिन्दी की अपनी सन्धियाँ बहुत कम हैं और सो भी एक-पदीय। अनेक पदों में सन्धि समास में ही होती है, जिसे हिन्दी ने प्रायः दूर ही रखा है। हिन्दी का गठन स्पष्ट प्रतिपत्ति के सिद्धान्त को सामने रखकर हुआ है। समास में अर्थभ्रम की बहुत गुंजाइश है, इससे हिन्दी सावधान है। दूसरे, समास में पदों की विधेयता-शक्ति कुछ कुंठित सी हो जाती है—समास में बँधकर विधेय पद जोर खो बैठते हैं। इसीलिए, राष्ट्रभाषा का गठन ऐसा है कि समास को बहुत कम स्थान मिला है। और, समास होने पर भी संस्कृत की सन्धियाँ नहीं होतीं। 'घर-आँगन' को भले 'घरआँगन' कर दीजिए, पर 'घराँगन' कभी भी नहीं होगा। हिन्दी में 'मनोकामना' जैसा कोई पद अवश्य 'अपनी' सन्धि से मिल जाता है। यहाँ 'मन' से 'कामना' का गँठबंधन है, 'मनः' से नहीं। आगे जो सन्धियाँ लिखी जाएँगी, उनका उपयोग हिन्दी के ठेठ 'अपने' या तद्भव शब्दों में नहीं किया जाता, विदेशी भाषाओं के शब्दों में भी नहीं। 'धराधीश, 'मकानाधीश, आदि प्रयोग कभी भी नहीं होते, परन्तु एक जिलाधीश शब्द चल पड़ा है। जान पड़ता है, सन्धि में 'जिला' शब्द स्पष्ट रहने से सन्धि हो गई है। 'संहितैकपदे नित्या'—सन्धि एक पद में अवश्य होती है, इस नियम का पालन बहुत कुछ हिन्दी ने किया है। राष्ट्र-

२८

भाषा में 'करउ' तथा 'करइ' जैसे सन्धिरहित पद नहीं चलते—'करो', 'करे' जैसे सन्धि-युक्त पद ही प्रयुक्त होते हैं। अवधी तथा व्रजभाषा आदि दूसरे मार्ग पर हैं। हिन्दी में सन्धियाँ दो ही तरह की हैं, स्वर-सन्धि और व्यंजन-सन्धि, जिनमें कुछ उदाहरण पीछे देख चुके हैं। संस्कृत में तीसरा भेद एक और है 'विसर्ग सन्धि'। यह विसर्ग सन्धि संस्कृत की अपनी विशेष चीज है, संसार की किसी भी दूसरी भाषा में विसर्ग जैसी कोई चीज है ही नहीं, तब विसर्ग-सन्धि की वहाँ बात ही क्या। ऐसा जान पड़ता है कि 'मानव की 'मूलभाषा' का यह नाम-निशान भारत के महान् अध्यवसायी, त्यागी और दृढ़संकल्प ब्राह्मण-पंडितों ने अबतक बचाए-बनाए रखा, भले ही उसके उच्चारण में किंचित् अंतर आ गया हो। संस्कृत की सन्धियाँ सार्वभौम स्थिति रखती हैं—वे जैसे हिन्दी में चलती हैं, उसी तरह अन्य सभी भारतीय भाषाओं में भी। संस्कृत की सभी सरल सन्धियाँ हिन्दी में चलती हैं। 'सवर्णदीर्घ—एकादेश' सन्धि ज्यों की त्यों गृहीत है—'रामाश्रम आदि। एक अन्तर है। संस्कृत में ऐसी जगह सन्धि की अनिवार्यता अनुशासनसिद्ध है, जिसे हिन्दी विकल्प से ग्रहण करती है। संस्कृत में 'समस्त' पद बिना सन्धि किए —राम-आश्रम यों लिखा जाए, तो गलत समझा जाएगा। 'नित्या समासे संहिता'—समास में सन्धि करना जरूरी है। परन्तु हिन्दी में ऐसी जगह सन्धि की अनिवार्यता नहीं है—'राम-आश्रम' भी चलेगा। जब किसी अन्य भाषा का शब्द संस्कृत के साथ समास-बंधन में आता है, तो सन्धि नहीं होती। समास आवश्यक, परन्तु सन्धि का निषेध यह भाषा की स्वाभाविक स्थिति है। विसर्ग-सन्धि में ही एकरूप (संस्कृत में) 'पुनारचना' 'अन्ताराष्ट्र' ऐसा बन जाता है। हिन्दी ने यह सन्धि स्वीकार नहीं की है। 'पुनः' तथा 'अंतः' के विसर्गों को 'र' के रूप में देखने का अभ्यास हिन्दी को है—'पुनर्विचार' 'अन्तर्जगत' आदि में शतधा यह रूप आँखों के सामने आता है, परन्तु 'पुनारचना' जैसे शब्दरूप यहाँ नहीं चलते। संस्कृत के जो पण्डित हैं, उन्हें 'पुनर्रचना' जैसे शब्द-रूप अखरेंगे, खटकेंगे। परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि यह हिन्दी का क्षेत्र है। यहाँ अपना स्वरूप है, अपनी गति है। संस्कृत के पण्डितों को हिन्दी में 'विस्तार से प्रतिपादन' भी अखरेगा। वे 'विस्तर से प्रतिपादन' पसन्द करेंगे। परन्तु हिन्दी उनकी पसन्दगी का ध्यान करके अपना सरल मार्ग कैसे छोड़ देगी? संस्कृत की 'रोरि' तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' वाली सन्धि हिन्दी में नहीं चलती; न चलेगी।

उन्होंने आगे लिखा है कि "व्यंजन-सन्धि में संस्कृत शब्द 'म्' को अनुस्वार करके चलते हैं, यदि परे 'अन्तस्थ' अथवा स्वर हों—'संरक्षण' 'संहिता'। हिन्दी में भी यही है। परन्तु संस्कृत में 'एकपद' में पर-सवर्ण जरूरी है, जैसे 'अङ्कित', 'अङ्क', 'पर्य्यङ्क', 'अञ्चित' आदि। हिन्दी में यह अनिवार्यता नहीं है—अंकित, अंक, पर्य्यंक, अंचित आदि रूप भी चलते हैं और अधिकतर ये ही चलते हैं। इन्हें 'अङ्कित' के तद्भव रूप कह सकते हैं। जो तद्रूप ही लिखना चाहें उनके लिए कोई रोक नहीं है। परन्तु 'सन्धि', 'सन्ध्या', गुम्फित', 'हिन्दी' आदि में 'न्' 'म्' आदि ही रहेंगे, अनुस्वार न होगा, न होना चाहिए। कारण यह कि यहाँ 'न्'-'म्' आदि की स्पष्ट श्रुति है। इसी तरह पम्प आदि दूसरी भाषाओं के

शब्दों को समझिए। 'संधि', 'संध्या', 'दंत', 'पंप' आदि कर लेने से हिन्दी के—'यथा-श्रुतलेखन' का सिद्धान्त जाता रहता है और उच्चारण - सम्बन्धी एकता भी नष्ट होगी। हिन्दी में ङ, ञ, ण वर्णों की स्थिति नगण्य है; इसलिए इनका प्रतिनिधित्व अनुस्वार करता है। 'न' तथा 'म्' का ही उच्चारण विशेष ध्यान देने की चीज है। तद्भव 'टंडन' आदि को पर-सवर्ण करके 'टण्डन' जैसा लिखना बेमजे है। इसी तरह डंडा, कंडा, कंधा, नंगा, लफंगा आदि अनुस्वार से ही चलते हैं। 'सुपरिंटेंडेंट' को 'सुपरिण्टेण्डेण्ट' जैसा नहीं लिखा जाता। 'सुपरिन्टेन्डेन्ट' जैसा उच्चारण लोग करते हैं। विकल्प समझ सकते हैं। 'ङ, ञ, ण, ठेठ हिन्दी की चीजें हैं न अंग्रेजी आदि की ही। संस्कृत में जहाँ द्विविध सन्धि है, वहाँ सरल मधुर शब्द ही हिन्दी ने ग्रहण किया है। 'बिम्बौष्ठ—बिम्बोष्ठ' तथा 'अधरौष्ठ'—अधरोष्ठ' में से बिम्बोष्ठ तथा अधरोष्ठ हिन्दी ने लिए हैं। सारांश यह कि क्लिष्टता से बचने की प्रवृत्ति है। परंतु संस्कृत के सामासिक 'अत्याचार' आदि (तद्रूप) शब्दों में कोई हेर-फेर नहीं कर सकता। वैसा करने पर अर्थ का अनर्थ हो सकता है। 'सञ्चित' का 'संचित' और 'पण्डित' का 'पंडित' चलेगा ही। परन्तु 'वाङमय' ज्यों का त्यों रहेगा, यह यद्यपि 'शङ्कर—शंकर' दोनों चलेंगे।

उपर्युक्त सन्धि-विवेचन की अधिकांश बातें ऐसी हैं, जिन पर उक्त हिन्दी व्याकरण में पहले-पहल प्रकाश डाला गया है। किन्तु क्रमबद्धता, सम्यक् व्यवस्था का अभाव होने के कारण यह विवेचन शास्त्रानुरूप नहीं बन पाया है। इसके अतिरिक्त इसमें कतिपय मान्यताएँ ऐसी भी हैं जो सर्वमान्य नहीं हो सकतीं; उदाहरणार्थ—१. जब हिन्दी में प्रकृति और प्रत्यय के बीच भी अव्यय के घुस आने का प्रचलन है ही, तब 'इसी के' की व्युत्पत्ति 'इस + ही के' से नहीं मान करके 'इसके ही' से मानने में क्या तुक है २. पढ़े, करे आदि में 'ए' प्रत्यय है, जिसके साथ युक्त होने पर धातु के अन्त्य स्वर 'अ' का लोप हो जाता है, न कि 'इ' प्रत्यय है, जैसा वाजपेयी जी ने माना है। ३. सोए, रोए आदि में तो स्पष्ट ही 'ए' प्रत्यय है। इनमें 'इ' प्रत्यय मानने पर उसके 'ए' रूप में परिवर्तित हो जाने का कोई भी युक्तिसंगत कारण नहीं बताया जा सकता। ४. आये–आए, लाये–लाए आदि की रूप-भिन्नता में अर्थ-भिन्नता भी है, इसलिए इनके वैकल्पिक प्रयोग की बात ही नहीं उठती। 'वे आये' और 'उनके आए पाँच दिन हुए', इनमें 'आये' क्रियापद और 'आए' अव्यय है, इसलिए एक स्थान पर दूसरे का वैकल्पिक प्रयोग कभी उचित नहीं माना जायगा। ५. एकरूपता तथा औचित्य दोनों ही दृष्टियों से 'गये—गयी, ही ठीक है 'गए–गई' नहीं। ६. जब 'हरेक' और 'जिलाधीश' शब्द हिन्दी में चलते ही हैं तो यह मानना कि हिन्दी में संस्कृत तद्रूप शब्दों के साथ विदेशी या ठेठ शब्दों की सन्धि नहीं होती, कहाँ तक युक्तिसङ्गत है; ७. खाओ, जाओ में 'ओ' प्रत्यय नहीं मानकर 'उ' प्रत्यय मानना उल्टे हाथ नाक छूने का प्रयास माना जायगा। ८. हिन्दी के 'यथा-श्रुत लेखन' का सिद्धान्त जितना 'न्' और 'म्' के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग से नष्ट होता है, उतना ही ङ, ञ् और ण् के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग से भी, क्योंकि ये सभी समान रूप से भिन्न-स्थानीय ध्वनियाँ हैं।

किन्तु, इन कुछेक विवादग्रस्त मान्यताओं को यदि छोड़ भी दिया जाय, तब भी जितना कुछ बच रहता है, वह वाजपेयी जी के महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए तथा इस दिशा में हिन्दी की प्रकृति और प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

द्वितीय अध्याय में 'शब्द' और 'पद' का विवेचन करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है कि संस्कृत-व्याकरण में 'सुबन्त' और 'तिङन्त' शब्द 'पद' कहलाते हैं—"सुप्तिङन्तं पदम्'। 'रामः करोति' में 'रामः' तथा 'करोति' ये दो पद हैं; एक 'सुबन्त' दूसरा' 'तिङन्त'। जैसे निर्विभक्ति 'राम' कर्त्ता कारक नहीं हो सकता, उसी तरह 'तिङ-प्रत्यय-रहित 'कृ' धातु भी कुछ कर-धर नहीं सकता। इस अवस्था में एक शब्द 'प्रातिपदिक' कहलाता है, दूसरा 'धातु'। न 'प्रातिपदिक' का प्रयोग होता है न 'धातु' का। जब विभक्तियाँ लग जाती हैं, तब दोनों 'पद' बन जाते हैं। संस्कृत के जैसा 'प्रातिपदिक' हिन्दी में नहीं है। कारण यह कि यहाँ विभक्ति-प्रयोग की अनिवार्यता नहीं है। यहाँ तो 'अर्थ-सङ्केतित शब्द' ही 'पद' है, यदि वाक्य का अंश है। चाहे उसमें कोई विभक्ति हो या न हो। विभक्ति की अनिवार्यता नहीं है।

उन्होंने हिन्दी की विभक्तियों को 'विश्लिष्ट' और 'संश्लिष्ट' के दो वर्गों में विभक्त किया है। विश्लिष्ट विभक्तियों में 'ने' 'को' 'से' तथा 'में' 'पर' को स्थान दिया है तथा 'संश्लिष्ट' विभक्तियों में के, रे, ने और इ को। 'विश्लिष्ट' विभक्तियों के भिन्न-कारकीय प्रयोगों के सम्बन्ध में उन्होंने प्रायः वे ही बातें लिखी हैं, जिनकी चर्चा 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' के एतद्विषयक प्रसङ्ग में की जा चुकी हैं। 'संश्लिष्ट' के, रे, ने विभक्तियों को उन्होंने 'कारक विभक्तियों' से भिन्न माना है तथा इन्हें 'सम्बन्ध विभक्तियाँ' कहा है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने लिखा है कि "इन तीनों विभक्तियों के प्रतिरूपक तीन सम्बन्ध-प्रत्यय पृथक् हैं—क, र, न। इन सम्बन्ध - प्रत्ययों को अब तक सम्बन्ध-विभक्ति समझा जाता रहा है। इनमें पुं विभक्ति (आ) लगाकर का, ना, रा, रूप होते हैं। क, न, र तद्धित प्रत्यय हैं, जिनमें पुल्लिग विभक्ति लगती है।" तद्धित सम्बन्ध-प्रत्यय रूप बदलते हैं। जैसे—तेरा, तेरे, तेरी। परन्तु विभक्ति का रूप नहीं बदलता। हिन्दी की ने, को, में, से आदि विभक्तियाँ सदा एकरूप रहती हैं। इसी तरह एकरूप रहनेवाली हिन्दी की के, रे, ने ये तीन सम्बन्ध-विभक्तियाँ हैं। 'रे' केवल म० उ० सर्वनामों में लगती है और 'ने' केवल 'आप' शब्द में। 'के' विभक्ति (उपर्युक्त दोनों विभक्तियों के विषय को छोड़कर) सर्वत्र चलती है। जैसे—राम के एक लड़का है, राम के एक लड़की है, राम के चार गौएँ हैं; तेरे एक लड़का है, तेरे एक लड़की है, तेरे चार गौएँ हैं। अपने तो भाई, एक ही लड़का है; अपने तो भगवान की दया से चार लड़के हैं; अपने एक गाय है, चार भैंसें हैं। दिशावाचक शब्दों के योग में भी ये विभक्तियाँ लगती हैं—राम के दाहिनी ओर गोविन्द है। सावित्री के बायीं उसका भाई है। राम के बगल में ही गोविन्द का घर है। 'बगल' शब्द यदि दिशा-वाचक न हो, तो विभक्ति नहीं, 'सम्बन्ध - प्रत्यय' लगेगा—राम की बगल में फोड़ा हो गया है। इस प्रकार उन्होंने इसे अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया कि "हिन्दी में सम्बन्ध-विभक्ति तथा सम्बन्ध - प्रत्यय के विषय पृथक् - पृथक् और सुव्यवस्थित हैं।"

उपर्युक्त प्रसङ्ग में ही 'भेद्य' और 'भेदक' पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि "साधारणतः लोग 'भेद्य' कहते हैं 'विशेष्य' को और 'भेदक' कहते हैं 'विशेषण' को। 'विशेष्य' तथा 'विशेषण' शब्दों के रहते भी ये दो अन्य शब्द विशेष प्रयोजन से हैं। 'लाल फूल' में 'लाल' विशेषण है और 'फूल' विशेष्य। परन्तु जब किसी विशेष सम्बन्ध को लेकर यह विशेष्य-विशेषण भाव होता है, तब 'भेद्य-भेदक' इन्हें कहते हैं। 'पुष्प' निर्विशेष शब्द है। 'वन्यपुष्प' में 'वन्य' विशेषण है और इस विशेषण को भेदक कहते हैं। सभी विशेषण वस्तुतः 'भेदक' ही हैं। अन्यों से भेद करते हैं। परन्तु, तद्धितीय सम्बन्ध-विशेषण के लिए 'भेदक' शब्द रहना सुभीते की बात है।

संश्लिष्ट विभक्ति 'इ' के सम्बन्ध में वाजपेयी जी ने लिखा है कि 'इ' विभक्ति यह, वह, जो, कौन सर्वनामों में वहाँ लगती है, जहाँ अन्य शब्दों में 'को' लगती है। इन सर्वनामों में भी इसका वैकल्पिक प्रयोग है। इसे—इसको, उसे—उसको, जिसे—जिसको यों द्विविध यथारुचि या यथावश्यक होते हैं। 'तू—तुम' तथा मैं—**हम**' में भी इसका प्रयोग उसी तरह होता है। विभक्ति लगने पर 'वह' आदि को 'उस' आदि रूप मिलता है, उसी तरह 'तू-मैं' को 'तुझ-मुझ' तुझे-तुझको, मुझे-मुझको। 'उसे' तथा 'तुझे' आदि में गुण सन्धि; 'अ' तथा 'इ' मिलकर 'ए'। बहुवचन में प्रकृति तथा इस 'इ' प्रत्यय, प्रत्यय के बीच में एक 'ह' विकरण आ जाता है। बहुवचन में, विभक्ति परे हो, तब 'यह-वह' आदि को 'इन-उन' आदि हो जाता है। 'तुम-हम' ज्यों के त्यों रहते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अनुनासिक से बहुत्व-सूचन की प्रवृत्ति हैं। 'अस्ति-सन्ति', 'भवति-भवन्ति' आदि में 'न्' बहुत्व सूचित होता है। 'है' 'हैं' जैसी हिन्दी क्रियाओं में (अनुनासिक व्यंजन की जगह) स्वर अनुनासिक दिए गए हैं। उसी तरह 'यह वह' को 'इन-उन' कर दिया जाता है। 'तुम-हम' में 'म' पहले से ही है; इसलिए अन्य अनुनासिक की जरूरत ही नहीं। हाँ, इ को अनुनासिक रूप (इँ) अवश्य प्राप्त हो जाता है—'इन्हें-इनको,' 'उन्हें-उनको', 'तुम्हें-तुमको', 'हमें-हमको'। इस 'इ' विभक्ति की उत्पत्ति का उन्होंने जो इतिहास दिया है, उसे संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—वै० सं० एभिः (बालकेभिः) सं० ऐः (बालकैः) प्रा० एहिं (रामेहिं) अप० हि-हिं, हि० इ-इँ।

अन्त में उपर्युक्त सभी विभक्तियों को उन्होंने 'कारक-विभक्ति' तथा 'उपपद-विभक्ति' के दो वर्गों में बाँटते हुए लिखा है कि 'जब किसी विभक्ति से कारकत्व प्रकट हो, तब कारक-विभक्ति और उससे भिन्न स्थल में 'उपपद-विभक्ति' कहलाती है।'

उपर्युक्त विभक्ति-विवेचन में वाजपेयी जी ने अपनी अद्भुत सूक्ष्मेक्षिका का सुन्दर परिचय दिया है। इसमें 'सम्बन्ध-विभक्ति' तथा 'सम्बन्ध-प्रत्यय' का जो अन्तर उन्होंने स्पष्ट किया है, वह हिन्दी-व्याकरण के लिए एक अभिनव तथ्योपलब्धि है। इस प्रकरण में केवल दो बातें खटकती हैं :—एक तो यह कि विभक्तियों में उन्होंने सम्प्रदान की विभक्ति 'के लिए' की कोई चर्चा नहीं की है, तथा 'इसे-उसे' आदि में 'ए' विभक्ति नहीं मानकर, सन्धि-लोभ से 'इ' विभक्ति मान ली है।

विभक्ति-विवेचन के पश्चात् उन्होंने कारकों का परिचय दिया है। उनके अनुसार 'क्रिया के साथ जिसका सीधा सम्बन्ध हो, उसे कारक कहते हैं--"क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्' में यह परिभाषा संस्कृत-व्याकरणानुरूप है, किन्तु गुरुजी की परिभाषा से भिन्न है। इसके आधार पर उन्होंने हिन्दी में कुल छः कारक माने हैं और 'सम्बन्ध' तथा 'सम्बोधन' को कारकों में परिगणित नहीं किया है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने कहीं-कहीं ऐसी बातें लिख दी हैं, जो नितान्त भ्रामक हैं; उदाहरणार्थ, उन्होंने गत्यर्थक सकर्मक क्रिया के साथ निर्विभक्ति कर्त्ता के प्रयोग के जो उदाहरण दिये हैं, वे द्रष्टव्य हैं—'राम काशी गया', 'लड़की वृन्दावन गई'। इन उदाहरणों में उन्होंने 'गया-गई' को सकर्मक क्रिया तथा 'काशी' और 'वृन्दावन' को कर्म माना है, जब एक साधारण छात्र भी यह बता देगा कि 'गया-गई' अकर्मक क्रिया हैं तथा 'काशी' और 'वृन्दावन' विभक्ति रहित अधिकरण। इसी प्रकार 'लाना' क्रिया को 'ले—आना' का संयुक्त रूप मान लेना भी बहुत उपयुक्त नहीं है; क्योंकि दोनों में अर्थ की, चाहे कम ही सही, किन्तु भिन्नता है अवश्य।

तृतीय अध्याय के आरम्भ में शब्दों के मुख्य वर्गों की चर्चा के प्रसङ्ग में वाजपेयी जी ने यास्क के मत (नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च) का उल्लेख करते हुए शब्द के मुख्य चार वर्ग ही माने हैं—नाम (संज्ञा); आख्यात (क्रिया), उपसर्ग और निपात (अव्यय)। इनमें से प्रथम दो को सर्वाधिक मुख्य और शेष दो को अपेक्षाकृत गौण मानते हुए उन्होंने लिखा है कि 'नाम' तथा 'आख्यात' स्वतन्त्र चलते हैं और उपसर्ग-निपात इन्हीं की सेवा में रहते हैं। 'नाम' शब्द को 'संज्ञा शब्द की अपेक्षा अधिक उपयुक्त बताते हुए उन्होंने लिखा है कि 'नाम' को हिन्दी-व्याकरणों में 'संज्ञा' नाम दिया गया है। परन्तु 'नाम'—'सर्वनाम' सीधे हैं। पाणिनि-पद्धति में भी 'नाम' चलता है। 'नामधातु' का वर्णन हिन्दी-व्याकरणों में भी आता है। 'नाम' को 'संज्ञा' कहने पर 'सर्वनाम' को 'सर्वसंज्ञा' तथा 'नामधातु' को 'संज्ञा धातु' कहना ठीक होगा। उनकी यह मान्यता नितान्त उपयुक्त और तर्कसम्मत है, किन्तु इसपर जोर देने की अपेक्षा अपने स्वभाव के प्रतिकूल उन्होंने यह लिखकर छुट्टी ले ली है कि "हम इस झंझट में क्यों पड़ें? नाम में क्या रखा है? काम से मतलब। संज्ञा ही कहते चलिए।"

चतुर्थ अध्याय में अव्यय और उपसर्ग पर प्रकाश डाला गया है। अव्यय के सम्बन्ध में वाजपेयी जी ने लिखा है कि "नव्येति विविधं विकारं न गच्छतीत्यव्ययम्", तरह-तरह के विकार (रूप-परिवर्तन) जो नाम-सर्वनाम आदि में (प्रयोग-भेद) से होते हैं, वे इन (आह, ओह, आदि) शब्दों में कभी नहीं देखे जाते; इसलिए इनका नाम अव्यय रख लिया गया"। इस प्रसङ्ग में उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि क्रियाविशेषण होते हैं, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सभी अव्यय क्रियाविशेषण होते हैं। संस्कृत में अव्यय से परे विभक्ति का लोप हो जाता है, किन्तु हिन्दी में लोप नहीं होता। इसके अतिरिक्त अव्यय में विभक्ति लगाने पर भी उसके रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, उसका अव्ययत्व ज्यों-का-त्यों बना रहता है। किन्तु, एक अव्यय से दूसरे अव्यय की कभी सन्धि अवश्य देखी जाती है, जैसे—अभी, तभी आदि में। तद्धित की ही तरह

वे कृदन्त शब्द अव्ययों में ही गिने जाते हैं, जो सदा एकरस रहते हैं। संस्कृत के अव्यय भी हिन्दी में चलते हैं; परन्तु जहाँ अपने अव्यय स्थिर कर लिए गए हैं, वहाँ किसी भी दूसरी भाषा—संस्कृत का भी —कोई अव्यय नहीं चलता। संस्कृत की कोई-कोई संज्ञा हिन्दी में अव्यय बन गई है; उदाहरणार्थ 'श्री'।

उपसर्ग का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है कि "हिन्दी में संस्कृत के उपसर्ग भी चलते हैं और हिन्दी ने अपने भी दो-एक उपसर्ग बनाये हैं। इन उपसर्गों के बँधे-बँधाये प्रयोग हैं। संस्कृत में उपसर्गों को अव्ययों में रखकर भी इनकी एक विशिष्ट श्रेणी मानी है। इनके विशिष्ट प्रयोग हैं। अव्यय होने पर भी प्रयोगों पर अच्छी तरह ध्यान देने से ऐसा लगता है कि इनकी पृथक् श्रेणी माननी ही चाहिए; भले ही फिर अव्ययों की एक विशिष्ट श्रेणी कहें। परन्तु स्वतन्त्र इनका प्रयोग नहीं होता। अव्ययों का स्वतन्त्र प्रयोग अबाध गति से होता है। हिन्दी में एकाध उपसर्ग संज्ञा या क्रिया के रूप में जरूर चलता है। पर ऐसी स्थिति में उसे उपसर्ग न कहकर 'संज्ञा' या 'क्रिया' ही कहेंगे। परन्तु साधारणतः सभी उपसर्ग किसी शब्द की मदद भर करते हैं, स्वतन्त्र रूप से पृथक् आकर काम नहीं करते। संस्कृत में 'प्रहार' 'विहार' आदि कृदन्त शब्दों में ही नहीं; 'प्रहरति', 'विहरति' आदि आख्यात (क्रिया) शब्दों में भी उपसर्ग लगते हैं—खूब लगते हैं। परन्तु हिन्दी में ऐसा नहीं होता। क्रियाएँ हिन्दी की सब तद्भव हैं; इसलिए संस्कृत के उपसर्ग तो स्वभावतः लग ही नहीं सकते; पर हिन्दी के 'अपने' नि, उ जैसे उपसर्ग भी नहीं लगते।

पंचम अध्याय में 'यौगिक शब्दों की प्रक्रियाएँ' बतलायी गयी हैं। योगार्थ की दृष्टि से व्याकरण में कृदंत, तद्धित तथा समास नाम के तीन प्रमुख प्रकरण रखे गये हैं—यानी शब्दों की व्युत्पत्ति विधा सम्भावित हैं। वाजपेयी जी ने इस अध्याय में इन्हीं तीनों का क्रमशः विवेचन किया है।

कृदन्त-प्रकरण में उन्होंने लिखा है कि 'कृदन्त' तथा 'तद्धित' शब्द हिन्दी व्याकरण में रूढ़ शब्द के रूप में गृहीत हैं। ये संस्कृत व्याकरण के शब्द हैं। वहाँ ये 'यौगिक' शब्द हैं परन्तु हिन्दी में 'कृत्' जैसी कोई चीज नहीं है। इसलिए यहाँ यह रूढ़ शब्द है—उसी अर्थ में। जिस संज्ञा या विशेषण आदि में किसी क्रिया (धातु) का अर्थ झलक मारता हो, उसे 'कृदन्त' कहते हैं।' इसके पश्चात् उन्होंने कृदन्त प्रकरण के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने का यह कारण बताया है कि इसका सम्बन्ध संज्ञा-विशेषण आदि से होने के अतिरिक्त क्रिया-प्रकरण से विशेष है। इस अध्याय में उन्होंने संज्ञा-विशेषणादि से सम्बन्ध रखनेवाले कृदन्तों की चर्चा की है। उनके अनुसार "हिन्दी कृदन्त शब्दों में 'भाववाचक' संज्ञाएँ सबसे अधिक हैं। कृदन्त और तद्धित के 'भाव' पृथक्-पृथक् हैं। कृदन्त 'भाव' का मतलब है—'शुद्ध धात्वर्थ'। केवल धातु का अर्थ 'भाव' कहलाता है, जिसमें न कोई 'काल' न 'पुरुष' की प्रतीति। वचन-भेद भी नहीं, सदा एकवचन। यद्यपि शुद्ध भाव में लिंग-वचन का कोई सम्बन्ध नहीं होता; तो भी एकवचन केवल व्यवहार के लिए होता है। हिन्दीमें पु० एकवचन सामान्य प्रयोग है—औत्सर्गिक है; जैसे संस्कृत

में नपुंसक लिंग-एकवचन। पढ़ना, कतरना, जाना, आना आदि धातुज शब्दों में से अन्य कोई भी अर्थ सामने नहीं आता—न पुरुष, न वचन, न लिंग, न कारक, न आज्ञा-प्रार्थना आदि। केवल धात्वर्थ की प्रतीति होती है। इसीलिए ऐसे शब्दों को 'भाववाचक संज्ञा' हिन्दी में कहते हैं। संस्कृत की 'अध्ययनम्, पठनम्, शयनम् आदि भाववाचक संज्ञाएँ हैं। यानी क्रिया के सामान्य रूप को 'भाव' कहते हैं और उसके लिए प्रयुक्त होनेवाली संज्ञाएँ 'भाववाचक' संज्ञाएँ कहलाती हैं।"

कृदन्त के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् 'तद्धित-प्रकरण' है। तद्धित का परिचय देते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है कि "किसी संज्ञा से, विशेषण से, या अव्यय से शब्दान्तर बनाने की पद्धति को 'तद्धित' कहते हैं। तद्धित प्रत्यय भाषा में नए बनते रहे हैं; पुराने लुप्त होते रहे हैं और रूपान्तरित भी होते रहे हैं। यानी भाषा के अन्यान्य अवयवों की तरह प्रत्ययों का भी उद्भव, तिरोभाव तथा रूपान्तर होता है।" इसके उदाहरण में उन्होंने वैदिक प्रत्यय ताति (शिवतातिः) से 'ता' (मधुरता, सुन्दरता), 'आई' (चतुराई, निठुराई) तथा 'ई' (सावधानी, होशियारी) प्रत्ययों के विकास की कल्पना की है। आगे उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि तद्धित प्रत्यय विविध अर्थों में होते हैं। उनके योग से होनेवाले शब्दों के रूपान्तर विविध सम्बन्धित अर्थ प्रकट करते हैं।

हिन्दी में गृहीत संस्कृत के तद्धित-प्रत्ययों की चर्चा के प्रसङ्ग में उन्होंने बताया है कि संस्कृत के प्रत्यय अधिकांशतः संस्कृत के तद्रूप शब्दों में ही लगते हैं, किन्तु हिन्दी संस्कृत के सभी विधि-निषेधों को ज्यों-का-त्यों नहीं मानती। 'ईय' संस्कृत प्रत्यय है, जो संस्कृत शब्दों में ही लगता है। अन्यत्र 'ई' का प्रयोग होता है, जो 'ईय' का ही घिसा हुआ रूप है। 'ईय' तद्धित प्रत्यय तो है नहीं; जैसे राष्ट्रीय, विवेचनीय आदि। तद्धित का 'ईय' सम्बन्ध बताता है और कृदन्त का 'ईय' विधि आदि। कृदन्त 'ईय' कभी-कभी तद्भव शब्दों में भी लगता है, जैसे सराहनीय, किन्तु सर्वत्र नहीं।

वाजपेयी जी के अनुसार एक ही प्रत्यय जब अनेक प्रकार से अनेक अर्थ प्रकट करता है तो उसे एक ही प्रत्यय मानना ठीक नहीं है—अर्थ-भेदात् शब्द भेदः—जितने अर्थ, उतने शब्द; जितने अर्थ उतने प्रत्यय। रंग-रूप एक होने से क्या? असली चीज अर्थ हैं। इसी आधार पर उन्होंने 'बोझा', 'प्यासा,' 'प्यारा', 'बजाजा' आदि के 'आ' प्रत्यय को भिन्न-भिन्न माना है।

इसी प्रसङ्ग में आगे उन्होंने बताया है कि "हिन्दी-व्याकरणों में 'सा को तद्धित प्रत्यय मानकर 'ऐसा' आदि को तद्धितान्त शब्द लोगों ने बताया है; जो गलत है। कारण, यहाँ उभय अंश सार्थक दिखाई देते हैं। 'ऐसा' में 'यह' और 'सा' साफ दिखाई देते हैं। यह हो सकता है कि 'ईदृशः' 'कीदृशः' आदि के विकास 'ऐसा', 'कैसा' आदि शब्द हों। परन्तु हिन्दी के व्याकरणों में इन्हें पूर्वोक्त पद्धति पर 'सामासिक' पद बतलाना अधिक अच्छा; क्योंकि 'यह' और 'सा' आदि रूप पृथक्-पृथक् हिन्दी में चल रहे हैं। हिन्दी वाले झट समझ लेंगे। 'ईदृशः सभी हिन्दी वाले जानते समझते हों; सो तो है ही नहीं। हाँ, इधर, उधर, किधर शब्दों को यह, वह और कौन से 'धर' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न माना

जाएगा; क्योंकि 'धर' शब्द दिशा के अर्थ में (हिन्दी में) प्रचलित नहीं, कहीं देखा-सुना नहीं। इसी तरह यहाँ, वहाँ, कहाँ शब्द तद्धितान्त हैं, और इधर-उधर आदि की तरह ये भी अव्यय हैं। हिन्दी के व्याकरणों में 'यहाँ' आदि में 'आ' प्रत्यय लोगों ने माना-लिखा है, जो ठीक नहीं। 'आँ' प्रत्यय होने पर 'कौन' से 'कहाँ' कैसे बनेगा? वस्तुतः यहाँ 'अहाँ' प्रत्यय है। नियम यह बनेगा कि 'यह-वह' आदि सर्वनामों से अधिकरण-प्रधान 'अहाँ' प्रत्यय होता है और प्रत्यय परे होने पर उन सर्वनामों के आद्य व्यंजन मात्र शेष रहते हैं; और आगे का सबकुछ अंश लुप्त हो जाता है। फिर वह 'शेष व्यंजन' प्रत्यय के 'अ' में मिलकर 'यहाँ, जहाँ, कहाँ', रूप बन जाते हैं। इसी प्रकार उन्होंने यह + 'ओं' = यों, तथा शेष सर्वनामों में 'यों' लगाकर 'ज्यों', 'त्यों', 'क्यों' के रूपों को सिद्ध करने का प्रयास किया है।

उपर्युक्त प्रसङ्ग में वाजपेयी जी का यह विचार कि चूंकि हिन्दी वाले संस्कृत के 'ईदृशः','कीदृशः' आदि से अपरिचित हैं, इसलिए 'ऐसा' 'कैसा' को उन शब्दों से विकसित नहीं बताकर 'यह + सा', कौन + सा के रूप से व्युत्पन्न सामासिक पद बताना ही उचित है; नितान्त अनुचित एवं अनुपयुक्त है। इस तरह के विचार किसी वैयाकरण या भाषा वैज्ञानिक को शोभा नहीं देते, क्योंकि उनका कार्य भाषा-सम्बन्धी वास्तविक तथ्यों और सत्यों का उद्घाटन करना होता है। हिन्दी भाषा-भाषी जिस बात को नहीं जानते हैं, उसके सम्बन्ध में उन्हें गलत सूचना देना या सत्य को छुपा कर कोई कामचलाऊ व्याख्या दे देना, यह वैयाकरण या भाषा-वैज्ञानिक के धर्म के विरुद्ध है। अतः इस तरह का विचार व्यक्त कर वाजपेयी जी ने स्वयं ही अपनी हँसी उड़ाई है। उन्होंने सम्भवतः यह सोचा है कि हिन्दीवाले हिन्दी के सम्बन्ध में जो कुछ भी जानते या जान सकते हैं, केवल उन्हीं के माध्यम से। अपने महत्व के सम्बन्ध में ऐसी धारणा तथा अपने कर्त्तव्य के प्रति ऐसी वेरुखी, किसी भी व्यक्ति के लिए मात्र आत्म-प्रवञ्चना ही कही जा सकती है।

सम्बन्ध-विभक्ति 'के', 'रे', 'ने' तथा सम्बन्ध प्रत्यय 'क', 'र', 'न' की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उनकी मान्यता यह है कि सं० कः (यथा—राजनीतिकः पन्थाः) से सम्बन्ध-प्रत्यय 'क' और सम्बन्ध-प्रत्यय 'क' से सम्बन्ध-विभक्ति 'के' की उत्पत्ति हुई। फिर सं० 'एर्' (यथा हरेर्गृहम्, कवेर्वार्ता) से सम्बन्ध-विभक्ति 'रे' और फिर से सम्बन्ध-प्रत्यय 'र' का विकास हुआ। इसी प्रकार सं० नः" (यथा—आत्मनः) से सम्बन्ध-प्रत्यय 'न' का और इसी 'न' से सम्बन्ध विभक्ति 'ने' का जन्म हुआ। इस मान्यता में एक प्रत्यक्ष दोष यह दीखता है कि कहीं पहले सम्बन्ध-प्रत्यय की उत्पत्ति होती है तब उससे सम्बन्ध-विभक्ति की और कहीं पहले सम्बन्ध-विभक्ति की और तब उससे सम्बन्ध-प्रत्यय की। भाषा के विकास में ऐसी अनियमितता विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती।

समास की चर्चा वाजपेयी जी ने बहुत संक्षेप में की है। समास के भेदों की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है कि "समझने-समझाने के लिए समास को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है—१. अव्ययीभाव, २. तत्पुरुष, ३. बहुव्रीहि और ४. द्वन्द्व।

२९

कर्मधारय समास 'तत्पुरुष' का ही एक प्रकार—भेद और कर्मधारय का भेद 'द्विगु' है। परन्तु समास का विषय इतना व्यापक है कि इन व्यापक भेदों से बाहर कुछ और समास रह ही जाते हैं और स्वयं पाणिनि 'सहसुपा' सूत्र से ऐसे समासों का विधान किया है, जो कि पूर्वोक्त श्रेणियों में नहीं आते। इसीलिए संस्कृत के वैयाकरणों ने कहा है—'समासश्चतुर्विध इति तु प्रायोवादः'—"समास चार प्रकार के होते हैं, वे चार श्रेणियों में आ गए हैं। यह मतलब नहीं कि जो समास इन श्रेणियों में न आएँ, वे समास ही नहीं।" फिर उन्होंने उदाहरण के द्वारा सिद्ध किया है कि समास में पूर्वोत्तर पदों की प्रधानता-अप्रधानता का जो निर्देश किया जाता है, वह संस्कृत में भी 'प्रायोवाद' ही है, जैसे, 'उन्मत्त गङ्गम् देशः' में अव्ययीभाव है, किन्तु प्रधानता अन्य पद की है, जो बहुव्रीहि का लक्षण है। 'अतिमालः पुरुषः' में 'अतिमालः', तत्पुरुष है, किन्तु प्रधानता अन्य पद की है। इसी प्रकार 'द्वित्राः पुरुषाः' तथा 'पंचषाणि फलानि' में द्वित्राः' तथा 'पंचषाणि' दोनों बहुव्रीहि हैं किन्तु, प्रधानता अन्यपद की न होकर दोनों पदों की है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। हिन्दी में भी 'राह' के स्त्रीलिङ्ग होने पर भी द्विगुसमाहार 'चौराहा' पुल्लिग है।

वाजपेयी जी ने 'आज्ञानुसार' तथा 'इच्छानुसार' को अव्ययीभाव सिद्ध करते हुए यह बताया है कि 'अनुसार' अव्यय है और इसका पर प्रयोग होता है; इसलिए उपर्युक्त शब्द तत्पुरुष नहीं अव्ययीभाव हैं तथा स्त्रीलिङ्ग हैं। फिर उन्होंने 'अन्तरदेशीय' और 'अन्तर्देशीय' के 'अन्तर' और 'अन्तर्' के अर्थ की भिन्नता को स्पष्ट करते हुए 'अन्ताराष्ट्रिय' और 'आन्तर-राष्ट्रीय' जैसे प्रयोगों को अशुद्ध बताया है। प्रकरण के अन्त में समास तथा द्विरुक्ति के अन्तर को स्पष्ट करने के पश्चात् सामासिक प्रत्यय 'आ' तथा 'ई' का सोदाहरण विवेचन किया है।

उपर्युक्त अध्ययन में वाजपेयी जी ने कृदन्त, तद्धित तथा समास का जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह न तो पूर्ण है और न व्यवस्थित ही। इसे स्वीकार करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है कि "यह पुस्तक वास्तव में हिन्दी-व्याकरण की मोटी रूपरेखा ही प्रस्तुत करने के लिए है। जब हिन्दी-व्याकरण के 'पाठ्यग्रंथ' बनेंगे, तब ब्यौरे से कृदन्त, तद्धित तथा समास आदि का अपने-अपने स्वतन्त्र प्रकरणों में विस्तार होगा।

षष्ठ अध्याय क्रिया विशेषण का है। इसमें विवेच्य विषय पर बहुत ही सामान्य ढंग से प्रकाश डाला गया है; साथ ही, कहीं-कहीं स्वतोव्याघातपूर्ण बातें भी कही गयी हैं। उदाहरणार्थ—प्रारम्भ में तो उन्होंने क्रियाविशेषण का प्रयोग अव्यय के समान मानते हुए लिखा है कि "संस्कृत में नपुंसक लिंग एकवचन सामान्य प्रयोग में आता है, हिन्दी में पुल्लिग एकवचन।" किन्तु आगे चलकर उन्होंने एक नयी स्थापना यह दी है कि "यदि क्रिया का फल—विशिष्ट क्रिया का फल—कर्म पर पड़ता हो, तो क्रियाविशेषण कर्म के अनुसार ही रूप ग्रहण करेगा—लिंग-वचन आदि कर्म के अनुसार ही चलेंगे।" जैसे—"राम खम्भे टेढ़े गाड़ रहा है", तथा 'धोबी कपड़े अच्छे धोता है'। यदि वाजपेयी जी की इस दूसरी स्थापना और इन उदाहरणों को सही मान लिया जाय, तो इसके साथ ही यह मानने को भी बाध्य होना पड़ेगा कि हिन्दी में क्रियाविशेषण सदा अविकारी अर्थात् अव्यय के रूप में ही नहीं प्रयुक्त होते, अपितु वे कभी-कभी विकारी भी होते हैं। किन्तु

वास्तविक स्थिति वैसी नहीं है। हिन्दी में क्रिया विशेषण सदा अविकारी अर्थात् अव्यय के रूप में ही बने रहते हैं। इसलिए 'राम खम्भे टेढ़े गाड़ रहा है' तथा 'धोबी कपड़े अच्छे धोता है' जैसे प्रयोग शिष्ट भाषा में कभी नहीं पाये जाते। इनका शुद्ध रूप होगा—'राम खम्भों को टेढ़ा गाड़ रहा है' तथा 'धोबी कपड़े अच्छा धोता है'। फिर 'खम्भे टेढ़े गड़े हैं', 'कपड़े अच्छे धुले हैं' जैसे कर्मकर्तृक वाक्यों में 'टेढ़े' और 'अच्छे' क्रियाविशेषण नहीं, प्रविशेषण हैं, जो क्रमशः 'गड़े' और 'धुले' विधेय विशेषणों की विशेषता प्रकट करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वाजपेयी जी की उपर्युक्त मौलिक स्थापना कि 'विशिष्ट' क्रिया का फल कर्म पर पड़ता हो, तो क्रियाविशेषण कर्म के अनुसार ही रूप ग्रहण करेगा' नितान्त भ्रामक है। फिर उनका यह कहना कि "सीता पुस्तक अच्छा पढ़ती है' बोलने में अच्छा नहीं लगता", बेतुकी बात है। भाषा की व्यवस्था तथा व्याकरण के नियम व्यक्तिविशेष के (चाहे वह वैयाकरण ही क्यों न हो) अच्छा लगने पर निर्भर नहीं करता। जो परम्परा से व्यापक प्रयोग में शुद्ध माना जाता रहा है, उसे कोई वैयाकरण अपनी नापसंदगी से अशुद्ध नहीं बना सकता। 'पन्त' जी को 'प्रभात' का प्रयोग स्त्रीलिंग में ही अच्छा लगता है, इससे क्या कोषकार उक्त शब्द को स्त्रीलिङ्ग लिख देगा?

सप्तम अध्याय में वाजपेयी जी ने वाक्य के गठन सम्बन्धी बातों का विवेचन किया है। फिर वाक्य के उद्देश्य और विधेय की सामान्य चर्चा करते हुए उन्होंने बताया है कि वाक्य के उद्देश्य से अर्थात् अनुवाद्य का पूर्व-प्रयोग इसलिए होता है कि वह ज्ञात रहता है। विधेय का परप्रयोग होता है, क्योंकि वह अज्ञात रहता है या बाद में ज्ञात होता है। किन्तु वाजपेयी जी का यह तर्क युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। वाक्य-योजना के लिए नियमतः उद्देश्य और विधेय दोनों का एक साथ ही ज्ञात होना अनिवार्य है। दोनों में से किसी एक के भी अज्ञात रहने पर वाक्य बन ही कैसे सकता है? इस प्रसङ्ग में भी उन्होंने यह बताया है कि उद्देश्य और विधेय में से जिस पर अधिक जोर देना होता है उसका परप्रयोग हुआ करता है।

वाक्य में पद-क्रम के जिन अन्य निर्धारक तत्त्वों की ओर संकेत किया गया है, वे निम्नलिखित हैं:—

१. पदों की अपनी बनावट से भी पूर्वापर प्रयोग भाषा ग्रहण करती है। 'स्त्री' में एक ही स्वर है, 'पुरुष' में तीन हैं। 'लघु' का पूर्व प्रयोग होता है, गुरु का उसके अनन्तर। वाक्य में द्वन्द्व आदि समासों में 'स्त्री' का पूर्वप्रयोग होगा—'क्या स्त्री क्या पुरुष'। यहाँ 'क्या पुरुष क्या स्त्री' ठीक न रहेगा। अन्वय-बोध में कोई बाधा पड़ती हो, या अर्थ-भ्रम होता हो, सो बात नहीं है। केवल बोलने में अच्छा नहीं लगता। लघुता से गुरुता की ओर जाए, तो अच्छा लगता है, पर गुरुता से लघुता की ओर जाना भला नहीं। 'नर' तथा 'नारी' में (स्त्री-पुरुष का) व्यक्तिक्रम है। 'नर' में दो ही मात्राएँ हैं। 'नारी' में चार। इसलिए पहले 'नर' का प्रयोग होगा फिर 'नारी' का। 'स्त्री-पुरुष' की तरह 'नारी-नर' न होगा। 'अमीर' और 'गरीब' में समान स्वर हैं, वजन भी बराबर है। परन्तु 'गरीब' के 'ग' में एक व्यञ्जन है, एक स्वर है; जब कि

'अमीर' का आद्य अक्षर 'अ' केवल स्वर है। इसीलिए 'अमीर-गरीब' होगा, 'गरीब-अमीर' नहीं। 'अमीर' के पूर्व प्रयोग में और कारण (श्रेष्ठता आदि) यहाँ हो सकते हैं।

२. "स्वरों का आपस में भी ध्यान रखा जाता है। पहले कंठ तथा ओष्ठ का नंबर है। 'इधर-उधर' में भी यही बात है। य, र, ल, व यों वर्णमाला है। इसलिए 'यहाँ-वहाँ' होता है। 'जहाँ-तहाँ' में 'ज' के बाद 'त' का क्रम है। 'देखभाल' में 'भा' की स्थिति बाद में है; पर 'लड़ना-झगड़ना' में 'ल' का पूर्व प्रयोग होता है, इसलिए कि 'झगड़ना' में वजन बहुत ज्यादा है। 'पिता' और 'माता' में माता का दर्जा बहुत ऊँचा है; इसलिए 'माता-पिता' 'जननी-जनक' प्रयोग होते हैं।

३. पदों का पूर्वापर - प्रयोग करने में अर्थ पर भी ध्यान रखना होता है। 'सोना-चाँदी' में 'सोना' अभ्यर्हित होने के कारण पूर्व प्रयुक्त है।

४. "व्याकरण की दृष्टि से 'वचन' आदि का भी ध्यान पदों के पूर्वापर-प्रयोग में नियामक होता है—'वहाँ आज हत्याओं तथा नजरबन्दी का जोर है', इसमें बहुवचन का प्रयोग अन्त में होना चाहिए।

५. "भेदक और भेद्य" का सह-प्रयोग चाहिए।

वाक्य में पदक्रम सम्बन्धी नियमों के विवेचन के साथ-साथ वाजपेयी जी ने कुछ अन्य आवश्यक सुझाव भी दिए हैं; जैसे—वाक्य में केवल आवश्यक पदों का ही प्रयोग होना चाहिए, 'भेदक' के प्रयोग में सावधानी बरतनी चाहिए, अशक्त शब्दों के प्रयोग से बचना चाहिए, ग्राम्य तथा अश्लील शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, 'समस्त' विशेषण देने में सन्धि सोच-समझकर करनी चाहिए, विशेषण एवं विशेष्य का सहप्रयोग करना चाहिए, विशेषण में जातीयता का भी ध्यान रखना चाहिए, पदों की पुनरुक्ति नहीं करनी चाहिए, शब्दों के शुद्ध रूप का ही प्रयोग करना चाहिए, आदि। इसके पश्चात् उन्होंने अनेक कर्तृक तथा अनेक कर्मकक्रियाओं के लिङ्ग-वचनादि, उद्देश्य और विधेय की भिन्न-लिङ्गता, सर्वनामों के प्रयोग, संस्कृत शब्दों के ग्रहण में विवेक, विभक्तियों का प्रयोग, विराम-चिह्न, आदि का अत्यन्त संक्षिप्त तथा अव्यवस्थित विवेचन किया है। अध्ययन के अन्त में वाक्य के प्रकार की औपचारिक चर्चा करते हुए उन्होंने उसके 'साधारण' तथा 'संयुक्त' दो ही प्रकार माने हैं। संयुक्त वाक्य के विवेचन प्रसङ्ग में उन्होंने लिखा है कि "संयुक्त वाक्य में कोई अंश प्रधान या अप्रधान नहीं होता। 'मैंने कहा कि तुम चले जाओ' ऐसे वाक्यों को लोग 'मिश्रवाक्य' कहते हैं और यहाँ प्रधान-अप्रधान भाव बतलाते हैं। वस्तुतः ये सब 'संयुक्त' वाक्य हैं और इनमें प्रधानता-अप्रधानता जैसी कोई चीज नहीं होती। अनेक वाक्य चाहे जिस रूप में और जिस शब्द के द्वारा संयुक्त होकर आएँ—'संयुक्त वाक्य' कहलाएँगे और उनकी प्रधानता-अप्रधानता का विवेचन व्यर्थ का गोरख-धन्धा है। हाँ, कर्मभाव, हेतुभाव आदि उन्हें अवश्य प्राप्त होता है। यही देखने की चीज है।' इस कथन से स्वतः स्पष्ट है कि उक्त विषय पर वाजपेयी जी ने गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया है। प्रकरण के अन्त में उन्होंने लिखा है कि 'छात्रों को अनावश्यक

'जटिल' वाक्य देकर उनका व्यर्थ विश्लेषण कराना एक खिलवाड़ भर है। इससे दिमागी परेशानी बढ़ती है और भाषा सम्बन्धी कोई विशेष ज्ञान मिलता नहीं है।'

ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में 'क्रिया-प्रकरण' है। इसमें 'होना, 'बढ़ना, 'घटना', आदि के समान रूप वाले शब्दों की क्रिया बताते हुए वाजपेयी जी ने इसके विरुद्ध 'सिद्ध' तथा 'साध्य' दो रूप माने हैं। उनके अनुसार "क्रियाएँ कहीं 'सिद्ध' रूप होती हैं, कहीं 'साध्य' रूप। 'सिद्ध' ज्ञात होता है और 'साध्य' अज्ञात। 'सिद्ध' को उद्देश्य बना सकते हैं। क्रिया का विधेय अंश 'साध्य' कहलाता है।" इसके पश्चात् क्रिया-पदों के मूलरूप को 'धातु' बताते हुए उन्होंने लिखा है कि सभी 'धातु' स्वरान्त हैं, एक भी व्यंजनान्त नहीं। उनके अनुसार 'उठना', 'बैठना', 'सोना', 'जागना' आदि कृदन्त भाववाचक संज्ञाएँ हैं। यहाँ 'भाव' का अर्थ है 'शुद्ध धात्वर्थ'। 'शुद्ध' का अर्थ यह है कि धात्वर्थ के साथ कोई कारक, काल या पुरुष आदि की प्रतीति नहीं। क्रिया का स्वरूपमात्र प्रकट है। क्रिया-सामान्य के वाचक इन ('उठना' आदि) शब्दों से यदि प्रत्यय 'ना' हटा लें, तो अवशिष्ट अंश, धातु भर रह जाता है। परन्तु 'धातु' का यह लक्षण नहीं, एक मोटी पहचान है। कारण हिन्दी में काल-विशेष प्रकट करने के लिए और किञ्चित अर्थ भेद लेकर —'ह' तथा 'ग' धातुएँ ऐसी चलती हैं, जिससे भाववाचक संज्ञाएँ या क्रिया के सामान्य रूप नहीं बनते।

काल की चर्चा नाममात्र के लिए की गई है। उसके भेदादि के संबंध में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है। संस्कृत से हिन्दी की काल-व्यञ्जना की पद्धति को भिन्न बताते हुए वाजपेयी जी ने इसके सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा है, उसका सारांश निम्नलिखित है :—(क) संस्कृत में भूतकाल और भविष्यत्काल को जैसे 'अद्यतन' और 'अनद्यतन' कालों में विभक्त किया गया है, वैसी कोई बात यहाँ नहीं है। (ख) संस्कृत में 'अद्य' की अवधि आधी रात से आधी रात तक मानी गयी है, जैसा कि अँगरेजी में है; किन्तु हिन्दी में सुबह से सुबह तक (ग) भूत और भविष्यत् की आसन्नता और विप्रकृष्टता (दूरी) प्रकट करने के लिए हिन्दी की अपनी स्वतन्त्र पद्धति है। 'था' के प्रयोग से विप्रकृष्टता और 'है' के प्रयोग से आसन्नता प्रकट की जाती है। (घ) बहुत अधिक आसन्नता प्रकट करने के लिए लाक्षणिक प्रयोग किये जाते हैं, जैसे—'(कब जाओगे ?)—बस, जा रहा हूँ।' कभी-कभी 'वाला' प्रत्यय के प्रयोग से—जैसे, 'गाड़ी जाने ही वाली है।' (ङ) हिन्दी की यह पद्धति है कि मूल धातु की तरह उसके भाववाचक कृदन्त रूप में भी सहायक क्रियाएँ लगती हैं, जैसे—गिर पड़ा, गिरना पड़ा। इनमें पहले से आकस्मिकता और दूसरे से विवशता प्रकट होती है। तात्पर्य यह कि हिन्दी में मूल धातुओं की ही तरह उसके भाववाचक कृदन्त रूप भी काम में लाये जाते हैं। (च) संस्कृत में कृदन्त के साथ फिर दूसरा कृदन्त प्रत्यय नहीं आता, किन्तु तद्धित के साथ फिर दूसरा तद्धित प्रत्यय लगता है,—समर्थ-सामर्थ्य—सामर्थ्यवान्। हिन्दी में कृदन्त लग सकता है, जैसे—'जानेवाला'।

द्विकर्मक क्रियाओं की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने एक नयी बात कही है कि सकर्मक क्रियाओं के भी अकर्मक प्रयोग होते हैं, यदि कर्म की विवक्षा न हो; जैसे—'गोविन्द काशी में पढ़ रहा है।' उनके अनुसार यहाँ 'पढ़' का अकर्मक प्रयोग है। इसी प्रकार

अकर्मक के सकर्मक रूप में प्रयोग का उदाहरण 'राम को ज्वर है' देते हुए, उन्होंने 'है' को मूलतः अकर्मक मानते हुए यहाँ उसका प्रयोग सकर्मक रूप में माना है।

'प्रेरणा' के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती वैयाकरणों के एक भ्रम का निराकरण करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है कि "कभी-कभी 'प्रेरणा' तथा 'कर्मकर्तृक' के रूप एक ही तरह के हो जाते हैं और तब भ्रम से लोग 'कर्मकर्तृक' को 'प्रेरणा' समझ बैठते हैं। 'राम ने वही बात श्याम से कहला दी' प्रेरणारूप है। 'कहने' का 'तात्विक कर्ता' श्याम है और 'प्रेरक कर्त्ता' राम। परन्तु 'ऐसे ही सज्जन ग्रन्थकार कहलाते हैं', 'कर्मकर्तृक' प्रयोग है। कर्म जब कर्त्ता-सा जान पड़ता है, तो क्रिया अपने-आप अकर्मक जान पड़ेगी। इसी 'कर्मकर्तृक' प्रयोग को हिन्दी-व्याकरण में प्रेरणा का रूप समझ कर लिखा गया है— 'कहना' के प्रेरणार्थक रूप अपूर्ण अकर्मक भी होते हैं। जैसे; 'ऐसे ही सज्जन ग्रन्थकार कहलाते हैं।' यह भ्रम है। ये प्रेरणार्थक नहीं कर्मकर्तृक हैं। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। 'प्रेरणा' में भी 'कहना' का रूप 'कहलाना' या 'कहाना' होता है, परन्तु 'देना' सहायक क्रिया साथ आती है। 'माँ बच्चे से सब कहला देती है'। प्रेरणा में वास्तविक कर्त्ता 'गौण कर्म' के रूप में प्रयुक्त होता है और उसके साथ 'को' या 'से' चिह्न प्रयुक्त होता है।

उपर्युक्त प्रसङ्ग में ही वाजपेयी जी ने 'त्रिकर्मक क्रिया' की भी चर्चा की है और 'माँ नौकर से बच्चे को दूध पिलवाती है' में 'नौकर', 'बच्चे' और 'दूध' तीनों को कर्म मान लिया है। किन्तु इसमें 'नौकर' वास्तव में 'कर्म' न होकर 'करण' है। अतः इस प्रकार के उदाहरण को द्विकर्मक नहीं मानकर त्रिकर्मक मानना अनुचित है। आगे उन्होंने कर्मकर्तृक क्रिया की कल्पना की है। उनके अनुसार जब 'करण' 'कर्त्ता' का स्थान ले लेता है तो वहाँ करण कर्तृक प्रयोग माना जाना चाहिए; जैसे—'तलवार शत्रुओं के सिर काट रही है।'

तृतीय अध्याय में संयुक्त क्रियाओं का विवेचन करते हुए वाजपेयी जी ने यह स्पष्ट किया है कि हिन्दी में इनका अत्यधिक प्रयोग होता है। इनके 'संश्लिष्ट' तथा 'विश्लिष्ट' दो रूप होते हैं। हिंदी में अधिकतर 'विश्लिष्ट' रूप का ही प्रयोग होता है, किन्तु एकाध संश्लिष्ट रूप के उदाहरण भी मिलते हैं, जैसे—'लाना'। तदन्तर उन्होंने यह बताया है कि संयुक्त क्रियाओं में सहायक क्रिया कभी स्वार्थ एकदम छोड़ देती है और कभी बनाए भी रखती है। इसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने जाना, करना, लेना, देना, पड़ना, लगना, मरना आदि अनेक सहायक क्रियाओं के योग से बननेवाली विभिन्न संयुक्त क्रियाओं के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने 'पूर्वकालिक' तथा 'क्रियार्थक' क्रियाओं को 'संयुक्त क्रिया' से भिन्न माना है।

चतुर्थ अध्याय में 'नाम धातु' तथा पाँचवें अध्याय में 'क्रिया की द्विरुक्ति' पर सामान्य रूप से विचार किया गया है। ग्रन्थ के परिशिष्ट—१ में हिन्दी की कुछ बोलियाँ (राजस्थानी, ब्रजभाषा, कन्नौजी या पाञ्चाली, अवधी, भोजपुरी, मगही तथा मैथिली) की सामान्य चर्चा है, परिशिष्ट-२ में पञ्जाबी की तथा परिशिष्ट-६ में 'व्याकरण और भाषा-

विज्ञान' की। 'व्याकरण और भाषा विज्ञान' के प्रसङ्ग में वाजपेयी जी ने अनेक हिन्दी-विद्वानों की कतिपय भ्रान्त स्थापनाओं की ओर सङ्केत किया है। ग्रन्थ के अन्त में स्वरचित एक दोहा में उन्होंने अपने आपको हिन्दी-भाषा के बाग का माली बताया है, जिसका काम 'झाड़-झंखाड़' को उखाड़ कर बाग को मोहक बनाना है।

इसमें संदेह नहीं कि वाजपेयी जी ने हिन्दी-वाटिका को सुधार कर सजाने-सँवारने में एक निपुण माली का कार्य किया है। एक ओर उनके पाण्डित्यपूर्ण विवेचन की खाद पाकर जहाँ वाटिका की भूमि अधिक उर्वर बनी है, वहाँ उनकी सूक्ष्मेक्षिका की कतरनी ने अनेक अनुपयोगी झाड़-झंखाड़ को काटकर अलग कर दिया है। किन्तु शैली की अस्त-व्यस्तता के कारण हिन्दी शब्दानुशासन उपवन नहीं वन बन कर रह गया है।



'भारतीय भाषाविज्ञान' का मूल्यांकन

डा० रमेशचन्द्र महरोत्रा,
अध्यक्ष, भाषा विज्ञानविभाग,
रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर

कवि, नाटककार, साहित्यकार, और इतिहासकार होने के साथ-साथ पं० किशोरीदास वाजपेयी सिद्ध भाषाविज्ञानी भी हैं। राहुल जी जिस 'प्रतिभा' को 'भारतीय भाषाविज्ञान का प्रथम मुनि' कह चुके हैं, उनके द्वारा लिखी हुई पुस्तक 'भारतीय भाषाविज्ञान' का मूल्य आँकने के लिए हमें वाजपेयी जी के कार्य को नींव के रूप में देखना चाहिए, दीवार या छत के रूप में नहीं। यों तो वाजपेयी जी ने द्रविड़ों पर भी वेदों और यास्क प्रभृति आचार्यों के लेखन के आधार पर विवेचन किया है तथा 'ब्रजभाषा का व्याकरण' (१९४८) भी लिखा है, पर आधार-शिला के रूप में आप का कार्य हिन्दी को मानक रूप देने से संबंधित माना जाएगा। वर्तनी, व्याकरण, तथा अर्थ——तीनों ही क्षेत्रों में हिंदी को व्यवस्थित एकरूपता दिलाने के लिए आप ने भ्रामक, अशुद्ध, तथा बहुविध प्रयोगों के प्रति निरंतर लेखन युद्ध जारी रखा। हिंदी से संबंधित समस्याओं पर लिखे गए अनेक लेखों के अतिरिक्त आप के 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' (१९४९), 'हिन्दी शब्दानुशासन' (१९५४), 'हिन्दी शब्द-मीमांसा' (१९५८), 'हिन्दी व्याकरण' (१९६८), 'अच्छी हिंदी' ((१९६८), 'हिंदी की वर्तनी तथा शब्द-विश्लेषण' (१९६८), एवं 'हिंदी निरुक्त' नामक ग्रंथ इस के प्रमाण हैं। 'भारतीय भाषाविज्ञान' (१९५९) भी हिंदी के व्युत्पत्तिपरक उदाहरणों से भरपूर है, यद्यपि इस को 'भारतीय भाषाओं का विश्लेषण और वर्गीकरण' सहनाम देकर वाजपेयी जी ने अपने 'प्रासंगिक निवेदन' में इस के संबंध में यह स्पष्टीकरण दिया है——"इस में भारतीय पद्धति पर भारतीय भाषाओं का संक्षेप से विश्लेषण-विवेचन है। एक तरह से इस विषय की यह 'उपक्रमणिका' है।"

'भारतीय भाषाविज्ञान' की शैली झरने के समान गतिशील है और अभिव्यक्ति-सूत्रों के समान चुस्त है। उदाहरण देखिए——"संस्कृत में 'हिंस' से 'सिंह' बन गया। 'स्' इधर और 'ह्' उधर। स्वर जहाँ के तहाँ जमे रहे।" (पृ० ३१)। इसी प्रकार, 'देहली' से मेरठ है ही कितनी दूर! देहली हिंदी का केंद्र है; घर है और सब भाषाओं की यह 'देहली' है। दिल्ली हिंद का केंद्र, हिंदी का केंद्र।" (पृ० १४७)। बात समझाने की कला कोई वाजपेयी जी से सीखे। तीन नमूने देखिए——(१) " 'ति'-'सि' प्रत्ययों को 'विभक्ति भी कहते हैं, क्योंकि इनके द्वारा 'पठ्' को विविध रूपों में विभक्त किया जाता है।" (२) " 'प्रतिपद' दिखाई देने वाला रूप 'प्रातिपदिक'।" (३) "व्याकरण में 'जो' 'जाहि' आदि 'पद' कहलाते हैं; क्योंकि ये ही 'चलते हैं'।"

राहुल जी ने भूमिका में लिखा है कि वाजपेयी जी लीक पर चलने वाले पुरुष नहीं हैं। इस का मतलब है कि उन्होंने नया रास्ता भी बनाया है, जिस पर बहुत से अन्य

लोगों ने चलना पसंद किया है। पर इस नए रास्ते में उन लोगों को कहीं-कहीं गड्ढे फलाँगने पड़ते हैं या ज़मीन पाटनी पड़ती है। वस्तुतः इन गड्ढों के ही बारे में विचार करना उपयोगी मूल्यांकन होगा, अन्यथा प्रशंसा करने को तो ३१४ पृष्ठों के इस ख़ज़ाने में बहुत कुछ है।

वाजपेयी जी 'होगा', 'जाएगा', 'बतलाएगा'—जैसे शब्दों को दो-दो शब्दों में तोड़ कर 'हो गा', 'जाए गा', 'बतलाए गा'—जैसा लिखते हैं। विभाजकता का आधार इस '–गा' को किसी भी सूरत में पृथक् शब्द सिद्ध नहीं होने देता। यदि यह प्रत्यय न होता, तो उदाहरणार्थ,'जाएगा' के 'जाए' के बाद अन्य शब्द डाल कर '–गा' को दूर ढकेला जा सकता था, जैसे 'जाए और खाए गा' में। स्पष्ट है कि '–गा' अपने से पिछले रूप से चिपक कर ही चलता है, अन्यथा 'जाएगा और खाएगा' तथा 'जाए और खाए गा' में अर्थ-भेद न होता। भविष्यत् के इस चिह्न का अलग शब्द होना जन-गृहीत नहीं है। वाजपेयी जी भी अपनी बात को पुष्ट करने के लिए इस तर्क का अन्यत्र आश्रय लेते हैं। देखिए—"जब बिहारी जैसे महाकवि के कामार्थक 'समर' शब्द को हम गलत कहते हैं; क्योंकि वह जन-गृहीत नहीं है,.... ।" (पृ० ४२)।

विभाजकता की कसौटी पर 'उस' और 'ने' —जैसे उदाहरण अयोगात्मक सिद्ध होते हैं, जैसे 'उस तक ने' में। लेकिन 'उन्होंने' को तोड़ कर 'उन्हों ने' नहीं लिखा जाना चाहिए, क्योंकि 'उन्हों– सर्वदा बद्धरूप है। यदि 'उन्हों–' और 'ने' के मध्य, उदाहरणार्थ, 'तक' अथवा 'ही' डालने का प्रयत्न किया जाता है, तो बदल कर मुक्त रूप 'उन' का प्रयोग करना पड़ता है, जैसे 'उन तक ने' अथवा 'उन ही ने' (>उन्हीं ने) में। वाजपेयी जी का बहुत दूर तक अयोगात्मकता और एकरूपता का पक्षधर होना एक ओर उन की निर्णयात्मकता का अच्छा परिचायक है और दूसरी ओर भाषा के मानकीकरण के लिए पर्याप्त हितकर है, किन्तु एकरूपता के शिकंजे में जकड़ कर जिस प्रकार उदाहरणार्थ, 'चौबीस' को अयोगात्मक रूप में (चौ बीस) नहीं लिखा जाता है, उसी प्रकार 'उन्होंने' का 'ने' तब तक अलग नहीं लिखा जाना चाहिए, जब तक कि, उदाहरणार्थ, 'उन्हों तक ने'—जैसे प्रयोग चलन में आ कर 'उन्हों' को मुक्त रूप न प्रमाणित कर दें। वैसे एक रूपता सदा वरेण्य है, यदि वह अन्यथा बाधक न हो। उदाहरण के लिए, 'इँगलैंड'* और 'इँगलिश'* दोनों में हमें पूरा 'ग' लिखना चाहिए, पर पता नहीं क्यों वाजपेयी जी पहले शब्द में पूरा और दूसरे में आधा 'ग' लिखते हैं! (पृ० १६)। जब वाजपेयी जी 'इन्हीं पर अनुस्वार लगाते हैं, दो 'दोनो' और 'तीनो' पर भी लगाना चाहिए; और सादृश्य से 'चारो' पर भी। जन-गृहीत है। उच्चारणानुसारी भी है। सदा नियमबद्ध व्युत्पत्ति काम नहीं किया करती। एकरूपता और सादृश्य के संबंध में वाजपेयी जी के ही एक कथन पर ध्यान दीजिए—" 'जब'–'तब' के साथ 'इब' बेमेल रहता।"

---

*इन उदाहरणों तथा 'अँगरेजी' ('अंग्रेजी' नहीं) में प्रथम वर्ण के ऊपर अनुस्वार नहीं, चंद्रबिंदु होना चाहिए, क्योंकि इन के उच्चारण में अनुनासिकता 'इ' और 'अ' के 'बाद' (अर्थात् 'ङ') नहीं है, 'इ' और 'अ' के 'साथ' है।

कहीं 'भाषाविज्ञान' लिखना, कहीं 'भाषा-विज्ञान'; कहीं 'मुँह' लिखना, कहीं 'मुहँ' ; कहीं 'व्यंजन' लिखना कहीं 'व्यञ्जन'; कहीं 'माधुर्य' लिखना (पृ० १४३), कहीं 'माधुर्य्य' (पृ० ३३); तथा कहीं संज्ञा-शब्द 'रंग' लिखना (पृ० १११ पर पाँच बार), कहीं 'रँग' (पृ० ११० पर 'रँग विदेशी'। पृ० १६२ पर भी देखिए—'रंग में रँग गई') वाजपेयी जी-लाइक नहीं है। इन विकल्पों में से अल्पव्ययता, एकरूपता, बहुप्रयोग; स्मरण-लेखन-टंकन-मुद्रण-सुविधा, और अभ्रांतता के आधारों पर सब की प्रथम वर्तनी को शुद्ध मानना चाहिए। केंद्रीय हिंदी निदेशालय के प्रकाशनों के समान पंचम वर्ण और अनुस्वार का जहाँ भी विकल्प संभव हो, वहाँ सर्वदा अनुस्वार लगाया जाए। तदनुसार 'संबंध'। वर्तनी पहले; उपसर्ग और धातु की जानकारी बाद में। रेफ के कारण पूर्व-वर्ण के द्वित्वीकरण की बात भी आज व्यर्थ है, अतः जिस प्रकार 'मूर्च्छा', 'कर्त्तव्य', 'अर्द्ध', और 'वर्म्मा' के दिन पूरे हो चुके हैं और अब 'मूर्छा', 'कर्तव्य', 'अर्ध', और वर्मा' रूप स्थिर हो चले हैं, उसी प्रकार 'पर्य्याप्त' 'विपर्य्यय', 'सौकर्य्य', 'उपर्य्युक्त', और 'धैर्य्य' में अतिरिक्त 'य्' की प्रतिष्ठा आज समयोचित नहीं है। वाजपेयी जी ने सदा नारा दिया है कि हिंदी संस्कृत नहीं है।

वाजपेयी जी की स्वनविज्ञान-संबंधी कई धारणाएँ और कथन आपत्तिजनक हैं। पृ० १५ पर वे लिखते हैं—'अर्थ' एक शब्द है, जो हमें वह अर्थ देता है, जिसे दूसरे लोग 'मतलब' कहते हैं। यही 'अर्थ' शब्द इंगलैंड वालों को वह अर्थ देता है, जिस के लिए हमारे यहाँ 'पृथ्वी' आदि शब्द हैं।" अँगरेज़ी-स्वनविज्ञान से परिचित सभी लोग जानते हैं कि इँगलैंड वालों के उपर्युक्त शब्द के उच्चारण में न तो हिंदी का 'अ' स्वन है, न हिंदी का 'र्', और न 'थ्'। पृ० ३३ पर उन्होंने लिखा है—"क्, प् तथा ङ का उच्चारण हम नहीं कर सकते, जब तक उनमें अ, आ या इ, ई आदि कोई स्वर न लगा लें।" लेकिन सच्चाई यह है कि उपर्युक्त व्यंजनों के केवल 'निरुन्मोचित' रूप को उनमें आगे या पीछे कोई स्वर लगाए बिना नहीं बोला जा सकता, जब कि 'उन्मोचित' व्यंजनों का (यहाँ तक कि स्पर्शों का भी) उच्चारण हम बिना किसी स्वर की सहायता के कर सकते हैं। वैसी स्थिति में जिसे 'अ' समझ लिया जाता है, वह वस्तुतः व्यंजन का ही स्फोट या उन्मोचन (अतिशय ह्रस्व पूर्ण संवृत मध्य श्रुति) अर्थात् व्यंजन का ही अंश होता है। 'अंतःस्थ' नाम को समझाने के लिए वाजपेयी जी पृ० ३४–३५ पर पर्याप्त परिश्रम करते दीखते हैं—"ये बीच में आते-जाते रहते हैं न!... 'पठति' से 'पाठयति' में 'य'; 'सोता है' से 'सुलाता है' में 'ल'; 'माँगता है' से 'मँगवाता है' में 'व'; 'र' भी बीच में कूदता है, आगे देखेंगे ही। .... व्यंजन होने पर भी ये क्रमशः इ, लृ, उ, ऋ से बहुत मेल रखते हैं। .... इन के स्थान को वे स्वर भी लिया करते हैं, जैसे जाइ—जाय।" कम श्रम कर के 'अंतःस्थ' की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—स्वनिक और स्वनिमिक दृष्टि से व्यंजनों और स्वरों के तथा वर्णमाला में पंचवर्गों और ऊष्मों के बीच स्थित।

पृ० ४४–४६ पर 'व्' और 'य्' श्रुतियों के विषय में असफल खींच-तान की गई है—" 'बाबुवों' में 'व्' स्पष्ट श्रुत नहीं है और इसी लिए लोप —इस के विपरीत 'नदियों'

में 'य्' स्पष्ट श्रुत है। इसी लिए सामने दिखाई दे रहा है।" वस्तुतः 'व्' भी स्पष्ट श्रुत है। अपना काम चलाने के लिए कोई चीज़ न सुनने से यहाँ काम नहीं चलेगा। "'व्' और 'उ-ऊ' का स्थान एक है—'दंत-ओष्ठ' और 'ओष्ठ'।" जैसे 'य्' और 'इ-ई' का स्थान और भी अधिक एक नहीं हैं—'तालु'! तब फिर 'बाबुओं' और 'हुआ' में 'व्' क्यों नहीं लिखते और 'नदियों' और 'लिया' में 'य्' क्यों लिखते हैं, जब कि श्रुति दोनों प्रकारों में स्पष्ट है? इस का उत्तर है कि 'व्' का एक उच्चारण 'दंतोष्ठ्य संघर्षहीन प्रवाही—व्यंजनात्मक' भी है (जब कि 'य्' का श्रुतिपरक अर्धस्वरात्मक ही है)। ऐसे शब्दों में 'व्' लिख देने से उपस्वन-उच्चारण-भ्रम की संभावना है, जब कि 'य्' से कभी नहीं है। पृ० ३१३ पर लिखा है—"आजकल पूरी तरह 'ह्' जैसा उच्चारण विसर्गों का होता है।" पूरी तरह नहीं; और प्रत्येक के द्वारा तो और भी नहीं। विसर्गों का मूल उच्चारण 'अघोष काकल्य संघर्षी' करने वाले लोग अभी विद्यमान हैं। दूसरे, विसर्ग के उपध्मानीय (अघोष द्वयोष्ठ्य संघर्षी —'पुनः पुनः' में) तथा जिह्वामूलीय (अघोष कोमलतालव्य संघर्षी—'अंतःकरण' में) उच्चारण का प्राचीन स्वरूप आज अस्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार यह भी संदेह व्यक्त करना कि ऋ, ण्, और ञ् की असली ध्वनियाँ क्या थीं, 'भारतीय भाषा विज्ञान' को छोटा करना है।

वाजपेयी जी का ध्यान उच्चरित भाषा पर उतना नहीं है, जितना लिखित भाषा पर है। इस का प्रमाण उनके ये वाक्य हैं—"हिंदी के सभी 'धातु' शब्द स्वरांत हैं।" (पृ० १८९); तथा "'ल' 'त' 'आ' यों 'लाता'" (पृ० [५])। देवनागरी लिपि का महत्व है, पर हिंदी भाषा के सामने कम। (ऊपर के उदाहरणों के संदर्भ में 'चल्' 'सुन्', आदि व्यंजनांत हैं तथा 'त' को हलंत होना चाहिए।) इसी प्रकार, हिंदी भाषा का महत्त्व है, पर संसार भर की भाषाओं या सामान्य भाषाविज्ञान की बात करते समय निम्न-लिखित वाक्य 'भावुक प्रेम' के अतिरिक्त कुछ नहीं कहे जाएँगे—"इसी लिए तो कहते हैं कि हिंदी पूर्ण वैज्ञानिक भाषा है, विज्ञान-सिद्ध भाषा है।" (पृ० ५४); तथा "'करेगा' आदि रूपों में हिंदी ने जिस वैज्ञानिक तथा कलात्मक पद्धति का वरण किया है, वह अन्यत्र कहीं भी दिखाई नहीं देती।" (पृ० २८८)।

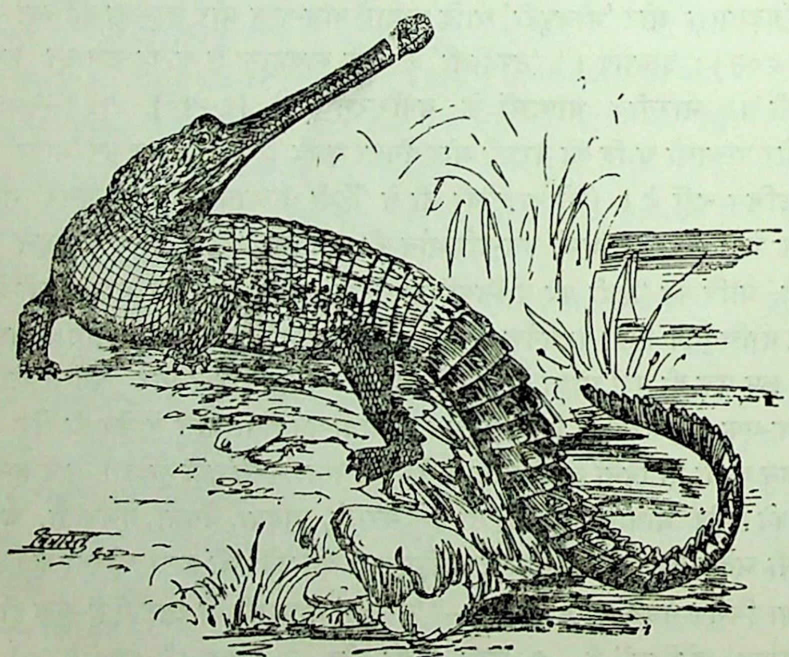
पृ० ४६ पर समझा गया है कि आकारांत पुल्लिंग तत्सम संज्ञाएँ बहुवचन में 'आ' को 'ए' नहीं करतीं, जैसे 'राजा', 'पिता', इत्यादि। यहाँ कुछ अधूरापन है, क्योंकि न तो 'राजे-महाराजे' के बारे में कुछ कहा गया है, न 'आगरा, कलकत्ता, पटना, मथुरा' के बारे में कोई संकेत दिया गया है, और न 'चाचा, नाना, बाबा, मामा', के बारे में कोई स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया गया है। पृ० १७ पर भी जहाँ लिखा गया है कि 'अपने' क्रिया-पद छोड़ कर किसी दूसरी भाषा के क्रिया-पद कोई भी भाषा स्वीकार नहीं करती, वहाँ हिंदी में हो रहे 'इनवाइट किया', 'सेव कर लिया', 'फ्रस्ट्रेटेड हुआ', और 'एडमिट हो गया' —जैसे प्रयोगों का उल्लेख कर देना अधिक अच्छा था। वाजपेयी जी उसी पृष्ठ पर बहुत सही लिखते हैं कि 'मास्टर का पेन' हिंदी है और 'महात्मा गांधीज़ सत्याग्रह' अँग-रेजी है। कारण उन्होंने दिया है 'संबंध-प्रत्यय'। इस के साथ-साथ कि हमारे वाक्यों में हमारे प्रत्ययों के साथ प्रयुक्त होने पर आदत्त शब्द हमारे शब्द बन जाते हैं, यह भी

जोड़ा जा सकता है कि (प्रत्यय लगें या न लगें) कोई भी शब्द हमारी भाषा का शब्द है, यदि उस का प्रयोग हमारी भाषा में किसी अशिक्षित या ऐसे शिक्षित के द्वारा भी किया जाने लगा हो, जो स्रोत भाषा के विषय में अनभिज्ञ हो।

वाजपेयी जी ने यद्यपि 'भाषा' और 'बोली' का भेद अच्छी भाषा में समझाया है, जैसे "अवांतर रूप-भेद होने पर भी कुछ सामान्य तत्त्व ऐसे होते हैं, जो कि परस्पर संवद्ध उन सभी 'बोलियों' में पाए जाते हैं और इन्हीं सामान्य या व्यापक तत्त्वों के कारण वे सब बोलियाँ 'एक भाषा' ही कहलाती हैं।" (पृ० ३०१); "बोली भी भाषा ही है; भाषा का ही रूप। ....'भाषा' सब का समष्टि-नाम और उस भाषा के विशेष-विशेष रूप 'बोलियाँ'।....यदि सामान्य सूत्र भिन्न हो गया, तो फिर 'भाषा' भिन्न।" (पृ३०२), पर कहीं किसी को 'भाषा' और अन्यत्र उसी को 'बोली' लिख कर जगह-जगह प्रयोग में शिथिलता बरती गई है, जिस के कारण वाजपेयी जी के पृ० ३१० पर लिखे गए इस स्पष्टीकरण-वाक्य से भी भ्रमोपादकता समाप्त नहीं हो पाई है—"हिंदी की एक 'बोली' है अवधी" यह कहने का मतलब इतना ही है कि अवधी उस भाषा-मंडल की एक सदस्या है.... ।" अब 'भाषा-मंडल' समझाइए ! 'भाषा' और 'बोली' से संबंधित कुछ शिथिल प्रयोग यहाँ द्रष्टव्य हैं—" 'खड़ी बोली' से इतर अन्य हिंदी-बोलियाँ व्रज, पांचाली, अवधी, बुँदेलखंडी (पृ० १६०); व्रज, पांचाली, अवधी भाषा ([पृ० ६]); अवधी, पांचाली बोलियाँ नहीं हैं (पृ० [१०]); पांचाली भाषा (पृ० २१२); हिंदी की सभी 'बोलियाँ' (पृ १८६); हिंदी की 'खड़ी बोली', बाँगरू, पांचाली, अवधी आदि सभी 'बोलियों' में (पृ० २३२); 'अवधी', पांचाली आदि अपने-अपने क्षेत्र की स्वतंत्र भाषाएँ हैं (पृ० ३१०); 'व्रजभाषा' 'अवधी' 'गढ़वाली' और 'भोजपुरी' आदि भाषाएँ पाँच-पाँच और छह-छह बोलियाँ रखती हैं (पृ० ३०२); इत्यादि।" 'उपबोली' शब्द के व्यवहार से काफ़ी उलझन दूर हो सकती थी। भारतीय भाषाओं के वर्गीकरण (पृ० [६–१०], १६३–२८१) में बाँगरू और पांचाली आदि को मराठी और बँगला आदि के समकक्ष रख कर 'भाषा' कहना एकदम उचित नहीं है। (यों वाजपेयी जी ने 'हिंदी शब्दानुशासन' के 'दूसरे' संस्करण पर लेखक का निवेदन' में अपने मत-परिवर्तन की बात लिखी है, वरना वे भी पहले अवधी कूर्माचली, आदि को 'हिंदी की बोलियाँ' मानते थे, पर) अपने को ज़रा 'हिंदी-प्रेम' से बचा कर सोचिए कि हिंदी के अनेक रूप तो अनेक भाषाएँ हैं, पर मराठी और बँगला आदि के अनेक रूप एक ही एक भाषा के अन्तर्गत हैं ! मानो मराठी और बँगला आदि का केवल एक-एक रूप प्रचलित है ! दरअसल जानी-पहचानी वस्तु में भेद ही भेद दीखते हैं और कम जानी या बिना जानी वस्तु में भेद कर पाना सरल नहीं होता। यदि हम हिंदी के रूपों को अनेक भाषाएँ कहते हैं, तो हमें मराठी, उड़िया, बँगला, गुजराती, आदि के अंतर्गत भी अनेकानेक भाषाएँ माननी चाहिए। वाजपेयी जी द्वारा कौरवी के विषय में किया गया विशेष गड्ड-मड्ड देखिए—" 'कौरवी' भाषा की दो धाराएँ हैं–एक ही भाषा की दो प्रमुख 'बोलियाँ' हैं—१–खड़ी बोली और २–बाँगरू।" (पृ० १४७)। पृ० [६] पर इन दो को कौरवी (खड़ी बोली) और बाँगरू कह कर उत्तरी वर्ग की दो भाषाओं के रूप में गिनाया गया है। पृ० २०५ पर फिर दिल्ली-मेरठ की बोली को " 'खड़ी बोली'

या 'कौरवी' " लिख कर उन्होंने उसे बाँगरू भाषा से पृथक् करते हुए अपनी 'कौरवी भाषा की दो धाराओं—'खड़ी बोली और बाँगरू' वाली बात से विरोधाभास उत्पन्न कर दिया है। इसी प्रकार, जाति और भाषा का संबंध अवैज्ञानिक बन गया है। पृ० १६ पर लिखा गया है—"एक 'जाति' की एक भाषा होती है।" आगे पृ० २० पर इसी संदर्भ में वाजपेयी जी लिखते हैं—"आज भी तो लगभग डेढ़ दर्जन राज्य अलग-अलग हैं न! शासन-भेद है; परंतु जाति एक है—हिंदू, हिंदी, हिंदुस्तानी, भारतीय।" तो भारतीय जाति की 'एक' भाषा किधर है! राष्ट्रीय भावना और धार्मिक आस्था अपनी जगह है, पर संस्कृत भाषा सभी भारतीय भाषा-परिवारों की भाषाओं को मसल कर एक करने तथा नृतत्वशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत विभिन्न भारतीय जातियों को ठंडा करने के लिए 'देवभाषा' नहीं है। साहित्यिक भावुकता तथा भाषावैज्ञानिक तथ्यात्मकता में परस्पर विरोध है।

उपर्युक्त दृष्टि एक ओर। पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि पं० किशोरीदास वाजपेयी बहुत बड़े हैं। मूलतः ऐतिहासिक - तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अधिकारी, साथ ही मौलिक उद्भावनाओं के भी धनी (देखिए—"मुँह पर छाई रहती हैं; इस लिए 'मूँछ'।"—पृ० १८८) बड़ी-बड़ी मूँछों वाले वाजपेयी जी के कृतित्व की जब डॉ० सुनीति-कुमार चाटुर्ज्या, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, और डॉ० रामविलास शर्मा सरीखे बड़े नाम प्रशंसा करते हैं, तो हिंदी भाषा के व्याकरण को उन की भारी देन को नकारने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उन के भारतीय भाषाविज्ञान के ज्ञान से हम सब ने बहुत-कुछ, नहीं बहुत-बहुत, सीखा है।



भारतीय भाषाविज्ञान : एक परिचय

डा० सुरेशकुमार,
रीडर, भाषाशास्त्र केन्द्रीय हिंदी संस्थान,
आगरा

भूमिका

भारतीय भाषाविज्ञान आचार्य किशोरीदास वाजपेयी की ऐसी कृति है जिसका महत्व ऐतिहासिक दृष्टि से होने के साथ साथ विषय-सामग्री की दृष्टि से भी है। भारतीय भाषाविज्ञान का क्षेत्र है, भारतीय भाषाओं का सर्वांगीण अध्ययन। इस शब्द के अंग्रेजी अनुवाद-पर्याय 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स' से भी यही अर्थ लिया जाता है।[1] परन्तु यह आवश्यक नहीं कि यह अध्ययन भारतीय परम्परा और पद्धति के अनुसार ही हो। 'भाषाविज्ञान' नाम से अभिहित शास्त्र आधुनिक युग की वस्तु है और हमारे देश में यह पश्चिम से आया है। यह शब्द अंग्रेजी 'लिंग्विस्टिक्स' का अनुवाद है। इसके साथ भाषाओं के अध्ययन की पाश्चात्य प्रणाली का योग है। हमारे देश में 'लिंग्विस्टिक्स' और उसके भारतीय भाषाओं में प्रचलित अनुवाद-पर्यायों से पाश्चात्य पद्धति पर भाषाओं के विश्लेषण और वर्गीकरण का अभिप्राय ही सामान्यतः गृहीत होता है। यह ठीक है कि आचार्य जी ने अपनी पुस्तक के शीर्षक में 'भाषाविज्ञान' का प्रयोग बहुत संभवतः अंग्रेजी शब्द 'फिलालजी' (न कि लिंग्विस्टिक्स') के अनुवाद के रूप में किया है, क्योंकि वह 'भाषाविज्ञान' शब्द से जो समझता हैं, उसे 'फिलालजी' के अर्थ के रूप में देर तक ग्रहण किया जाता रहा है। तथापि मुख्य बात यह है कि आचार्य जी भारतीय भाषाओं का विश्लेषण और वर्गीकरण भारतीय परम्परा और पद्धति पर करते हैं। उनका चिंतन भारतीय ज्ञान की परम्परा में हुआ है। यह बहुत उपयोगी होगा कि हम उनकी धारणाओं को आधुनिक भाषाविज्ञान के संदर्भ में समझें, जिससे भाषा वैज्ञानिक अध्ययन की वर्तमान परम्परा में जो पश्चिम से आकर हमारे देश में काफी प्रतिष्ठित हो गयी है, उनका स्थान निर्धारित कर सकें। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि हमारा मंतव्य आधुनिक भाषाविज्ञान के साथ आचार्य जी के विचारों की तुलना करना और जब मूल्यांकन करना नहीं, अपितु 'भाषाविज्ञान' से जिस ज्ञान राशि का ग्रहण वर्तमान युग में हो रहा है उसके संदर्भ को साधन बनाकर और इस प्रकार उसकी दृष्टि और शब्दावली का उपयोग करते हुए, आचार्य वाजपेयी के अवदान को स्पष्ट करना है। यह इसलिए आवश्यक प्रतीत होता है कि आज से लगभग बीस वर्ष पहले इस पुस्तक की रचना हुई थी, और तब से आधुनिक भाषाविज्ञान ने बहुत अधिक प्रगति कर ली है। यदि हम उसके संदर्भ का उपयोग करें तो लेखक के चिन्तन को अच्छी तरह समझ सकते हैं।

प्रतिपादित विषय की रूपरेखा

भारतीय भाषाविज्ञान (१९५९) में आठ अध्याय और एक परिशिष्ट है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इसकी भूमिका लिखी है। लेखक का प्रासंगिक निवेदन

के अन्तर्गत आचार्यजी ने 'अथातो भाषाविज्ञानम्' ('अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' की तर्ज पर) कहते हुए पुस्तक में प्रतिपादित अपने सैद्धान्तिक तथा विश्लेषण और वर्गीकरण सम्बन्धी विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत किया है। इन दस पृष्ठों से पाठक को उस विषय की झलक मिल जाएगी जिसका विस्तार से वर्णन आचार्य जी ने पुस्तक में किया है।

पहला अध्याय विषय-प्रवेश का है। भाषा का महत्व, विज्ञान और भाषाविज्ञान, भाषाविज्ञान का उदय, भारतीय भाषाविज्ञान, तुलनात्मक अध्ययन आदि सैद्धान्तिक बातों का संक्षिप्त वर्णन है। दूसरे अध्याय में शब्द निरुक्ति की प्रक्रिया है। तीसरे से पाँचवें अध्याय तक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास दिखाया गया है। छठें अध्याय में भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण है। सातवें अध्याय में पश्चिम भारतीय भाषाओं का संकेत है। आठवें अध्याय में भाषा और बोली के सम्बन्ध तथा अन्तर और समाज में भाषा की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। परिशिष्ट में शब्द, अर्थ और ध्वनि से सम्बन्धित लोप और आगम की प्रक्रियाओं का परिचय दिया गया है।

आचार्य जी 'व्याकरण' या 'शब्दानुशासन' और 'भाषाविज्ञान' में अन्तर करते हैं। आचार्य जी के अनुसार दोनों से शब्द का सम्यक् ज्ञान होता है परन्तु जहाँ व्याकरण से शब्दों की प्रयोगविधि मालूम होती है वहाँ भाषाविज्ञान से यह मालूम होता है कि शब्द कहाँ से आए, किस तरह भाषा बनी इत्यादि (निरुक्त यही है)। दूसरे शब्दों में, शब्दों की बनावट पर व्याकरण विचार करता है—आधुनिक विद्वान् इसी को वर्णनात्मक या समकालिक भाषाविज्ञान कहते हैं, और शब्दों के जन्म और विकास की कहानी भाषा-विज्ञान में सुनायी जाती है; आधुनिक विद्वान् इसी को ऐतिहासिक या कालक्रमिक भाषा-विज्ञान कहते हैं और काल की गति को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त तुलनात्मक विधि भी इसी के अन्तर्गत है। शब्दों के सम्यक् ज्ञान के बाद शब्द प्रयोग की कला की बात आती है। आचार्य जी के अनुसार, 'उस कला से वाक्य काव्य बन जाता है। काव्यकला का विवेचन निश्चय ही 'साहित्यशास्त्र' है। (निवेदन पृष्ठ–९)।

शब्द प्रयोग की कला की दृष्टि से काव्यकला के विवेचन को आधुनिक विद्वान् 'शैलीविज्ञान' कहते हैं और उसे वर्णनात्मक भाषाविज्ञान पर आधारित मानते हैं।

विषय का समीक्षात्मक परिचय

आचार्य जी ने इस पुस्तक में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की चर्चा की है और उसी के अन्तर्गत ऐसे विषयों को भी लिया है जिन्हें आधुनिक विद्वान् बोली विज्ञान और समाज भाषाशास्त्र के अन्तर्गत लेते हैं। इस प्रकारकी विषय-व्याप्ति अयु-क्तियुक्त नहीं। आचार्य जी ने मुख्य रूप से इन्हीं का प्रतिपादन किया है। साहित्य-शास्त्र (या शैलीविज्ञान) लगभग अछूते ही रहे हैं।

भारतीय भाषाओं में शब्दविकास

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का ही प्रमुख विषय है, शब्द निरुक्ति। शब्द निरुक्ति की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए आचार्य जी ने शब्द (शब्द रूप) के परिवर्तन पर विस्तार से और संक्षेप में अर्थ (शब्द-अर्थ) के परिवर्तन पर विचार किया है—इन दोनों को शब्द-विकास के दो पहलू माना जा सकता है। आधुनिक विद्वान् दोनों को क्रमशः रूप प्रक्रिया

(Morphology) और अर्थविज्ञान (Semantics) के ऐतिहासिक पथ्य के अन्तर्गत लेते हैं। वर्ण-परिवर्तन में चार बातें होती हैं;—आगम, विपर्यय, विकार, लोप। आचार्य जी ने इन रूप प्रक्रियात्मक प्रक्रमों (Morphological processes) का विस्तार से वर्णन किया है। इसी संबंध में विभक्ति-प्रत्ययों (रूपात्मक प्रत्ययों और परसर्गों), संख्यावाचक शब्दों के विकास की कथा भी बताई है जिनमें वर्ण-परिवर्तन की उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। इस संदर्भ में आचार्य जी के अपने कुछ विचारों का जायजा लेना उचित होगा।

आचार्य जी के अनुसार हिन्दी शब्दों की निरुक्ति में दीखनेवाले वर्ण-परिवर्तन में सबसे अधिक प्रभावित होने वाली ध्वनि 'ह' है (पृष्ठ ३६)। आगे वे कहते हैं 'हिन्दी में स्वरागम अधिक देखने में आता है, व्यंजनागम कम। एक विशेष बात यह है कि स्वरागम प्रायः मध्य में होता है (पृष्ठ ३६)।' इन्हें हिन्दी की ऐतिहासिक रूप प्रक्रिया का एक नियम कहा जा सकता है। इसी प्रकार अन्यत्र वे कहते हैं, 'हिन्दी में वर्गीय द्वितीय तथा चतुर्थ अक्षरों में वर्ण-विकार प्रायः नहीं देखा जाता' (पृष्ठ ६२)। हिन्दी के ऐतिहासिक अर्थविज्ञान के विषय में उनका एक निष्कर्ष है, 'हिन्दी ने अर्थ-विस्तार कई दृष्टियों से किया है, जिनमें असंदिग्धता संपादन मुख्य है' (पृष्ठ ९६)। अन्त में आचार्य जी ने हिन्दी शब्द - विकास (शब्द-रूप की निरुक्ति तथा शब्द-अर्थ के विस्तार का समन्वित रूप) की मुख्य प्रवृत्तियों को गिना दिया है—स्पष्टता, असंदिग्धता, सरलता, मधुरता, संक्षेप प्रियता (पृष्ठ–१०५)। इस सारे विवेचन में पाठक को निरुक्ति सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री मिलेगी। निश्चयात्मक व्युत्पत्ति देना कठिन काम है। संभव है कि आचार्य जी की अनेक व्युत्पत्तियाँ स्वीकार्य न हो सकें परन्तु एक विषय के रूप में उनको ग्रहण तो किया ही जा सकता है।

भारतीय आर्यभाषाओं का विकास

भारतीय आर्यभाषाओं के विकास का आचार्य जी ने विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। इस सम्बन्ध में आचार्य जी ने 'बोली' और 'भाषा' के सम्बन्ध और अन्तर पर विचार किया है। भारतीय आर्यभाषाओं के विकासक्रम में 'प्राकृत' से बोली का और संस्कृत से भाषा का अर्थ लिया जा सकता है। लेखक का यह कहना महत्वपूर्ण है कि संस्कृत तथा प्राकृत की विकास धाराएँ समानान्तर रूप से चलीं; संस्कृत से प्राकृत के विकास की कल्पना ठीक नहीं। तदनुसार आचार्य जी संस्कृत की तीन अवस्थाएँ मानते हैं (पृ० ११६)।

प्रथम संस्कृत—वेदभाषा

द्वितीय संस्कृत—ब्राह्मण ग्रंथ और उपनिषद् की भाषा

तृतीय संस्कृत—अश्वघोष, कालिदास आदि के काव्यों की भाषा (लौकिक संस्कृत)

प्राकृतों के विकास के विषय में लेखक के विचारों को संक्षेप में तालिका द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है —

प्रथम प्राकृत—वेदकालीन जनभाषा या बोली (कल्पित); उसी का कुछ परिष्कृत रूप वेद की भाषा है (परन्तु उसका संहिताओं से कोई अलग नमूना नहीं मिलता और वही प्रथम संस्कृत भी है)।

द्वितीय प्राकृत—जिसे पालि कहते हैं (पालि नकार बहुला है और असली प्राकृत है, शौरसेनी आदि कृत्रिम प्राकृत है, वे साहित्यिक कृतियों में प्रयुक्त हैं और णकार बहुला हैं)।

तृतीय प्राकृत—जिन्हें अपभ्रंश कहते हैं।

आचार्य जी के अनुसार इसी क्रम में आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को चौथी प्राकृत कहा जा सकता है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के वर्णन में आचार्य जी ने केवल हिन्दी और हिन्दी क्षेत्र की बोलियों पर विचार किया है। उनके अनुसार हिन्दी का मूल कौरवी (कुरु जनपद या मेरठ क्षेत्र और कुरु जांगल या हरियाणा की समन्वित भाषा) की एक शाखा खड़ी बोली या मेरठी है। वस्तुतः इसी के दो साहित्यिक रूप हैं —हिन्दी और उर्दू। आगे आचार्य जी ने (पृष्ठ—१४९) उर्दू और ब्रजभाषा के देशकाल होने की चर्चा की है। उर्दू सामाजिक-राजनीतिक कारणों से फैली (मुसलमान शासकों ने इसे फैलाया), और ब्रजभाषा सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों से (धार्मिक नेताओं ने इसे फैलाया)। उर्दू का यह व्यापक रूप हिन्दी के प्रसार में बहुत सहायक हुआ। भाषा के स्तर पर शब्दसमूह और लिपि का परिवर्तन कर उर्दू ही हिन्दी हो गयी (पृष्ठ—१४९–१५०)।

आगे चलकर आचार्य जी ने 'हिन्दी संघ' या 'हिन्दी कामनवेल्थ' की संकल्पना प्रस्तुत की है। हिन्दी संघ की सदस्य भाषाओं या बोलियों को निर्धारित करने के लिए आचार्य जी ने व्याकरण तथा समाजशास्त्र दोनों की समन्वित कसौटी अपनायी है। व्याकरण की दृष्टि से, "इस 'हिन्दी' से मिलती-जुलती और 'क' संबंध प्रत्यय और देवनागरी लिपि के सम्बन्ध से गुँथी भाषाएँ 'हिन्दी को बोलियाँ' कहलाती हैं" (पृष्ठ १६८)। समाजशास्त्रीय दृष्टि से व्यापक साहित्य, लोक शिक्षण (mass communication), और राजकाज का माध्यम (पृष्ठ—१७०) हिन्दी होने के कारण हिन्दी की बोलियों का क्षेत्र तथा बोलियाँ हिन्दी क्षेत्र तथा हिन्दी संघ के अन्तर्गत है। इसी संदर्भ में आचार्य जी ने व्याकरणिक आधार पर हिन्दी संघ की बोलियों का वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है। इसके लिए वह तिङन्त और कृदन्त भेदों की कसौटी को लेकर चलता है। मोटे तौर पर खड़ी बोली और बाँगरू में पुं प्रत्यय 'आ' है, राजस्थानी में 'ओ' और ब्रजभाषा में दोनों। आचार्य जी ब्रजभाषा को एक मिश्रित भाषा मानते हैं जो एक ओर खड़ी बोली से, दूसरी ओर राजस्थानी से और तीसरी ओर पांचाली से प्रभावित है (पृष्ठ–१८६)।

भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण

भारतीय भाषाओं के वर्गीकरण के प्रसंग में आचार्य जी ने लीक से कुछ हटकर विचार प्रकट किये हैं। उसके अनुसार भारतीय भाषाओं को तीन वर्गों में रखा जा सकता है—(१) मूल आर्यभाषा से विकसित भारतीय भाषाएँ, (२) बाहर से आकर

भारतीय प्रकृति को ग्रात्मसात् कर लेनेवाली भाषाएँ, (३) ग्रविकसित भाषाएँ जिन्हें ग्राचार्यजी ने 'वन्य भाषा' नाम भी दिया है।

विशेष बात यह है कि लेखक ग्राधुनिक भारतीय ग्रार्यभाषाग्रों की मूल ग्रार्य-भाषा (proto-Indo-Aryan) को भारतीय मूल की ही मानते हैं विदेश से ग्रागत नहीं, तथा द्रविड़ परिवार की भाषाग्रों को विदेश से ग्रागत तथा भारतीयता-प्राप्त भाषाएँ कहते हैं। उनका यह मत ग्राधुनिक पाश्चात्य भाषाविदों के मत के एकदम विपरीत है। ग्राचार्य जी की 'वन्य भाषाग्रों' में ग्रास्ट्रो-एशियाटिक तथा तिब्बती-बर्मी परिवार की भाषाग्रों की गणना है।

वर्गीकरण के लिए वे देश की राजधानी दिल्ली (या देहली) को ही भारतीय भाषाग्रों की देहली (देहरी) कहते हैं, ग्रौर प्रधान रूप से रूप प्रक्रियात्मक कोटियों ग्रौर गौण रूप से प्रक्रियात्मक विशेषताग्रों (व्यंजन द्वित्व, ग्रादि–पृष्ठ––२६२–६३) के ग्राधार पर भाषाग्रों के वर्ग बनाते हैं। संक्षेप में उत्तरी ग्रौर पश्चिमी धाराएँ कृदन्त प्रधान हैं, पूर्वी तिङन्त प्रधान, ग्रौर दक्षिणी में दोनों स्थितियाँ मिलती हैं––वे ग्रनु-भवप्रधान या मिश्रित हैं (पृ० २११)। इनका वर्गीकरण ग्राचार्य जी ने इस प्रकार किया है (निवेदन––१०९–१०)––

(१) पूर्वी वर्ग––बँगला, उड़िया, ग्रसमिया।

(२) पश्चिमी वर्ग––राजस्थानी, गुजराती, सिंधी।

(३) उत्तरी वर्ग––कौरवी (खड़ी बोली), बाँगरू (हरियानवी) पंजाबी।

(४) मध्यवर्ती वर्ग––ब्रजभाषा, पांचाली, ग्रवधी, भोजपुरी, झाही, मैथिली (यह वर्ग पूर्वाभिमुखी है)।

(५) दक्षिणी वर्ग––मालवी, छत्तीसगढ़ी, मराठी ग्रादि।

पाठक स्वयं देख सकते हैं कि यह वर्गीकरण डा० जी० ए० ग्रियर्सन, डा० सुनीति-कुमार चाटुर्ज्या, डा० धीरेन्द्र वर्मा ग्रादि विद्वानों के वर्गीकरण से किस रूप में ग्रौर कितना भिन्न है। कृदन्तप्रधान भाषाग्रों की विशेषता यह होती है कि उनके क्रियापद में लिंग (पुल्लिग, स्त्रीलिंग) का भेद दिखाई देता है, तिङन्तप्रधान भाषाग्रों के क्रियापद में यह भेद नहीं दीखता। ग्राचार्य जी ने इसी लक्ष्य को समझ वर्गीकरण का मूल ग्राधार माना है।

समाज भाषाशास्त्र तथा भारतीय भाषाएँ

ग्राचार्य जी ने भारतीय भाषाग्रों के सामाजिक पक्ष को लेकर भी ग्रपने विचार रखे हैं जिन्हें ग्राधुनिक विद्वान् समाज भाषाशास्त्र (Sociolinguistics) के ग्रन्तर्गत मानते हैं। भाषा ग्रौर बोली के सम्बन्ध में वे कहते हैं, "भाषा सबका समष्टि नाम ग्रौर उस भाषा के विशेष-विशेष रूप बोलियाँ" (पृष्ठ–३०२)। यहाँ 'विशेष' का ग्रर्थ 'स्थानीय' समझा जाए ग्रौर 'हिन्दी कामनवेल्थ' की संकल्पना के चश्मे से इसे देखा जाए तो यह कथन स्वीकार्य हो सकता है। दूसरा ग्रन्तर साहित्य का माना जा सकता है, परन्तु यह ग्राधार पुष्ट नहीं है। हाँ, 'साहित्य' से व्यापक रूप में ग्राधुनिक ज्ञान-विज्ञान,

समूह संचार के माध्यमों का साहित्य आदि लिया जाए तो यह कारण भी स्वीकार्य हो सकता है। आचार्य जी का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि एक भाषा से सम्बन्ध मानी जाने वाली बोलियाँ प्रत्यय-विभक्तियों की समानता के सम्बन्धसूत्र से परस्पर जुड़ी होती है तथा इसी आधार पर वे किसी एक भाषा की बोलियाँ कहलाती हैं।

साधारण जन भाषा या बोलचाल की भाषा और शिष्ट भाषा या मानक भाषा का अन्तर लेखक ने प्रयोगकृत माना है, अर्थात् दोनों के 'प्रयोग क्षेत्रों' (domains of language use) में अन्तर होता है। इसे आधुनिक समाज भाषाशास्त्री 'द्विशैलीयता' (diglossies) का नाम देते हैं। साहित्यिक भाषा की संकल्पना उक्त दोनों से कुछ अलग ही प्रकार की है और कहीं तो वह साधारण जनभाषा से अलग हो जाती है और कहीं उनके निकट आ जाती है। आचार्य जी ने साहित्यिक भाषा में संस्कृत शब्दों की बहुलता को उसका एक सामान्य लक्ष्य कहा है, जो एक सीमा तक ठीक माना जा सकता है।

हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध के विषय में आचार्य जी के विचार आधुनिक चिन्तन के बहुत निकट हैं। इस महादेश में प्रायः सदा ही अपनी भाषा के तीन रूप रहे हैं —'(१) अपनी मातृभाषा, (२) अंतरप्रदेशीय सामान्य भाषा, और (३) संस्कृत भाषा', "अपने प्रदेश का व्यवहार अपनी प्रादेशिक प्राकृत में, अंतरप्रदेशीय व्यवहार उस अन्तरप्रादेशीय प्राकृत में, और शिक्षा सर्वत्र संस्कृत में" (पृष्ठ—३०५)। यह तीन भाषा योजना एक ओर तो हमें भारतीय गणराज्य की भाषा शिक्षानीति के रूप में स्वीकृत त्रिभाषासूत्र की याद दिलाती है और दूसरी ओर नाइडा[2] नामक आधुनिक भाषाविद् की त्रिभाषा संरचना वाले समाज की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। इन सब में समानता को देखते हुए कहा जा सकता है कि स्थिति की पहचान ठीक हुई है। जिसे आचार्य जी ने शिक्षा के माध्यम की भाषा कहा है उसे नाइडा language of specialised information कहते हैं। जिसमें शिक्षा माध्यम की बात शामिल है। जिसे आचार्य जी ने अंतरप्रदेशीय व्यवहार की भाषा कहा है, उसे फिशमैन[3] नामक आधुनिक समाजशास्त्री language of wider communication कहता है। आचार्य जी ने अपनी त्रिभाषा-योजना में संस्कृत को जो स्थान दिया है वह उनके संस्कृत प्रेम का परिचायक है। वह स्थान वर्तमान काल में अंग्रेजी को प्राप्त है और हिन्दी क्षेत्रों में एक सीमा तक अंग्रेजी के साथ हिन्दी को भी। हाँ, लेखक की इस आशा से सहमत हुआ जा सकता है कि अंग्रेजी अपने वर्तमान स्थान पर अर्थात् language of specialisd information के रूप में देर तक न रहेगी, उसके साथ अन्य विदेशी भाषाएँ भी आ जाएँगी (पृष्ठ—३०७)।

प्रस्तुतीकरण तथा अन्य

आचार्य जी के हिन्दी भाषा सम्बन्धी विचारों की जानकारी के लिए उनके **हिन्दी शब्दानुशासन** के पूरक ग्रंथ के रूप में इस पुस्तक का अध्ययन करना उपयोगी होगा। पाणिनि की अष्टाध्यायी, वररुचि का प्राकृत प्रकाशन, हेमचन्द्र का शब्दानुशासन भारतीय भाषाविज्ञान की कहानी के आधार स्तंभ है।

आचार्यजी ने विषय का प्रस्तुतीकरण सहज, सुबोध, सरल, दृष्टान्त प्रधान, अनौपचारिक, घनिष्ठता सूचक और भावात्मक भाषा में किया है। एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे--

(१) "वर्ण-प्रत्यय में 'ह' की विशेषता नजर आती है। यह महाप्राण वर्ण उसी तरह सम्पूर्ण गो-व्रज खौंदता फिरता है जैसे कोई दुर्दम साँड बेरोक-टोक इधर-उधर घूमता हो। संभव है यह इधर से उधर खदेड़ दिया जाता हो। कारण, यह पीछे ही भागता नजर आता है।" (पृष्ठ--५०)।

(२) "भाषाविज्ञान के पचड़े में हम क्यों पड़ें ? क्या कारण है, इसके समझने में सिर खपाने का ? भाषा तो हम सब बोलते ही समझते हैं, तब यह महोद्योग किसलिए ? इन सब बातों का उत्तर 'विज्ञान' का सामान्य स्वरूप समझते समय मिल जाएगा।" (पृष्ठ—३)।

वस्तुतः सारी पुस्तक में उनके निजी व्यक्तित्व की गहरी छाप है। सामग्री की मौलिकता तथा संयोजन की नवीनता द्रष्टव्य है। यह संभव है कि हम उनसे सहमत न हों, परन्तु उनसे प्रभावित भी न हों, यह संभव नहीं !

टिप्पणियाँ

(१) लिंग्विस्टिक सोसाइटी आव इंडिया की ओर से डेक्कन कालेज, पुणे से प्रकाशित त्रैमासिक शोध पत्रिका का नाम ही 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स' है जिसमें विशेष रूप से भारतीय भाषाओं से संबंधित शोध-लेख छपते हैं।

(2) E. A. Nida, 1971, Communication Robes of Languages, in multilingual societies. Language Structure and Translation 1975 pp. 151-152, Stanford Univrersity Press. (A typical three language structure may be found in Kenya where people who speak various in group languages, e.g. Lugaroli....and find it highly desirable to learn Swahili if they wish to have much outside contact. At the same time, if such persons want to obtain higher education or to participate as leaders in national life, English is indispensable.

In a typical three-language structure a so-called "world language", e.g. English, French, Spanish, or P tends to be the language of specialized information."

(3) T. A. Fishman, 1971, National Languages and Languages of wider communication. Language. Use and Social Change, ed. by W. H. Whitely. Oxford University Press.

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी और हिन्दी वर्तनी

डा० हरवंशलाल शर्मा,
निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, भारत सरकार,
नई दिल्ली

हिंदी के निकास- विकास, साज-सँवार और रूप-निखार की दृष्टि से जिन भाषा-विदों ने मौलिक चिंतन, अनवरत मनन तथा सूक्ष्म विवेचन किया है उनमें आचार्य पंडित किशोरीदास जी वाजपेयी का नाम अग्रगण्य है। हिंदी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में यह नाम इसलिए भी अधिक उजागर हुआ है क्योंकि उन्होंने संस्कृत के अपने गहन पांडित्य के बावजूद हिंदी की स्वतंत्र प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण किया है और अपने निष्कर्षों को तथा अपनी मान्यताओं को निर्भीक होकर 'हिंदी शब्दानुशासन' और 'हिंदी की वर्तनी तथा शब्द-विश्लेषण' जैसे अनेक ग्रंथों में प्रतिफलित किया है।

आचार्य जी ने हिंदी व्याकरण संबंधी कथ्यों को निर्मूल, निराधार तथा अनपेक्षित बातों से हटकर जिस शैली में तर्कपूर्ण तथा सप्रमाण तथ्यों से पुष्ट किया है, वह अनुकरणीय है। हिंदी के व्याकरणिक तथ्यों का नियमन हिंदी की प्रकृति के अनुसार ही किया है; संस्कृत, प्राकृत या अंग्रेजी के अनुसार नहीं। दूसरे शब्दों में आपने हिन्दी व्याकरण को संस्कृत या अंग्रेजी की अनुगामिनी न बनाकर उसे स्वतंत्र रूप से आगे बढ़ाया है।

पंडित जी ने व्याकरण के अतिरिक्त हिन्दी की वर्तनी का भी सम्यक् रूप से विवेचन किया है और इस विषय में हिन्दी जगत् का उपयुक्त मार्गदर्शन किया है। अपने इस प्रयास द्वारा आपने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की ही तरह हिंदी वर्तनी की एकरूपता के लिए तथा उसके परिमार्जन, संस्कार तथा परिष्कार में बड़ा भारी योग प्रदान किया है।

वर्तनी के क्षेत्र में आपने हिंदी की स्वाभाविक प्रकृति को ध्यान में रखते हुए ही व्यवस्थाएँ दी हैं। उदाहरण के लिए संज्ञा शब्दों में मजिष्ट्रेट––मजिस्ट्रेट; मिष्टर––मिस्टर; विश्वमित्र-विश्वामित्र, दीननाथ––दीनानाथ तथा विशेषण शब्दों में अंतराष्ट्रीय (अंतर-राष्ट्रीय)––अंतर्राष्ट्रीय आदि प्रचलित विविध रूपों में से परवर्ती रूपों को ही ग्राह्य माना है, क्योंकि ये हिंदी में इतने रच-पच गए हैं कि इनके स्थान पर तत्सम रूपों को प्रतिष्ठित करना उचित प्रतीत नहीं होता। आचार्य जी की यह व्यवस्था ठीक है। परंतु आज हिंदी में अँग्रेजी आदि अनेक विदेशी भाषाओं के हजारों शब्द प्रचलित हैं। उनके लिए भी वर्तनी संबंधी नियम स्थिर करने होंगे। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य जी ने डाक्टर आदि में अर्धविवृत ओ (ॅ) को स्वीकार नहीं किया है। मेरी मान्यता है कि इस लिपिचिह्न को भी स्वीकार कर लिया जाना चाहिए, क्योंकि हिंदी में अँग्रेजी से गृहीत हॉल (बड़ा कमरा) और फारसी से गृहीत हाल (कुशल-मंगल) में स्वनिमिक स्तर पर स्पष्ट भेद है ही। इसी प्रकार फारसी-अरबीमूलक शब्दों में नुक्ते के

प्रयोग का आचार्य जी ने समर्थन नहीं किया है। यहाँ तक तो ठीक है कि इस नुक्ते का अनावश्यक प्रयोग न किया जाय, किन्तु अर्थ-भेद प्रकट करने वाले शब्दों में नुक्ते का प्रयोग किया जाए तो भ्रम नहीं होगा। जैसे राज--राज़ (भेद), नाज (अनाज)--नाज़ (गौरव), जमाना--ज़माना (समय) आदि।

श्रुतिमूलक 'य' का प्रयोग हिंदी में अराजकता का कारण है। इस दिशा में आचार्य जी ने जाए-जाये, नई-नयी और चाहिए-चाहिये में से पूर्ववर्ती रूपों का तर्कमूलक समर्थन किया है। भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने भी हिंदी वर्तनी के मानकीकरण के संदर्भ में इसी व्यवस्था को माना है।

तत्त्व-तत्व, कर्त्तव्य-कर्तव्य में से 'तत्त्व' में द्वित्व 'त्' के प्रयोग को सही मानते हुए भी उन्होंने तत्व के प्रयोग को तद्भव रूप मानकर चलने देने की बात कही है। आचार्य जी यदि यहाँ एक निष्ठा से 'तत्त्व' का ही समर्थन करते तो शब्द-विश्लेषण या पदविग्रह की दृष्टि से ठीक रहता। हाँ 'कर्त्तव्य' में द्वित्व 'त्' का प्रयोग रेफ के कारण है। अतः इसे हटाया जा सकता है।

हिन्दी में अनुस्वार तथा अनुनासिक के प्रयोग के बारे में आपने तात्विक अंतर स्पष्ट किया है। भारत सरकार का शिक्षा मंत्रालय भी इसी नीति का अनुसरण कर रहा है।

हिंदी के समस्त क्रियापदों में योजक-चिह्न (हाइफन) के प्रयोग के बारे में उनके विचार स्पष्ट हैं। शिक्षा मंत्रालय ने भी पूर्वकालिक प्रत्यय 'कर' को क्रिया से मिलाकर लिखने का निर्देश दिया है, जैसे--पढ़कर, जाकर आदि।

हिंदी भाषा की प्रकृति विश्लेषणात्मक है। आचार्य जी ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए संसद-सदस्य को ग्राह्य माना है, संसत्सदस्य को नहीं। हिन्दी में सरल संधि तो स्वीकार्य है, कठिन संधि नहीं। वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा-मंत्रालय ने भी शब्दावली निर्माण में कठिन संधियों से बचने का प्रयास किया है।

ऊपर मात्र कुछ नमूने ही दिए गए हैं। कुल मिलाकर आचार्य जी ने हिन्दी वर्तनी के बारे में वैज्ञानिक विवेचन करके जो दिशा-निर्देश किया है, वह अत्यन्त सराहनीय है। शिक्षा मंत्रालय ने इस विषय को अपनी हिंदी वर्तनी का मानकीकरण पुस्तिका में और आगे बढ़ाया है। पिछले दशक में हिन्दी में भाषागत विकास के साथ-साथ वर्तनी-संबंधी कुछ और समस्याएँ सामने आई हैं। ऐसी स्थिति में वर्तनी के क्षेत्र में अभी बहुत कुछ करना शेष है। अतः यदि आचार्य जी के पदचिह्नों पर चलते हुए हिन्दी के भाषाविज्ञानी तथा विविध हिंदी सेवी संस्थाएँ और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें मिलकर इस सूत्र को आगे बढ़ाएँ तो हिन्दी की वर्तनी में एकरूपता का क्षेत्र बढ़ता जाएगा और इस प्रकार लेखन संबंधी अराजकता दूर हो सकेगी।

हिन्दी वर्तनी और आचार्य वाजपेयी

डा० नित्यानन्द शर्मा
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग—जोधपुर विश्वविद्यालय

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी को हिन्दी भाषा का यदि पाणिनी कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। हिन्दी का स्वरूप-विवेचन, हिन्दी भाषा-विज्ञान, हिन्दी की वर्तनी, आदि क्षेत्रों में उनका योगदान वस्तुतः श्लाघनीय अथच महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत-भाषा के प्रकाण्ड पंडित होते हुए भी आचार्य जी ने हिन्दी को हिन्दी की प्रकृति के अनुसार ही चलाने का समर्थन किया है। आज हिन्दी-वैयाकरणों में उनका स्थान अप्रतिम है।

लगभग ३० वर्ष पूर्व जब हिन्दी राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई; तथा जब उसका सम्पर्क देश के विभिन्न प्रान्तों से हुआ, तब हिन्दी वर्तनी की एकरूपता का प्रश्न भी विद्वानों के समक्ष उपस्थित हुआ। अब तक हिन्दी वर्तनी के क्षेत्र में वर्तनी की एकरूपता पर कोई विचार नहीं किया गया था, एक ही शब्द के कई वैकल्पिक प्रयोग प्रचलित थे और कहीं-कहीं आज भी प्रचलित हैं। हिन्दी वर्तनी की एकरूपता पर कई विश्वविद्यालयों में संगोष्ठियाँ भी आयोजित की गईं। उनमें प्रायः आचार्य जी को भी निमंत्रित किया जाता था। आचार्य वाजपेयी के अकाट्य तर्कों के सम्मुख विद्वानों को नतमस्तक होना पड़ता था। व्याकरण के क्षेत्र में उनकी प्रखर प्रतिभा का लोहा आज भी सभी मानते हैं। इन गोष्ठियों में भी हिन्दी वर्तनी की एकरूपता पर सम्यक् विचार-विमर्श हुआ तथा अन्यत्र भी इसकी चर्चा हुई। आचार्य वाजपेयी ने वर्तनी के क्षेत्र में कई शब्दों की एकरूपता की ओर हिन्दी जगत का ध्यान आकृष्ट किया। इस दृष्टि से उन्हें 'हिन्दी की वर्तनी तथा शब्द-विश्लेषण' पुस्तक लिखने की भी महती आवश्यकता प्रतीत हुई। यह पुस्तक हिन्दी वर्तनी की एकरूपता की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। आचार्य जी ने हिन्दी भाषा की प्रकृति व्याकरण और भाषा-विज्ञान को ध्यान में रखकर, तथा प्रबल और पुष्ट तर्क देकर कई शब्दों के स्वरूप को निश्चित किया। 'हिन्दी-शब्द मीमांसा' 'हिन्दी-शब्दानुशासन' आदि पुस्तकों में भी इस दिशा में विचार किया गया है।

हिन्दी में वर्तनी की दृष्टि से कई शब्दों पर विचार करने की आवश्यकता थी। हिन्दी जब अँग्रेजी भाषा के सम्पर्क में आई तब अंग्रेजी शब्दों को हिन्दी में लिखने की बात सामने आई। अंग्रेजी उच्चारण के अनुसार यदि उन शब्दों को लिखा जाए, तब यह कठिनाई उत्पन्न होगी कि हर एक आदमी अँग्रेजी भाषा से अभिज्ञ नहीं है। जब तक वह अँग्रेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त न कर ले, तब तक वह इन शब्दों को शुद्ध रूप से हिन्दी में नहीं लिख सकता। दूसरे हिन्दी में उन चिह्नों का भी चलन नहीं है। इन शब्दों को इसलिए हिन्दी की प्रकृति को ध्यान में रखकर ही लिखना उचित है। अँग्रेजी के कतिपय शब्द इस प्रकार हैं :—

डॉक्टर, कॉलिज, स्टेशन आदि। इसमें वाजपेयी जी की मान्यता है इन शब्दों पर उल्टा टोप नहीं लगाना चाहिए। इससे भ्रम पैदा होता है और सभी लोग अँग्रेजी न पढ़ने के कारण इनके वास्तविक उच्चारण से अनभिज्ञ हैं। इसलिए ऐसे शब्दों का हिन्दीकरण करके, उन्हें हिन्दी की प्रकृति के अनुसार डाक्टर, कालिज की भाँति लिखना चाहिए। मेरे विचार से उक्त तर्क में मतभेद की गुंजाइश नहीं है। प्रत्येक भाषा जब दूसरी भाषा के शब्द ग्रहण करती है, तब उन शब्दों को अपनी प्रकृति के अनुरूप बना लेती है। हिन्दी को भी इन अँग्रेजी शब्दों को अपनी प्रकृति के रूप बना लेना चाहिए तथा उन्हें उसी रूप में सर्वत्र लिखना भी चाहिए।

अब रही बात स्टेशन अथवा ष्टेशन, मजिष्ट्रेट, मिष्टर आदि लिखने की। पहले-पहले कतिपय संस्कृतप्रेमी हिन्दी-विद्वानों ने हिन्दी को भी संस्कृत-व्याकरण के ढर्रे पर चलाने का प्रयत्न किया और इसका मोह आज भी कहीं-कहीं दिखाई पड़ता है। पर हिन्दी ने इस संस्कृत प्रेम को भी कभी स्वीकार नहीं किया। आचार्य जी का दृढ़ मत है कि 'हिन्दी बहुत सरल, शुद्ध तथा पूर्ण वैज्ञानिक भाषा है।' इसलिए इसके प्रयोग में भी इस बात का ध्यान सदैव रखना चाहिए। हिन्दी ने स्टेशन के स्थान पर ष्टेशन और मजिस्ट्रेट के स्थान पर मजिष्ट्रेट रूप को स्वीकार नहीं किया। इसलिए आज इन शब्दों के लिखने में कहीं भी विकल्प नहीं है। अब सभी हिन्दी-लेखक इन्हें शुद्ध रूप में लिख रहे हैं।

हिन्दी का सम्पर्क अरबी-फारसी भाषाओं से भी रहा है। मध्यकालीन हिन्दी कवियों ने अपने काव्यों में अनेक अरबी-फारसी शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग किया है। अरबी-फारसी के कई शब्दों को यदि अरबी-फारसी के अनुसार लिखा जाए तो वहाँ नीचे बिन्दी लगानी पड़ेगी। जैसे ज़रूरत, ज़रा, आदि। इनके प्रयोग के विषय में भी आचार्य वाजपेयी का स्पष्ट मत है कि इनकी बिन्दी हटाकर ही हिन्दी में इन्हें जरूरत, जरा रूप में लिखना उचित है। यहाँ पर भी उपर्युक्त तर्क कार्य कर रहा है। तुलसी आदि महाकवियों ने भी 'ग़रीब' को 'गरीब' रूप में लिखा है। अतः इन शब्दों के हिन्दी प्रयोग में अब किसी ननुनच की आवश्यकता नहीं है।

दूसरी भाषा के अन्य शब्दों को गृहीत करने पर भी उन्हें हिन्दी व्याकरण के अनुसार प्रयुक्त करना चाहिए। आचार्य जी का इस सम्बन्ध में यह तर्क है कि अँग्रेजी भाषा भी जब हिन्दी शब्दों को ग्रहण करती है तब उन्हें अपने व्याकरण के अनुसार बना लेती है। यथा यदि अँग्रेजी में हिन्दी की 'धोती' शब्द का प्रयोग होगा, तो बहुवचन में उसे 'धोतियाँ, या धोतियों' न लिखकर 'धोतीज़' लिखा जाएगा; इसी प्रकार हिन्दी में भी 'स्कूल्स', 'क्वार्टर्स' आदि न लिखकर स्कूलों, क्वाटरों आदि लिखना चाहिए। इसी प्रकार शायर का बहुवचन शोरा न लिखकर 'शायरों' का प्रयोग करना चाहिए। आचार्य वाजपेयी के उक्त तर्क को स्वीकार करने पर फिर किसी भ्रांति का प्रश्न नहीं रह जाता। अन्य भाषाओं के शब्दों को हिन्दी में ग्रहण करते समय उक्त तथ्य को सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

हिन्दी की कई क्रियाओं के द्विविध रूप आज भी प्रचलित हैं। इनमें कौन सा रूप अशुद्ध है और कौन सा शुद्ध, इस विषय में आज भी विद्वानों में भ्रान्ति और मतभेद है। आचार्य वाजपेयी ने इस दिशा में भी पुष्ट प्रमाणों और प्रबल तर्कों के आधार पर सिद्ध करके अपना निर्णय दिया कि जाए, खाए, सोए आदि रूप ही शुद्ध हैं जाय, खाय आदि नहीं। इसी प्रकार इनका भविष्यत् काल का रूप जाएगा, खाएगा, सोएगा आदि ही शुद्ध है। लाई, लायी, गई, गयी आदि रूपों में वाजपेयी जी ने प्रथम रूप को ही स्वीकारा है अन्तिम रूप को उन्होंने अपने तर्कों से अशुद्ध सिद्ध किया है।

हिन्दी में अभी तक प्रायः मूरखताई, सुन्दरताई आदि प्रयोगों को अशुद्ध माना जाता था और इन्हें 'च्युत संस्कृति दोष' के अन्तर्गत उदाहरण रूप में लिया जाता था; पर आचार्य वाजपेयी ने सिद्ध करके दिखा दिया कि इनमें 'ता' प्रत्यय के स्थान पर 'ताई' प्रत्यय लगा है जिसका बहुवचन 'तानि' है। इस प्रकार उक्त प्रयोग पूर्ण शुद्ध हैं। हिन्दी की एक बहुप्रचलित अशुद्धि को शुद्ध करने का श्रेय वाजपेयी जी को है।

हिन्दी के विद्वान् अभी तक 'उपर्युक्त' को ही शुद्ध मानते थे उपरोक्त को अशुद्ध, पर वाजपेयी जी ने अपने पुष्ट प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दी में ऐसे प्रयोग विहित हैं तथा उन्हें अशुद्ध नहीं मानना चाहिए। यदि 'उपरोक्त' को अशुद्ध माना जाए तो 'उपरान्त' को क्यों नहीं? हिन्दी में इसी प्रकार आवागमन, सराहनीय आदि प्रयोग धड़ल्ले से चल रहे हैं। यदि ये शुद्ध हैं तो फिर उपरोक्त अशुद्ध क्यों है? आचार्य जी के अनुसार ऐसे प्रयोग सर्वथा शुद्ध हैं।

आचार्य जी ने हिन्दी में प्रचलित कई शब्दों को अशुद्ध सिद्ध किया है। यथा हिन्दी में छह रूप शुद्ध है छः अशुद्ध। आचार्य वाजपेयी के अनुसार हिन्दी में 'राजनैतिक' शब्द ग्रहण करना चाहिए, राजनीतिक नहीं।

कुछ तद्धितीय शब्दों पर भी विचार करते समय आचार्य वाजपेयी ने हिन्दी की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए निर्णय दिया कि 'दुपहर, इकतारा, उपरला, इकबारगी' आदि रूप शुद्ध हैं; दोपहर, एकतारा, ऊपरला, एकबारगी आदि नहीं।

संस्कृत के 'एकत्र' और 'अनेक' शब्दों पर भी विचार करते समय आचार्य वाजपेयी ने 'एकत्रित' और 'अनेकों' को भी हिन्दी में शुद्ध बताया है। यदि इन्हें शुद्ध मान लिया तो फिर हिन्दी में कोई शब्द भी अशुद्ध न रहेगा और इस प्रकार बड़ी भ्रान्ति फैल जाएगी। ऐसे प्रयोगों में संस्कृत तत्सम शब्दों की दृष्टि से ही विचार करना उचित है।

संक्षेपतः आचार्य वाजपेयी ने हिन्दी वर्तनी की एकरूपता की दृष्टि से अत्यधिक सराहनीय, महत्त्वपूर्ण अथच उपयोगी कार्य करके हिन्दी जनता का बड़ा उपकार किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। उन्होंने हिन्दी की वर्तनी और वाक्य विन्यास पद्धति, हिन्दी की कुछ क्रियाओं, संज्ञाओं, तद्धितीय शब्दों, अनुनासिक वर्ण और अनुस्वार, कुछ अव्ययों की वर्तनी, समास में वर्तनी की स्थिति तथा अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करने की विधि पर अपने प्रबल और पुष्ट तर्क देकर अपना मत निश्चित किया है। उनके तर्क अकाट्य और सटीक हैं। आज जब हिन्दी में वर्तनी की एकरूपता का प्रश्न सामने मुंह बाए खड़ा

हैं; तब हमें आचार्य वाजपेयी के तर्कों एवं निर्णयों को ध्यानपूर्वक, गंभीरता के साथ अध्ययन करना चाहिए, तथा हिन्दी में वर्तनी की एकरूपता के लिए भरसक प्रयत्न करना चाहिए। यदि कहीं मतभेद भी हो, तो उसे विश्वविद्यालय स्तर पर अथवा अन्य संस्थाओं के स्तर पर सुलझा लेना चाहिए और उस सर्वसम्मत निर्णय का हिन्दी जगत में प्रचार-प्रसार करना चाहिए जिससे हिन्दी वर्तनी के क्षेत्र में अराजकता उत्पन्न न हो अन्यथा वर्तनी की अनेकरूपता से अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न होंगी और इससे राष्ट्रभाषा हिन्दी का अहित होगा। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी जी के इस दिशा में किए गए प्रयत्न को हमें स्वीकारना ही होगा। आचार्य जी का स्पष्ट मत है कि :—

एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः
सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च
कामधुग् भवति।



'मेरे कुछ मौलिक विचार' का साहित्यिक पक्ष

डा० वचनदेव कुमार एम. ए. (हिंदी-संस्कृत) पी–एच. डी.
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राँची विश्वविद्यालय

जबकि समकालीन साहित्य-सर्जना व्याकरण के नियमन से यथाशक्य निर्बन्ध रहने की दिशा में सचेष्ट है, आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने हिन्दी भाषा के व्याकरण-संस्कारित परिनिष्ठित रूप को प्रतिष्ठा देने में अपना जीवन होम किया है। भाषानुशासन के क्षेत्र में उनका योगदान अप्रतिम है। नाना साहित्यिक दलबंदियों से सर्वथा विलग रहकर पाणिनिवत् जीते हुए आचार्य वाजपेयी ने व्याकरण की नियमबद्धता और हिन्दी की शुद्धि की दिशा में विशिष्ट पहचान बनाई है। भाषागत संस्कारों की स्थापना की दिशा में ही उनकी मौलिकता नहीं प्रादुर्भूत हुई है, अपितु उनके चिंतन की सजग-सतर्क मौलिकता का परिज्ञान 'मेरे कुछ मौलिक विचार' में संकलित निबन्धों से भी मिलता है। ये विचार न केवल रचनात्मक स्तर पर मौलिक हैं, अपितु इनके द्वारा चिंतन अनुसंधान की नाना सरणियों के द्वार भी खुलते हैं।

प्रस्तुत संकलन में आकलित मौलिक विचारों के सजग उद्भावक के रूप में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने चिंतन और मनन, भाषा और परिभाषा, गवेषणा और जिज्ञासा की विविधमुखी प्रस्तुति की है। इन मौलिक विचारों में साहित्य, संस्कृति और धर्म की कई समस्याओं और स्थितियों का उपस्थापन उपलब्ध है। रामचरित के तीन प्रतिनिधि गायकों की विवेचना में जिस सुलझी हुई दृष्टि का परिचय आचार्य वाजपेयी ने दिया है, उसी सुव्यवस्थित भंगिमा का परिदर्शन काव्यशास्त्र के गूढ़ विश्लेषण में भी उपलब्ध है। यही हाल धर्म और सम्प्रदाय, उत्सर्ग और अपवाद, आर्य और द्रविड़ की व्याख्या का भी है। हर प्रसंग में विषय की गहराई में डूब कर चिंतन के मौलिक मोतियों की उद्भावना करनेवाले परिश्रमी विचारक का विचारात्मक औदात्य दृष्टिगत होता है। ये विचार-सेतु औरों को भी भ्रांति-सागर पार उतरने में सहायक सिद्ध होते हैं और स्वयं उद्भावक की निपट मौलिकता को तो सुस्थापित करते ही हैं।

'रामचरित के तीन गायक' तथा 'काव्य और काव्यशास्त्र' प्रस्तुत संकलन के ठेठ साहित्यिक निबंध हैं। इनका विश्लेषण न केवल मौलिकता की दृष्टि से अपरिहार्य है अपितु समीक्षा-बोध के निकष पर भी। व्याकरण और शास्त्र के पंडित के रूप में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के आचार्यत्व से सुपरिचित लोगों के लिए इस निष्कर्ष तक पहुँचना बड़ा सुगम है कि अपने साहित्यिक मौलिक विचारों में वाजपेयी जी ने समालोचना, अनुसंधान और शास्त्रीय विश्लेषण की मूलभूत विशिष्टताओं का स्पर्श किया है। जैसे, रामचरित के तीन प्रतिनिधि गायकों से सम्बद्ध निबन्ध को ही लें। रामकथा की सुदीर्घ परम्परा के बीज वैदिक साहित्य में खोजने का पारम्परिक प्रयास वाजपेयी जी ने नहीं किया।

नाना पुराणेतिहास ग्रंथों, काव्यों, नाटकों आदि में प्रसृत रामकथा के आदि गायक के रूप में जिस वाल्मीकि की परिकल्पना उन्होंने की है, वह आदिकाव्य का रचयिता नहीं अपितु 'पौलस्त्यवध' नाटक का प्रणेता है। उनकी स्थापना है—

"वाल्मीकि के 'पौलस्त्यवध' नाटक को 'रामायण' नाम मिला और फिर 'रामायण' (रामचरित) को लेकर जब किसी महाकवि ने एक महाकाव्य की रचना की तो उसे भी 'रामायण' नाम मिला और वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्ध हो गया।" (पृ० २)

'वाल्मीकीय रामायण' को किसी अज्ञात महाकवि द्वारा प्रणीत स्वीकारने में साहित्येतिहासकारों का शंकालु मानस कई तर्क-कुतर्क अंकुरित कर सकता है, लेकिन यह एक मौलिक उद्भावना अवश्य है। शोधवेत्ताओं के सामने यह एक खुली चुनौती है कि वे मूल 'पौलस्त्यवध' का अनुसंधान करें, 'अज्ञात महाकवि' को वाल्मीकि प्रमाणित करें और राम-कथा के इन दोनों प्रारंभिक अनुगायनों का संश्लिष्ट विश्लेषण करें। गोस्वामी तुलसीदास ने रामकथा के लोकमंगलकारी उपस्थापन में मर्यादापुरुषोत्तम राम की चरित्र-सर्जना जिन सात कांडों में की है, उसकी सात्विकता बाधित करने के प्रयासों की कड़ी भर्त्सना आचार्य वाजपेयी ने की है। 'कल्पभेद हरि चरित सुहाए, भाँति अनेक मुनीसन गाए'—को उन्होंने रामचरित की कुंजी के रूप में ग्रहण किया है। 'कल्प-भेद' का अर्थ केवल काल-भेद नहीं है, अपितु वाजपेयी जी ने इसका मतलब कल्पना-भेद सुझाया है। इस मौलिक अर्थ के सहारे हम न केवल तुलसी विरचित 'रामचरित मानस' की भव्यता तक पहुँच सकते हैं, अपितु विविध काल-स्थान खंडों में रचित सभी कल्पना-प्रसूत कृतियों को स्पष्टतः मूल्यांकित कर सकते हैं। निश्चय ही, रामचरित के तीन गायकों के अपने संक्षिप्त विवेचन में इन मौलिक विचारों के उद्भावक ने समालोचना एवं शोध के नूतन गवाक्ष खोले हैं। सम्भव है, इन विचारों के ताने-बाने पर रामकथा की परम्परा और स्रोत से सम्बद्ध गवेषणा का आकाश भ्रांति एवं कुकल्पनाओं से रहित हो जाय।

साहित्यिक सौष्ठव की दृष्टि से 'मेरे कुछ मौलिक विचार' का दूसरा निबन्ध 'काव्य और काव्यशास्त्र' भी ध्यातव्य है। इस निबन्ध में काव्यशास्त्रीय चिन्तन की अनेक समस्याओं का मौलिक निर्वचन उपलब्ध है। आचार्य वाजपेयी ने न केवल काव्य-शरीर और काव्यात्मा का विश्लेषण किया है, अपितु काव्य की एक इतिहासपुष्ट मौलिक परिभाषा भी दी है। वे मानते हैं कि भाषा की पूर्णता से वाक्य का गठन हुआ है और काव्य का उद्भव वाक्य को सजाने-सँवारने की प्रक्रिया में हुआ। वाजपेयी जी शृंगार, हास्य आदि मनोभावों को काव्य-रस समझनेवाले गोताखोरों में से नहीं हैं, वे रस को गूँगे के गुड़ की तरह अव्याख्येय समझते हैं—

"शब्द तथा अर्थ में सौन्दर्य (चमत्कार) लाने की विधि बताई जा सकती है और मनोभावों का अभिव्यंजन करने के लिए स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा उद्दीपन आदि का रूप समझा जा सकता है, जिसके 'सम्मेलन' में वह रस मिलता है। परन्तु उस रस का रूप समझना व्यर्थ है।" (पृ० २९)

चटनी बनाने की विधि बतलाई जा सकती है, चटनी में उपलब्ध रस की व्याख्या असंभव है। यही स्थिति काव्य में रस की होती है। इसी तरह अर्थव्यंजना और शब्द

चयन की सतर्कता को भी नई दृष्टि से आचार्य वाजपेयी ने देखा है। कवि की महनीयता को कलुषित करने वाली च्युतियों के अन्वेषण की दिशा में उनकी दृष्टि एकदम मौलिक है।

धर्म और संस्कृति से सम्बद्ध शेष निबंधों में भी यथावसर साहित्यिक कौंध की मौलिकता का परिचय वाजपेयी जी ने दिया है। उनके इन मौलिक विचारों की अन्यतम विशेषता महज चिंतन की मौलिकता नहीं, अपितु साहित्य और व्यवहार के धरातल पर विचारों की पुष्टि में भी अन्तर्निहित है। नए-पुराने रचनात्मक संदर्भों और प्रचलित आचरणों के सहारे अपने विचारों की मौलिकता को विद्वान् उद्भावक ने अभिप्रमाणित किया है। इस नाते प्रस्तुत विचार सहसा आकर्षित करते हैं, चौंकाते हैं और कभी-कभी हमारी बौद्धिक जड़ता को कुरेदते भी हैं। यह आवश्यक नहीं कि वाजपेयी जी के मौलिक विचारों की उद्भावना से सभी सहमत हो जाएँ, लेकिन ऐसे गैरसहमत चिंतकों को भी इसी बहाने विचारणा के नए बिन्दु अवश्य मिल जाते हैं।



हिन्दी शब्द-मीमांसा : एक भाषाशास्त्रीय आकलन

डॉ० भालचन्द्र राव तेलंग,
अध्यक्ष, पद्माकर अनुसंधानशाला, बेगमपुरा,
औरंगाबाद

हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने 'अच्छी हिन्दी', 'हिन्दी व्याकरण' के बाद 'हिन्दी शब्द-मीमांसा' की रचना करके 'ऐतिहासिक भाषा विज्ञान' की पुनर्निर्माण शाखा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए वे संस्कृतज्ञता का परिचय तो देते हैं, पर संस्कृतीकरण के पक्ष का समर्थन नहीं करते। वे हिन्दी की प्रकृति और प्रवृत्ति को जानते हैं, और हिन्दी के अपने शब्दों के प्रयोगों के हामी हैं। वे हिन्दी में शुद्ध, सार्थक, सशक्त, शालीनतायुक्त शब्दों का प्रयोग चाहते हैं और हिन्दी को प्रवाहप्राप्त तथा प्रवाहयुक्त बनाये रखना चाहते हैं। हिंदी शब्द मीमांसा द्वारा वे वर्तनीगत, स्वरूपगत शुद्ध परिष्कार में हिन्दी के विवेक को आधार बनाते हैं और हिन्दी के वर्तमान प्रचलित अशुद्ध प्रयोगों पर हिन्दी का अनुशासन चाहते हैं। सम्प्रति, हिन्दी को राष्ट्रभाषा एवं सम्पर्क भाषा के पद पर आसीन देख वे अपनी ज़िम्मेदारी समझते हैं और विरूपता-द्विरूपता के स्थान में एकरूपता तथा विलोम-विकल्प के स्थान में एकनिष्ठता चाहते हैं और चाहते हैं विशेषीकृत संतुलित रूप में हिन्दी भाषा के सही संरचनात्मक स्वरूप की प्रतिष्ठा।

ध्वनीय व्यवस्था और शैली (Phono-stylistics) हिन्दी शब्दों के ध्वनि चयन में आचार्य वाजपेयी मुखरता sonority के कारण व्यंजन-अनुरूपता (Consonance) से स्वर-अनुरूपता (assonance) को प्रधानता देते हैं। वे लिखते हैं 'हिन्दी 'ऋकारान्त' प्रातिपदिकता नहीं चाहती।' 'नेतृ-निर्वाचन' से 'नेतानिर्वाचन', 'पितृवचन' से 'पितावचन' अधिक उपयुक्त है। तद्भव शब्दों के पुल्लिंग रूपों को खड़ी बोली की खड़ी पाई (।) से युक्त करना ठीक है, परन्तु स्त्रीलिंग शब्दों को स्वरान्त रखना अधिक उपयुक्त है। 'हिन्दी के अपने सभी शब्द स्वरान्त हैं।' स्वर-अनुरूपता (assonance) की मुखरता में मधुरता आ जाती है। इसका एक वैज्ञानिक कारण है। स्वर प्रबल होते हैं, व्यंजन निर्बल होते हैं। यदि एक ही वर्ण के स्वर और व्यंजन साथ-साथ हों तो व्यंजन दब जाता है, भिन्न वर्ण के स्वर के साथ व्यंजन खूब चमकता रहता है। सूरज के सामने तारे कैसे हो जाते हैं। भिन्न वर्ण (अंधकार) के साथ वे खूब चमकते हैं। (पृ० १८, १९) 'प्रिय' भी 'पिया' और 'प्रिया' भी 'पिया'; यह गड़बड़ी हिन्दी को पसन्द नहीं। 'सीय' हिन्दी की सुनिश्चित वैज्ञानिक पद्धति पर है 'नभस्' 'पयस्' 'यशस्' जैसे व्यंजनान्त शब्द उसे पसन्द नहीं, नभः, पयः, यशः—इनके विसर्ग छाँट दिए और बन गए हिन्दी के अपने प्रातिपदिक नभ, पय, यश। धनुष् आयुष् का 'धनु' 'आयु' इसी आधार पर हुआ। नियम बनाया 'हिन्दी में ऋकारान्त,

विसर्गान्त तथा व्यंजनान्त प्रातिपदिक नहीं है, न धातु ही वैसे हैं। सब स्वरान्त। बड़ी सुविधा–सरलता है। हिन्दी की प्रकृति में मूर्धन्य 'ष' गृहीत नहीं। संस्कृत 'षष्' का 'छह' ठीक है, पर छः लिखना उचित नहीं। हिन्दी की प्रकृति ने 'ङ' 'ञ' 'ण' अनुनासिक वर्ण आत्मसात् नहीं किए हैं। अतः इन अर्धतत्सम शब्दों में सानुनासिक व्यंजन के स्थान में स्वर की नासिक्य ध्वनि चाहिए। अतः नंगा, चंचल, झंडा लिखना ठीक है पर दन्त, पम्प को यथाश्रुत लिखना चाहिए। वर्तनी के संबंध में उनकी पुस्तकें ही पढ़नी चाहिए। कहना होगा कि वाजपेयी जी वक्ता के सामाजिक स्तर और संदर्भ पर दृष्टि रखते हुए हिन्दी के शब्दों की चयनपद्धति में ध्वनि सौन्दर्य की प्रतीति पर विश्वास रखते हैं।

रूपीय व्यवस्था और शैली (Morpho-stylistics) **प्रातिपदिक और पद** :—'एक नियम बना लिया—संस्कृत प्रथमा एकवचन का रूप हिन्दी का प्रातिपदिक। इसलिए संस्कृत प्रातिपदिक 'राजन्' का राजा लेकर अपना पदरूप बनाया—'राजा ने'। प्रथमा एकवचन के चन्द्रमाः रूप से विसर्ग हिन्दी ने छाँट दिए और चन्द्रमा को अपना प्रातिपदिक बनाया। हिन्दी में अनावश्यक विभक्ति प्रत्यय आदि नहीं लगते। वाक्यांश होने पर पद विभक्ति रहित भी हो सकता है, पर कहीं-कहीं यदि पद से विभक्ति का सहारा हटा लिया जाए, तो धम से गिर पड़ेगा—चलेगा नहीं, 'पद' न रहेगा। लँगड़े को बैसाखी का सहारा समझिए।' (पृष्ठ—६९)

पद रचना :—वक्ता के आशय को स्पष्ट करने के लिए 'पद' आधार बनता है। हिन्दी में सम्बन्ध प्रकट करने के लिए सम्बन्ध विभक्ति तथा सम्बन्ध प्रत्यय का प्रयोग होता है। वाजपेयी जी इन दोनों में भेद मानते हैं और इस भेद को भेदक-भेद्य के सम्बन्ध से स्पष्ट करते हैं। जहाँ अस्तित्व मात्र या उत्पत्ति विवक्षित हो वहाँ 'सम्बन्ध विभक्ति' लगती है और जहाँ भेद्य के सम्बन्ध में कुछ और कहना हो वहाँ 'तद्धित प्रत्यय' लगता है। वाजपेयी जी समझाते हैं :—'हिन्दी में सम्बन्ध प्रत्यय 'तद्धित प्रत्यय हैं और सम्बन्ध प्रकट करते हैं। भेदक के अनुसार इनके लिंग वचन में परिवर्तन होता है, पर सम्बन्ध विभक्तियाँ भेदक के अनुसार बदली नहीं जातीं। 'तेरे लड़की हुई' 'उनके एक बैल हैं' वाक्य, अतः शुद्ध हैं। इस व्यवस्था से विभक्त्यात्मक पद-प्रयोगों का नियमन तथा पद की स्वरूपगत अनिश्चितता का निरसन संभव हो सकेगा।

पदवर्ग संरचना :—शुद्ध आकृतिवादी की दृष्टि से कृदन्त और तद्धित रूपों की रचना प्रक्रिया का निर्धारित किया जाना भी आवश्यक है। श्री वाजपेयी कहते हैं कि हिन्दी के क्रियापद-काल-संदर्भ से—तीन पद्धतियों पर चलते हैं, पर उन क्रियापदों का स्वरूप द्विविध है। कुछ क्रियाएँ तो कर्त्ता या कर्म की तरह पुल्लिंग-स्त्रीलिंग रूप बदलती-पकड़ती हैं—संज्ञाओं के ढंग पर। इन्हें कर्ता की पद्धति और कर्म की पद्धति कह सकते हैं, पर एक तीसरी पद्धति है जहाँ क्रिया न कर्त्ता के अनुसार और न कर्म के अनुसार होती है। ऐसी क्रियाएँ 'भाववाच्य' कहलाती हैं। हिन्दी में सकर्मक क्रियाएँ, कर्म की उपस्थिति में कर्मवाच्य भी होती हैं और कहीं भाववाच्य भी। इसे कृदन्त भेद कहेंगे, दूसरा स्वरूप है—तिङन्त-भेद। तिङन्त क्रियाओं में स्त्रीलिंग-पुल्लिंग-भेद तो नहीं होता, पर यहाँ पुरुष-भेद होता है :—

तिङन्त कर्तृवाच्य रूप :—उठूँ (मैं), उठ (तू) उठे (वह पुल्लिग-स्त्रीलिंग)। यहाँ कर्ता के अनुसार क्रिया के पुरुष-वचन हैं, पर पुल्लिग-स्त्रीलिंग में रूप समान ही रहते हैं।

तिङन्त कर्मवाच्य रूप :—क्रिया यदि कर्मवाच्य है तो कृदन्त और उसके पदवर्ग सहायक क्रिया के तिङन्त का संरूपण होगा। यथा :—'तूने/हमने ग्रन्थ पढ़ा है।' 'तूने/हमने ग्रंथ पढ़े हैं'। 'पढ़ा' 'पढ़े' कृदन्त तथा 'है' 'हैं' तिङन्त हैं। वचन के कारण यह पदवर्ग संरूपण रूपायन की दृष्टि से विचारणीय है।

तिङन्त भाववाच्य रूप :—क्रिया का सम्बन्ध न कर्ता से न कर्म से; यथा 'आप पुस्तकें लिखिए' 'सुशीला को एक नौकर चाहिए।'

क्रिया के पदवर्ग के रूपायन की व्यवस्था को वाजपेयी जी यों समझाते हैं : संस्कृत में कृदन्त को 'सिद्धभाव' कहते हैं और तिङन्त को 'साध्यभाव'। हिन्दी में 'सिद्ध' तथा 'साध्य' शब्दों को पूर्णतः अन्वर्थ कर दिया। हिन्दी की क्रियाएँ सिद्धावस्था में कृदन्त और साध्यावस्था में तिङन्त (पृ० १२) यदि क्रिया की निष्पत्ति निश्चयात्मक हो तो फिर 'गा' लगा देते हैं जैसे भविष्यत् काल में पढे + गा। 'गा' को वे एक तरह की कृदन्त चीज मानते हैं, जहाँ 'भाव' सिद्ध होता है। एक स्वर धातुओं में 'ज' को वे विकरण मानते हैं, जैसे पीजिए, लीजिए, कीजिए, इन रूपों में 'गा' लगाकर पदवर्ग संरचना कर ली जा सकती है। आचार्य वाजपेयी की यही सिद्धान्त कौमुदी है, जिसके प्रकाश में पदवर्गों के रूपायन की शुद्धता तथा अज्ञान और भ्रांतियों का निरसन संभव है। यहाँ वाजपेयी जी का यह कथन उल्लेखनीय है : 'बच्चे सेंधा नमक को मिसरी समझ कर उठा लेते हैं, पर चखने से सब समझ जाते हैं। हम भी बच्चे ही हैं।

शब्दीय व्यवस्था और शैली :(Wordo-Stylistics) :—मूल, आयातित तथा अनूदित शब्दावली पर कालक्रमिक (Diachronic) दृष्टि से विचार करें तो दो प्रकार के प्रभावग्रहण सामने आते हैं :—एक है ऐतिहासिक (Historical) और दूसरा है सांकालिक (Synchronic)। आचार्य वाजपेयी जी ने इस तथ्य को हिन्दी में गृहीत यौगिक शब्द, संधि-शब्द तथा समास शब्दों द्वारा स्वीकार किया है। वे इन शब्दों के स्वरूप पर ही विचार नहीं करते बल्कि-उसकी प्रक्रिया तथा 'मात्रा' पर भी विचार करते हैं : 'सो, समास, तद्धित, कृदन्त आदि में हिन्दी की अपनी पद्धति है और सन्धि सम्बन्धी अपनी मान्यताएँ हैं। हिंदी सर्वाधिक संस्कृत से अनुप्राणित है; परन्तु अपना व्यक्तित्व भी रखती है'। (पृष्ठ–४०)।

यौगिक-शब्द :—यौगिक शब्दों के अवयव तथा उसके पूर्वांश और उत्तरांश विचारणीय होते हैं। 'हिन्दी में यौगिक शब्दों के पूर्वांश का आद्यस्वर प्रायः ह्रस्व हो जाता है :—जैसे इकतारा, दुहरी, दुपहरी। इकन्नी को एकानी करना क्या भला है? दुअन्नी को दोआनी कौन बोलेगा? रबड़ी को पानी में घोल-मथ कर दूध बनाना किस काम का? क्या दूध बन जाएगा? स्वाद आएगा?' (पृष्ठ ३३)।

सन्धि-शब्द :—हिन्दी के जो शब्द सन्धि करके स्वतः वैसे बन गए हैं, उनके अतिरिक्त अन्यत्र सन्धि-बन्धन नहीं। 'प्रत्युत्तर' जैसे शब्द संस्कृत से बने है बनाए आए हैं

और उसी रूप में चलते हैं। (पृष्ठ ७) 'चार घड़ी उपरान्त' की जगह 'चार घड़ी उपर्य्यन्त' हो ही नहीं सकता। 'आलोचक' की कवि से सहानुभूति होनी चाहिए, उसके काव्य की आलोचना करते समय में 'सहानुभूति' गलत, सह-अनुभूति ठीक। संस्कृत में 'सुअवसर' कभी न होगा, पर हिन्दी में यह हटाया नहीं जा सकता। केवल 'अवसर' में वह बात नहीं। सन्धि करके 'स्ववसर' कर देने से सब चौपट ! कांग्रेस-अधिवेशन समस्त शब्द चाहिए, सन्धि करके 'कांग्रेसाधिवेशन' नहीं। व्यवस्था है संस्कृतेतर शब्द अलग दिखाई दें, यह हिन्दी को अभीष्ट है। प्रवाहप्राप्त 'विश्वामित्र' शब्द को बदलने की चेष्टा पाणिनि ने नहीं की, एक नया सूत्र दिया। हिन्दी में 'मनोकामना' को मिटाकर जो लोग 'मनःकामना' चलाना चाहते हैं, वे पाणिनि के भी गुरु हैं, भगीरथ के भी दादा ! गंगा पूरब को नहीं, दक्षिण को जानी चाहिए ! ले जाई जाएगी ? ले जाओ भाई ! (पृ० ४०) । हिन्दी में 'श्रीमच्छंकरा ने कहा है' ऐसा लिखना क्या ठीक है। 'मच्छ' आदि के भ्रम ! 'श्रीमान् शंकराचार्य लिखें, सन्धि-समास न करें, तो क्या कुछ कमी आ जाएगी ? हिन्दी की प्रकृति अधिक सन्धि-समास के पक्ष में नहीं और कठिनता तो एकदम सह्य नहीं। (पृष्ठ ४०)।

समास–शब्द :—हिन्दी तो अरबी 'जिला' शब्द से संस्कृत 'अधीश' शब्द का समास करती है— 'जिलाधीश'। 'कांग्रेस-अध्यक्ष' अंग्रेजी-हिन्दी शब्दों का समास है—कांग्रेस के अध्यक्ष—'कांग्रेस अध्यक्ष' क्या यह गलत है ? कारण यह कि 'जिलाधीश' कहने से 'जिला' शब्द ज्यों का त्यों सुनाई देता है और जहाँ 'सवर्ण दीर्घ' सन्धि होती है, वहाँ के लोग 'अधीश' विच्छेद कर लेते हैं, क्योंकि 'धीश' कोई चीज ही नहीं। 'जिलेश' न होगा; क्योंकि विदेशी शब्द कुछ का कुछ बन गया। 'जिला' का 'जिले' रूप अरब में नहीं मिलता। इसलिए हिन्दी 'जिलेश' पसन्द नहीं करती, यद्यपि 'जिलाधीश' इस लम्बे शब्द की अपेक्षा 'जिलेश' छोटा-सा चुस्त शब्द अच्छा रहता। 'जिला' ज्यों का त्यों श्रुत होना चाहिए, यह हिन्दी चाहती है। इसी तरह 'घराधिपति' न होगा; 'गृहाधिपति' होता है। 'घर' का 'घरा' रूप ठीक नहीं। 'सवर्ण दीर्घ' संस्कृत की सन्धि है। (पृ० ३५)। सं० नपुं० शर्मन् (कल्याण) का 'शर्म' लिया, 'शर्म-मन्दिर' चलता नहीं। कल्याण मन्दिर चलता है। हिन्दी में 'शर्मा-मन्दिर' माने—शर्मा जी का घर। सो, जैसे 'शर्मा-निवास', उसी तरह 'नेता-निवास'। पूर्व-पर प्रयोग से समास में अर्थ वैशिष्ट्य आ जाता है, यद्यपि मूल अर्थ बना रहता है। 'रणजित' का अर्थ है 'रण में जित (पराजित) और जितरण का अर्थ है रण जीतनेवाला, रणजयी। सो, अन्यार्थ में 'अन्तर' का पर-प्रयोग करने से 'स्व' गृहीत नहीं होता और पूर्व-प्रयोग से 'स्व' भी गृहीत होता है। 'अन्तर्देशीय पत्र' तथा 'देशान्तरीय परिषद्' शब्दों से यह अर्थवैशिष्ट्य स्पष्ट किया गया है। 'गृहान्तः प्रवेश' से अर्थ है 'घर के भीतरी हिस्से में प्रवेश' और 'गृहान्तर-प्रवेश' से अर्थ है 'दूसरे घर में प्रवेश'। बस, संक्षेप से इस अध्याय में इतना ही कहना जरूरी था। सर्वत्र हिन्दी की प्रकृति, धारा, सरलता भ्रमसन्देह से बचाव, यही देखने की चीजें हैं—सूत्र हैं। 'लाठी वर्षा' की जगह 'लाठी-चार्ज' क्या जरूरी है ? 'साहब ने 'चार्ज' ले लिया' में 'चार्ज'

का मतलब तो चपरासी भी समझ लेता है; पर 'लाठी' के साथ 'चार्ज' का समास करके जो शब्द बनाया जाता है उसमें 'चार्ज' का क्या मतलब ? 'चार्ज' याने 'वर्षा' ? तब फिर 'वर्षा' ही क्या बुरा ? (पृष्ठ—६७) हिन्दी के एक बहुत बड़े कवि ने उर्दू के 'नाचीज़' (लाक्षणिक) शब्द प्रयोग का हिन्दी अनुवाद अपनी एक कृति में दिया है— 'मैं अपदार्थ क्या कर सकता हूँ।' क्या मतलब ? 'अपदार्थ' में कुछ मतलब निकलता है ? जब 'नाचीज़' ध्यान में आए, तब कुछ समझ में आए ! तो क्या यह शब्द-प्रयोग है ? भूल है ! (पृष्ठ—५६) सो, 'छिपने' के अर्थ में 'भूमिगत' (Underground) विशेषण हिन्दी में, संस्कृत में या पंजाबी आदि अपनी प्रादेशिक भाषाओं में गलत है। संस्कृत से प्रेम है, तो 'तिरोहित' लिखिए 'अन्तर्हित' लिखिए। 'चारसूत्री कार्यक्रम' और 'तीन दिवसीय' अधिवेशन जैसे समास-तद्धितों पर भी एक नजर डालने की जरूरत है। (पृष्ठ—४१)

वाक्यीय व्यवस्था और शैली : (Syntacto-stylistics)—रूप रचनात्मक स्वरूप के बाद वाक्यविन्यास अध्याय रखा गया है, जिसमें हिन्दी भाषा सम्बन्धी उलझनें सुलझाई गई हैं तथा हिन्दी के वाक्य रचनात्मक स्वरूप की समीचीनता पर विवेचना की गई है। वाक्य संरचना में वाक्यीय सम्बन्धों पर विशेष चर्चा है तथा वाक्यश्रृंखलता (Syntactical Linkage) पर विवक्षा है। संस्कृत तथा संस्कृतेतर भाषाओं से आयातित और प्रभावित सांकालिक और संकर रूपरचना में अन्तःकेन्द्रित (Endo-Centric) तथा बहिं केन्द्रित (Exocentric) निमयिक तत्वों की प्रकृति और पारस्परिक संबंधों का शास्त्रीय विवेचन वाक्यीय Syntactic अवाक्यीय Asyntactic तथा अर्धवाक्यीय (Semisyntactic) रूपों में संतुलित कर प्रस्तुत किया गया है। निश्चय ही उद्देश्य-विधेय विशेषण-विशेष्य, भेदक-भेद्य की पदान्विति की व्यवस्था से भाषा का छिछलापन दूर होगा। वाजपेयी जी का यह कथन उल्लेखनीय है : 'हिन्दी यद्यपि स्वतः पूर्ण, सुलझी हुई, सरल भाषा है, पर बहुधा 'अति' व्याकरण का ध्यान रखनेवाले उलझनें पैदा कर देते हैं और फिर वे उलझनें दूसरों को बहुत तंग करती हैं (पृ० ६८)। शब्दों अथवा शब्दानुक्रमों के सार्थक संयोजनों की व्याख्या का नाम ही 'रचना' है। इस हेतु आचार्य वाजपेयी की यह प्रथम व्यवस्था कि 'यदि 'सटाऊ' लोग समास न करें, तो संस्कृत की तरह लिखना चाहिए। 'सिद्धान्त' तो यही कहता है, आगे वे जानें !' नीमहकीमी के परिणामों के इलाज की प्रथम प्रायोगिक खुराक यही है।

अर्थीय व्यवस्था और शैली (Semanto-stylistics)—आचार्य वाजपेयी 'त्रिवेणी' अभिधान में 'वेणी' का अर्थ प्रवाह कर 'त्रि' से गंगा का, यमुना का और उन दोनों के सम्मिलित प्रवाह का अर्थ करते हैं। 'सरस्वती' नदी की कल्पना को व्यर्थ सिद्ध करते हैं। 'प्रयाग' शब्द की मूल धातु 'यज्' से वे संगतिकरण या संगम का अर्थ ग्रहण कर एक चले आ रहे मिथ्याभ्रम या अंधविश्वास को दूर करते हैं। जनता के राज्य में 'जनजाति' शब्द के अर्थसंकोच पर व्यंग्य प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रकार 'लोकगीत' शब्द के अर्थ-संकोच पर व्यंग कसते हुए कहते हैं 'निराला जी के गीतों को क्या कहेंगे ? क्या ये

'परलोक-गीत' कहे जाएँगे ?' 'राष्ट्रिय'-'राष्ट्रीय' के भिन्नार्थकत्व पर जब वे प्रमाण देते हैं तब 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग ही बंद हो जाता है, उसी प्रकार 'विस्तार—विस्तर' के प्रयोग में भी शुद्धता आ जाती है। 'प्रतिरक्षा विभाग' शब्द में 'प्रति' उपसर्ग का जो 'सु' अर्थ बतलाया गया है वह 'प्रतिरक्षा' शब्द का अर्थोद्योतन ही करता है। ऋग्वेद के 'अग्निसूत्र' के 'गव्यं घृतं' तथा 'पशवः आततायिनः' शब्दों के लक्ष्य अर्थ को आयुर्वेद के संदर्भ में न लेकर सामान्य अर्थ में ले जाने पर वाजपेयी जी कहते हैं 'फलतः आज भी सनातनी और आर्यसमाजी मिलकर इसी आग में मनों घी नित्यप्रति उड़ेल कर नष्ट कर रहे हैं, जब कि लोगों को शारीरिक उपयोग के लिए छींट भी प्राप्त नहीं। हवन के लिए शुद्ध घी चाहिए, भोजन में डालडा ही ले लेंगे !.... शब्दों का सही अर्थ न समझने से बड़ी गड़बड़ मच जाती है। 'दाम' के वाच्य अर्थ को समझाने के हेतु वे छुटपन में रटाई गई इस कहावत को उद्धृत करते हैं :—

'छदाम में छै दाम, धेला साढ़े बारह दाम
पैसे में पचीस दाम'

और कहते हैं 'सबसे छोटा सिक्का' लक्षणा से सम्पत्ति के अर्थ में चलता है। सारांश में काव्य-व्याकरण-कुशल आचार्य वाजपेयी अर्थविज्ञान में वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के कायल हैं, परन्तु पाठकों का ध्यान वे 'अर्थ ग्राम' पर अवश्य केन्द्रित कर देते हैं।

हिन्दी शब्द-मीमांसा की कतिपय इन प्रतिपत्तियों से सम्पुटित तथा सम्पुष्ट अपने सुमन-बन्ध को अभिनन्दन-वेला के इन क्षणों में आचार्य को अपनी अंजलि से मैं अर्पित करता हूँ।



संस्कृति का पाँचवाँ अध्याय

डा० भगवतशरण उपाध्याय

विजिटिंग प्रोफेसर राजनीतिविज्ञान अध्ययनशाला,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

'संस्कृति का पाँचवाँ अध्याय' पंडित किशोरीदास वाजपेयी द्वारा प्रणीत हुआ है और जैसा उसके नाम से अथवा लेखक की स्वीकृति से प्रकट है कि स्व० रामधारी सिंह 'दिनकर' के 'संस्कृति के चार अध्याय' का वह पल्लवन है। वाजपेयी जी को मैं उन यशस्वी कृतिकारों में गिनता हूँ जिनका शब्दशास्त्र पर असाधारण अधिकार है। उनका दृष्टिकोण इतना उदार इतना अधुनातन है कि आश्चर्य होता है कि शुद्ध संस्कृत के परिवेश में पलने और विकसित होने वाले व्यक्तित्व में कैसे यह चमत्कार हो गया ?

पर संकोच छोड़कर लिखना पड़ रहा है कि वाजपेयी जी का 'संस्कृति का पाँचवाँ अध्याय' हिन्दू दृष्टि से संपन्न हुआ है। स्थल स्थल पर निःसंदेह उदार दृष्टि का उल्लास दृष्टिगोचर होता है पर कृति की समग्रता में विचार की धुरी हिन्दुत्व पर ही आधृत है। 'भारतीयकरण' जनसंघ का आलोक शब्द रहा है जिसको मैंने हिन्दूकरण से भिन्न नहीं माना। पर उस की बात ज़रा ठहर कर कहूँगा अभी इस पाँचवें अध्याय को प्रारंभ से ही देखना समीचीन होगा।

साधारण तौर से संस्कृत के पंडितों और संस्कृत से अनुप्राणित व्यक्तियों की एक कमज़ोरी 'संस्कृति' शब्द को 'कृ' धातु से व्युत्पन्न करने की प्रवृत्ति है जिससे स्वयं वाजपेयी जी भी परे नहीं। सही कृ धातु से संस्कृति शब्द बनेगा क्योंकि संस्कार और संस्कृत का ही संस्कृति पल्लवन है, पर वास्तविकता यह है कि शब्द 'संस्कृति' जर्मन 'कुलतूर' का शुद्ध हिन्दी अनुवाद है। संस्कृति शब्द का उपयोग समूचे संस्कृत वाङ्मय में कभी भी नहीं हुआ जिससे वह उसमें कहीं उपलब्ध नहीं है।

भारत भर के रहनेवालों को निश्चय हिन्दू नहीं कहा जा सकता न आर्य ही कहा जा सकता है। आर्य इसलिये नहीं कि इस देश में आनेवाले ऋग्वैदिक आर्य यहाँ के निवासियों में —उनके आने से पहिले और बाद की जातियों में—इस मात्रा में घुलमिल गये कि वे आर्य रह ही नहीं पाये। पूर्व अथवा पश्चात्-कालीन भारत के निवासियों के साथ घुल-मिल जानेवाली आर्य जाति का यह प्राचीन ऋग्वैदिक नाम सही रूप में अपनी उत्तर-कालीन संज्ञा 'हिन्दू' से जाना गया। पर हिन्दू होना मात्र हिन्दू होना नहीं है, चारों वर्णों में से एक, और उसके भी किसी उप-वर्ण का होना अनिवार्य है। भारतीय संस्कृति की अन्तर्लीन कर लेने की आश्चर्यजनक प्रवृत्ति के बावजूद हिन्दू समाज अथवा इस्लाम के आगमन के पूर्व के भारतीय समाज का मूल रूप चातुर्वण्य है। आज भी यह रूप नहीं बदला। हिन्दू कहते ही चारों वर्णों अथवा उनके अनन्त उपवर्णों की जिज्ञासा बोध में उठ जाती है। प्राचीन काल में तो हिन्दू से भिन्न 'म्लेच्छ' शब्द का जो उपयोग

हुआ है उसका तात्पर्य शुद्ध उस समाज से है जिसमें वर्णों का अभाव है। म्लेच्छ वस्तुतः एथ्निक (Ethnic) संज्ञा है। मूल रूप में वह अपशब्द क़तई नहीं है, पर चूँकि हिन्दुत्व वर्णरहित समाज की कल्पना आदर्श रूप में स्वीकार नहीं कर सकता था इससे म्लेच्छ शब्द हेयवृत्ति वालों के लिए प्रयुक्त होने लगा।

हिन्दू शब्द का व्यवहार निश्चय सबसे पहिले 'सिन्धु' शब्द के आधार से उठा जिसका उपयोग सबसे पहिले ईरानी सम्राट् दारा ने अपने प्रान्तों की गणना में किया। तब उस शब्द का भारतीय समाज से कोई संबंध न था कारण कि उसका इस देश में कभी उपयोग नहीं हुआ था। दारा के अभिलेख (नक़्श-ए-रुस्तम) में भी वह भौगोलिक-राजनीतिक परिवेश में प्रयुक्त हुआ। कालान्तर में फारसी में वह शब्द काले अथवा गुलाम के अर्थ में व्यवहृत हुआ और भारत से गुलाम बनाकर ले जाये जानेवाले समूहों की सामूहिक हिंसा काबुल की घाटी में होने के कारण उस पर्वतीय परिसर का नाम भी हिन्दु-कुश पड़ गया जिसका भारतीय नाम 'निषध' पर्वत और ग्रीक नाम उसी से बिगड़ा हुआ 'पर-उप-मिसस' है। इससे चूँकि अब हिन्दू शब्द का अर्थ वर्ण-संयुक्त समाज का होने लगा है, उस शब्द से हिन्दुओं से इतर जनता का बोध नहीं कराया जा सकता। 'हिन्दुस्तानी' निश्चय ही केवल हिन्दू का द्योतक नहीं कारण कि यद्यपि वह मूल में हिन्दू शब्द से संबंधित है, उसका बोध 'हिन्दुस्तान' के भौगोलिक संज्ञा से होता है न कि हिन्दू से। मुसलमान हिन्दुस्तानी कहलाने में क़तई आपत्ति न करेगा पर हिन्दू कहलाना उसे किसी प्रकार स्वीकार न होगा और न उसे हिन्दू कहने से इस शब्द की सार्थकता ही सिद्ध होगी।

जहाँ तक हूणों, शकों आदि के भारतीय अथवा वाजपेयी जी के शब्दों में हिन्दू हो जाने की बात है उसमें संदेह नहीं किया जा सकता। मैंने अपने अनेक ग्रंथों में इसका उल्लेख भी किया है, पर उस विशिष्ट स्थिति की एक चरम विशेषता है जिसे अधिकतर हमारे समाजशास्त्री भूल जाया करते हैं और जिसे आचार्य वाजपेयी जी स्वयं भूल गये हैं। वह विशेषता यह है कि जो भी जातियाँ भारत में बाहर से आईं उनमें से केवल वे ही हिन्दू समाज में विलीन हो पाईं जिनका न कोई अपना स्पष्ट धर्म था, न समाज था, न जीवन-दर्शन था। भारत ने उन्हें धर्म दिया, समाज दिया, जीवन-दर्शन दिया——वस्तुतः उन्हें वर्ण संज्ञा भी दी, यद्यपि जाटों, अहीरों तथा गूजरों को कहाँ रखा जाय यह सदियों से भारतीय समाजशास्त्रियों का सिरदर्द रहा है और आज भी वह सिरदर्द मिट नहीं पाया है।

इसके विपरीत पारसी, ईसाई, मुसलमान जो इस देश में आये उनको भारत पचा न सका। कारण इसका इनका स्पष्ट धर्म था, धर्म ग्रंथ थे, जीवन-दर्शन था, समाज था, पैतृकी के वितरण में विशेष विधान था। पारसी जो छठी सदी में यहाँ आये अपनी अग्निपूजा और जिन्दावेस्ता लिये आये, उनसे पहिले जो ईसाई आये, संभवतः चौथी सदी ईस्वी में, उनके पास उनकी इंजील थी, भगवान के अतिरिक्त उनके मसीहा यीशू थे, उनका अपना जीवन-दर्शन था। इस्लाम का प्रादुर्भाव इस देश में आठवीं सदी के आरंभ में हुआ यद्यपि सदियों पहिले से अरबों की बस्तियाँ केरल के समुद्र तट पर बस चुकी थीं। इस्लाम के पास अल्लाह, पैग़ंबर और रसूल थे, क़ुरान, शरियत और हदीस थे, जीवन-

दर्शन था, जीने का उल्लास था और स्त्रियों तक के संपत्ति में अधिकार थे—इस्लामी समाज में व्यक्तियों के बीच वह समता थी जिसे इस्लामपूर्व के किसी समाज ने इतिहास में न जाना था। निश्चय ही समता भारत में आकर हिन्दुओं की देखा देखी अपना आदर्श खो बैठी।

'अल्लाबख़्श' अथवा 'ख़ुदाबख़्श' को ईश्वरदत्त कहना हिन्दू हो जाना है। मुसलमान को अल्लाह छोड़कर ईश्वर को स्वीकार करने की सम्मति देना है। ईश्वर के हिन्दुओं में सैकड़ों रूपों को छोड़कर एकेश्वरवाद का जो विरोधी तत्व अल्लाह या ख़ुदा में निहित है वह निश्चय ईश्वर में उसे नहीं मिलेगा। और ऐसा कहना भारत में बस जाने के कारण अंग्रेज़ 'कॉन्स्टैन्टाइन फ़ॉक्स' (Constatine Fox) को शायद 'कुस्तुनतुनिया लोमड़ी' करने के समान होगा। यह कहना सही है कि इस्लाम की निष्ठा भारतीय भौगोलिक सीमाओं से परे की बात है। पर यह निष्ठा इस कारण है कि उसका धर्म उस सीमा के परे का है। यदि इस्लाम का उदय भारत में हुआ होता, तो निश्चय यह बात न होती और यदि किसी भारतीय धर्म का मूल विदेशों में होता तो वाजपेयी जी भी संभवत: हिन्दुओं को वह सीख न दे पाते जो मुसलमानों को दे रहे हैं। उनकी यह धारणा भी संभवत: सही नहीं है कि बौद्धों और मुसलमानों में अथवा चीन के अन्य धर्मावलंबियों में चीन के महादेश में लड़ाई नहीं हुई। लाओ-त्से और कन्फ़्यूशस के अनुयायियों और बौद्धों में ख़ासी लड़ाइयाँ हुई हैं और आख़िर वहाँ भी मुसलमानों के नाम सर्वथा चीनी ही नहीं है और न सोवियत संघ में ही तुर्कों के नाम ही तुर्की, फ़ारसी और अरबी से भिन्न हैं।

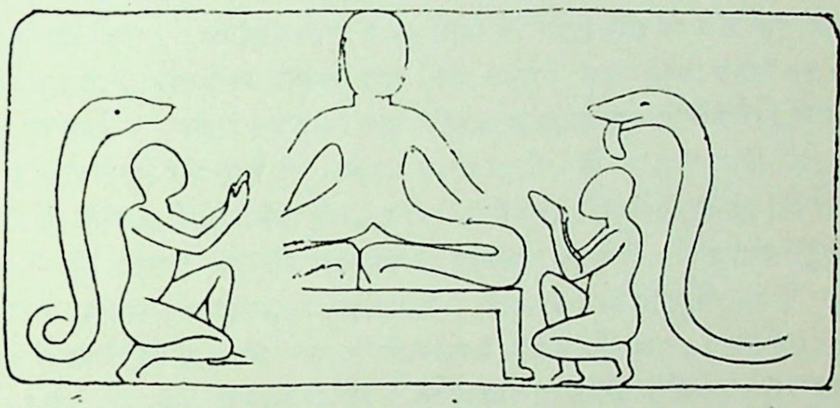
जो वस्तुत: हिन्दू नहीं है उन्हें (याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, राम, कृष्ण आदि का) वंशज मानने के लिये मजबूर करना या सुझाव तक देना अथवा गाय के लिये 'भावना-विशेष' रखने की सलाह देना अनौचित्य की पराकाष्ठा होगी। गो-वध ऋग्वैदिक आर्यों को स्वीकार था। वैदिक साहित्य में कहा भी गया है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलकर एक दूसरे के कार्य को साधने के लिये (क्षात्रद्विजत्वं च परस्परार्थम्) वैश्य को अपना आहार बनायें जैसे वे गाय को आहार बनाते हैं और शूद्र पर चढ़ें जैसे वे अश्व पर चढ़ते हैं। वाजपेयी जी ने गाय को आहार की परिधि से अलग कर वैदिक शब्द 'अघ्न्या' द्वारा स्थिति को उदाहृत किया है। वह स्वयं इसका प्रमाण है कि गाय वैदिक काल में सदा 'अघ्न्या' न थी। ऋग्वेद का उल्लेख है 'मातावसूनां श्वसादित्यानां....मा गाम् अनागाम् अदितिं वधिष्ठ'—गाय जैसी अदिति को जो देवताओं की माता है, वसुओं की माता है, आदित्यों की भगिनी है, ऐसी गाय को न मारो। गाय को आहार बनाकर उसका विलोप कर देने की स्थिति से उसकी रक्षा करने के लिए ही यह ऋषिगिरा ध्वनित हुई। कालांतर में निश्चय गो-वधविरोधी निष्ठा हिन्दुओं में बनी, पर इसी कारण जिनके लिये गाय आहार है उनसे गो-वध के प्रति निष्ठा की अपेक्षा रखना शायद उचित नहीं, विशेषकर इस कारण भी कि गाय की रक्षा कर हल जोतनेवाले अथवा वाहन में जुतने वाले बैलों का अभाव समाज में अनर्थ भी नहीं उत्पन्न कर सकेगा। कारण कि ट्रैक्टर हलों का स्थान लेते

जा रहे हैं और बैलगाड़ी का उपयोग आगे कब तक हो सकेगा यह आँक लेना कुछ कठिन नहीं। मैं गो-वध के प्रति निष्ठा को चुनौती नहीं दे रहा हूँ, मात्र एक वैकल्पिक स्थिति को सामने रख रहा हूँ।

इसी संबंध में एक बात लगेहाथ और कह देना चाहूँगा कि 'राम-राज्य', जिसका बार-बार उल्लेख किया जाता है, वस्तुतः उत्पीड़न से रहित समाज के अर्थ में सभी के लिये ग्राह्य आदर्श भी नहीं, स्वयं मेरे लिये भी नहीं। यद्यपि स्मृतियों की व्यवस्था को स्वीकार न करके भी मैं स्मार्त जीवन जीता हूँ, पर मुझे किसी हालत में यह स्वीकार नहीं हो सकता कि जिस संसार की अनुपम नारी ने सालों इंद्रियासक्त रूप-लोलुप शत्रु के पंजे में रहकर भी अपनी लाज क़ायम रखी और पल-पल अपने पति के समीप पहुँच जाने की कामना करती रही, उसी का पति उसी के लिए किए गए युद्ध को जीतकर उससे कहे—सीते ! दूसरे के स्पर्श से (ज़बरदस्ती उठाकर रथ में बैठा दिये जाने के कारण) दूषित हो जाने के कारण कोई भी संभ्रांत व्यक्ति तुम्हें स्वीकार नहीं कर सकता। इसी कारण मैं भी तुम्हें स्वीकार नहीं करूँगा। दशों दिशाएँ तुम्हारे लिए खुली हैं तुम जहाँ चाहो चली जाओ। फिर जहाँ गर्भावस्था में कोई पुरुष अपनी पत्नी को बाहर नहीं करता, वहाँ उसी जगज्जननी सीता को दारुण वन में व्याघ्रादि सेवित जंगल में राम ने छोड़वा दिया—उसके लिए क्या कहा जाय ! फिर महर्षि वाल्मीकि के अनुरोध अथवा अपनी ही कीर्त्ति में गानेवाले बच्चों के गौरव प्रदर्शन से चकित होकर उस पति ने पहिले पत्नी को अग्नि-परीक्षा द्वारा परीक्षित कर देने के बावजूद जब फिर उससे प्रमाण माँगा तो सिवा ख़ुदकुशी करने के सीता के लिए दूसरा चारा ही क्या था ? ऐसे पत्नीहन्ता राम का राज्य उस स्थिति को याद कर निश्चित त्याज्य हो जायगा जिसकी कल्पना आज के गणराज्य का नागरिक सर्वथा त्याज्य मानेगा। राम के दरबार में जाकर जब ब्राह्मण ने पुकारा कि देखो राजन्, तुम्हारे राज्य में कहीं 'अपचार' हो रहा है तब दिव्य दृष्टि से राम ने देखकर जाना कि कोई शूद्र तप कर रहा है। फिर क्या था 'रघुकुल-तिलक राम' की तलवार म्यान से उछल पड़ी और शूद्र शंबूक का सिर धड़ से अलग हो गया। समाजसेवी निश्चय ही ऐसे रामराज्य को दूर से प्रणाम करेगा ?

'संस्कृति का पाँचवाँ अध्याय' इस प्रकार के अनेकानेक स्थलों से भरा है जिनकी आलोचना के लिए समूची पुस्तक अपेक्षित होगी। थोड़े में केवल कुछ इशारा कर देना मुनासिब होगा। 'रक्ष संस्कृति' और 'हरि-संस्कृति' आदि पर सांस्कृतिक इतिहास का आधार रखना उचित नहीं कहा जा सकता और रामायण में वर्णित राम द्वारा संस्कृति का प्रचार-प्रसार निश्चय वही अर्थ ले लेता है जो 'ह्वॉईटमैन्स बर्डेन' (Whiteman's burden) का अभीष्ट है। इसी प्रकार मोहम्मद गोरी को बार बार पकड़कर छोड़ देना अथवा उसके दरबार में पृथ्वीराज का शब्दवेधी बाण चलाकर उसे मारना अनुकूल कवि-कल्पनामात्र है ऐतिहासिक सत्य नहीं। इस प्रकार की अनेक भ्रांतियाँ पुस्तक में आ गई हैं जिनका उल्लेख करना अनावश्यक होगा। एकलव्य संबंधी व्याख्या तो रोंगटे खड़े कर देनेवाली है।

आचार्य वाजपेयी जी मेरे सदा श्रद्धास्पद रहे हैं अब भी हैं, यदि केवल उनके शब्द-शास्त्र की ज्ञान गरिमा ही मात्र उनके गौरव का सूचक हो तो वह भी मेरे नमन का कारण होगा। दृष्टि जो उन्होंने 'संस्कृति का पाँचवाँ अध्याय' में दी है वह साधारणतः उदार वर्णाश्रमियों की है——सामान्यतः जनसंघी। यदि अतिराष्ट्रीयतावाद (chauvinism) को परोक्ष कर पढ़ें तो निश्चय पुस्तक में स्थान स्थान पर उदार दर्शन होगा। वाजपेयी जी के सम्मानार्थ ग्रंथ के प्रकाशन में अपना यह योग देकर मैं श्रद्धावनत होता हूँ।



आर्यों का मूल स्थान और आचार्य वाजपेयी की द्रविड़ सम्बन्धी धारणा

प्रो० श्रीमती कमला रत्नम्

अगर भारतवर्ष में आज भी ऋषि विद्यमान हैं, तो आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का उनमें अन्यतम स्थान है। चरित्र, आयु, विद्या, बुद्धि, तपश्चर्या सभी लक्षणों से आचार्य जी ऋषितुल्य हैं। वाणी की पवित्रता और शुद्धता के लिये उन्होंने महान् कार्य किया है, परन्तु लोगों ने वाक्शक्ति के प्रति अपनी उदासीनता के कारण उस ओर ध्यान नहीं दिया। अँगरेजी भाषा ने भारतीयों की भाषा-बुद्धि का लोप कर दिया है। आज शुद्ध हिन्दी बोलने पर आश्चर्य प्रकट किया जाता है, गलत हिन्दी बोलने पर भर्त्सना नहीं की जाती। उनका तर्क है जब गलत अँगरेजी से आदर-सत्कार नौकरियाँ मिल जाती हैं, तो सही हिन्दी क्यों सीखें ? बहुत होगा तो हिन्दी की कृपा से दूसरी या तीसरी श्रेणी की जीविका मिल जायेगी और वह उस देश में जिसने संसार के इतिहास में सर्वप्रथम वाग्देवी की उपासना की, और आज जिसके संविधान की घोषित राष्ट्रभाषा हिन्दी है। भाषा के अतिरिक्त भारतीयों में आत्मसम्मान जगाने के लिये वाजपेयी जी ने और भी बहुत से कार्य किये हैं, उनमें रामायण की व्याख्या, काव्य और काव्यशास्त्र, धर्म का अर्थ, मानव धर्म, धर्म और सम्प्रदाय में भेद आदि विषयों पर उनके मौलिक विचार और लेख पुस्तकाकार संकलित हैं। आर्यों का मूल स्थान कहाँ था ? आर्य कहाँ से आये ? आर्यों और द्रविड़ों में भेद क्या है ? इन विषयों पर आचार्य जी का चिन्तन बहुत ही सामयिक, विचारोत्तेजक और प्रेरक है, यद्यपि वह बहुत संक्षिप्त है। इस देश की मूल भाषा संस्कृत है, इतना तो सभी लोग मानते हैं। संस्कृत भाषा में लिखा भारत का प्राचीनतम ग्रन्थ वेद है; वेद संसार का भी प्राचीनतम ग्रन्थ है। वेद आर्यों का आदि ग्रन्थ है और वही एक संभावित स्रोत है जहाँ से आर्यों के मूल स्थान और प्रारम्भिक इतिहास सन्बन्धी प्रामाणिक जानकारी मिल सकती है। परन्तु यह स्रोत इतना पुराना है और आधुनिक भारतीय अपने आदिस्रोत से इतना कट गये हैं कि उन्हें इसका बिल्कुल स्मरण नहीं रहा है। आज-कल लोग निश्शंक होकर कह रहे हैं कि मात्र विदेशी भाषा होने के कारण अँगरेजी का विरोध नहीं करना चाहिए। अँगरेजी ने भारत का बहुत हित किया है, उसे एक सूत्र में बाँधा है। अंगरेजों के भाषायी साम्राज्यवाद ने इस देश का कितना बौद्धिक ह्रास और आध्यात्मिक अहित किया है, इसका अन्दाजा लगाना कठिन है। इसी वर्ष २६ जनवरी, गणतंत्र दिवस के राष्ट्रीय पर्व पर महामहिम राष्ट्रपति जी ने एक विचित्र उद्-घोषणा की कि भारत कभी भी एक राष्ट्र नहीं था। अशोक और अकबर के समय में भी वह एक राष्ट्र नहीं था। यह तो अंगरेजों की कृपा और दूरदर्शिता थी जो उन्होंने इस देश के आपस में जोड़कर इसे राष्ट्रीयता प्रदान की। राष्ट्रपति जी के यह वचन अँगरेजी

कुशिक्षा के परिणाम हैं। अपनी परम्परा, अपने इतिहास और भाषा से कटा हुआ मनुष्य ही इस प्रकार के फतवे दे सकता है। क्षण भर के लिये यदि इस घोर असत्य को मान भी लिया जाय कि अंगरेजों ने हमें राष्ट्रीयता प्रदान की तो कम से कम आत्मसम्मान की भावना और विश्व में प्रतिष्ठित रहने की इच्छा हमें ऐसा न कहने को बाध्य करेगी। परंतु अँगरेजी भाषा के माध्यम से आनेवाले पश्चिमी लेखकों के कुप्रचार ने हमारी बुद्धि को भ्रष्ट कर, राष्ट्रीय आत्मसम्मान के बिरवे को जड़ से कुचल दिया है। आज हमारे ही कुछ भाई अज्ञानवश ऐसा कहते सुने जाते हैं कि यदि विदेशी भाषा होने के कारण अँगरेजी का विरोध करना है, तब तो हमें संस्कृत और उससे निकली सभी भाषाओं का विरोध करना पड़ेगा क्योंकि संस्कृत आर्यों की भाषा थी और आर्य इस देश में बाहर से आये थे। अतएव यह प्रचार कि आर्य भारतवर्ष में बाहर से आये अत्यंत गर्हित और भ्रान्तिमूलक है। इस प्रश्न पर विचार होना ही चाहिए और निर्णय होना चाहिए कि आर्यों का मूल स्थान कहाँ था।

आर्यों को बाहर से आनेवाला बताने में कतिपय विदेशी ऐतिहासिकों का हाथ है। अंगरेजों के भारत पर अधिकार कर लने के बाद यह स्वाभाविक था कि वे अपनी विजय के लिये नैतिक आधार खोजते। सर्वप्रथम यह आधार उन्हें योरोप की भाषाओं और भारतीय भाषाओं के साम्य के रूप में मिला। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक विलियम वोन्स आदि भारत के अंगरेज प्रशासकों का संस्कृत भाषा से परिचय हो गया था। संस्कृत साहित्य की प्रमुख पुस्तकें अँगरेजी, फ्रेंच, और जर्मन भाषाओं में अनूदित होकर वहाँ के दार्शनिकों एवं बौद्धिक-वर्ग को प्रभावित कर रही थीं। योरोप के दार्शनिक अपनी रचनाओं में वेदों और उपनिषदों की आध्यात्मिक ऊँचाई को प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न कर रहे थे। कालिदास का नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' अपने अनुवादों के माध्यम से पूरे योरोप पर छा गया था। संस्कृत की ग्रीक, लैटिन, केल्टिक, जर्मन, स्लाव आदि भाषाओं से समानता देखकर योरोपियन विद्वानों ने एक आदि भाषा की कल्पना की जिससे कालान्तर में ये सब भाषाएँ निःस्यूत हुई। हमारी निकट पड़ोसी भाषाएँ पश्तो, बलूची और ईरानी भी संस्कृत की सगी हैं क्योंकि ये सब ज़ेन्द से निकली हैं और ज़ेन्द संस्कृत के बिल्कुल निकट है। प्रायः देखा गया है कि एक जाति या परिवार के लोग एक ही या आपस में मिलती-जुलती भाषा का प्रयोग करते हैं। अतः भाषा साम्य के आधार पर कल्पना की गयी कि आपस में समानता रखनेवाली भाषाओं को बोलनेवाले अवश्य ही किसी समान पूर्वज की सन्तान होंगे जो किसी एक मूल स्थान पर पैदा हुए और वहाँ से सब ओर फैल गये। इन मूल पूर्वजों को 'इण्डोयोरोपियन' अथवा 'भारोपीय' कहा गया और उनकी मूल नस्ल अथवा जाति को अन्य जातियों से उत्कृष्ट और सभ्य मान लिया गया। क्योंकि अंगरेज हमारे शासक थे और वे योरोप से आये श्वेतांग थे, अतएव वे यह मानने पर तैयार नहीं थे कि उनके पूर्वज जिन्हें अब संस्कृत से संपर्क के कारण 'आर्य' कहा जा सकता था, काले और भूरे रंग वाले गुलाम भारतीयों के देश में उपजे थे। अतएव आर्यों के मूल स्थान के विषय में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ

की गयीं और यह निष्कर्ष निकाला गया कि आर्य मध्य एशिया में, रूस के दक्षिण में, जन्मे। भाषा के अतिरिक्त वैदिक और अन्य प्राचीन आर्य परिवार की भाषाओं के वाङमय में वर्णित भौगोलिक तथा जीव-जन्तुमय परिवेश के कारण भी दक्षिणी रूस को आर्यों का मूल स्थान माना गया। उपरोक्त वाङमय में वर्णित प्राकृतिक पर्यावरण दक्षिण रूस में यूराल पर्वत के दक्षिण घास के विशाल मैदानों (स्तेपी) से मिलता है। चर्चित पशु मृग, वराह, वृक, लोमड़ी आदि पशु भी वहाँ पाये जाते हैं। परन्तु वेदों में हाथी और सिंह का भी उल्लेख है, जो कि दक्षिणी रूस में सर्वथा नहीं मिलते। कुछ लोग कहते हैं कि आर्य यदि भारत में जन्मे तो उन्होंने व्याघ्र (बाघ) का वर्णन क्यों नहीं किया। इस तर्क का तर्कसम्मत उत्तर यही है कि सप्तसैन्धव प्रदेश में जहाँ आर्य थे, व्याघ्र नहीं पाया जाता। वेदों में बड़े शोर से गरज-तरज के साथ वर्षा का वर्णन है। आकाश में काले-काले बादलों का हाथियों के समूह समान एक-दूसरे से भिड़ना, फिर तीव्र गर्जना और उल्कापात के साथ पानी बरसना, बिजली चमकना, यह सब ऐसी बातें हैं, जो रूस के दक्षिण अथवा उत्तरी ध्रुव प्रदेश में नहीं घटित होतीं। वेदों में अकेले वर्षा का वर्णन ही उन्हें भारतवर्ष की भूमि और जलवायु से जोड़ने के लिये पर्याप्त प्रमाण है। इसी प्रकार के अन्य तर्क-वितर्क हैं जो आर्यों का जन्मस्थान जर्मनी से लेकर उत्तरी ध्रुव तक बताते हैं। इनमें एक मत स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलक का भी है जो उत्तरी ध्रुव देश को आर्यों का मूल स्थान मानते हैं। परन्तु अनेक कारणों से यह मत ग्राह्य नहीं है। तिलक ने अपनी पुस्तक 'दि आर्कटिक होम इन दि वेदाज़' जेल के सींखचों के भीतर बैठकर लिखी, अधिकतर तथ्य उसमें ज्योतिष की गणना और नक्षत्रों की स्थिति पर आधारित हैं। अतएव इसमें प्रमाण की अपेक्षा अटकल और अनुमान का ही पुट अधिक है। इसमें संदेह है कि उत्तरी ध्रुव को आर्यों का मूल स्थान बताने वाले पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों ने स्वयं उन सुदूर प्रदेशों में जाकर वहाँ की वस्तुस्थिति का निरीक्षण किया हो। वेदों के वे मंत्र जो उत्तरी ध्रुव की पृथ्वी और आकाश का वर्णन करते प्रतीत होते हैं, या तो किसी दूसरे अर्थ के अधिकारी हैं, अन्यथा उन ऋषियों की स्मृति हैं जिन्होंने उत्तरी ध्रुव की यात्रा की और पुनः स्वदेश भारत लौट आये। तिलक का मत न बहुचर्चित हुआ और न बहुग्राह्य। तर्क के संग्रहालय में वह मात्र एक दस्तावेज़ बन कर रह गया है। परन्तु इस सारी बहस के विपरीत वैदिक आर्यों का स्वयं अपना तर्क है जो हजारों वर्षों से वैदिक-वाङमय में सुरक्षित है। भारतीय विद्वान् भारत को ही अपना मूल स्थान मानते आये हैं। वेदों में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता कि आर्य कहीं बाहर से आये थे। एक देश से दूसरे देश में जाने की स्मृति इतनी जल्दी नहीं मिटती। यदि पश्चिमी विद्वानों के मतानुसार आर्य मध्य-एशिया से चलकर भारत आये थे और ऋग्वेद का एक बड़ा भाग अपने साथ लाये थे, तो आगे के वैदिक साहित्य में इस दुःखद यात्रा की स्मृति क्यों नहीं है ?

वास्तव में आर्य बाहर से आये, इस कल्पना के पीछे यथार्थ की उतनी प्रेरणा नहीं थी, जितना कि सत्ता और राजनीति का दुराग्रह था। ब्रिटिश शासन के विधिवत् लागू होने के कुल बीस वर्ष बाद भारत में विद्रोह के स्वर मुखर हो उठे और १८५७ का प्रथम स्वतन्त्रता युद्ध हुआ। अंगरेजों ने इसे 'ग़दर' की संज्ञा दी और भारतीयों को आपस

में लड़ाकर नीचा दिखाने के प्रयत्न और तेज़ कर दिये। बिशप काल्डवेल, फादर हेरास आदि मिशनरियों ने लार्ड मेकाले के तत्वावधान में इस्लाम और ईसाई मतों को एक ही मूल की दो शाखाएँ बताते हुए भारतीय मुसलमानों को अपने निकट और हिन्दुओं से ऊँचा सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उधर मेकाले ने अपनी साम्राज्यवादी दुरभि सन्धि की सिद्धि के लिये मैक्समुलर जैसे संस्कृत के विद्वानों को ब्रिटिश सेवा में भरती किया और उन्हें स्पष्ट आदेश दिये कि वे हिन्दुओं के प्राचीन वाङमय को योरोपीय धर्म और चिन्तन की तुलना में हीन और निस्सार साबित करें। एक ओर इन लोगों ने हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का विषमय सूत्रपात किया, दूसरी ओर इन्हीं किराये के विद्वानों ने अपने मात्स्यपूर्ण लेखों में आर्य-द्रविड़ और उत्तर-दक्षिण भिन्नता का प्रचार कर हिन्दुओं में आन्तरिक फूट डालना शुरू किया। इस प्रकार, धर्म, जाति भाषा, संस्कृति की चतुर्मुखी तलवार से साम्राज्य-वादी शक्तियों ने भारत की राष्ट्रीय एकता पर कुठाराघात किया।

कुछ लोग कहेंगे कि भारत में कभी राष्ट्रीयता थी ही नहीं। विशेषकर नयी पीढ़ी के अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग—जिन्हें संस्कृत का तो क्या, किसी भी भारतीय भाषा का अक्षर ज्ञान तक नहीं है—सच्चे दिल से यह विश्वास करते हैं कि अंगरेजों के आने के पहले भारत विभिन्न जातियों और राज्यों में बँटा हुआ था जो आपस में लड़ा करते थे, जिनकी अलग-अलग भाषाएँ, अलग-अलग जीवन और रीति रिवाज थे। ऐसा कहने से पहले ये लोग यह नहीं सोचते कि सहस्रों वर्षों के अन्तराल से विकसित राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रों की जो परिभाषा आज प्रचलित है, अथवा जिन बातों को वर्तमान में राष्ट्रीयता की कसौटी माना जाता है, उन्हें प्राचीन काल पर नहीं थोपा जा सकता। प्राचीनता की नवीनता से तुलना हो सकती है, मूल्यांकन नहीं। आज के मानदण्डों से अतीत के गुण दोष नहीं परखे जा सकते। राष्ट्रीयता के भी दो स्वरूप होते हैं, एक भौतिक, दूसरा आध्यात्मिक। राजनीतिक सत्ता और भौतिक समृद्धि से चिपकी हुई राष्ट्रीयता का स्वरूप युगानुसार बदलता रहता है, परन्तु आध्यात्मिक राष्ट्रीयता सदैव अक्षुण्ण रहती है। हर्ष की बात है कि प्राचीनतम काल से भारत ने उसी आध्यात्मिक राष्ट्रीयता का वरण किया था। भौतिक राष्ट्रीयता का समय-समय पर खण्डन-मण्डन होता रहता है, परन्तु आध्यात्मिक राष्ट्रीयता सदैव राष्ट्र जन में साहस और बल का संचार करती रहती है। वेदों में इसे 'परम व्योम' में स्थित 'हृदय' और 'अमृत' रूप कहा है; 'यस्या हृदयं परमे व्योमन् सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः' तथा 'सा नो भूमिस्त्विषि बल राष्ट्रे दधातूत्तमे।" अथर्ववेद के इस मातृभूमि वन्दना सूक्त की सुन्दर और मार्मिक व्याख्या वेद विद्वान् की सातवालेकर और डा० वासुदेव-शरण अग्रवाल ने अपने ग्रंथों में की है। इन विद्वानों के ग्रंथ 'अर्थवेद का सुबोध भाष्य' 'भारत की मौलिक एकता' इस विषय में द्रष्टव्य हैं। यही वह राष्ट्रीयता है जो तिब्बती और फिलिस्तीनियों को आज भी अपनी जन्मभूमि लौटने के लिये लालायित रखती है। यही वह राष्ट्रीयता है जो पाकिस्तान के कवियों को आज भी यह कहने को बाध्य करती है :—

"मत पूछो कितना गमगीं हूँ, गंगाजी और जमुना जी,
क्या मैं तुमको याद नहीं हूँ, गंगा जी और जमुना जी।

अपने किनारों से कह दीजो, आँसू तुमको रोते हैं,
अब मैं अपना सोग नशी हूँ, गंगा जी और जमुना जी ।।
मैं जो बगुला बन कर बिखरा, वक्त की पागल आँधी में,
क्या मैं तुम्हारी लहर नहीं हूँ, गंगा जी और जमुना जी ।

——पाकिस्तानी कवि जोन इलिया

हो सकता है पाँच छः सौ वर्षों तक अपने देव स्थानों, मूर्तियों और ग्रन्थों को नष्ट-भ्रष्ट होते देखकर क्षीण मनोबल और दीर्घकालीन परायी हुकूमत के मातहत रहने के कारण और अंगरेजों के आने के तुरन्त पहले भारत की भौतिक राष्ट्रीयता के छिन्न भिन्न होने के आभास होते हों। परन्तु यह भी सत्य नहीं है कि भारत में सदा से ही छोटे-छोटे राज्य थे जिनका परस्पर वैमनस्य के अतिरिक्त आपस में कोई सम्बन्ध नहीं था। मुझे मालूम नहीं पश्चिम में राष्ट्रीयता की कौन सी परिभाषा स्वीकार की जाती है। शायद कोई केन्द्रीय सत्ता जिसका अनुशासन समस्त प्रादेशिक गणराज्य मानते हों, क्योंकि इतिहास के फलक पर कई बार सिद्ध हो चुका है कि एक भाषा, एक धर्म, एक जाति अथवा नस्ल यहाँ तक कि एक भौगोलिक सीमा भी लोगों को एक राष्ट्र बनाने में समर्थ नहीं है, यद्यपि आक्सफोर्ड इंगलिश-डिक्शनरी ने 'नेशन' की यही परिभाषा दी है। परन्तु यह भी सत्य है कि आक्सफोर्ड डिक्शनरी की परिभाषा यदि लागू की जाय तो आज कोई भी देश अपने को राष्ट्र नहीं कह सकेगा। सोवियत संघ में अनेक धर्म, जातियाँ तथा भाषाएँ हैं, जिनमें आपस में आकाश-पाताल का अन्तर है। छोटे से इंग्लैण्ड द्वीप में ही वेल्स और स्काट-लैण्ड की अलग-अलग जातियाँ तथा भाषाएँ हैं। योरोप एक सुनिश्चित भूभाग है, परन्तु वहाँ जर्मन, फ्रेंच, स्पेनी, इतालवी, ग्रीक आदि अनेक राष्ट्र हैं। इन सब का धर्म और नस्ल भी समान है, परन्तु ये उन्हें आपस में जोड़ने के लिये काफी नहीं हैं। इसी प्रकार लातीनी अमेरिका और स्पेन एक ही भाषा बोलते हैं परन्तु वे एक राष्ट्र नहीं हैं। ब्रिटिश साम्राज्य सूर्य के चरमोत्कर्ष काल में आधी दुनिया ब्रिटेन के नरेश को अपना प्रशासनिक और राजनीतिक मुखिया मानती थी, परन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि योरोप से लेकर एशिया और अफ्रीका तक एक ही राष्ट्र बन गया था। मेरी समझ में राष्ट्रीयता धर्म, भाषा, भूगोल और राजनीति से ऊपर उठकर एक सार्वजनीन कल्याण की समग्रता की अमूर्त भावना है, जिसका विकास भारतीय चिन्तन की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और पर-पीड़न परिहार की आधारभूत प्रेरणा से हुआ। भारत में चाहे जितने राज्य, भाषा और धर्म रहे हों सबकी मूल भावना यही रही है कि वे सब भारत के अंग हैं और भारतीय हैं। भारतीय राष्ट्रीयता भारत भूमि की समग्रता से जुड़ी हुई है। सत्य है कि समय-समय पर इस भूमि की सीमा में घट-बढ़ हुई है, रघु-दिग्विजय के समय यह सीमा उत्तर में हिमा-लय, प्राग्ज्योतिष से आरंभ होकर पूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमी समुद्रों के किनारे-किनारे चलती हुई पारसीक, बलूच और अफगानिस्तान की भूमि को अपने में समेटे हुए थी। चक्रवर्ती सम्राट् और अश्वमेध यज्ञों का तात्पर्य यही था कि एक सदय केन्द्रीय सत्ता अपने

३५

अंगभूत साम्राज्यों के स्वत्व और समृद्धि की रक्षा करते हुए उन्हें समग्रता के एक सूत्र में बाँधे, बाह्य आक्रमण से उनकी रक्षा करे। ऋग्वेद काल से बहुत काल बाद तक राष्ट्रीयता की यह भावना काम करती रहीं। अतएव राष्ट्रीयता एक दृष्टि है, एक मानसिक स्थिति है, समग्रता की एक अनुभूति है जो एक विचारधारा के लोगों को आपस में जोड़ती है, उनके क्षेम की रक्षा करती है। स्वयं ऋग्वेद में इस भावना को इन शब्दों में कहा गया है—"अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्।" पौराणिक काल तक आते-आते इस भूमि की भौगोलिक सीमाओं का भी पवित्र वर्णन हो गया। मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है—"दक्षिणं-परतो ह्यस्य पूर्वेण महोदधिः। हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः॥" इसके दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में महासागर हैं, जिसका लम्बा समुद्रतट अच्छी तरह झुके हुए धनुष के समान है, और इसके उत्तर में हिमालय पर्वत धनुष की डोरी के समान तना हुआ खड़ा है। विष्णुपुराण के अनुसार भी यह सीमा समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में ठहरती है—

"उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥"

इसमें संदेह नहीं कि प्रारंभ से ही भारतीयों ने समुद्र और हिमालय के बीच की भूमि को अपना निवासस्थान माना। ऋग्वेद में कहा गया है, "यस्य इमे हिमवन्तः महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।" इसके अतिरिक्त संस्कृत में निबद्ध भारतीय साहित्य की एक लम्बी परम्परा है जिसमें प्रति दिन के छोटे-छोटे कामों में सामूहिकता की भावना का आवाहन किया जाता था। जैसे स्नान करते समय जल में समस्त भारत की नदियों के जल की उपस्थिति मानना, "गंगा च यमुने चैव गोदावरि सरस्वती। नर्मदे सिंधु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।" इसी प्रकार यज्ञ अग्निहोत्र करते समय सब दिशाओं, पर्वतों आदि के नामोच्चारण करना। मन्दिरों की नींव रखते समय समस्त प्रदेशों की मृत्तिका डालना। राज्याभिषेक करते समय समस्त जलस्रोतों का जल लाना। मृत्यु के बाद शरीर की अस्थियों को समस्त भारतीय नदियों में प्रवाहित करना। राष्ट्रीयता की भावना को मुखर करने में संस्कृत भाषा ने भी अपनी विशिष्ट भूमिका निभाई है। अगस्त्य, व्यास, कालिदास, वाल्मीकि आदि ऋषियों के जन्मस्थान का पता नहीं है, परन्तु समूचा भारत उन्हें अपना मानने को उत्सुक है। सब की अपेक्षा हाल ही में जन्मे शंकराचार्य को भी सारा भारत अपना मानता है। संस्कृत के इन सब मनीषियों का दृष्टिकोण अखिल भारतीय था इनकी रचनाएँ पूरे भारत का वर्णन करती थीं, और इन सब ने मिल कर भारतीयता की नींव को सुदृढ़ और मजबूत बनाया है। पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी के अनुसार संस्कृत ने भारतीयता और भारत की समग्रता की भावना का प्रचार किया, अपने साहित्य के माध्यम से बराबर उसको दृढ़ किया 'इसी कारण भारत एक इकाई बन गया'। और यह सब उसी राष्ट्रीय दृष्टि के कारण हुआ जिसकी पहचान वेदों के इन प्रारंभिक सूक्तों में पायी जाती थी, "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" और जो सुभाषितों के द्वारा प्रचारित हुई, जैसे—"अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदार-चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥"

आर्यों के मूल स्थान को भारत से बाहर बतानेवाले लोग यह भूल जाते हैं कि जब एक जनसमूह अपना स्थान छोड़ कर दूसरी जगह संक्रमण करता है तो उसके पुराने स्थान से उसका समूलोच्छेद नहीं हो जाता। पदार्थों का बड़े पैमाने पर स्थानान्तरण हो सकता है, परन्तु उनका सर्वथा लोप कभी नहीं होता। प्रलय के बाद भी कुछ ऐसे तत्व बँधे रहते हैं जिनसे सृष्टि की पुनः सर्जना होती है। अमावस्या की काली रात में भी चद्रमा की समस्त चांदनी का लोप नहीं होता, चाँद की एक कला तब भी बाकी रहती है। अतः आर्य यदि दक्षिण रूस में जन्मे थे, तो उनका अंशावशेष आज वहाँ क्यों नहीं है? इसके अतिरिक्त आर्यों का एक गुण और है, उनकी गुरुधर्मिता जो हमें उनके मूल स्थान को हिमालय के निकट सप्तसैन्धव प्रदेश में खोजने को विवश करता है। इस गुरु धर्मिता के मूल में मानव मात्र के एक होने की दृष्टि थी जिसका प्रतिपादन सर्व प्रथम वैदिक वाङमय में किया गया। वेदों में अनेक स्थलों पर समस्त सृष्टि और समस्त विश्व के एक होने की बात कही गयी है। इसके परिणामस्वरूप भारतीयों की जो जीवन दृष्टि बनी उसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति", "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" आदि वाक्यों द्वारा रूपायित किया गया। इसी विश्व की एकता, विश्वकल्याण और विश्व प्रेम की भावना के वशीभूत होकर आर्यों व प्रागैतिहासिक कालों से दूर-दूर तक पृथ्वी के बहुत से देशों की यात्रा की और उन्हें यह सन्देश दिया कि विश्व की आत्मा एक है। समस्त एशिया, योरोप के कई भाग और दक्षिणी अमेरिका के भूभागों तक आर्यों की इस सांस्कृतिक यात्रा के प्रमाण मिलते हैं। रामायण और महाभारत में ऐसे संस्मरणों का प्राचुर्य है। अकेले वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धा काण्ड के ३७ से ४८ सर्ग के ४१६ श्लोकों में पृथ्वी के उन सब परिचित प्रदेशों का उल्लेख है जहाँ राजा सुग्रीव ने सीता की खोज में अपने दूतों को भेजा था। वानरदूतों के चले जाने के बाद जब श्रीराम ने सुग्रीव से प्रश्न किया कि उसे संसार के इन सब प्रदेशों का ज्ञान कैसे हुआ, तब उत्तर में उसने वह कथा सुनाई जब गुहा में बन्द होकर दुन्दुभि नाम के दानव को मारकर बालि सुग्रीव के पीछे भागा था और उससे बचने के लिए सुग्रीव ने सारे विश्व की परिक्रमा की थी :—

"ततोऽहं वालिना तेन सानुबन्धः प्रधावितः।
नदीश्च विविधाः पश्यन् वनानि नगराणि च॥
एवं मया तदा राजन् प्रत्यक्षमुपलक्षितम्
पृथिवीमण्डलं कृत्स्नम्॥"

इन स्थानों में 'अ र व' (रेतीली होने के कारण 'र व'—हीन शब्दहीन मरुभूमि, आधुनिक अरब प्रदेश), 'सोमिल्ल' (सोमालिया), 'तमसद्वीप' (आस्ट्रेलिया), तक की भूमि का वर्णन है। महाभारत में भी अर्जुन की दूर-दूर देशों की यात्रा और स्थानीय युवतियों से विवाह और सन्तानोत्पादन की कथाएँ बड़े चटकीले और विश्वसनीय ढंग से कही गयी हैं। यह दूसरों को अपनी बात बताने का गुण, उन्हें वेद सम्मत भाईचारा सिखाने की व्याकुलता—और वह भी उनकी अपनी भाषा में—भारतीयों में ही दिखाई देती है। और उनकी यह गुरुधर्मिता, उनकी बड़ी आसानी से दूसरी भाषा सीख लेने की कला, वैदिक काल

से लेकर आज तक चली आ रही है। सम्राट् अशोक और बौद्ध धर्म के प्रचार के समय अपनी चरम तीव्रता और तेजस्विता पर पहुँचकर, यह गुरुधर्मिता अब पुनः प्राणवान और गतिशील हो रही है। आज संसार का शायद ही कोई ऐसा देश हो जहाँ भारतीय अध्यात्म योग और दर्शन के साधना केन्द्र न खुले हों। भारतीय साधुओं, सन्तों और आचार्यों के विस्तृत कार्यक्रमों के —विशेष कर पश्चिम के देशों में—देखकर स्मृतियों का यह वाक्य याद आने लगता है—एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।'' विभिन्न भाषाओं को सीखने में भारतीयों की अद्भुत सामर्थ्य और दक्षता उनकी गुरुधर्मिता की अपने आप में एक विशेषता है, जो इस सीमा तक अन्य जातियों में नहीं देखी जाती। दूसरों को सिखाने के लिए उनकी भाषा जानना आवश्यक है। भारतीय स्वाभाविक रूप से दूसरों से बात करते समय उसी भाषा का प्रयोग करते हैं जो श्रोता को आसानी से बोधगम्य हो। अक्सर मुसलमानों से गंभीर बातचीत करते समय हम फारसी-बहुल उर्दू या उर्दू - मिश्रित हिन्दी का प्रयोग करते हैं। उसी प्रकार इस भ्रम से कि हर एक पश्चिमी व्यक्ति अँगरेज़ी जानता है, हम उससे अँगरेज़ी में बोलने लगते हैं। भारतीयों को छोड़ कर यह प्रवृत्ति सामूहिक रूप से अन्य देशवासियों में नहीं दिखाई देती। इस प्रकार आर्यों को बाहर से आया बताने वाले सारे मत-मतान्तर उनके मूल ग्रन्थ वेदों के अन्तःसाक्ष्य से या तो सर्वथा अपरिचित हैं अथवा उनकी पूर्णतया अवहेलना और अवमूल्यन करते हैं। कभी कभी तो उनकी बातों से ऐसा लगता है कि कि उन्हें इस अन्तःसाक्ष्य का ज्ञान ही नहीं है।

वेदों में आर्यों अथवा मानवों के जिस मूल स्थान की स्मृति है, उसे 'सप्तसिन्धवः' कहा गया है। उन्हें इस भूमि से इतना लगाव है कि वे उसकी प्रशंसा में 'देवकृतयोनि' या 'देवकृत देश' जैसे वाक्यों का प्रयोग करते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ३२ वें सूक्त में कहा गया है, "मैं उन पराक्रमशील कार्यों का वर्णन करूँगा, जिनको इंद्र ने सबसे पहले किया।" अगले २४ मंत्रों में यह बताया गया है कि इन्द्र ने किस प्रकार वृत्रासुर को मारकर उसके पंजे से 'सप्तसिंधुओं' को छुड़ाया। यास्क के अनुसार जल से भरे काले बादल ही वृत्रासुर हैं और स्वयं वर्षा काल का प्रतिरूप इन्द्र जलप्रवाह के रूप में सातों नदियों को पृथ्वी पर लाता है।

> अश्व्योवारो अभवस्तदिन्द्र सृकेयत्वा प्रत्यहन् देव एकः।
> अजयो गा अजयः सूर सोममवासृजः सर्तवे सप्तसिन्धून।।'
>
> (ऋग्वेद—१–३२ मंत्र ११, १२)

मेघ का जल तो सर्वत्र सभी नदियों के जल का पोषण करता है, परन्तु आर्यों की स्मृति जिस कालसीमा से आरंभ होती थी, उसमें इन्हीं सात नदियों की जानकारी थी। वेदों में उनके स्वयं अपने बहुत पुराने होने की स्मृति विद्यमान है। अनेकों स्थलों पर अपने से पूर्व ऋषियों की ओर संकेत है। वैदिक भाषा और भावों की प्रौढ़ता, तर्क-वितर्क, कल्पना, अलंकार और उसकी पारदर्शिक स्वच्छता इन सबसे पता चलता है कि सहस्रों वर्षों की साधना और परिश्रम के बाद ही वैदिक ऋषियों की वाणी की ऐसी परिपक्वता सिद्ध हुई

होगी। पश्चिमी विद्वानों ने केवल अपने भाषाविज्ञान के आधार पर ऋग्वेद का काल ईसा पूर्व पन्द्रहवीं शताब्दी अधिकतम आका है, जब कि कोई भी साधारण बुद्धि वाला समझ सकता है कि वैदिक सभ्यता को विकसित होने और आध्यात्मिकता के उच्चतम शिखर पर पहुँचने में सैंकड़ों नहीं सहस्रों वर्ष लगे होंगे। अकेली संस्कृत भाषा की शुद्धता और व्याकरण को नियमबद्ध और संगठित होते कई सहस्र वर्ष बीत गये होंगे। और जब ऋग्वेद स्वयं अपने से बहुत पीछे के ऋषियों का उल्लेख करता है—"अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः ईड्यो नूतनैः उत", तब तो यह काल और भी पीछे पड़ जाता है। तिलक के अनुसार तो कुछ मन्त्र ऐसे हैं जो १०,००० वर्ष से भी अधिक पुराने जान पड़ते हैं।

परन्तु पश्चिम के क्रिश्चियन विद्वान्, १८ वीं शती के अन्त और १९वीं शती के मध्य तक, बाइबिल में दिये सृष्टि के आरंभ-सम्बन्धी सिद्धान्तों से बाहर जाने की स्थिति में नहीं थे। स्वयं मैक्समूलर कट्टर ईसाई था और ब्राह्मणों के धर्म को ईसाई धर्म से नीचा दिखाने के इरादे से वैदिक शोध के कार्य में प्रवृत्त हुआ था। यह दूसरी बात है कि मिट्टी की खोज करते जब उसके हाथ स्वर्ण लगा तो उसमें इतनी बौद्धिक प्रज्ञा थी कि उसने स्वर्ण को स्वर्ण ही कहा। बाइबिल के अनुसार सृष्टि केवल ८५०० वर्ष पुरानी है। इसलिये वेद तीन-चार सहस्र वर्ष से अधिक पुरातन कैसे हो सकते हैं? मनीषी विद्वान् डा० सम्पूर्णानन्द ने इन सब तर्कों का अनुशीलन करते हुए वेदों की पौराणिकता के सम्बन्ध में भगवद्-गीता पर आधारित एक नया तथ्य प्रस्तुत किया है। गीता के दसवें अध्याय के ३५ वें श्लोक में श्रीकृष्ण भगवान ने अपने को 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' बताया है। अर्थात् मैं मासों में श्रेष्ठ मार्गशीर्ष का महीना हूँ, परन्तु मार्गशीर्ष महीने की सर्दी को देखते हुए कोई उसे बहुत अच्छा महीना नहीं कहेगा। परन्तु आज से ६५०० वर्ष पूर्व नक्षत्रों की परिवर्तनशील स्थिति के कारण वसन्त ऋतु का आगमन 'मृगशिरा' नक्षत्र में होता था, जैसा कि वेद के कुछ मंत्रों के अध्ययन से प्रकट हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता का काल महाभारत-युद्ध के समकालीन है, जिसे लगभग ३५०० से ४००० वर्ष ईसा पूर्व माना गया है। इस गणना से भी डा० सम्पूर्णानन्द का मत ठीक उतरता है। वेद के दशम मण्डल, सूक्त ८५ का तेरहवाँ मन्त्र अपने ज्योतिष संकेतों के कारण १७०० वर्ष पुराना माना जाता है। यहाँ यह भी ध्यान योग्य है कि भारतीय ज्योतिष गणना के अनुसार पृथ्वी का जो काल ठहरता है, वह लगभग ठीक वही है जो भूगर्भ शास्त्रवेत्ताओं की गणना के अनुसार प्राप्त होता है। अर्थात् वेदों का कथन विज्ञान की खोजों के प्रकाश में उत्तरोत्तर सत्य सिद्ध हो रहा है। अतएव आर्यों के मूल स्थान को समस्या के समाधान में वेदों का अन्तरंग साक्ष्य को सर्वथा उपेक्षणीय और अविश्वसनीय मानना हमारी समझ में उचित न होगा।

वैदिक आर्यों को जिन सप्त सिंधुओं की स्मृति है, वे हैं सिन्धु, विपासा, व्यास (व्यास) शतद्रु (सतलुज), वितस्ता (झेलुम), असिक्नी (चिनाब), परुष्णी (रावी) तथा सरस्वती। आर्यों की स्मृति की ये प्रमुख नदियाँ थीं, परन्तु इनके अतिरिक्त दूसरी नदियाँ भी थीं जिनकी

सीमाओं तक आर्यों का विस्तार था, जैसे दृषद्वती और कुभा जिसका वर्तमान नाम काबुल नदी है। परन्तु जिन श्रोतस्विनियों ने आर्यों के जनमानस को सर्वाधिक प्रभावित किया, वे थीं सिन्धु और सरस्वती। वेदों में सिन्धु नदी का जीवित अश्वा (घोड़ी) के रूप में वर्णन है। वह सीधी गति से बहनेवाली, अत्यन्त दीप्तिमान् श्वेत वर्ण वाली, वेगवती नैसर्गिक प्रतिभावाली श्रेष्ठ नदी है। वह घोड़ी के समान दर्शनीय और चित्ताकर्षक शरीरवाली है। सरस्वती नदी को उसकी धवलता और पवित्रता के कारण विद्या और ज्ञान से जोड़ा गया है। ऋग्वेद के प्रारंभिक मंत्रों में ही उसकी प्रशंसा में कहा गया—'चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञंदधे सरस्वती।' सरस्वती सुन्दर सूक्तियों की प्रेरक है, सद्बुद्धियों को चेतना प्रदान करनेवाली है। ऐसी सरस्वती ने हमारे यज्ञ को धारण कर लिया है। नदी के रूप में प्रकट होकर सरस्वती ने अपनी विशाल ऊँची, वेगवान लहरों से पर्वत खण्डों को इस प्रकार तोड़ फोड़ डाला है, जिस प्रकार जड़ों को खोदने वाले मिट्टी के भारी-भारी ढेरों और टीलों को तोड़ डालते हैं। ऐसी जीवन्त और प्रतिभाशालिनी नदी एक दिन राजस्थान के रेतीले मैदानों में लुप्त हो गई। आज उसका नाममात्र ही शेष है—जलमय अस्तित्व नहीं है।

वास्तव में सरस्वती नदी का इतिहास ही आर्यों के मूल स्थान का इतिहास है। सरस्वती नदी की यथार्थ भौगोलिक सीमाएँ क्या थीं, वह क्यों और कैसे लुप्त हो गयीं, इन विषयों पर प्रसिद्ध इतिहासज्ञ ए० सी० दास ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में पर्याप्त प्रकाश डाला है। संक्षेप में उनका कहना है कि आर्यों के 'सप्तसिन्धु' प्रदेश के उत्तर में हिमालय पर्वत था और उसके बाद एक समुद्र था जो वर्तमान तुर्की से लेकर काले सागर तक फैला था। इस समुद्र के उत्तर की भूमि उत्तरी-ध्रुव-प्रदेश तक फैली हुई थी। इसी प्रकार 'सप्तसिन्धु' प्रदेश के दक्षिण में भी एक समुद्र था जो राजस्थान की अरावली पर्वतमाला से लेकर अरब सागर तक फैला था। अरावली पर्वत से पूर्व की ओर भी सागर था जो वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल को ढकता हुआ आसाम तक चला गया था। 'सप्तसिन्धु' के पश्चिम में सुलेमान पर्वत था और उसके पादमूल में भी समुद्री जल की एक पतली धारा प्रवाहित होती थी। इन सब समुद्री प्रदेशों के स्थान पर आज कल रेतीली भूमि उभर आयी है। हाँ, गंगा-यमुना की घाटी उनके द्वारा लायी हुई उपजाऊ मिट्टी से भर जाने के कारण अपवाद स्वरूप है। उत्तरी भारत की आज की भौगोलिक स्थिति की तुलना में ए० सी० दास का यह वर्णन अचरज में डालनेवाला प्रतीत होता है, परन्तु दास के मतानुसार पहले जहाँ समुद्र था, वहाँ आज भी या तो समुद्र की तलहटी के रेतीले मैदान अथवा समुद्री जीवाश्वमय भूमि पायी जाती है। दास का कहना है कि आर्यों की अपने देश की स्मृति पच्चीस से पचास सहस्र वर्ष पुरानी है जबकि उत्तर भारत की भौगोलिक स्थिति बिल्कुल दूसरी थी। दूसरी ओर भू-गर्भशास्त्र की खोजें भी दास के मत का समर्थन करती हैं। भूगर्भगणना के अनुसार विन्ध्य, अरावली और हिमालय के पादमूल में स्थित शिवालिक पर्वत मालाएँ अपेक्षाकृत बहुत पुरानी हैं, जब कि हिमालय एक नया पहाड़ है, जिसके बढ़ने की प्रक्रिया अभी भी

पूरी नहीं हुई है। प्रसिद्ध भूगर्भशास्त्रवेत्ता डा० डी० एन० वाडिया और वनस्पति-अश्म-वैज्ञानिक प्रोफेसर बीरबल साहनी के मतानुसार हिमालय का उत्थान अब भी जारी है। नदियाँ अब भी मिट्टी-पत्थर के ढेर लाकर अपनी तटवर्ती भूमि को ऊँचा कर रही हैं। किन्तु उत्तर भारत का जो भौगोलिक चित्र आज है, वैसा २५-३० सहस्र वर्ष पहले बन चुका था। इस प्रकार आर्यों के सप्तसैन्धवयुगीन उत्तरी भारत के भौगोलिक परिदृश्य को अपना आज का स्वरूप प्राप्त करने में जो समय लगा है, उसके समस्त इतिहास का साक्षी हिमालय पर्वत है। हिमालय की ही उठान के कारण कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और कामरूप से कच्छ तक भारत की एक ठोस राष्ट्रीय भूमि बनी है। यहीं कालान्तर में गंगा, यमुना और उनकी सहायक नदियों का उद्दाम और विकास हुआ, और धीरे-धीरे रामायणकालीन संस्कृति के आते-आते ये नदियाँ समस्त राष्ट्र की निधि और भारत-भूमि की प्रिय पहचान बन गयीं। वैदिककालीन ऋषियों का गंगा-यमुना से परिचय नहीं था, उन्होंने सात सिन्धुओं के ही गीत गाये हैं। इसीलिये हिमालय भारत भूमि और उसकी राष्ट्रीयता का पिता है, जिसे आज कवि दिनकर ने 'मेरे नगपति, मेरे विशाल !' कहकर संबोधित किया है और प्राचीन काल में जिसे कवि-शिरोमणि कालिदास ने समस्त पृथ्वी का 'मानदण्ड' कहा था। राजस्थान के समुद्र को सूखने में बहुत समय लगा। आज उसकी यादगार सांभर झील के खारे पानी के रूप ही रह गयी है। यहाँ रेतीली भूमि के उभरने से पहले सरस्वती नदी इसी समुद्र में आकर गिरती थी। विद्वानों का मत है कि आज जो घग्घर नदी राजस्थान में आकर समाप्त होती है, वह सरस्वती और दृषद्वती का ही मिला जुला अवशेष है।

कहीं अधिक लचर और आश्चर्यजनक पाश्चात्य-जनों का (मेकडोनेल हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर) यह तर्क है कि आर्य मध्य एशिया के सूखी पृथ्वी से घिरे मैदानों में जन्मे थे क्योंकि उन्हें समुद्र का ज्ञान नहीं था। इसका एक कारण यह भी था कि वेदों में कहीं 'लवण' अथवा नमक का उल्लेख नहीं है। वेदों में चावल का भी उल्लेख नहीं है, पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वैदिक जन खेती से या चावल से अपरिचित थे। इन महानुभावों ने वेदों का सम्यक् अध्ययन करने का कष्ट ही नहीं उठाया। माना कि वैदिक वाङ्मय में सिन्धु शब्द नदी और समुद्र दोनों का वाची है, अतएव अकेले 'सिन्धु' शब्द का प्रयोग आर्यों का समुद्र से परिचय सिद्ध नहीं करता। परन्तु वे लोग उन ऋचाओं के बारे में क्या कहेंगे जिनमें 'सिन्धु' और 'समुद्र' शब्द साथ-साथ आया है? "समुद्रेण सिन्धवो यादमाना इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्तः" ऋक्० III-२६-७। यहाँ समुद्र और सिन्धु दोनों अपने-अपने परिचित अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार कतिपय अन्य ऋचाओं में भी इन दोनों शब्दों का साथ-साथ प्रयोग हुआ है। और ऐसी 'शतपद' नौकाओं का भी उल्लेख है जिनका प्रयोग समुद्री यात्राओं के लिए किया जाता होगा। कई मन्त्रों में पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के समुद्रों का वर्णन है। सरस्वती नदी जिस समुद्र में गिरती थी उसे दक्षिण-समुद्र कहा गया है। कहीं-कहीं आर्यों ने अपनी भूमि के चारों ओर भी समुद्र का होना लिखा है। यह भौगोलिक स्थिति लगभग वही है जिसका दिग्दर्शन

ए० सी० दास ने अपने ग्रन्थ में विस्तार से किया है। वेदों में 'समुद्र', 'अर्णव' तथा इनके पर्यायों का भी प्रयोग हुआ है। जो लोग आंखों में उँगली डाल कर दिखाने से भी न देखना चाहें उनके सम्बन्ध में क्या किया जा सकता है ?

ऋतुओं की दृष्टि से भी आर्यों का उद्गम स्थान भारतवर्ष ही ठहरता है। वर्षा ऋतु की गरज-तरज, बादलों के समूह, बिजली की कड़क, मूसलाधार वर्षा, उल्कापात आदि भारतीय वर्षाकाल की विशेषता है, जिनका अत्यन्त सजीव और चित्रमय वर्णन ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर है। इन्द्र ने बादलों के व्यूह को फाड़ डाला, जल प्रवाह के द्वार खोल दिये और रुकी हुई धाराओं को मुक्त कर दिया। ऐसे वर्णन सामान्य वर्षा की स्मृति नहीं हैं वरन् तीव्र झंझायुक्त जलप्रपात की ओर संकेत करते हैं, जो भारत की विशेषता है और जिसके गीत वेदों से लेकर वाल्मीकि और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं में गाये गये हैं। मध्य-एशिया में इस प्रकार की दृष्टि का साक्षात्कार नहीं होता। अपने तर्कों का समाहार करते हुए डा० सम्पूर्णानन्द लिखते हैं, "यही वह प्रदेश था जिसमें वेदों के अनुसार आर्य लोग रहते थे। इसके पहाड़, इसकी भूमि, इसकी नदियाँ उनको प्यारी थीं। यहीं उनकी संस्कृति का उदय और विकास हुआ। यहीं उनका अभ्युदय हुआ और उनको निःश्रेयस की दीक्षा मिली। यह पुनः पुनः स्मरण रखने की बात है कि वेद कहीं इस बात का संकेत भी नहीं करते कि इस प्रदेश में बसने के पूर्व आर्यों के पूर्वज कहीं अन्यत्र बसते थे।"

आर्यों के भारत में ही उद्भव के पक्ष में एक बहुत बड़ा और अकाट्य प्रमाण सोमलता का है जो आर्यों को अत्यन्त प्रिय थी। आर्य सोम के बिना यज्ञ नहीं कर सकते थे। सोमपादप मध्य-एशिया में नहीं पाया जाता। सोम पश्चिमोत्तर हिमालय के मुँजवान पर्वत पर ही होता है। सोम प्राप्त होने के अन्य स्थान भी हैं, परन्तु वे सब भारतवर्ष में हैं। सह्याद्रि, महेन्द्राचल, श्रीशैल, देवगिरि, पंजाब और सिन्ध के कुछ भागों में भी सोम के होने का पता चला है। वेदों में तो सोम का उल्लेख बहुत अधिक है परन्तु सोमरस तैयार करने की विधि परवर्ती साहित्य में विस्तार से दी गयी है :—

सोमकन्दं सुवर्णसूच्या विदार्य पयो गृणीयात्।
दसवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम्॥

सोम का ज्ञान आर्यों के सजातीय पारसियों को भी था। पारसियों के धर्म ग्रन्थ अवेस्ता में (जिसकी भाषा वेदों से बहुत मिलती है) भी सोम की महिमा गायी गयी है, यद्यपि स्वरशास्त्र के अनुसार वहाँ उसका रूप 'होम' हो गया है। सोमलता के आर्यों से जुड़े होने की कथा और उसके प्रमाण इतने अधिक हैं कि उनका विधिवत् विश्लेषण करना इस छोटे से अध्ययन में संभव नहीं है। यदि आर्य रूस के दक्षिण से आये हैं तो वहाँ सोम प्राप्त होने के प्रमाण क्यों नहीं हैं ?

उपरोक्त शास्त्रीय प्रमाणों को यदि छोड़ भी दें, तो भी सामान्य बुद्धि के अनुसार आर्यों का मूल स्थान भारत से बाहर नहीं सिद्ध होता। सबसे पहले तो यही प्रश्न उठता है कि यदि आर्य बाहर से आये थे तो उन्होंने उन देशों में उन मानसिकता और चिन्तन

बुद्धि का विकास क्यों नहीं किया, जो भारत में वेदों और उपनिषदों के रूप में प्रकट हुई ? प्रश्न का एक समाधान यह हो सकता है कि आर्यों की जो शाखाएँ मूल से कट कर बाहर चली गयीं, वे अपने दर्शन और संस्कृति में इतनी निष्ठावान नहीं थीं। इतिहास और पुराणों में ऐसे अनेक कथानक मिलते हैं, जहाँ राजाओं और ऋषियों ने अपराधी जातियों को धर्मच्युत (नियम और अनुशासनहीन) हो जाने के कारण देश से बाहर निकाल दिया। ययाति के पाँचों पुत्र, विश्वामित्र के १०० में से ५० पुत्र तथा सगर की सहस्र संख्य सन्तान किसी-न-किसी अपराध के कारण निष्कासित हुए और म्लेच्छ कहलाए। भारत में ऐसी अनेक जातियों का शक, यवन, कम्बोज, पारद, पह्लव, कौलि, सर्प, महिष, दार्व, चोल, केरल आदि नामों से उल्लेख है। समसामयिक अनुभव ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि बाहर से आकर बसनेवालों में उद्यम और जीवनीशक्ति अधिक प्रबल होती है और शीघ्र ही वे लोग अपने श्रम के बल पर समृद्ध हो जाते हैं। योरोप में जब धार्मिक असहिष्णुता के कारण लोगों पर अत्याचार हुआ तो 'पिलग्रिम फादर्स' के रूप में वे अमेरिका महाद्वीप में जाकर बस गये। ब्रिटेन से चोरी, हत्या और डकैती के अपराधियों को सुदूर आस्ट्रेलिया-न्यूजीलैण्ड में निष्कासित कर दिया गया। जीविका की खोज में डच समुद्री डाकुओं ने दक्षिण अफ्रीका पर अधिकार कर लिया। इन सभी प्रदेशों की आज की समृद्धि आये हुए लोगों के अध्यवसाय और प्रगति का साक्षात् परिचय देती है। बहुत काल तक अच्छे जलवायु और प्रचुर आहार वाले प्रदेश में रहते-रहते किसी भी जाति की जीवन्तता निर्बल और क्षीण पड़ जाती है, और धीरे-धीरे वह जाति श्रीहीन होने लगती है। वेदों और उपनिषदों तथा भारतीय इतिहास के मौर्य शुंग, विक्रम और गुप्तकाल के गौरवमय युग के बाद हिन्दू जाति का जो ह्रास हुआ, बाहरी आक्रमणों के समक्ष उसकी जो सामूहिक निष्क्रियता रही, उससे भी इसी बात का संकेत मिलता है कि बहुत काल तक आराम से रहने के कारण ये लोग आलसी और अपराक्रमी हो गये थे। आर्यों के वंशजों की धर्म और कर्मकांड संबंधी कट्टरता और संकुचित दृष्टि आज भी अस्पृश्यों, पददलितों और अनुसूचित जातियों के सम्बन्ध में देखी जाती है। भारत में लोगों का बड़ी संख्या में धर्म परिवर्तन कर लेना, ईसाई और मुसलमान बन जाना, इसी मनोवृत्ति का परिणाम है। ए० सी० दास ने वेल्स की 'आउटलाइन्स आफ़ हिस्ट्री' से अवतरण देकर दिखाया है कि कोई १०–१२ हजार वर्ष पूर्व ऐसे अर्धसभ्य लोग, जो खेती करना और पशु पालना जानते थे ईरान अथवा भारत या दक्षिण-पश्चिमी एशिया के किसी भाग से योरोप में जाकर फैले।

बीसवीं सदी के तीसरे दशक में सिन्धु घाटी में भूगर्भशास्त्रियों ने दो महत्वपूर्ण खोजें कीं। मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा में ईसा पूर्व ३५००–४००० वर्ष पुरानी सभ्यता के अवशेष पाये गये। एक बार फिर पश्चिमी विद्वानों ने इन अवशेषों की अपने ढंग से व्याख्या की। उसका कहना था कि यहाँ पहले कृषिकर्मी नगर सभ्यता वाले द्रविड़ परिवार रहते थे, जिन्हें बाहर से आये आर्यों ने खदेड़ कर दक्षिण की ओर भेज दिया। आर्यों के पास लोहे के बने अस्त्र थे और अश्वशक्ति थी जिसका सामना समृद्ध और शान्तिप्रिय

द्रविड़ नहीं कर सके। इस कुतर्क का खण्डन करते हुए आचार्य किशोरीदास लिखते हैं, "यह कल्पना किसी दुरभिसन्धि से की गयी है। वेदों में 'देवासुर-संग्राम' की तो चर्चा है, पर आर्य-द्रविड़-संग्राम का कहीं उल्लेख नहीं है, और न द्रविड़ - साहित्य में ही कहीं इसकी चर्चा है कि आर्यों ने हमें मारकाट कर यहाँ समुद्र तट तक खदेड़ दिया।" यदि पश्चिमी विद्वानों की कल्पना के अनुसार आर्य द्रविड़ या उत्तर-दक्षिण संग्राम कभी हुआ होता तो उसकी स्मृति भारतीय पुरातत्व अथवा वाङमय में अवश्य होती। सुदूर विस्मृत अतीत में देवासुर संग्राम हुआ था। इसकी स्मृति स्वयं वेद में, अवेस्ता में और पौराणिक ग्रन्थों में आज तक मौजूद है। डा० सम्पूर्णानन्द के अनुसार 'देव' शब्द √दिव् धातु से निकला है, जिसका अर्थ है चमकना। जो चमकता है, प्रकाशमान है वह देव है। असुर वह है जो 'असु' वाला है, जिसमें प्राणशक्ति है, जो बलवान है। ऋग्वेद में 'असुर' शब्द का प्रयोग भी देवताओं के लिये है। धीरे-धीरे इन दोनों शब्दों के प्रयोग में अन्तर पड़ा और 'देव' शब्द इन्द्रादि देवताओं के लिये, तथा 'असुर' शब्द उनके बलवान शत्रुओं, दैत्यों के लिये प्रयुक्त हुआ। 'राक्षस' शब्द का भी कुछ ऐसा ही इतिहास है। आर्यों की एक शाखा अपने को 'रक्षस' रक्षा करने वाला कहती थी। ये लोग लंका में जाकर बस गये और खूब समृद्ध हुए। रावण इन्हीं का वंशज था और ब्राह्मण था। वह प्रकाण्ड प्रतापी पंडित और दर्शनीय था। आर्यों से जब राक्षसों की शत्रुता हुई तो राक्षस शब्द के अर्थ बदल कर दैत्य या दानव हो गये। आगे चलकर इसी प्रयोग भेद से देवताओं और असुरों में शत्रुता बढ़ी और युद्ध हुआ। परन्तु यह युद्ध दो विभिन्न समूहों या जातियों में न होकर एक ही परिवार की दो शाखाओं में हुआ। देवता और असुर आपस में सौतेले भाई थे। प्रजापति की दो पत्नियाँ थीं—एक अदिति दूसरी दिति। दिति की सन्तान दैत्य कहलाई, अदिति ने आदित्यों अथवा देवताओं को जन्म दिया। देवता अपने यज्ञों से इन्द्रादि देवों को प्रसन्न करना चाहते थे, असुर इसका विरोध करते थे। एक ही परिवार के सदस्य होने के कारण झगड़े के और भी कारण होंगे। डा० सम्पूर्णानन्द लिखते हैं—"देवासुर संग्राम आर्यों का यादवीय युद्ध था।" सिन्धु घाटी से प्राप्त लिपि चिह्नों को पढ़ने के प्रयास भी लगातार जारी हैं। प्रोफेसर राव और डा० फतहसिंह के अनुसार सिन्धु लिपि और भाषा वैदिक भाषा का ही पूर्व रूप है। वह द्रविड़ों की भाषा नहीं है। डा० फतहसिंह ने सिंधु घाटी लिपि की ब्राह्मी, फारसी और देवनागरी लिपियों से समानता भी सिद्ध की है। यहाँ हम यह भी देखना चाहेंगे कि स्वयं द्रविड़ों के आर्यों और समग्र भारतवर्ष की एकता के बारे में क्या विचार थे ? डा० फतहसिंह ने अपने शोधप्रबन्ध 'उत्तरदक्षिण की संनातन एकता' में इस विषय पर बहुत सामग्री एकत्रित की है। उसमें से कुछ का ही उल्लेख यहाँ संभव है। डा० कृष्ण स्वामी आयंगर ने प्राचीन संगम साहित्य के प्रमाण देकर बताया है कि प्रान्तीय तमिल परम्परा में राष्ट्रभूमि को चेर और पाण्ड्य-प्रदेशों से लेकर हिमालय तक माना जाता था, और राष्ट्रभूमि से जिन देवताओं का सम्बन्ध था, उनमें विष्णु, रुद्र, सुब्रह्मण्य, इन्द्र आदि वैदिक देवताओं की भी गिनती है। प्राचीन तमिल काव्य के अनेक पात्र सारी भारत-भूमि का भ्रमण करते हैं जिनमें हिमालय के शिखर, गंगा की धारा, उज्जयिनीपुरी, विन्ध्याटवी, तिरुपति स्थानम्, कावेरी नदी की अन्न से भरी

घाटियाँ आदि अनेकों स्थानों का सरस रुचिमय वर्णन है। डा० फतहसिंह का निश्चित मत है कि ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी से बहुत पहले दक्षिण-भारत वैदिक-संस्कृति का गढ़ था और उस समय वहाँ के लोग कन्याकुमारी से हिमालय तक के भूखण्ड को अपना ही देश मानते थे।

देवासुर संग्राम के समान भारतीयों के मन से महाभारत युद्ध की भी स्मृति नहीं मिटी है। अनेक देशी-विदेशी विद्वान् अनेक देशी-विदेशी कारणों से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि महाभारत युद्ध कभी हुआ ही नहीं था। परन्तु उनकी समस्त बौद्धिक अटकलबाजियों के बावजूद महाभारत-युद्ध की स्मृति और उसके कुपरिणामों को कोई हमारे मानस से मिटा नहीं सकता। इस युद्ध की स्मृति अकेले भारत ही नहीं, निकटवर्ती द० पू० एशिया के सभी प्रदेशों में फैली हुई है। इन्दोनीसिया में यह 'जय' अथवा 'भरत-युद्ध' के नाम से प्रचलित है। आर्य-द्रविड़ युद्ध की अंग्रेजों की बुद्धि के बाहर कभी हुआ होता, तो उसकी स्मृति के अवशेष भारतीय वाङ्मय में कहीं न कहीं अवश्य मिलते। विशेष-कर तमिल और उसकी सजातीय भाषाओं में तो यह प्रमाण अवश्य ही उपलब्ध होते। परन्तु कई हजार वर्ष पुराने तमिल-ग्रंथों तक में इस संग्राम का कोई जिक्र नहीं है जबकि अनेक अन्य पुरातन आख्यान वहाँ सुन्दर सुललित भाषा में लिपिबद्ध हैं। वास्तव में आर्य शब्द उतना जातिवाचक नहीं है, जितना वह 'सभ्यता' वाचक है। 'आर्य' शब्द के अर्थ हैं सभ्य प्रगतिशील, सुसंस्कृत आगे चलने वाला (√ऋ + ण्यत्) = आर्य √ऋ धातु का प्रयोग गति के अर्थ में होता है। दक्षिण की भाषाओं में भी सभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति को 'आर्य', 'अज्ज' या 'अय्या' कहते हैं। कर्णाटक और आन्ध्र के अनेक नामों के पीछे 'अय्या' लगा रहता है। महाराष्ट्र में दादा-दादी को 'आजा' 'आर्जी' कहते हैं। स्मृतियों में 'आर्य' की परिभाषा इस प्रकार है, "कर्त्तव्यमाचरन् कार्यमकर्त्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य इति स्मृतः।" महाभारत में भी 'आर्य' सभ्यता का द्योतक है जाति का नहीं। "वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया।"

अब प्रश्न उठता है कि द्रविड़ हैं कौन ? और इस प्रश्न को सुलझाने में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी जी ने अपनी अनोखी सूझ का परिचय दिया है। वेदों में अनेक स्थलों पर 'पञ्चजनों' का उल्लेख आया है। सब पाँच-जन मिल कर मेरे यज्ञ का सम्पादन करें। जैसे—"ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् ॥" ऋ० १०।४३।४, "एकं त्वा सत्पति पांचजन्यं जातं श्रणोकि यज्ञसं जनेषु।" ऋ० ४।३३।११—यास्क के निरुक्त के अनुसार ये 'पञ्चजन' सारे भारत के प्रतीक हैं। यास्क कहते हैं कि महर्षि उप-मन्यु ने आर्यों के चारों वर्णों व और पाँचवें 'निषादों' को 'पञ्चजन' माना है। अब अगला प्रश्न उठता है कि ये 'निषाद' कौन थे। 'नि'—ले जानेवाली नाव में 'सद्' जो लोग बैठते थे वे 'निषाद' हुए। निषाद मल्लाहों, जल में नावें चलाने वालों को भी कहते हैं। वाल्मीकि रामायण के निषादराज और उसके अनेक सजातीय नौवाहकों का ही कार्य करते थे। आचार्य वाजपेयी का विचार है कि अत्यन्त प्राचीन काल में किन्हीं कारणों से किसी देश से लोग बहुत बड़ी संख्या में भारत के दक्षिणी छोर पर आकर बसे थे। 'निषाद'

के अर्थ 'आकर बैठ जाना', 'बस जाना' भी हैं, जिसे आजकल अँगरेजी में 'स्क्वाटर्स'—'आकर बैठ गए लोग'—कहते हैं। द्रविड़ों की भाषा तथा कतिपय अन्य विशेषताओं की अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और दक्षिण-समुद्री द्वीप निवासियों से समानता पायी गयी है। कुछ लोग पृथ्वी के दक्षिणी गोलार्ध पर स्थित अति प्राचीन गोंडवाना महाद्वीप पर इन सब जातियों का एक समान उद्भव मानते हैं। तथ्य की खोज की यह एक दिशा अवश्य है। आज जिन्हें हम 'तमिल' जैसे शब्दों से जानते हैं, उनका सामान्य अभिधान द्रविड़ है। द्रविड़ जन समुद्री मार्ग से आये, और भारत तथा लंका के समुद्री तट पर दूर दूर तक फैल गये। इनकी अपनी व्यवस्था थी, अपना तन्त्र था। समुद्री व्यापार के कारण ये लोग खूब सम्पन्न थे और शायद इनकी सम्पन्नता को देखते हुए आर्य जन इन्हें 'द्रविण' कहने लगे। यह द्रविण शब्द ही आगे चलकर द्रविड़ बन गया। वेदों में द्रविड़ों के लिये 'निषाद' शब्द का प्रयोग सम्मान के ही अर्थ में हुआ है। द्रविड़ों में 'चातुर्वर्ण्य व्यवस्था' नहीं थी। यद्यपि आर्यों से घुल मिल जाने के कारण उनमें भी वर्ण व्यवस्था के अंकुर पनपने लगे थे। उनमें अभिजात और निचले दो वर्ग ही थे, ब्राह्मण भी थे परन्तु वे कालान्तर में उत्तर भारत से अनेक कारणों से गये हुए प्रतीत होते थे। इनमें प्रमुख ऋषि अगस्त्य थे जिन्होंने आगे चलकर तमिल भाषा का व्याकरण बनाया। अगस्त्य उत्तर और दक्षिण भारत में समान रूप से संपूज्य हैं और याद किये जाते हैं, यहाँ तक कि द० पू० एशिया के सुवर्ण द्वीप (इन्दोनेसिया) में ऋषि अगस्त्य के रामायण, महाभारत सहित इतिहास और पुराणों को लेकर आने के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। जोग-जकार्ता के परमबनान मन्दिर की परिक्रमा में जहाँ प्रस्तर खण्डों पर रामायण की प्रमुख घटनाएँ अंकित हैं, वहाँ पहली ही शिला पर रुद्राक्ष और कमण्डलु मण्डित ऋषि अगस्त्य की मूर्ति प्रतिष्ठित है।

अनेक विद्वानों का मत है कि आर्य और द्रविड़ जातियों (अंग्रेजी 'रेस') का नाम न होकर भाषाओं के नाम हैं। डा० फतहसिंह लिखते हैं, "जहाँ तक आर्य और द्रविड़ नस्लों का प्रश्न है, अधिकारी विद्वान् मान चुके हैं कि इस नाम की कोई नस्लें नहीं हैं।" मार्शल, काल्डवेल और हेरास जैसे ब्रिटिश साम्राज्य के पृष्ठपोषकों ने ही आज से लगभग १०० वर्ष पहले भारत को भीतर से तोड़ने के मन्तव्य से आर्य-द्रविड़ जातियों की बात चलाई। प्रोफेसर बाशम तथा नीलकंठ शास्त्री दोनों का मत भी यही है। कलकत्ता वि० वि० के नृतत्वशास्त्री प्रोफेसर शशांक शेखर सरकार का भी कहना है कि "आर्य और द्रविड़ भाषा परिवारों के नाम हैं, परन्तु प्रायः उनका प्रयोग नस्ल के अर्थ में हुआ है और अब भी हो रहा है। 'आर्यन रेस' पश्चिम को आर्य जाति का मन्त्र सर्वप्रथम मैक्समूलर ने दिया था परन्तु उसका दुष्प्रयोग होते देखकर स्वयं ही कहा था—"आर्य शब्द का प्रयोग नस्ल के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। मैंने बार-बार घोषणा की है कि यदि मैं आर्य शब्द का प्रयोग करता हूँ, तो मेरा अभिप्राय न किसी रक्त से होता है, न अस्थि, केश अथवा खोपड़ी से होता है, मेरा अभिप्राय केवल उन लोगों से है जो आर्य भाषा बोलते हैं।" महर्षि अरविंद ने भी आर्यों और द्रविड़ों में भेद की दृष्टि को अवैज्ञानिक बताया है। वे कहते हैं कि आर्यों और द्रविड़ों की दो अलग संस्कृतियाँ हैं, जातियाँ नहीं।" इसी प्रकार अन्य अनेक

विद्वान् हैं जो, आर्यों और द्रविड़ों में भाषायी अन्तर के अतिरिक्त कोई दूसरा भेद नहीं मानते। दोनों एक ही भारत राष्ट्र की सन्तान हैं।

उपरोक्त संक्षिप्त विवरण से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि मुगल काल के अन्त तक भारतवर्ष में राष्ट्रीयता सम्बन्धी जो भेद और अलगाव की दृष्टि नहीं थी, उसका अँगरेजों के आने के बाद सूत्रपात हो गया। धीरे-धीरे जैसे भारतीय पठन-पाठन और सांस्कृतिक परम्परा का ह्रास होता गया, भारत की एकता की वह दृष्टि लुप्त होती गयी, और हमारा बौद्धिक वर्ग पश्चिमी फतवों और मतों से प्रभावित होता गया। आज जब हिन्दी, संस्कृत और अन्य भाषाओं के विद्वानों को अपढ़ और गँवार समझा जाता है, तो उनकी की हुई खोजों, उनके लिखे ग्रन्थों को प्रामाणिक कौन मानेगा? आर्य भारत के हैं, वे यहीं जन्मे, पले, बड़े हुए और विश्व के अनेक भागों में फैले इस विषय पर दो राय नहीं हो सकतीं। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डा० राधा कुमुद मुखर्जी, श्री के० एम० पणिकर, महा-महोपाध्याय श्री गंगानाथ झा, डा० डी० एस० त्रिवेदी, श्री एल० डी० कल्ला, कन्हैयाल मुँशी, प्रोफेसर श्रीकान्त शास्त्री, आर० सी० मजुमदार और ए० डी० पुसालकर कृत वैदिक-काल का इतिहास आदि अनेक नाम हैं जो आर्यों को बाहर से आया नहीं मानते। परन्तु आज जिनके पास सत्ता है, वे इस ज्ञान को अनदेखा करते हैं। पश्चिमी प्रचारों और अटकलों से वे इस सीमा तक प्रभावित हैं कि उनके मन में तथ्य कुछ और हो सकता है, यह विचार ही उद्भूत नहीं हो पाता। भारत की पृथ्वी के और समुद्र के गर्भ में पेट्रोल का तेल और गैस उपस्थित था। परन्तु जब तक इस देश में अँगरेज रहे, वे बराबर यही कहते रहे कि भारत तेलशून्य है। आज हमारे अपने प्रयत्नों से अनेक स्थानों पर तेल के बड़े-बड़े सोते फूट निकले हैं। यही हाल हमारी सांस्कृतिक परम्परा का है। अँगरेजी वातावरण में पले-पुसे, अंगरेजियत से घिरे, अँगरेजी भाषा बोलने वाले भारत के वर्तमान कर्त्ता-धर्त्ता अँगरेजी की काल कोठरी में कैद हैं। भारत के चेहरे और उसकी आत्मा को देखने के लिये उनके पास उस कोठरी में कोई द्वार नहीं है। विवश होकर वे वही राग अलाप रहे हैं जिसे उन्हें उनके अंग्रेज मालिकों ने सिखाया है। नहीं तो भारतीय विद्वानों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों की इतनी लम्बी परम्परा के होते हुए, उस सारी सामग्री की उपेक्षा करना और क्षणिक भौतिक स्वार्थों के वशीभूत होकर आर्यों को बाहर से आनेवाला बताते जाना स्वयं अपने आपको इस स्वर्गीय भारतभूमि से निर्वासित करना है। संस्कृत को विदेशी भाषा बताकर, एकाध भाषाओं को छोड़कर वर्तमान की अन्य सब भारतीय भाषाओं को समुद्र पार फेंक देना है। यही वह देश है, जहाँ मातृभूमि को अपने भूत और भव्य की स्वामिनी कहा गया था, उनके ऊँचे-नीचे और समतल स्थलों के गीत गाये गये थे, उनमें प्राप्त नाना प्रकार की ओषधियों, समुद्र, सिन्धु, आपः, अन्न, कृषि, गाय, अश्व और पक्षियों का यथाविधि स्मरण किया गया था। यह ऋतंभरा, विश्वंभरा हमारी वसुन्धरा थी, यह अपने वक्षस्थल में सोने को धारण करती थी। देवता अप्रमाद निरन्तर इसकी रक्षा करते हैं और हम इससे 'प्रियमधु' दुहते थे, यह हमें वर्चस् प्रदान करती थी। यह पृथ्वी हमारा उत्तम राष्ट्र थी और तब स्वास्थ्य और गर्व से हम ऊँचा सिर

करके कहते थे—"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" । परन्तु आज हमारे उस पौरुष और वर्चस् को क्या हो गया है, जो हम स्वर्ण को छोड़ लोहे के पीछे भाग रहे हैं, हीरे को छोड़ काँच से प्रसन्न हो रहे हैं ? यह बुद्धिविपर्यय है जिसका कारण है स्वार्थ, क्षणिक सत्ता का मद और लोभ । और जिससे उपनिषद्कार भी अपरिचित नहीं था । सच है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्वित् धनम् ।।"

भारत की राष्ट्रीयता की खोज बिना राष्ट्र प्रेम के नहीं हो सकती । और अँगरेजी राष्ट्र-प्रेम सिखा नहीं सकती । अतएव हमें पुनः बालक बन अपनी माताओं के निकट मातृ-भाषाओं को सीखना है, उन्हें आदर देना है, उनके माध्यम से अपने विचार व्यक्त करने हैं । तभी हम आत्मान्वेषण में सफल होंगे, अपने आपको पहचान सकेंगे ।



आचार्य वाजपेयी के दो विचारोत्तेजक निबन्ध

डा० श्यामसुन्दरदास शास्त्री
(राष्ट्रीय संन्यासी) हरिद्वार

आचार्य वाजपेयी हिन्दी के उद्‌भट वैयाकरण और साहित्यशास्त्री तो हैं ही, वह समाजशास्त्री भी हैं। उनकी चिन्ता-धारा मानवतावादी रही है। अतीत के उत्तमांश की युगानुरूप व्याख्या और संकीर्ण अंश के परित्याग की भावना ने उनके चिन्तन को आधुनिक बोध से संबलित किया है। यहाँ उनके दो ऐसे निबन्धों का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है, जो वर्णाश्रम धर्म के सम्बन्ध में उनकी राष्ट्रीय मौलिक दृष्टि की सूचना देते हैं। "ब्राह्मण, सावधान !" तथा "वैष्णव-धर्म और आर्यसमाज" उनके विचारोत्तेजक निबन्ध हैं जिन्होंने भारतीय पुनर्जागरण के क्षितिज पर नवीन रंग विकीर्ण किया है। प्रस्तुत लेख में क्रमशः दोनों की निबन्धों की मौलिक मान्यताओं का विहंगावलोकन प्रस्तावित है।

ब्राह्मण सावधान !

भारत परतंत्रता की बेड़ी में जकड़ा है। मुट्ठी-भर अंग्रेज इस विशाल "धर्म-संस्कृति—सम्पत्ति" सम्पन्न भारतवर्ष को अपने चंगुल से खिसकता जानकर पुनः अपने भाग्य पर रो रहे थे। देश में विभिन्न प्रकार की धारणाएँ उग्र रूप में दिखलायी दे रही थीं। परतंत्रता के युग में "मुस्लिम" नेताओं एवं जनता का अंग्रेजों के प्रति झुकाव होने के कारण हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के प्रति उपेक्षा एवं उदासीनता का रुख होने के कारण हिन्दू कूपमण्डूक की तरह पड़े थे। कुछ हिन्दू-धर्म विरोधी नेताओं ने हिन्दुत्व एवं राष्ट्रीयता का एक साथ न रहने सम्बन्धी अनुचित एवं भ्रामक धारणा समाज में उत्पन्न कर दी। इस उलझन को महर्षि पं० मदन मोहन मालवीय ने बड़ी ही बुद्धिमत्ता एवं चतुरता से सुलझाया और हिन्दू-जाति का कुशल पथ प्रदर्शन किया। इसी संक्रांति काल सन् १९४६ में आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी जी ने उक्त निबन्ध की रचना की। इस काल को आचार्य जी ने निम्न शब्दों में चिह्नित किया है—

है संक्रांति काल, कुछ कर लो, यही मुक्ति की है बेला।
किन्तु देखना, लुट मत जाना, आखिर तो यह है मेला ॥

लेखन का प्रयोजन—

काशी के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय पत्र "आज" में विद्वद्वर बाबू सम्पूर्णानन्द जी का एक सामाजिक तथा सांस्कृतिक महत्वपूर्ण लेख कई अंकों में निकला था—शीर्षक था — "ब्राह्मण ! सावधान !" इस पुस्तक को पढ़कर आचार्य जी के मन में इस विषय पर कुछ लिखने की प्रेरणा मिली। तत्पश्चात् आचार्य जी के उक्त शीर्षक से ही अपने निबन्ध में डा० बाबू सम्पूर्णानन्द जी के लेख का रचनात्मक उत्तर दिया।

डा० राममनोहर लोहिया कहते थे कि ब्राह्मण ने भारतीय मन और वैश्य ने पूंजी पर अधिकार कर भारतीय समाज को विकृत किया है—वर्गवैषम्य के मूल में ब्राह्मण—

व्यवस्था उत्तरदायी है—वाजपेयी जी ने इस निबन्ध में ब्राह्मण को बुद्धि-वैभव का प्रतीक माना है। मेरी दृढ़ धारणा है कि इसी चिन्तन ने भारतीय जीवन पद्धति को नई दिशा दी है—ब्राह्मणत्व सार्वभौम संपत्ति है, उसका दृष्टिकोण भारतीय समाज का शोषण नहीं कहा जा सकता—स्वतंत्रता-आन्दोलन ब्राह्मण संगठन का फल है—अतः आधुनिक प्रगतिशील उग्रवादी राजनयिकों को पुनः चिन्तन करना चाहिए। वाजपेयी जी का दृष्टिकोण उन्हें विचार के लिए पुष्ट आधार दे सकता है—

> "इस समय हिन्दू जाति के लिए कठिन समस्या उपस्थित है। कुछ "ब्राह्मण" सावधान हैं और कुछ तैयारी कर रहे हैं। महर्षि मालवीय ने जन्मभर प्रकाश-स्तम्भ का काम दिया है। वीर सावरकर, भाई परमानन्द, लोकनायक अणे, डाक्टर मुंजे, डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी आदि विद्वान् तथा कर्मठ ब्राह्मण हिन्दू-जाति के पुनरुत्थान के काम में लगे हुए हैं। इन्होंने अपने नेतृत्व की भी चिन्ता न की। जन्म भर राष्ट्रीय युद्ध में लगे रहे—जेल, काला पानी और फाँसी के तख्ते तक पहुँचे। सब कुछ सहा, परन्तु जब "राष्ट्रीय सरकार" तथा "राष्ट्रीय प्रान्तीय मंत्रिमण्डल" बनने का समय समीप आया तब ये कांग्रेस से अलग हो गये। जब "दूसरे" लोग भी विजय सन्निहित देखकर इधर आने लगे, तब ये इधर से उधर कुछ अलग हुए, कांग्रेस छोड़ गये। वस्तुतः कांग्रेस से इन्हें अलग किया गया। ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी गयी। हिन्दुत्व संभालो, या कांग्रेसी रहो। दोनों चीजें एक साथ नहीं। इन लोगों ने कांग्रेस छोड़ दी। परन्तु राष्ट्रीयता कौन छुड़ा सकता था?
>
> इस प्रकार हिन्दू-संगठन काम करनेवाले प्रायः ब्राह्मण ही हैं। हाँ, स्वर्गीय लाला लाजपतराय ने हिन्दू-संगठन का जो काम दो ही चार वर्ष में कर दिया था, वह सैकड़ों ब्राह्मण सैकड़ों वर्षों में भी नहीं कर सकते। महर्षि मालवीय, लालाजी को हिन्दू महासभा में ले आये थे। उनके न रहने पर वह दिशा सूनी हो गयी। कुछ ब्राह्मण जुटे हैं। कांग्रेस का नेतृत्व छोड़ देने पर भी कल नहीं। और कुछ नहीं, तो ब्राह्मणत्व को ही लोग फटकार बताने लगे। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। साम्प्रदायिकता की जड़ ब्राह्मण। अपने मतलब के लिए हिन्दू-जाति को गुमराह कर रहे हैं। ऐसी बातें चलीं। संसार है।"[१]

तात्पर्य यह कि ब्राह्मण ने जन्मना होकर भी राष्ट्र के लिए असाधारण कार्य किया और उसकी यह विशेषता अन्य जन्मना वर्ण वालों के लिए भी प्रेरक सिद्ध हुई। ब्राह्मणेतर सभी समाज सुधारक और विचारक जन्म से नहीं तो चेतना से ब्राह्मणत्व के ही प्रतिनिधि हैं।

१—ब्राह्मण, सावधान—आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी—प्रकाशक—हिमालय एजेंसी, कनखल (हरिद्वार)—सन् १९४६—पृष्ठ क–ख।

राज्यसत्ता में त्याग की भावना—

आर्य-संस्कृति विश्व-विश्रुत है। जितनी यह प्राचीन है, उतनी ही सुन्दर और महत्वपूर्ण। जिस प्रकार किसी पुष्प को पैर के नीचे रखकर, मसल देने से उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार कितनी ही संस्कृतियाँ इस भूमंडल पर अवतीर्ण हुईं और सदा के लिए पतन के गर्त में समा गईं। रह गई केवल इतिहास की एक उक्ति भर ?

विश्व के विचारकों के लिए यह आज भी आश्चर्य बना हुआ है कि यह आर्य-संस्कृति अब तक किस प्रकार जीवित रही है। कारण के बिना कार्य असंभव है। आर्य-संस्कृति का आज तक उसी रूप में अवतरण का कारण आवश्यकतानुसार ऊपरी नूतनता की स्वीकृति को हमने सदैव स्वीकृति प्रदान की, किन्तु उसके मूल की सुरक्षा को ध्यान में रखा—

> "संसार के विचारकों को इस बात का आश्चर्य है कि संसार की सबसे पुरानी यह आर्यसंस्कृति अब तक जीवित कैसे रही। इतने आघात सह कर भी आज यह ऊँचा सिर किये खड़ी कैसे है। वस्तुतः आश्चर्य की बात हैं। परन्तु यह अकारण नहीं है। बिना कारण के ही कोई चीज नहीं हो जाती। आर्य-संस्कृति की इस अमरता का कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिए, भले ही उस ओर किसी का ध्यान न गया हो। इस संस्कृति के मूल में अवश्य ही कोई ऐसा तत्व है, जिसने इसे इतने दिन जीवित रखा। संसार की सबसे पुरानी वेद-भाषा आज भी विद्यमान है। संसार का सबसे पुराना साहित्य हमारे वेद—ज्यों के त्यों सब लोग देख रहे हैं। उनके पठन-पाठन का तथा उच्चारण आदि तक का वही क्रम आज इस समय भी देख सकते हैं। सहस्रों कण्ठों से नित्य प्रातःकाल उसी स्वर में "अग्निमीले पुरोहितम्" की ध्वनि आज भी निकलती है, जिसमें उस युग के ऋषि बोलते थे। क्या यह थोड़ी बात है ? हमारी अपनी लिपि और अपनी भाषा है, जिनमें समय-क्रम से विकास हुआ है। सारांश यह कि ऊपरी नूतनता की स्वीकृति हमारे यहाँ आवश्यकतानुसार हुई है, परन्तु मूलतः संस्कृति अपनी सुरक्षित है। उस युग से अब तक वह अटल है। हिमालय से निकलनेवाली गंगा ही सागर तक है, भले ही बीच में वह कुछ अपरूप दिखाई दे।"[1]

स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य चाहे वह निर्धन हो अथवा धनवान, छोटा हो अथवा बड़ा दूसरों की दृष्टि में अनुकरणीय नहीं बन सकता। अतः प्रत्येक मनुष्य में त्याग की भावना का होना श्रेयस्कर होता है। दूसरों की उन्नति तथा हित की भावना मनुष्य में त्याग के कारण ही आ सकती है। स्वार्थी होने के कारण परिवार, समाज में मनुष्य कोई भी ऐसा कार्य नहीं करता और न होने देता जिससे दूसरों की उन्नति या समृद्धि हो।

१—ब्राह्मण सावधान, वही, पृष्ठ २–३।

"आप जरा सा भी ध्यान देकर देखेंगे तो संस्कृति-जीवन का मुख्य कारण मेधा और त्याग में मिलेगा। जिस कुटुम्ब का संचालक बुद्धिमान और स्वार्थ-रहित होगा, वह समृद्ध होगा, उसे जीवन मिलेगा। यदि कुटुम्ब का मुखिया स्वार्थी अथवा बुद्धि-रहित हो, तो सब खेल बिगड़ जाएगा। कुटुम्ब छिन्न-भिन्न हो जायगा। यदि उसमें बुद्धि नहीं है, तो निःस्वार्थ होने पर भी कुटुम्ब संचालन न हो सकेगा। बुद्धि होने पर भी यदि स्वार्थ है, तो भी कुटुम्ब न चलेगा। कुटुम्ब के सभी अवयव भीतर ही-भीतर कुढ़ेंगे और अपने मुखिया या संचालक से बुरा मानने लगेंगे। आगे चलकर संघर्ष और सब खेल खतम। सब अपने-अपने राग में मस्त हो जाएंगे, सब अलग। कुटुम्ब समाप्त।"[1]

आचार्य जी ने आर्य-संस्कृति के प्रादुर्भाव के साथ ही मेधा और त्याग के भी प्रादुर्भाव की बात दर्शायी है। मेधा तथा त्याग, दोनों ही वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका आदान-प्रदान नहीं किया जा सकता। आर्यों में ही एक वर्ग ऐसा भी था जो बुद्धि आधिक्य के कारण प्रतिष्ठित तथा धनी माना जाने लगा। अर्थात् मेधा और त्याग ही ब्राह्मणत्व के आधार हैं। इसके अभाव में ब्राह्मणत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। जिसने स्वार्थ का बलिदान कर अपने से कम बुद्धि रखनेवाले वर्ग-क्षत्रिय-को राजसत्ता सौंपी—सर्वथा समर्थ होने पर भी सांसारिक प्रलोभनों से वह दूर रहा—

"जब आर्य-संस्कृति ने जन्म लिया, तो उसके साथ ही मेधा और त्याग का प्रादुर्भाव हुआ। ये दोनों चीजें ऐसी नहीं हैं कि जो किसी को दी जा सकें, या किसी से ली जा सकें। इनकी स्वतः प्रवृत्ति होती है। आर्यों का एक वर्ग सामने प्रकट हुआ, जो बुद्धि का धनी था। बुद्धि से ही समाज में सब कुछ होता है। इसे चाहे जहाँ लगा दो। उस मेधावी आर्य-वर्ग ने स्वार्थ का बलिदान किया। सर्वथा समर्थ होने पर भी सांसारिक प्रलोभनों से वह दूर रहा। उसने समस्त आर्य जाति के अभ्युदय को ही अपने जीवन का उद्देश्य बनाया। उसने अपने से कम बुद्धि रखनेवाले (अपने समाज को) एक वर्ग को राजसत्ता सौंपी और स्वयं उसकी सहायता की। उससे भी कम प्रतिभा रखने वाले वर्ग को व्यापार आदि समृद्धिमूलक कार्य सौंपे। उसने इस वर्ग को भी अपना साहाय्य शिक्षण दिया। शेष जनता को विविध कला-कौशल तथा परिचर्या में नियुक्त किया गया। चाहे यह श्रम-विभाग स्वेच्छया हो गया हो, चाहे प्रेरणा या अनुशासन के द्वारा इसकी स्थापना हुई हो, पर हुआ ऐसा। इस व्यवस्था से एक लाभ हुआ। परम्परागत कार्य-पद्धति के कारण विविध तत्वों का अच्छा विकास हुआ।

देखने से स्पष्ट पता चलता है कि इस वर्गविन्यास या वर्ण-व्यवस्था में एक वर्ग या वर्ण ऐसा है, जो आज तक बुद्धिप्रधान प्रसिद्ध है, जिसके द्वारा समाज

१—ब्राह्मण सावधान, वही, पृष्ठ—४।

सदा संचालित होता रहा, परन्तु जिसने अपने लौकिक सुख साधन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। सुख-समृद्धि का कोई साधन नहीं अपनाया। सब कुछ बाँट दिया—तुम राज्य करो, तुम व्यापार करके धन कमाओ और तुम कला-कौशल के द्वारा आनन्द करो। अपने लिये क्या रखा? सुख की बात जाने दो, साधारण जीवन-निर्वाह के लिये भी कुछ न रखा।

यह त्यागी और मेधावी वर्ग समस्त आर्य-संस्कृति का संचालन करता था। सबको सब कुछ देकर स्वतः निःस्पृह था। इसीलिए मनु जी ने लिखा है कि "ब्राह्मण का दिया हुआ सब खाते हैं और ब्राह्मण अपना खाता है।" मनु जी के इस कथन में तथ्य है।"[१]

ब्राह्मण के त्याग एवं उसकी मेधा की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए आचार्य जी ने चाणक्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आगे कहा है कि—

"अब कल्पना कीजिए—वह प्रिंसिपल, वे प्रोफेसर, वह राजमंत्री और दूसरे बुद्धिधन अफसर यदि वेतन लेना बिल्कुल बन्द कर दें और काम दिन-रात तन-मन से करने लगें, तो कैसा रहेगा? समाज का सुख बढ़ेगा कि नहीं? उस अवस्था में उन (प्रिंसिपल आदि) को या उनके घरवालों को आप अपने घर से ले जाकर रोटी-दाल दे आयें, तो यह आपने उनको दिया, या वे आपको दे रहे हैं? मनु जी के उस वाक्य का यही मतलब है। परन्तु उस त्यागी वर्ग की एक और पद्धति भी आगे आई। वे समाज की सेवा करते थे और इधर-उधर बिखरे पड़े अन्न कण उठा लाते थे। शाक-पात नोच लाते थे। उसी से जीवन-निर्वाह करते थे। बड़े बड़े सम्राट् उनके इंगित पर चलते थे, पर उनकी समृद्धि से मतलब न रखते थे। इनका मानसिक क्षितिज ही कुछ ऐसा था, जहाँ लिखा था—

आठ गाँठ कौपीन में, अरु भाजी बिनु लौन।
तुलसी जो संतोष है, इन्द्र बापुरो कौन?

और यह सन्तोष त्यागमूलक था। चीज प्राप्त होने पर भी उसे ग्रहण न करना त्याग है। चाणक्य के इंगित पर सम्राटों के सिंहासन बनते-बिगड़ते थे। चन्द्रगुप्त उसका खिलौना था। परन्तु वह राज-वैभव से दूर रहता था, सुख-समृद्धि से अलग। फूस की कुटिया में चटाई पर बैठा हुआ देश की राजनीति का संचालन करता था। यह उसी त्यागमय मेधावी जीवन का प्रवाह था।"[२]

आचार्य जी ने ब्राह्मण वर्ग को ही आर्य-संस्कृति का सबल एवं सफल समर्थक तथा रक्षक बतलाते हुए आगे कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए सभी प्रकार के कर्म करने के लिए उद्यत रहता है चाहे वह सुकर्म हो अथवा कुकर्म। किन्तु

१—वही, ब्राह्मण सावधान, पृष्ठ—४–५।
२—वही, पृष्ठ—६–७।

ब्राह्मण वर्ग ने सदा ही अपने जीवन तथा अपनी सन्तान के सुख-दुःख की परवाह किये बिना ही त्याग की भावना को सदैव कायम रखकर इस विश्व-विश्रुत आर्य-संस्कृति की इमारत को ज्यों का त्यों बनाये रखा।

"यह त्याग की परम्परा लाखों-करोड़ों वर्षों तक चली। संसार भर में भारतवर्ष ही एक ऐसा देश मिलेगा, जहाँ एक वर्ग ने त्याग और तपस्या का उत्तराधिकार इतने दिन तक चलाया हो। राज्य और धन समृद्धि का उत्तराधिकार चलता है, कष्टमय जीवन का नहीं। यदि कहीं कोई त्यागी जन-सेवक हो गया, तो यह आशा नहीं की जा सकती कि उसका पुत्र तथा पौत्र भी वैसा ही होगा। त्याग की वसीयत कौन ग्रहण करे। परन्तु इस देश में एक बहुत बड़े मेधावी वर्ग ने लाखों वर्षों तक अपनी सन्तान के त्याग और बलिदान का उत्तराधिकार दिया, जिसे उसने सहर्ष ग्रहण किया। इस प्रकार आर्य-संस्कृति को एक ऐसा वर्ग मिला, जो सदा उसके रक्षण और विकास में ही संतुष्ट रहा। सब आपदाएँ उठाकर, अनेक तपस्याएँ करके, उसने इस संस्कृति की रक्षा की। इतिहास इसका साक्षी है।"[1]

ब्राह्मण की युगानुरूप धारणा—

ब्राह्मण कभी स्वार्थ को प्रश्रय नहीं देता। वह अनुचित की निन्दा करने में हिचकिचाहट का अनुभव भी नहीं करता और न ही अपने वर्ग का पक्ष लेता है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण और नहीं हो सकता कि—

"रावण को राम ने दण्ड दिया। ब्राह्मणों ने इसका समर्थन किया और अब तक प्रतिवर्ष, पाप का प्रतीक वह (रावण) इनके द्वारा जलाया जाता है। प्रतिवर्ष, ब्राह्मण ही रावण के पुतले में आग लगाते हैं। समाज के प्रति इससे बढ़कर निष्ठा और क्या हो सकती है? दूसरी ओर देखिए, कंस और दुर्योधन वे अत्याचारी हैं, जिन्होंने रावण को भी मात कर दिया था। रावण ने किसी माँ की गोद से छीनकर उसके बच्चों को, उसके सामने ही, शिला पर पटक-पटक कर कभी न मारा था। उसने किसी की स्त्री को भरी सभा में नग्न करके अपनी जंघा पर बैठाने का दुष्कृत्य कभी न किया था। रावण से बहुत बढ़कर इन सबके कुकृत्य हैं। परन्तु इनमें से किसका पुतला हर साल जलाया जाता है? एक रावण ही तो वैसा न था? इसमें वही रहस्य है। ब्राह्मणों ने उदारता दिखलाई। रावण-दाह प्रति वर्ष होता है। मतलब यह कि ब्राह्मण को पतित न होना चाहिए, सब ठीक हो जाएगा। सिर न डूबे, चाहे सब शरीर डूब जाय। वह कभी डूबा न कहा जायगा। सब सुरक्षित हैं। सिर गया, तो सब गया। ब्राह्मणत्व की रक्षा इसीलिए, सम्पूर्ण आर्य-जाति तथा आर्य-संस्कृति की रक्षा के लिए।"[2]

१—ब्राह्मण सावधान, पृष्ठ ७।
२—वहीं, पृष्ठ १०–११।

समाज के नेतृत्व के लिए बुद्धि और त्याग की आवश्यकता का होना अत्यावश्यक है, ब्राह्मण ने अपने को इसमें खपा दिया था। बुद्धि और त्याग के अतिरिक्त ब्राह्मण में उदारता और तेजस्विता भी पूर्ण रूपेण विद्यमान थी, जिसके कारण वह युगानुरूप समाज की दृष्टि में श्रेष्ठ समझा जाने लगा और अन्य वर्गों ने अनुकरण किया। बुद्धि और त्याग की धारणा के अभाव में आज जन्मना होकर भी, ब्राह्मण ब्राह्मण कहला सकता है पर उसका ब्राह्मणत्व वल्व है पर ब्राह्मणत्व उसका प्रकाश। प्रकाश के अभाव में उसका खोल उपेक्षा की वस्तु है। अतः ब्राह्मणत्व को भारतीय समाज का उत्तमांश मानना चाहिए।

ब्राह्मण भी राष्ट्रधर्म के लिए शस्त्र भी उठाए---

ब्राह्मण ने राष्ट्रधर्म के लिए शस्त्र उठाकर दस्युओं एवं नर पिशाचों का संहार कर मातृभूमि की रक्षा की। दुष्टों का दमन कर राष्ट्र की रक्षा की किन्तु स्वयं राज-सत्ता ग्रहण करने की इच्छा कदापि प्रकट नहीं की। उस समय के सहस्रों उन नर पिशाचों को परशुराम जी ने संहार कर मातृभूमि की रक्षा की जो कि अपने को राजा कहकर जनता का शोषण कर रहे थे। अतः परशुराम जी को संसार की राज्यक्रांति का प्रथम महापुरुष कह सकते हैं, क्योंकि उनमें ब्राह्मणत्व था। अतः ब्राह्मणों ने समाज में फैल रही अव्यवस्था एवं निरंकुशता को समाप्त करने के लिए शस्त्र उठाकर उनका संहार कर आर्य-संस्कृति की रक्षा की और अपनी बुद्धि तथा मेधा से अन्य वर्गों को प्रभावित किया। उनकी विशाल-हृदयता ने समाज का नेतृत्व किया। ब्राह्मण वर्ग द्वारा शस्त्र विशेष अवस्था में उठाए गए--क्षत्रिय वर्ग में त्रुटि या शिथिलता--क्षत्रियों की मर्दानगी ओजहीन--के कारण---

> "परशुराम के प्रसंग से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्राह्मणों ने आवश्यकता पड़ने पर राजनीति में शस्त्र-ग्रहण भी किया है, पर विशेष स्थिति में। जब हमारे शासक (क्षत्रिय) वर्ग में कोई त्रुटि या शिथिलता आई है, तभी ऐसा हुआ है। झाँसी की ब्राह्मण कन्या और ब्राह्मण वधू (महारानी लक्ष्मी बाई) ने तब तलवार उठाई, जब क्षत्रियों की मर्दानगी ओजहीन हो चुकी थी। उसी समय अनेक अन्य ब्राह्मणों ने भी शस्त्र ग्रहण किया। इसका मतलब यह हुआ कि चार वर्णों की कर्म-व्यवस्था साधारण तौर पर है। विशेष परिस्थिति में सबको सबके काम करने चाहिए। हमारे घर में कल्लू कहार पानी भरता है, हम सब लोग पीते हैं। परन्तु घर में आग लग जाने पर भी हम उसी के भरोसे बैठे रहें और सोचें कि पानी भर कर लाना हमारा काम नहीं, तो हमारा घर जलकर खाक हो जायगा। कर्म अथवा वर्ण-व्यवस्था का यह मतलब नहीं।"[1]

ब्राह्मणत्व ही नेतृत्व का लक्षण---

अंगरेजी राज्य में मुसलमानों एवं अन्य वर्गों ने अंग्रेजों के साथ सहयोग कर ब्राह्मण वर्ग की उपेक्षा की। अंगरेजों ने हमारी धर्म, संस्कृति, भाषा, लिपि सभी को समाप्त

१---ब्राह्मण सावधान, पृष्ठ १३।

करने के उद्देश्य से सभी शिक्षण संस्थाओं एवं अन्य सभी शासकीय एवं सभी कार्यों में अँगरेजी एवं उर्दू भाषा को ही प्रचलित किया जिससे जनता का हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के प्रति उदासीनता का वातावरण रहा एवं ब्राह्मण वर्ग को उपेक्षित समझा गया। आचार्य जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ब्राह्मण चाहे कितना ही धनवान क्यों न हो जाये किन्तु वह न तो राजा ही हो सकता है और न ही व्यापारी। ब्राह्मणत्व की गरिमा तथा श्रेष्ठता को मनु ने निम्न शब्दों में वर्णित किया है--

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम्।
श्रेष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणो हंति।।

अर्थात् राष्ट्र में जो कुछ भी सम्पदा-ऐश्वर्य या प्रभुत्व है, वह सब वस्तुतः ब्राह्मण का है। क्षत्रिय को राज्य और वैश्य को लक्ष्मीपतित्व उसी का दिया हुआ है। वस्तुतः वह (ब्राह्मण) अपनी बुद्धि, तपस्या तथा उदारता आदि की श्रेष्ठता के कारण तथा शानदार तेजस्वी परंपरा के कारण यह सब कुछ प्राप्त करने का अधिकारी है।

इसके अतिरिक्त आगे उन्होंने ब्राह्मण के कृपाभाव आदि का वर्णन निम्न श्लोक द्वारा वर्णित किया है--

स्वमेव ब्राह्मणो भुंक्ते, स्वं वस्ते, स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुंजंते हीतरे जनाः।।

अर्थात् ब्राह्मण अपना खाता है, अपना पहनता है, अपना ही (दूसरों को) दान करता है। दूसरे लोग उसी की कृपा से सब उपभोग करते हैं।

अस्तु, आज ब्राह्मणत्व की भावना को लेकर असवर्ण-सवर्ण के संघर्ष की जो दूरभिसंधि राजनीतिक क्षेत्रों में की जा रही है वह अनुचित है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा कि ब्राह्मण सार्वभौम बुद्धि के प्रतीक के रूप में ही समादृत रहा है, पद-प्रतिष्ठा और सर्वोपरि व्यक्ति हितवाद या निहित स्वार्थवाद से उसने स्वयं को ऊपर उठाया है, उसका गठन श्रम और सेवा के शोषण के लिए नहीं हुआ। अतः ब्राह्मणत्व को भारतीय समाज में इसी परिप्रेक्ष्यमें देखा जाना चाहिए।

वैष्णव-धर्म और आर्य समाज

इस निबन्ध की रचना आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी ने स्वामी दयानन्द जी सरस्वती द्वारा रचित "सत्यार्थ-प्रकाश" में वैष्णव धर्म के सम्बन्ध में फैलाई गई भ्रामक धारणाओं के निराकरणार्थ की है।

> "इस निबन्ध के लिखने का मतलब यह कि वैष्णव-धर्म के सम्बन्ध में "सत्यार्थ-प्रकाश" के कारण जो भ्रमात्मक धारणाएँ फैली हैं, उनका निराकरण हो जाय। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। यहाँ सब कुछ संक्षेप से लिखा गया है, पर अत्यन्त प्रामाणिक। यदि कोई आर्यसमाजी विद्वान् या अन्य कोई सज्जन इस

निबन्ध के किसी अंश पर कुछ विप्रतिपत्ति प्रकट करेंगे, तो फिर उसका विस्तार से उत्तर दिया जा सकेगा।"[1]

समाज सुधार के आन्दोलन में दोनों संगठनों की भूमिका--

समाज सुधार के आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली विभिन्न संस्थाएँ धर्म, संघ एवं संगठनों में वैष्णव-धर्म एवं आर्य समाज अग्रणी रूप में रहे हैं। छुआछूत को मिटाने का कार्य वैष्णव-धर्म एवं आर्य समाज द्वारा ही व्यापक रूप में रहा है।

आज भी भारत ही नहीं अपितु विश्व के प्रत्येक कोने में छुआछूत की यह भयंकर बीमारी किसी-न-किसी रूप में व्याप्त है। समाजशास्त्रीय क्षेत्रों में इस पर चर्चा-परिचर्चाएँ आयोजित होती हैं। किन्तु वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप को लेकर वैष्णव-धर्म तथा आर्य समाज में पर्याप्त मतभेद रहा है। वैष्णव-धर्म जन्मना वर्ण-व्यवस्था मानता है। आर्य-समाज यह स्वीकार नहीं करती। वैष्णव-धर्म जन्मना वर्ण-व्यवस्था मानकर भी ऊँच-नीच का भेद नहीं मानता। यह वैष्णव-धर्म की ही सुदृढ़ शिक्षा का परिणाम था कि सन्त कबीर अपनी स्त्री तथा पुत्र के साथ दिन भर कपड़े बुना करते थे। तत्वज्ञानी ऐसे थे कि बड़े से बड़े विद्वान् और राजा सिर झुकाते थे, पर अपना (जुलाहे का) काम उन्होंने न छोड़ा था। भक्तवर रैदास भी अपना काम करते थे, जूते बनाते थे। उपदेश बड़े-बड़े ब्राह्मणों को भी देते थे। इस तरह बौद्धिक चिन्तन और समाज कार्यों के क्षेत्र में वैष्णव-धर्म ने सर्वप्रथम भेदभाव की दीवारें तोड़ीं।

वैष्णव-धर्म ने तो जन्मना वर्ण-व्यवस्था माना है किन्तु आर्य समाज ने "जन्मना" न मानकर गुण-कर्म से मानी। इसे उन्होंने गुरुकुलों के माध्यम से आजमायी भी किन्तु सफलता प्राप्त न हो सकी--

> "परन्तु आर्य-समाज ने "जन्मना" न मानकर गुण-कर्म से वर्ण-व्यवस्था मानी और उस पर बहुत जोर दिया। परन्तु यह कोई चीज न थी। ऐसी वर्ण-व्यवस्था तो सभी देशों और जातियों में है। विशेषता क्या रही? एक प्रकार की कृत्रिम व्यवस्था निकाली गयी, गुरुकुल द्वारा आजमायी भी गयी, पर सफलता न मिली। तब, अब वर्ण-व्यवस्था तोड़ने पर ही जोर दिया जाने लगा है। अपनी "गुणकर्मानुसार" वर्ण-व्यवस्था का प्रतिपादन अब नहीं किया जाता।"[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती को वैष्णव-धर्म से ही इस कार्य की प्रेरणा मिली है। इसका श्रेयस्कर उदाहरण हमें "सत्यार्थ-प्रकाश" की निम्न पंक्तियों में स्पष्ट परिलक्षित होता है--

> "देखो। चक्रांकित लोग अपने को बड़े वैष्णव मानते हैं परन्तु अपनी परंपरा और कुकर्म की ओर ध्यान नहीं देते कि प्रथम इनका मूलपुरुष "शठकोप" हुआ

१--ब्राह्मण सावधान, पृष्ठ--५४।

२--वही, पृष्ठ--४३।

जो चक्रांकितों ही के ग्रंथों और भक्तमाल ग्रंथ जो नाभा डूम ने बनाया है, उनमें लिखा है—

विक्रीय शूर्पं विचचार योगी ।।

इत्यादि वचन चक्रांकितों के ग्रंथ में लिखे हैं। शठकोप योगी सूप को बना, बेचकर, विचरता था अर्थात् कंजर जाति में उत्पन्न हुआ था। जब उसने ब्राह्मणों से पढ़ना व सुनना चाहा होगा तब ब्राह्मणों ने तिरस्कार किया होगा, उसने ब्राह्मणों के विरुद्ध सम्प्रदाय तिलक चक्रांकित आदि शास्त्र विरुद्ध मनमानी बातें चलाई होंगी, उसका चेला "मुनिवाहन" जो कि चाण्डाल वर्ण में उत्पन्न हुआ था। उसका चेला "यावनाचार्य" जो कि यवनकुलोत्पन्न था जिसका नाम बदल के कोई "यामुनाचार्य" भी कहते हैं। उनके पश्चात् "रामानुज" ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर चक्रांकित हुआ। उसके पूर्व कुछ भाषा के ग्रंथ बनाये थे। रामानुज ने कुछ संस्कृत पढ़ के संस्कृत में श्लोकबद्ध ग्रंथ और शारीरिक सूत्र और उपनिषदों की टीका शंकराचार्य की टीका से विरुद्ध बनाई और शंकराचार्य की बहुत सी निन्दा की—।"[1]

बड़े आश्चर्य की बात है कि जो स्वामी जी ब्राह्मणवाद और गुरुडम के विरोधी थे वह वैष्णव - धर्म का इसलिए अवमूल्यन कर रहे हैं कि उसके प्रवर्तक शठकोप डोम थे, शूद्र थे। वस्तुतः तत्व चिन्तन के क्षेत्र में शठकोप का आदि आचार्यत्व वैष्णव-धर्म के उदार दृष्टिकोण का परिचायक है, स्वामी जी की दृष्टि के अनुरूप है, उन्हें तो इसकी श्लाघा करनी चाहिए थी।

हरिजन आन्दोलन वैष्णव सन्तों का प्रमुख लक्ष्य रहा है—

आचार्य जी ने वैष्णव सन्तों द्वारा हरिजनोद्धार आदि आन्दोलन उठाये जाने का वर्णन करते हुए स्पष्ट कहा है कि वैष्णवों ने छुआछूत आदि कुरीतियों को हटाने हेतु विभिन्न उपक्रम किये—

"वैष्णवों ने उस युग में जो प्रयोग किया था, वह आज भी सफल हो सकता है। वर्ण-व्यवस्था जैसी भी है, रहने दो। बोलो मत। समाज की छुआछूत हटाओ, अछूतों को समाज में समान स्थिति दो। क्या कारण है कि हमारे फर्श पर मुसलमान और ईसाई सज्जन जूते पहने चले आयें और कुर्सी पर बैठें, पर एक चमार को बाहर खड़ा रहना पड़े? धर्मशाला में बराबर ठहरना, महत्वपूर्ण घाटों पर बराबर स्नान करना, स्कूलों में सबके साथ पढ़ना, नौकरी आदि में समान दर्जा, यह सब होना चाहिए। भोजन तो एक ब्राह्मण वैश्य

१—सत्यार्थप्रकाशः—श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीस्वामिविरचितः—संपादक—आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री—भारतेन्द्र नाथ साहित्यालंकार—दयानंद संस्थान दिल्ली—संवत् २०२८—पृष्ठ—२१४।

या क्षत्रिय के हाथ का भी नहीं करता, परन्तु इससे उस (वैश्य या क्षत्रिय) की सामाजिक स्थिति निम्न नहीं।

अछूतोद्धार के साथ साथ जो लोग वर्ण-व्यवस्था तोड़ने की और व्याह-शादी में गड़बड़ करने की बात कर देते हैं, उससे काम करने में दिक्कत पैदा होती है। बड़ा समुदाय और भी बिदक जाता है। और मामला, जहाँ का तहाँ रह जाता है। यदि वैष्णव मार्ग का अनुसरण किया जाय, तो बहुत कुछ सुधार हो सकता है।"[१]

गांधी जी का हरिजन सुधार व्रत इसी वैष्णव धर्म की देन है। अतः भारतीय समाज के पुनर्जागरण में जब ईसाइयों, मुसलमानों, आर्यसमाज तथा ब्रह्मसमाज आदि के योगदान की चर्चा विद्वानों द्वारा की जाती है तो वैष्णव-धर्म का योगदान भी भुलाने की बात नहीं है। आचार्य वाजपेयी जी ने इस अभाव को पहली बार अंकित किया—सदाचार, राष्ट्रभाषा, कर्म की प्रतिष्ठा, अस्पृश्यता की दृष्टि, स्वच्छ तथा उदार मुक्ति-वाद, वैष्णव धर्म की राष्ट्रीय विशेषताएँ कही जाएँगी। वाजपेयी जी ने इसकी आधुनिक संदर्भ में उपयोगिता भी बताई है। वह कहते हैं—

"यदि वैष्णव-धर्म के मूल सिद्धान्तों का अनुसरण करके फिर से संगठन किया जाय, तो निःसंदेह सफलता मिले। भगवद्भक्ति के रस के साथ समाज का परिष्कार बड़े अच्छे ढंग से हो सकता है। अछूतोद्धार और "शुद्धि" भी संभावित है—तूफान के बिना। सोचकर देखा जाय, तो वैष्णव-धर्म की उपयोगिता समझ में आ जायगी। हिन्दू-जाति में इससे नव-जीवन का संचार हो सकता है। परंतु अभी तो वैद्य ही मरीज हो रहा है। हो सकता है किसी नये तथा परिष्कृत रूप में वैष्णव धर्म सामने आये, अपने उन्हीं मूल तत्वों के साथ।"[२]

इस प्रकार इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वाजपेयी जी का साहित्येतर चिन्तन भी बड़ा उपयोगी, स्वच्छ तथा राष्ट्रधारा के सर्वथा अनुरूप रहा है। "मेरे मौलिक विचार", संकलन में तीर्थ, यज्ञ, कर्म, उपासना, संस्कृति, सभ्यता तथा भारतीय जीवन-चिन्तन पर उनके ऐसे ही सामयिक, उपयोगी तथा तत्वनिष्ठ मन्तव्य मिलते हैं। मैं वाजपेयी जी के तेजस्वी व्यक्तित्व, राष्ट्रीय चिन्तन तथा असाधारण देशभक्ति से सदा प्रभावित रहा हूँ। मैं इस अवसर पर उनके दीर्घ आयुष्य की मंगल कामना करता हूँ।

१—वही, पृष्ठ ४४।
२—वही, पृष्ठ ५६।

'लेखन-कला' और 'अच्छी हिन्दी'

डा० रामस्वरूप आर्य,
रीडर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
वर्धमान कालेज, बिजनौर

पं० किशोरीदास जी वाजपेयी व्याकरण, साहित्य-शास्त्र तथा भाषा-विज्ञान के प्रकांड विद्वान् हैं। वे सही अर्थों में एक महान् आचार्य हैं, जिन्होंने पर्याप्त ऊहापोह के पश्चात् अनेक मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना की है। हिन्दी-व्याकरण की गुत्थियों को सुलझाने तथा भाषा के परिष्कार में उनका योगदान चिरस्मरणीय रहेगा। प्रस्तुत लेख में आचार्य जी की दो पुस्तकों 'लेखन-कला' तथा 'अच्छी हिन्दी' के संक्षिप्त परिचय के साथ उनकी कुछ मौलिक उद्भावनाओं पर प्रकाश डालने का विनम्र प्रयास किया जा रहा है।

'लेखन-कला' के आरंभ में लेखकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया गया है कि उनकी भाषा में विजातीयता न आने पाये। हिन्दी में अंग्रेजी के कोट, बटन, जैसे शब्द, जो उनकी प्रकृति के अनुकूल हैं, खप सकते हैं किन्तु जो शब्द हिन्दी के उच्चारण आदि से मेल नहीं खाते उन्हें तद्भव (आचार्य जी के शब्दों में 'परिष्कृत रूप') में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ अंग्रेजी के 'लैनटर्न' के स्थान पर 'लालटेन' तथा 'हास्पिटल' के स्थान पर 'अस्पताल' शब्द हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल हैं। संस्कृत तथा फारसी-अरबी के शब्द भी इसी नीति के अनुसार हिन्दी में अपनाए जाने चाहिए।

वाक्य-रचना तथा वाक्य में पदों के सन्निवेश में भी सावधानी की आवश्यकता है। आचार्य जी के अनुसार "पैराग्राफ" में···एक भी वाक्य ऐसा न रहे, जिसके निकाल देने से काम चल सकता हो। इसी तरह वाक्य में कोई पद अजा-गल-स्तन होकर न लटके। प्रत्येक पद का अपना महत्व तथा प्रयोजन होना चाहिए" (पृ० १४)। उदाहरण के लिए वे कहते हैं 'तब पिनाकपाणि शिव का विवाह पार्वती से हुआ,' वाक्य में 'पिनाकपाणि' पद व्यर्थ है क्योंकि विवाह में प्रतिद्वन्द्वी जनों का कोई संघर्ष न था, अतः यहाँ यह विशेषण निरर्थक है। इसी प्रकार 'वाणी बोला वीर न कोई बच पावेगा' में 'वाणी' पद फालतू है। वाक्य श्रवण-कटुता, अश्लीलता, अप्रयुक्तता, अप्रतीति, संदिग्धता, निहतार्थता, अवाचकता, क्लिष्टता, विरुद्धमतिकारिता, असम्बद्धता, प्रसिद्धि-त्याग, दुष्क्रमता, व्याहृतत्व, अधिकपदत्व, न्यूनपदत्व आदि दोषों से मुक्त होना चाहिए। भाषा की सजावट के लिए उसमें यथास्थान अलंकारों का प्रयोग होना चाहिए। भाव-प्रकाशन के लिए विराम चिह्नों का समुचित प्रयोग भी आवश्यक है।

'शब्दचिन्तन' इस पुस्तक का महत्वपूर्ण अध्याय है। हिन्दी में ऐसे अनेक शब्द हैं, जिनकी वर्तनी के संबंध में मतैक्य नहीं है। अतः सामान्य लेखक इस द्विविधा में पड़ जाते हैं कि वे शब्द के किस रूप को शुद्ध मानें तथा किसे अशुद्ध। आचार्य जी ने ऐसे अनेक शब्दों पर गंभीरतापूर्वक विचार करके उनके शुद्ध रूपों पर तर्कपुष्ट निर्णय दिया है। हिन्दी में 'किये–किए', 'लिये,'–लिए', 'चाहिये–चाहिए' आदि शब्द दो रूपों में

प्रचलित हैं। प्रश्न यह है कि इनमें से कोई एक रूप शुद्ध है अथवा दोनों को ही शुद्ध माना जाए। आचार्य जी के अनुसार व्याकरण की दृष्टि से 'किये' रूप शुद्ध है क्योंकि मूल शब्द 'किया' है। बहुवचन का प्रत्यय लगने पर यह 'किये' बन जाता है। साथ ही आपकी यह भी मान्यता है कि 'य' की स्पष्ट श्रुति न होने के कारण 'य' का लोप होकर 'ए' शेष रह जाता है। अतः यथाश्रुत लिखने की वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर 'लिए' रूप भी मान्य है। हिन्दी व्याकरण में वर्ण-लोप की इस प्रक्रिया का उल्लेख होना चाहिए। अव्यय शब्दों में जहाँ 'य' की स्पष्ट श्रुति नहीं है, 'लिए' तथा 'चाहिए' जैसे रूप ही शुद्ध माने जाएँगे।

राष्ट्रीय-राष्ट्रिय, राजनैतिक–राजनीतिक, उपर्युक्त-उपरोक्त आदि शब्दों के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। ये विद्वान् दो वर्गों में बँटे हुए हैं। एक तो वे जो हिन्दी शब्दों को संस्कृत-व्याकरण की कसौटी पर कसना चाहते हैं तथा दूसरे वे जो हिन्दी शब्दों के स्वतंत्र प्रयोग के समर्थक हैं। इस संबंध में आचार्य किशोरीदास जी वाजपेयी हिन्दी शब्दों के स्वतंत्र विकास के पक्ष में हैं। उनके अनुसार "हिन्दी का संस्कृत से अच्छेद्य सम्बन्ध है। और यह उसी की है; इसमें संदेह नहीं; परन्तु फिर भी दोनों भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं, दोनों का स्वरूप पृथक्-पृथक् है। दोनों की अपनी गति और अपनी चाल है। हिन्दी का अपना व्याकरण अलग है, बिलकुल अलग। संस्कृत के शब्द हिन्दी में आयेंगे; पर वे यहाँ हिन्दी-व्याकरण से शासित होंगे, संस्कृत-व्याकरण से नहीं" (पृ० ६३)। अतः आचार्य जी के अनुसार राष्ट्रिय, राजनीतिक, उपर्युक्त' आदि शब्द यदि संस्कृत-व्याकरण के आधार पर शुद्ध हैं तो राष्ट्रीय, राजनैतिक, तथा उपरोक्त आदि हिन्दी-प्रयोग के आधार पर शुद्ध माने जाने चाहिए। इसी प्रकार 'कार्रवाई' और 'कार्यवाही' दोनों ही शब्द ठीक हैं। इनमें से पहला विदेशी प्रभाव से हिन्दी में आया है और दूसरा उसके अनुकरण पर निर्मित हुआ है।

'यह' और 'वह' सर्वनामों का प्रयोग यद्यपि अत्यंत साधारण है तथापि इनके प्रयोग में भी प्रायः असावधानी हो जाती है। आचार्य जी ने बताया है कि इनके प्रयोग में यह ध्यान रखना चाहिए कि एक ही पैराग्राफ में एक ही वस्तु का परामर्श कभी 'यह' तथा कभी 'वह' से नहीं करना चाहिए। साथ ही 'यह' शब्द सन्निहित या निकटस्थ के लिए आता है और 'वह' विप्रकृष्ट या दूरस्थ के लिए। इसी प्रकार जिधर मन का झुकाव हो उसका परामर्श 'यह' से होना चाहिए।

अनुस्वार तथा पंचम वर्णों के संबंध में आचार्य जी का विचार है कि हिन्दी में आगत तत्सम शब्दों में आवश्यकतानुसार पंचमाक्षरों का प्रयोग चलना चाहिए किन्तु हिन्दी में जो शब्द संस्कृत भाषा से यथावत् नहीं आए हैं उनमें पंचमाक्षर का झमेला न रखकर उन्हें अनुस्वार से ही लिखना चाहिए, यथा—टंडन, नंगा, ठंडा, आदि। जिन शब्दों में पंचमाक्षर की स्पष्ट ध्वनि है, उनमें भी पंचमाक्षर का ही प्रयोग उचित है, जैसे पम्प, लम्प, कन्धा आदि।

'लेखन-कला' में कलाओं के वर्गीकरण के संबंध में आचार्य किशोरीदास जी वाजपेयी ने अपने स्वतंत्र विचार रखे हैं। वे कहते हैं "वस्तुतः कला के 'उपयोगी' और

'साधारण' नाम के दो भेद होने चाहिए; 'उपयोगी' और 'ललित' नहीं। कारण, ललित तो सभी कलाएँ हैं। लालित्य या सौंदर्य तो कला मात्र में रहता है। वहीं तो उसका जीवन है, जान है। जहाँ लालित्य या सौंदर्य नहीं, वह भी कोई कला है?" (पृ० ८९)। उनकी दृष्टि में कविता एक उपयोगी कला है। कविता लिखते समय कवि को यह अवश्य देख लेना चाहिए कि इसका उपयोग क्या है। इसका लोक पर क्या असर पड़ेगा।

'कविसमय' के संबंध में आचार्य जी का विचार है कि वे ही 'कविसमय' मान्य होने चाहिए, जो संगत हैं। अनर्गल 'कविसमय' तो हमारी अनभिज्ञता ही प्रकट करेंगे, अतः वे त्याज्य हैं।

× × ×

'अच्छी हिन्दी' में आचार्य किशोरीदास जी वाजपेयी ने हिन्दी के स्वरूप-गठन, शब्दों के उचित प्रयोग तथा प्रयोग-वैशिष्ट्य पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं। अच्छी रचना के लिए अच्छी भाषा आवश्यक है। भाषा के संबंध में आचार्य जी ने महाकवि भारवि रचित 'किरातार्जुनीयम्' से निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किया है:—

अपवर्जितविप्लवे शुचौ,
हृदयग्राहिणि संगलास्पदे।
विमला तव विस्तरे गिराम्,
मतिरादर्श इवाभिदृश्यते।

अर्थात् भाषा अपवर्जित विप्लव, पदों की दृष्टि से शुद्ध, हृदयग्राही तथा लोक-मंगल की भावना से युक्त होनी चाहिए। इनकी व्याख्या करते हुए आचार्य वाजपेयी ने कुछ महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किए हैं। वे भाषा के क्षेत्र में विप्लव अर्थात् बलपूर्वक अर्थ के आधान को अनुचित मानते हैं। उदाहरणार्थ हिन्दी में तद्धित 'ई' का प्रत्यय प्रचलित है; जिसके योग से भारतीय, प्रान्तीय, केन्द्रीय आदि शब्द बनते हैं। 'राष्ट्रीय' शब्द में भी यही प्रत्यय है किन्तु संस्कृत की परिपाटी पर हिन्दी में भी किसी विद्वान् ने 'राष्ट्रिय' शब्द घोषित कर दिया, जिसके अनुकरण पर केन्द्रिय, प्रदेशिय आदि शब्द चल पड़े। आचार्य जी की दृष्टि में यही 'विप्लव' है। हिन्दी की दृष्टि से 'राष्ट्रीय' शब्द शुद्ध है। आज इस प्रकार के प्रयोगों को पूर्णतः मान्यता मिल गई है। अच्छी भाषा के लिए पद-शुचिता भी परम आवश्यक है। हिन्दी के कुछ चमत्कारी लेखक 'सौजन्यता', 'पाण्डित्यता' जैसे प्रयोग करते हैं, जो अशुद्ध हैं। सुजन से 'सौजन्य' तथा पंडित से 'पाण्डित्य' भाववाचक संज्ञाएँ बनती हैं। इन पर पुनः भाववाचक प्रत्यय 'ता' का जोड़ना आचार्य जी की दृष्टि में ऐसा ही है जैसे 'टोपी पर टोपी लगाना।' भाषा हृदयग्राही तभी होगी जब उसमें प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप शब्द-विन्यास हो। वर्णन के अनुसार उसमें कोमल, मधुर तथा कठोर वर्णों की योजना होनी चाहिए। भाषा के माध्यम से व्यक्त विचार लोक-मंगल की भावना से युक्त होने चाहिए, इसी में उसकी सार्थकता है।

'अच्छी हिन्दी' में हिन्दी की विभक्तियों पर अत्यंत गंभीर एवं स्पष्ट विवेचन मिलती है। 'को' विभक्ति को ही लीजिए। वर्तमान काल की 'क्रिया में कर्म को' विभक्ति सहित भी मिलता है तथा 'को' विभक्ति रहित भी। उदाहरणार्थ 'राम फल देखता है' तथा 'राम गोविन्द को देखता है'—इन वाक्यों में से प्रथम में 'को' विभक्ति नहीं है तथा दूसरे में यह विद्यमान है। आचार्य जी ने इनके संबंध में तर्कसंगत व्यवस्था दी है। प्रथम उदाहरण में कर्म ऐसा है, जो देख नहीं सकता। उसके कर्म होने की आशंका नहीं है। अतः कर्ता की पहचान के लिए उसके साथ कोई विभक्ति नहीं है। किन्तु दूसरे उदाहरण में गोविन्द देखने का कार्य कर सकता है। इस भ्रांति को दूर करने के लिए कर्म के साथ 'को' विभक्ति की व्यवस्था की गई है। कैसा सुन्दर समाधान है!

आचार्य जी ने 'सम्बन्ध' के दो प्रत्यय निर्धारित किए हैं—'र' तथा 'क'। हिन्दी में इनमें पुंव्यंजक विभक्ति' 'अ' (ा) के योग से काम चलाया जाता है। मध्यम तथा उत्तम पुरुष में 'र' का योग होता है, यथा—'तुम्हारा-हमारा', 'तेरा-मेरा' आदि। अन्य सब स्थानों पर 'क' का योग होता है, यथा 'इसका', 'उसका', 'राम का'। बहुवचन में इसमें 'ए' (े) तथा स्त्रीलिंग में 'ई' (ी) का योग हो जाता है। आचार्य जी की यह अपनी खोज है। सम्बन्ध-पद 'सम्बन्धी' के पद के अनुसार रहता है। यदि सम्बन्धी 'द्वन्द्व' लेकर आए तो समस्या उपस्थित हो जाएगी। उदाहरणार्थ 'राम के पुत्र-पुत्रियाँ' में पहिले पुत्र है। अतः विभक्ति उनके अनुसार हो गई। किन्तु इससे पुत्रियों के साथ अन्याय हो जाने की आशंका है। आचार्य जी का सुझाव है कि ऐसे स्थलों पर समास किए बिना ही 'राम के पुत्र और पुत्रियाँ' लिखना अच्छा रहेगा। समान लिङ्ग वाले शब्दों के द्वन्द्व में ऐसी समस्या उत्पन्न नहीं होती है।

तद्धित प्रत्ययों के संबंध में आचार्य जी कहते हैं कि हिन्दी ने कुछ प्रत्यय तो सीधे संस्कृत से लिए हैं तथा शेष शब्दों में यथास्थान उसके अपने प्रत्ययों का योग होता है। ज्वालापुरी, कानपुरी, बसन्ती आदि शब्दों में 'ई' प्रत्यय स्पष्ट है (यह अकारान्त संस्कृत शब्दों से बने ज्वालापुरीय आदि विशेषणों में 'य' के लोप से बना है। "हिन्दी में अपने भाव-वाचक तद्धित प्रत्यय बहुत सरल हैं—गहराई, भलाई, बुराई आदि में 'आई' तथा 'पागलपन', 'गँवारापन', 'उजड्डपन', आदि में 'पन' और 'बुढ़ापा' आदि में 'पा' स्पष्ट है" (पृ० ५०)।

विशेषणों के प्रयोग में कभी कभी बड़ी गड़बड़ हो जाती है। आचार्य जी ने ऐसा ही एक उदाहरण दिया है—'अब विश्वास हो गया है कि पाँच वर्ष के भीतर कोई निरक्षर न रहेगा' अर्थात् पाँच वर्ष के पश्चात् निरक्षर या तो मौत के घाट उतार दिए जाएँगे अथवा उन्हें देश निकाला दे दिया जाएगा। आचार्य जी के अनुसार ऐसे स्थलों पर विशेषण का नहीं, भाववाचक संज्ञा का प्रयोग होना चाहिए—'अब विश्वास हो गया है कि पाँच वर्ष के भीतर देश में नाम को भी निरक्षरता न रह जाएगी।' अर्थात् निरक्षरता समाप्त करनी है निरक्षरों को समाप्त नहीं करना है। आचार्य जी का विचार है कि

संस्कृत (तत्सम) आकारान्त स्त्रीलिंग विशेषणों को पुंवद्भाव प्राप्त हो जाता है। अतः 'श्रद्धेय माता जी' तथा 'सुशील लड़कियाँ' प्रयोग ठीक हैं। 'श्रद्धेया माता जी' तथा 'सुशीला बालिका' ठीक नहीं। इसी प्रकार उपाधियों एवं पद नामों में भी स्त्रीलिंग में परिवर्तन उचित नहीं है। नारियों के साथ भी शास्त्री आदि उपाधियों तथा मंत्री आदि पदों का यथावत् प्रयोग होना चाहिए।

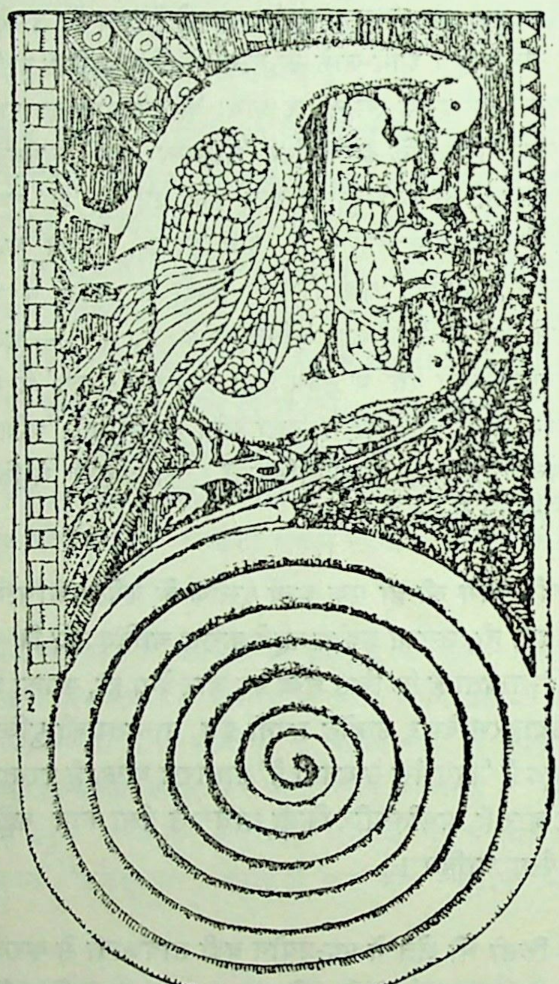
लेखन-कला की भाँति 'अच्छी हिन्दी' में भी आचार्य जी ने कुछ शब्दों के शुद्ध रूपों तथा उनके प्रयोग की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। अंग्रेजी के 'मेमोरंडम' शब्द के लिए हिन्दी में कुछ लोग 'स्मरण पत्र' चला रहे हैं जब कि इसके स्थान पर 'आवेदनपत्र' का प्रयोग उचित है। आने-जाने के मार्गों के लिए अंग्रेजी में 'इन' और 'आउट' दो शब्द हैं। स्टेशनों पर इनके स्थान पर प्रायः 'भीतर आने का रास्ता' 'बाहर जाने का रास्ता' लिखा रहता है जबकि इनके लिए 'आगमन' तथा 'निर्गमन' शब्दों से काम चल सकता है। आचार्य जी के अनुसार 'छह' शब्द सही है, 'छः' तथा 'छै' अशुद्ध हैं। '२रा' '३रा' जैसे प्रयोग भी ठीक नहीं हैं। इन्हें 'दूसरा' 'तीसरा' आदि रूपों में लिखा जाना चाहिए। 'सूक्ष्म', 'संक्षिप्त' तथा 'स्वल्प' शब्दों के प्रयोग में भी पर्याप्त भ्रांति देखी जाती है। इनमें थोड़े के लिए अल्प अधिक उचित है, यथा—'अल्पाहार'। इसी प्रकार 'सूक्ष्म कण दिखाई नहीं देते' में सूक्ष्म तथा 'संक्षिप्त वाक्य' में संक्षिप्त का प्रयोग संगत है। इसी क्रम में आचार्य जी ने 'पात्र और अभिनेता', 'अभिनय और प्रयोग', 'अनियमित तथा अनौपचारिक', 'साम्प्रदायिकता', 'राष्ट्र और जाति' आदि शब्दों के सूक्ष्म अर्थ-भेद का विवेचन किया है।

'अच्छी हिन्दी' नाम की ही एक अन्य पुस्तक के प्रणेता आचार्य ने लिखा है कि जिस शब्द पर जोर देना हो, उसका प्रयोग पहले करना चाहिए जब कि आचार्य किशोरीदास जी वाजपेयी की मान्यता है कि जिस शब्द पर जोर देना हो, उसका प्रयोग पीछे करना चाहिए। अनेक उदाहरण देकर उन्होंने अपनी इस मान्यता की पुष्टि की है। इनमें से एक उदाहरण प्रस्तुत है 'काम पैसे से बनता है' साधारण वाक्य है परन्तु 'काम तो बनता है पैसे से' में पैसे पर जोर है, अर्थात् और किसी साधन से वैसा काम नहीं बनता। उसके लिए तो एक मात्र पैसा चाहिए।

'साहित्य के किसी भी क्षेत्र में पद-प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए,' अपने इस कथन के आधार पर आचार्य जी ने अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं तथा कई मान्य लेखकों के अशुद्ध प्रयोगों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। सिद्धहस्त लेखकों को इस प्रकार के दोषों से बचना चाहिए।

'लेखन-कला' तथा 'अच्छी हिन्दी' में ऐसी प्रभूत सामग्री है, जिसे आचार्य किशोरीदास जी वाजपेयी की मौलिक देन कह सकते हैं। वे एक स्वतंत्र विचारक हैं। परंपराओं को एक सीमा तक स्वीकार करते हुए भी वे हिन्दी भाषा के स्वतंत्र विकास के

समर्थक हैं। उन्होंने हिन्दी भाषा की प्रकृति को भली प्रकार पहचाना—परखा है तथा अपने अध्ययन एवं अनुभव के आधार पर उसके प्रयोग तथा व्याकरण के नियम निर्धारित किए हैं, जिनकी झलक हमें उपर्युक्त दोनों पुस्तकों में मिलती है।



हिन्दी परिष्कार और आचार्य वाजपेयी

डा० शिवप्रसाद शुक्ल
अध्यक्ष हिंदी विभाग,
सनातन धर्म कालेज, पलवल (हरियाना)

हिन्दी के विचार-विश्लेषण का युग है—सन् १९३० से सन् १९६० तक का समय। भले ही किसी ने कुछ करना चाहा हो; परन्तु इस युग में शब्दों के विचार-विश्लेषण का सब काम आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी ने ही किया है। यद्यपि सन् १९२० से ही वाजपेयी जी ने शब्दचिन्तन का काम आरंभ कर दिया था, पर वह बीज रूप में था। सन् १९२५ तक अंकुरित हुआ और सन् १९४० तक पल्लवित-पुष्पित हुआ। इसके आगे पूर्णतः सफल हुआ। सन् १९६० तक हिन्दी शब्दों के विवेचन का बहुत सा काम हो गया। पूरा काम हो गया।

सन् १९३० तक वाजपेयी जी ने जो विचारधारा प्रकट की, उससे आचार्य द्विवेदी भी प्रभावित हुए। सन् १९३१ में उनका एक (पहला) कार्ड वाजपेयी जी को मिला, जिसमें उनके काम की प्रशंसा थी और आशीर्वाद था।[1] आचार्य द्विवेदी के आशीर्वाद से वाजपेयी जी को बहुत बल मिला; हिम्मत बढ़ी और विश्वास हुआ कि जो धारा पकड़ी है, ठीक है। वे अपने काम में फिर आगे बढ़ते ही गए। शब्दशास्त्र पर उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनमें से भाषा-परिष्कार पर 'लेखन-कला', 'अच्छी हिन्दी का नमूना', अच्छी 'हिन्दी', 'हिन्दी शब्द निर्णय' और 'हिंदी शब्द मीमांसा' विशेषतः उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अपने व्याकरण ग्रंथों में भी भाषा-परिष्कार पर जोर दिया है। 'ब्रजभाषा का व्याकरण' में ब्रजभाषा का परिष्कार हुआ है, 'हिन्दी शब्दानुशासन' के 'एक परिशिष्ट' में अवधी का परिष्कार है और हिन्दी (राष्ट्रभाषा) का परिष्कार तो 'हिन्दी शब्दानुशासन'[2] में तथा 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' में है ही। 'ब्रजभाषा-व्याकरण' के परिशिष्ट में हिन्दी के कई शब्दों का विवेचन है जहाँ 'छः' संख्यावाचक विशेषण के रूप में प्रचलित शब्द पर पहली ही बार विचार प्रकट हुआ है। हिन्दी परिष्कार पर आचार्य वाजपेयी ने जो भी लिखा वह तर्कसंगत होने के कारण मान्य है। सन् १९५५ तक इतना अधिक और इतना गम्भीर शब्दशास्त्रीय काम वाजपेयी जी ने कर दिया कि महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अधिक प्रभावित होकर उन्हें 'आचार्य' कहा। कलकत्ते के 'नया समाज' में उनका एक लेख छपा 'आचार्य किशोरीदास वाजपेयी'[3] शीर्षक से। इतना जोरदार

---

१. आचार्य किशोरीदास वाजपेयी—आचार्य द्विवेदी और उनके संगी-साथी, पृ० ४–६।

२. आचार्य वाजपेयी—हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ २८१।

३. नया समाज—सितम्बर १९५४।

और हृदयस्पर्शी लेख न किसी दूसरे लेखक ने आज तक किसी के बारे में लिखा और न स्वयं राहुल जी ने ही किसी दूसरे के बारे में लिखा। राहुल जी ने जब वाजपेयी जी को 'आचार्य' स्वीकार कर लिया, तब सम्पूर्ण हिन्दी जगत् ने कर लिया और तब 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' ने उन्हें सादर आमंत्रित किया, हिन्दी का व्याकरण लिखने के लिए। फलतः 'हिन्दी शब्दानुशासन' सामने आया और फिर 'भारतीय भाषा-विज्ञान' भी प्रकट हुआ। आगे जो विवेचन दिया जायगा, उसका आधार पहले समझ लेना चाहिए। वाजपेयी जी ने हिन्दी परिष्कार के कुछ आधार सामने रखे हैं। उनकी चर्चा पहले आवश्यक है।

हिन्दी की स्वतन्त्र सत्ता

हिन्दी एक स्वतन्त्र भाषा है। इसके अपने नियम हैं, अपनी पद्धति है। किसी दूसरी भाषा पर यह निर्भर नहीं है, यहाँ तक कि संस्कृत से भी मतभेद रखती है। वैसे संस्कृत के जितने निकट हिन्दी है, अन्य कोई आधुनिक भाषा नहीं है; परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वहाँ के सब नियम-उपनियम यहाँ ज्यों के त्यों चलने लगें।

संस्कृत में सन्धियाँ बहुत होती हैं। स्वर-सन्धि तो नहीं, पर व्यञ्जन-संधि बहुत कठिन पड़ती है। वाजपेयी जी का मत है कि हिन्दी ने व्यंजनान्त (हलन्त) शब्द अपने गठन में रखे ही नहीं हैं, इसलिये व्यंजन संधि का झमेला यहाँ वैसा है ही नहीं। हिन्दी के प्रातिपदिक (नाम, सर्वनाम, विशेषण) सब के सब स्वरान्त हैं। संस्कृत से लिए हुए जो शब्द 'तत्सम' या 'तद्रूप' कहलाते हैं, उन्हें भी यहाँ की टकसाल में ढलना पड़ा है, 'धनुष्' को अकारान्त 'धनुष' बनना पड़ा है। 'नामन्' प्रातिपदिक के व्यंजन (न्) को अलग करना पड़ा है। 'नाम' प्रातिपदिक है। इसी तरह 'धामन्' को 'धाम', 'नभस्', 'पयस्' आदि को 'नभ', 'पय' आदि रूप मिले हैं। अन्त के ही नहीं, आदि के भी व्यंजन बहुधा उड़े हैं, यद्यपि नियमतः नहीं।

बहुत पुरानी संस्कृत (वेदभाषा) में एक भाववाचक प्रत्यय 'ताति' चलता था और 'शिवताति'—जैसे प्रयोग होते थे। आगे चलकर संस्कृत में 'ता' प्रत्यय रह गया, 'ति' को हटाकर। 'शिवता' जैसे प्रयोग होने लगे।

लोकभाषा ने 'ताति' के 'ति' से व्यंजन मात्र हटाकर 'ताइ' रख लिया और अपनी दीर्घान्त प्रवृत्ति के अनुसार 'ताई' कर लिया—'देखी अनूपम सुन्दरताई'[1] 'सुन्दरताई'—सुन्दरता। और आगे 'ताई' का भी आद्य व्यंजन उड़ गया—'आई' प्रत्यय रह गया—'तेरी सुघराई की बड़ाई है जगत में'[2]। और आगे चल कर 'आ' भी उड़ गया 'ई' मात्र भाव प्रत्यय रह गया—'सावधानी' और 'होशियारी' से काम करो। यहाँ विशेषणों के अन्त्य स्वरों का लोप और 'ई' से व्यंजनों का मेल है। संस्कृत का 'ता' भी चलता है, संस्कृत शब्दों में, और 'ताई' 'आई' तथा 'ई' भी विकल्प से। परन्तु 'ताई' 'आई' ब्रजभाषा

1. हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ १३६।
2. हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ ३९३–३९४।

आदि में ही अब चलते हैं; हिन्दी में 'ई' चलता है; कहीं 'आई' भी 'चतुराई' 'ढिठाई' आदि।

इसी तरह 'भवति' आदि की 'ति' से व्यंजन हटाकर 'इ' का ग्रहण है। 'ह' धातु 'अस्' का रूपान्तर है। ह + इ = 'है' क्रिया। बहुवचन 'हैं'। 'न्ति' से 'न्' 'त्' दोनों को हटाकर स्वर को अनुनासिक कर लिया—इँ। ह + इँ = हैं। इस तरह करण आदि में लगनेवाली 'भिस्' के आद्य व्यंजन का लोप करके 'इस्' रूप और 'इ' को 'ए' करके 'एस्'। वर्णव्यत्यय से स् + ए = 'से' विभक्ति। 'चाकू से कलम बनाओ'। कभी कहीं संस्कृत में भी 'भिस्' का 'भ्' उड़ जाता है और 'इस्' का 'ऐस्' रूप हो जाता है, जिसका निर्देश पाणिनि ने किया है 'अतो भिस् ऐस्'। बालक + ऐस् = बालकैस् = 'बालकैः'। पांचाली में 'भिस्' के अन्त्य व्यंजन का लोप और 'भि' को 'भे' रूप। 'चाकू भे नाईं कटति हैं'। 'चाकू से नहीं कटती है'। अपादान के 'भ्यस्' से भी आद्य व्यंजन का लोप और 'य्' 'इ' 'ए'। 'एस्' का वर्णव्यत्यय 'से' रूप। 'शहर से आ रहा हूँ'। 'एस्' से 'से' कर लेने का मतलब यह है कि संज्ञा-विभक्तियों में स्वर आदि में न रहे। इसीलिए कर्ता-कारक में लगने वाली 'इन' को वर्णव्यत्यय और गुण-संधि करके 'ने' रूप। 'बालकेन पीतम्' 'बालक ने पिया'। क्रिया-विभक्ति 'इ' ले ली है। केवल 'ह' में लगाकर 'है' रूप बना लिया। परन्तु 'इन' तो अनन्त जगह लगने को है। 'ने' न कर लिया जाता, तो **'बालक इन** पिया' **'इन इन** पिया' **'उन इन** पिया' जैसे अटपटे प्रयोग होते। सन्धि करते तो बखेड़ा और भी बढ़ता। इसलिए सीधी 'ने' विभक्ति।'[1]

सारांश यह है कि भाषा की प्रवृत्ति सरलता की ओर है और इसीलिए व्यंजनांत शब्द बिल्कुल नहीं। कहीं-कहीं आद्य व्यंजन का भी लोप। यों संस्कृत से स्वरूपगत भेद। इधर आधुनिक काल में 'पश्चात्' 'श्रीमान्' जैसे संस्कृत शब्द तद्रूप (व्यंजनान्त) चलने लगे, सो अलग बात है और पद्धति भी संस्कृत से भिन्न है। जहाँ तक कोई कठिनाई नहीं, एक पद्धति, और जहाँ कठिनाई दिखाई दी कि अपनी भिन्न पद्धति—

रामः काशी गतः, सीता गृहं गता,
राम काशी गया, सीता घर गई,

यहाँ उभयत्र एक पद्धति है और—

'रामेण सीतया बानरैश्च फलानि भुक्तानि',
'राम ने सीता ने और बानरों ने फल खाए',

यहाँ भी एक पद्धति है। परन्तु—

'जनकेन पुत्रः आहूतः' 'पुत्री आहूता',
'जनक ने पुत्र को बुलाया', 'पुत्री को बुलाया',

यहाँ पद्धति भेद है। पुत्र को भी बुलाया और पुत्री को भी बुलाया। इसी तरह—

---

१. हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ ५९३–५९४।

'पिता पुत्रम् पश्येत्' 'पुत्रः पितरम् पश्येत्',
'पिता पुत्र को देखे' 'पुत्र पिता को देखे',

यहाँ समान पद्धति है। कर्मकारक सविभक्तिक है। 'पुत्र को' 'पिता को'। परन्तु यहाँ भिन्नता है :—

'पत्नी गृहम् पश्येत्' 'पतिः बहिः कार्यम् पश्येत्'
'पत्नी घर देखे' 'पति बाहर का काम देखे।'

हिन्दी में 'घर' तथा 'काम' के आगे विभक्ति ('को') नहीं है। यह भेद क्यों? इसका वैज्ञानिक कारण है। 'पिता पुत्र को देखे' और 'पुत्र पिता को देखे' आदि में 'को' न लगाकर 'पिता पुत्र देखे' और 'पुत्र पिता देखे' कहने से भ्रम हो सकता है कि कौन किसे देखे। 'मोहन सोहन को देखता है' स्पष्ट प्रयोग है; पर 'मोहन सोहन देखता है' गड़बड़ है। पता नहीं देखनेवाला मोहन है या सोहन। परन्तु 'मोहन घर देखता है' में कोई भ्रम नहीं। घर के आँखें ही नहीं हैं कि उसके कर्तृत्व का भ्रम हो। तब अनावश्यक चीज क्यों चिपकाई जाए? ये सब ऐसी बातें व्याकरण की हैं। यहाँ प्रासंगिक चर्चा कि हिन्दी की पद्धति संस्कृत से भिन्न भी है। संस्कृत में सर्वत्र विभक्ति-प्रयोग है; हिन्दी में यथावश्यक। संस्कृत के 'यत्र-तत्र' 'यथा-तथा' आदि निर्विभक्तिक प्रयोग हिन्दी में होते हैं। कभी-कभी संस्कृत शब्द लेकर हिन्दी ने अपनी विशेष चीज तैयार कर ली है। 'सु' तथा 'अवसर' लेकर अपना पद 'सुअवसर' चलता है। इसी तरह 'एकत्र' तथा 'इत' (तद्धित प्रत्यय) संस्कृत के लिए और 'एकत्रित' अपना विशेषण बना लिया। 'एकत्र भीड़ एकत्रित थी, अपरत्र सुनसान था।'

कुछ लोग 'एकत्र' को ही हिन्दी में विशेषण के रूप में लिखने लगे हैं, जो गलती है। संस्कृत में भी 'एकत्र' विशेषण नहीं है। वहाँ 'अत्र' 'तत्र' आदि से तद्धितीय 'त्य' प्रत्यय जुड़कर विशेषण बनते हैं—'अत्रत्यानि फलानि' 'तत्रत्याः पुरुषाः' 'यहाँ के फल' 'वहाँ के पुरुष'। यानी 'त्य' का काम हिन्दी ने अपने 'क' से ले लिया। परंतु संस्कृत अव्ययों के आगे अपनी विभक्ति हिन्दी नहीं लगाती। 'यहाँ के फल' की जगह 'अत्र के फल' और 'वहाँ के पुरुष' की जगह 'तत्र के पुरुष' हिन्दी को स्वीकार नहीं। हाँ, संस्कृत 'एकत्र' से संस्कृत प्रत्यय 'इत' जोड़ कर 'एकत्रित' अपना विशेषण जरूर बनाया है। संस्कृत में 'एकत्रित' नहीं चलता; तो न चले। वहाँ 'एकत्र' से 'त्य' प्रत्यय भी नहीं होता। 'एकत्रत्याः पुरुषाः' नहीं चलता। 'समवेताः पुरुषाः' जैसे प्रयोग होते हैं।

साहित्यिक भाषा में लिखावट की एकरूपता

किसी भी साहित्यिक (व्यापक) भाषा में शब्दों की लिखावट (वर्ण-विन्यास या वर्तनी) में एकरूपता आवश्यक होती है; भलेही उच्चारण भेद हो। आचार्य वाजपेयी ने इस परम्परा सिद्धान्त पर बल दिया है और इसी पर आगे चलकर हिन्दी-परिष्कार का उन्होंने उतना काम किया। केवल हिन्दी के लिए ही नहीं, सभी व्यापक साहित्यिक भाषाओं के लिए यह स्थिति अनिवार्य है। अंग्रेजी भाषा के कितने ही शब्दों का उच्चारण देश-भेद या प्रदेश-भेद से भिन्न होता है; जैसे शिक्षा का अंग्रेजी पर्याय शब्द कहीं 'एजूकेशन' बोला

जाता है और कहीं 'एड्यूकेशन'। परन्तु लिखावट में कोई अन्तर नहीं। बोलने में दोनों ही जगह के लोग एक दूसरे की भाषा मजे से समझते हैं; कोई अड़चन नहीं पड़ती। परन्तु यदि लिखावट में (उच्चारण के आधार पर) भिन्नरूपता आ जाती, तो भाषा की व्यापकता नष्ट हो जाती; भाषा-भेद सा उपस्थित हो जाता; मतलब निकालना कठिन हो जाता!

इसी तरह संस्कृत के पूरबी विद्वान् बोलते हैं—'जे जथा मां प्रपद्यन्ते' और 'खटकर्णो भिद्यते मंत्रः' परन्तु लिखते वैसा ही हैं, जैसा कि दूसरे इधर के लोग—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते' तथा—'षट्कर्णो भिद्यते मंत्रः"।

अपने-अपने विशेष उच्चारण के अनुसार लिखावट नहीं चलती। वैसा रूप बना देने से भाषा ही बिगड़ जाए। हाँ, ब्रजभाषा आदि के साहित्य में जनभाषा का रूप ही 'य' 'ज' के लिए चलता है—'जोगी जुगत को सब खेल'। यहाँ 'योगी' नहीं चलता। 'संयोग' का 'संजोग' चलता है, पर 'वियोग' का 'विजोग' नहीं चलता 'बियोग' चलता है।' 'वि' का रूपान्तर 'बि' और 'यो' ज्यों का त्यों। 'विजोगी' न कोई बोलता न कोई लिखता है। यह भाषा की प्रवृत्ति है। परन्तु संस्कृत में 'ये यथा' को कोई भी 'जे जथा' नहीं कर सकता। बंगाली संस्कृत पंडित भी अद्य 'य' को 'ज' ही बोलते हैं, पर लिखते हैं 'य' से ही।

वे 'यथा' को 'जोथा' जैसा बोलते हैं, पर लिखते हैं, 'यथा' ही। इसी तरह दाक्षिणात्य विद्वानों के उच्चारण में भिन्नता है, पर लिखने में पूर्ण एकरूपता।

हिन्दी भी व्यापक साहित्यिक भाषा है, और आज अन्तरराष्ट्रीय व्यवहार-भाषा है। देश-भेद और प्रदेश-भेद से हिन्दी के शब्द भिन्न रूपों में लोग बोलते हैं। दक्षिण भारत के भाई हिन्दी बोलते समय 'अछूत' के 'छ' की जगह 'च' बोलते हैं, पर हम लोगों के समझने में जरा भी दिक्कत नहीं पड़ती। लिखते वे भी 'अछूत' ही हैं। यदि कोई उच्चारण के अनुसार हीं वर्णविन्यास करने का आग्रह करे, तो समस्या सामने यह आएगी कि हिन्दी जैसी व्यापक भाषा के लिए मानक उच्चारण कहाँ का माना जाए। क्या हिन्दी के उद्गम-क्षेत्र (कुरु जनपद) के उच्चारण को आदर्श मान लिया जाए। ऐसा करने पर तो उच्चारण के अनुसार वाक्यविन्यास कुछ इस तरह के हो जाएँगे—

'मेरी धोत्ती लेत्ते आना, गिठी भी लाणी है—तब वह सब साहित्य गड़बड़ी में पड़ जाएगा। जहाँ लिखा है—मेरी धोती लेते आना, अंगीठी भी लानी है। इसी तरह उस जनपद में बोलते हैं—'काड़ा स्या साँप निकड़ा' अन्यत्र बोलते हैं—'काला स्याह साँप निकला।'

तब कुरु जनपद का उच्चारण व्यापक हिन्दी भाषा में ग्रहण करके तदनुरूप वर्ण-विन्यास करने से कैसा उत्पात मचेगा? हिन्दी ने कुरु जनपद का उच्चारण छोड़ कर व्यापक 'धोती लाना' 'काला निकला' जैसा उच्चारण अपनाया और वही अब कुरु जनपद (मेरठ) आदि में भी साहित्यिक जनों द्वारा गृहीत है। हाँ, ग्राम-गीतों में 'ड़' जरूर

चलता है। 'ड़' 'ल' का उच्चारण बहुत पुराना है। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में ही यह आ गया है—अग्निमीडे पुरोहितम्····। आजकल संस्कृत में 'ड़' उच्चारण नहीं है, 'ड' चलता है 'इडे'। परन्तु भाष्यकार सायण ने लिखा है कि किसी किसी शाखा में 'ईले' पढ़ा जाता है। 'ड़' जैसा उच्चारण प्रकट करने के लिए 'ल' ऐसा लिपि संकेत है जो मराठी में आज भी प्रचलित है। कुरु जनपद में उसका उच्चारण यों हो सकता है—साळा जाळापुर निकळ गया'। परन्तु थोड़े से ही भू-भाग में ही ऐसा उच्चारण है, अन्यत्र 'ल' ही चलता है। इसलिए लिपि से 'ल' हट गया और ल ही चला। फिर भी 'गुड' आदि में 'ड' की जगह लोकभाषा में 'गुड़' ही बोलते हैं 'गौड' को 'गौड़'। कुरुजनपद में जितना गुड़ पैदा होता है, भारत में अन्यत्र कहीं नहीं। यह 'गुड प्रदेश है' और यहाँ के ब्राह्मण 'गौड़ ब्राह्मण'। हिन्दी में 'गुड़' और 'गौड़' उच्चारण है। संस्कृत में 'गुड़' 'गौड़' नहीं लिख सकते।

सो व्यापक साहित्यिक भाषा में उच्चारणभेद से लिखावट (वर्तनी या अखरौटी) में भेद नहीं कर सकते। इसी सिद्धान्त से हिन्दी में 'ज़रूरत' और 'डॉक्टर[1]' जैसे वर्णविन्यास गलत हैं। आचार्य वाजपेयी इसी सिद्धान्त पर चले हैं जो हमें उपयुक्त प्रतीत होता है।

भाषाभेद से शब्दभेद

जब किसी भाषा के रूप में इतना परिवर्तन हो जाए कि स्पष्ट भेद जान पड़े तो (रूपभेद के कारण) नाम-भेद भी हो जाता है। प्राकृत, अपभ्रंश हिन्दी आदि नाम ऐसे ही हैं। प्राकृत का रूपान्तर अपभ्रंश और अपभ्रंश का रूपान्तर हिन्दी। दूध का रूपान्तर दही और दही का रूपान्तर मट्ठा। रूप रंग में ही नहीं स्वाद में भी अन्तर आ जाता है।

हिन्दी लोकभाषा है, प्राकृत परम्परा में है और कोई भी लोकभाषा आवश्यकतानुसार अपने संग-साथ चलनेवाली किसी दूसरी भाषा से शब्द ग्रहण करती है। हिन्दी ने भी अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण किए हैं, परन्तु सबसे अधिक प्रभाव इस पर संस्कृत का है। संस्कृत सभी लोकभाषाओं के अर्थ एक अक्षय कोष है। वहीं से सबका काम चलता है। परन्तु तो भी इन लोकभाषाओं की अपनी ही स्थिति है अपना प्रवाह है, अपने नियम हैं। संस्कृत के सब नियम यहाँ नहीं चल सकते, चलते तो यह फिर दूसरी भाषा ही न कहलाती। बहुत थोड़ा अन्तर पड़ गया है। 'वह सो गया' 'राम काशी से चल पड़ा' जैसी क्रियाएँ संस्कृत में कहाँ हैं? सुअवसर जैसे प्रयोग संस्कृत में होते हैं क्या? 'मा ने लड़की को बुलाया' जैसे सकर्मक क्रिया के भाववाच्य प्रयोग संस्कृत में कोई भी कर सकता है क्या? स्पष्ट भेद है। कहीं समान पद्धति भी है। परन्तु सर्वत्र संस्कृत के नियम हिन्दी में चलाने की बात सोचना गलत है। ऐसी गलती अच्छी भावना से की जाने पर भी गलती ही है। ऐसी ही भावना से 'ष्टेशन' 'असिष्टेंट' 'अर्जण्ट'

---

१. आचार्य किशोरीदास वाजपेयी—लेखनकला, पृष्ठ ७।

वर्ण-विन्यास चलाने का उपयोग हुआ था और इसी तरह आगे 'राष्ट्रिय' 'अन्ताराष्ट्रिय' जैसे प्रयोग लोगों ने चलाने शुरू किए थे। परन्तु हिन्दी की प्रकृति ने वह सब स्वीकार नहीं किया। हिन्दी की इस प्रकृति का विश्लेषण आचार्य वाजपेयी ने अच्छी तरह किया है। इसी के अनुसार उन्होंने हिन्दी का परिष्कार किया, आए हुए या लाए गए विकारों को हटाया, यह सब आगे आप देखेंगे

राष्ट्रीय और राष्ट्रिय

हिन्दी में 'राष्ट्रीय' विशेषण सर्वमान्य था, चल रहा था। परन्तु सन् १९३५ के इधर उधर काशी के कुछ विद्वान् हिन्दी लेखकों ने घोषित किया कि राष्ट्रीय प्रयोग गलत है, शुद्ध है 'राष्ट्रिय' क्योंकि पाणिनीय व्याकरण से 'राष्ट्रिय' बनता है, राष्ट्रीय नहीं। काशी की बात सबने मान ली। लोग लिखने लगे 'राष्ट्रिय भावना का जागरण करना चाहिए' दूसरे लोग 'राष्ट्रीय' ही लिखते रहे, उस परिष्कार से परिचित न हुए। यों द्विविध प्रयोग चले। राष्ट्रीय को गलत समझनेवाले (संस्कृत से अनभिज्ञ जन) 'प्रदेशिय' तथा 'क्षेत्रिय' जैसे प्रयोग भी करने लगे। तब आचार्य वाजपेयी को सामने आना पड़ा। वाजपेयी जी ने पूरी दृढ़ता के साथ कहा कि हिन्दी में 'राष्ट्रिय' प्रयोग गलत है। वाजपेयी जी ने 'राष्ट्रिय' विशेषण को हिन्दी में गलत बतलाया पूरी उपपत्ति के साथ। उनके कुछ तर्क लीजिए—

१—हिन्दी ने सामान्य रूप से 'ईय' प्रत्यय लिया है—देशीय, प्रान्तीय, भारतीय आदि। 'इय' को अपवाद रूप में हिन्दी ने नहीं लिया है। व्यापकता और एकरूपता हिन्दी को अभीष्ट है और इसीलिए 'ग्रंथविस्तरभिया त्वधिकं न प्रपञ्च्यते' का अनुवाद 'ग्रंथ विस्तार के भय से अधिक खुलासा न किया जाएगा', होगा न कि विस्तर के भय से। संस्कृत में 'ग्रन्थ विस्तार' गलत है, 'ग्रन्थ विस्तर' शुद्ध है। परन्तु हिन्दी में 'ग्रन्थ का विस्तार' शुद्ध है, 'ग्रन्थ का विस्तर' गलत है। यह इसलिए कि विकार, विचार, विभाग, विराम आदि से एकरूपता अपेक्षित है। यदि संस्कृत के नियम का अनुसरण करके 'ग्रन्थ का विस्तार' चलता तो अन्य शब्दों में गड़बड़ी पड़ती। राष्ट्रिय के कारण प्रदेशिय आदि शब्द चल ही पड़े। हिन्दी को इस गड़बड़ी से बचाए रखने के लिए उसकी प्रकृति प्रवृत्ति पर सदा ध्यान रखना चाहिए।

२—अन्य भाषाएँ भी अपनी प्रकृति प्रवृत्ति पर जाती हैं और उन्हें कोई अपने नियम बना कर हटा नहीं सकता। संस्कृत में ही देखिए, एक वैय्याकरण ने अपने व्याकरण (सारस्वत) में एक प्रयोग पुंक्षु भी बताया और कहा 'पुंसु' 'पुंक्षु' दोनों प्रयोग साधु हैं, वैकल्पिक हैं। परन्तु संस्कृत भाषा ने उनकी बात मानी नहीं, पुंसु प्रयोग ही चला, चल भी रहा है।

पाणिनि सूत्रों से 'विश्राम' नहीं 'विश्रम' बनता है। परंतु संस्कृत ने विश्राम छोड़ा नहीं, बराबर चल रहा है। 'विश्राम' संस्कृत में चलता है परन्तु उपसर्ग हटाकर 'श्राम' नहीं चलता। कहीं भी श्राम का प्रयोग नहीं, पाणिनि निर्दिष्ट 'श्रम' ही चलता है। जैसे 'क्रम' और 'भ्रम' उसी तरह 'श्रम'।

इसी तरह विश्राम की ही पद्धति पर हिन्दी के ग्रन्थ का विस्तार ग्रहण किया और 'भारतीय' आदि की तरह 'राष्ट्रीय'। अपवाद स्वरूप 'राष्ट्रिय' लेकर एक बखेड़ा खड़ा करना ठीक नहीं समझा गया।[१]

३—भाषा में विशेषणों की अपेक्षा संज्ञाएँ कुछ भिन्नरूपता ग्रहण कर लेती हैं। 'विश्वामित्र' होते हैं सन्त में, विशेषण है 'विश्वमित्र।' परंतु संज्ञा में 'विश्वामित्र' हो गया। 'विश्वामित्र राम जी को ले गये'। यहाँ विश्वमित्र कर देने से अर्थ बोध न होगा; विशेष ज्ञान न होगा। द्वारवती शाला, ठीक, परन्तु संज्ञा है 'द्वारावती'।

इसी तरह संस्कृत में 'राष्ट्रिय' एक संज्ञा है। राजश्यालस्तु राष्ट्रियः—राजा का साला 'राष्ट्रिय' कहलाता है। 'तु' से विशेषण (राष्ट्रीय) का व्यवच्छेद समझा जा सकता है—राजा का साला हो तो राष्ट्रिय। अन्यत्र (विशेषण रूप से) राष्ट्रीय। पाणिनि व्याकरण से राष्ट्रीय भी बन जाता है। और कोई जिद करे कि नहीं बन सकता तो न सही। तब 'विश्राम' की ही तरह 'राष्ट्रीय' विशेषण टकसाली समझा जाएगा।[२] और न चले संस्कृत में राष्ट्रीय, हिन्दी में तो वह सुप्रचलित टकसाली विशेषण है ही।

राष्ट्रीय की तरह ही 'राजनीतिक' हिन्दी में चलाया गया था और 'राजनैतिक' को गलत बताया गया था। चल पड़ा था 'राजनीतिक' और इसी निदर्शन से लोग 'इतिहासिक' आदि लिखने लगे। हिन्दी के पुराने लेखक बेंकटेशनारायण तिवारी ने तो 'सरस्वती' में लेख लिखकर कहा कि हिन्दी में दैहिक, दैविक, भौतिक आदि की जगह देहिक, देविक, भूतिक, जैसे विशेषण ही लिखने चाहिए। वाजपेयी जी ने इस बवंडर को भी हटाया और हिन्दी को प्रकृतिस्थ किया।

अन्तर्राष्ट्रीय, अन्ताराष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय

हिन्दी में पहले (अंग्रेजी के इंटरनेशनल विशेषण की जगह) अन्तर्राष्ट्रीय शब्द चलता था चलता आ रहा था। परन्तु जब काशी के विद्वानों ने 'राष्ट्रीय' गलत बतलाकर 'राष्ट्रिय' चलाना शुरू किया, तब 'अन्तर' के साथ 'राष्ट्रिय' की (संस्कृत व्याकरण के अनुसार) संधि करके 'अन्ताराष्ट्रिय' विशेषण चलाया। डा० सम्पूर्णानन्द की एक पुस्तक का नाम है—अन्ताराष्ट्रिय विधान। 'राष्ट्रिय ने तो 'प्रदेशिय' 'प्रान्तिय' जैसे गड़बड़ शब्दों की सृष्टि शुरू की थी, पर 'अन्ताराष्ट्रिय' ने सर्वार्थ-नाश का उपक्रम किया। जो लोग संस्कृत नहीं पढ़े, वे कैसे समझें कि 'अन्तर' शब्द यहाँ 'अन्ता' बन गया है। हिन्दी में यह सन्धि गृहीत नहीं है और इसीलिए 'बर्रा, ढर्रा, ठर्रा आदि शब्द दिखाई देते हैं, इनके रूप बारा, ढारा, ठारा नहीं हुए। संस्कृत की सन्धियाँ सब हिन्दी ने नहीं स्वीकार की हैं और इसीलिए 'जगत्' एक समस्या है का रूप 'जगदेक समस्या है' कभी हो नहीं सकता।

'जगत् शत्रु हो गया' का रूप 'जगच्छत्रु हो गया' कभी भी न होगा। 'जगदीश' आदि समास-सन्धि से बने बनाए संस्कृत शब्द हिन्दी ने ले लिए हैं, जगत् के साथ 'ईश'

---

१. आचार्य वाजपेयी, हिन्दी शब्द मीमांसा, पृष्ठ ६७।
२. ,, ,, ,, ,, ६९।

की संधि हिन्दी में नहीं की गई है। परन्तु 'अन्ताराष्ट्रिय' शब्द संस्कृत साहित्य में कहीं मिलता नहीं कि बना बनाया हिन्दी ले ले। इसलिए 'अन्तर' शब्द की सन्धि वैसी हिन्दी में ठीक नहीं है, अन्ताराष्ट्रिय शब्द ठीक नहीं न 'अन्ताराष्ट्रीय' ही ठीक। सन्धि किए बिना अन्तरराष्ट्रीय शब्द हिन्दी में चलना चाहिए, यह व्यवस्था वाजपेयी जी ने दी। परन्तु आगे 'अन्तर्प्रादेशिक' जैसे प्रयोग सामने आने लगे, कोई संस्कृत सन्धि करके अन्तःप्रादेशिक लिखने लगे।

झमेला बढ़ा। हिन्दी ने ऐसे झमेलों से दूर रहने के लिए ही अपने निजी रूप में व्यंजनांत शब्द नहीं रखे हैं और संस्कृत व्यंजनांत शब्दों को भी स्वरान्त करके ग्रहण किया है—धनुष्—धनुष आदि। वाजपेयी जी ने हिन्दी की इसी प्रवृत्ति पर ध्यान देकर हिन्दी में संस्कृत 'अन्तर्' शब्द को सस्वर 'अन्तर' करके 'अन्तरराष्ट्रीय' 'अन्तरप्रान्तीय' आदि शब्द रूपों का समर्थन किया।[1]

आगे वाजपेयी जी ने और ऊहापोह किया और लिखा कि संस्कृत 'अन्तर्' शब्द से भिन्न एक 'अन्तर' स्वरान्त शब्द भी है और दोनों भिन्नार्थक हैं। 'अन्तर्' का अर्थ 'भीतर' (अन्दर) या भीतरी होता है—अन्तःकरण—अन्तर्जगत् आदि। परन्तु 'अन्तर' भिन्नार्थक है। इसके अन्य अर्थों में एक 'अन्य' भी है जो समास में किसी शब्द के अन्त में आने पर प्रकट होता है—रामो देशांतरं गतः 'राम किसी अन्य देश को चला गया' यानी अपना देश छोड़ गया। पुस्तकान्तरे दृष्टम् 'किसी दूसरी पुस्तक में देखा है।'

यह 'अन्य' या 'दूसरा' अर्थ व्यंजनांत 'अन्तर' शब्द कभी दे नहीं सकता।

और अंग्रजी के 'इंटरनेशनल' जैसे शब्दों में अन्य अर्थ 'इंटर' का अभिप्रेत है।' 'नेशनल' 'राष्ट्रीय और 'इंटरनेशनल' 'अन्तर-राष्ट्रीय'। यानी 'अन्तर' शब्द का समास में पूर्व-प्रयोग होने पर स्व छूटता नहीं है, उसके साथ 'पर' का ग्रहण भी हो जाता है, जब कि पर-प्रयोग से 'स्व' छूट जाता है।

यह हमारा प्रादेशिक व्यवहार है।
यह प्रदेशान्तर का व्यवहार है।
यह अन्तरप्रादेशिक व्यवहार है।

'अन्तर्' भिन्नार्थक है भीतर का अर्थ देता है। 'अन्तर्देशीय-पत्र' यानी देश के भीतर चलनेवाला पत्र। जो लोग 'अन्तर्जातीय विवाह' आदि में 'अन्तर्' शब्द का 'अन्तर' जैसा अर्थ समझे बैठे थे, वे अन्तर्देशीय-पत्र डाकखाने से खरीद कर विदेश भेजने लगे और पैसे खोकर बेवकूफ बने।

'अन्तर्' के गलत अर्थ में प्रयोग करने-समझने का यह फल है। अब हिन्दी में 'अन्तरराष्ट्रीय' 'अन्तरप्रान्तीय' जैसे शुद्ध प्रयोग होते हैं, कहीं कहीं आज भी उस युग

१. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृष्ठ ७१।

के अवशेष अवशिष्ट हैं। पटना (बिहार) से हिन्दी दैनिक 'आर्यावर्त' निकलता है। वह आज भी '**अन्ताराष्ट्रिय**' समाचार छापता हैं। सो, यह आर्यावर्त है, भारतवर्ष है। यहाँ एक साथ आप किसी मेले पर इस बीसवीं शताब्दी के साथ साथ अठारहवीं शताब्दी के दृश्य देख सकते हैं। जो चल पड़ा, फिर वह बहुत दिन तक चलता रहता है। शुद्धाशुद्ध विचार अलग चीज है।[1]

एकत्रित और एकत्र

'अन्ताराष्ट्रिय' के साथ ही साथ विशेषण के रूप में विद्वानों ने 'एकत्र' चलाया। 'तत्र' 'अत्र' 'सर्वत्र' आदि की तरह ही 'एकत्र' संस्कृत का सार्वनामिक अव्यय है अधिकरणार्थक। 'एकत्र रागरङ्गः अपरत्र दैन्य चीत्कारः' एक जगह राग-रंग दूसरी जगह दैन्य-चीत्कार। परन्तु इस 'एकत्र' शब्द को विशेषण के रूप में (काशी के ही) विद्वानों ने चलाना शुरू किया—'वहाँ एकत्र भीड़ ने पुलिस पर हमला कर दिया'। यानी हिन्दी में सुप्रचलित 'एकत्रित' विशेषण का यह शुद्धीकरण। संस्कृत में 'एकत्रित' नहीं बनता इसलिए हिन्दी में गलत।

वाजपेयी जी ने इसका भी प्रतिकार किया और कहा कि संस्कृत में भी 'एकत्र' विशेषण नहीं चलता। वहाँ 'समवेत' जैसे विशेषण चलते हैं। 'समवेताः जनाः' इकट्ठे लोग और 'समवेता जनता' इकट्ठी भीड़। 'एकत्र' का प्रयोग संस्कृत में कहीं भी विशेषण रूप में कभी नहीं हुआ। तब हिन्दी में यह ऊधम क्यों? इसलिए कि एकत्रित संस्कृत में बनता नहीं? न बने, हिन्दी में चलता है। परन्तु 'एकत्र' तो संस्कृत में भी विशेषण रूप में नहीं चलता।

वाजपेयी जी ने बतलाया कि संस्कृत का 'एकत्र' अव्यय और वहीं का 'इत' प्रत्यय लेकर हिन्दी ने अपनी चीज तैयार कर ली है 'एकत्रित'। एकत्रित शब्द हिन्दी की अपनी टकसाली चीज है और मुद्दत से चल रही है चलती रहेगी। संस्कृत में एकत्रित नहीं बना, इसलिए हिन्दी में जो लोग इसे गलत समझते हैं, वे हिन्दी का इकट्ठा विशेषण दें। 'एकत्र' का विशेषण रूप में प्रयोग सर्वथा गलत है।[2]

दम्पति–दम्पती, फीट और फुट

हिन्दी में 'दम्पति' शब्द चलता है, चलता आ रहा है। एक पुस्तक का नाम ही 'दम्पति-विलास' है। इसी तरह चार फुट लम्बा साँप जैसे प्रयोग फुट से होते हैं, हो रहे थे। परन्तु ये दोनों शब्द गलत बतलाये गये। दम्पति तो सर्वथा गलत बतलाया गया, पर फुट को केवल 'एक फुट' जैसे प्रयोगों में ठीक बतला कर अन्यत्र सर्वत्र गलत बतलाया गया और कहा गया कि दो फुट तीन फुट आदि की जगह शुद्ध 'दो फीट' 'तीन फीट' जैसे प्रयोग करने चाहिए। डा० हरिशंकर शर्मा ने 'हिन्दुस्तान' में एक लेख छपवा कर दम्पति

---

१. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृष्ठ ७१–७६।
२. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृष्ठ ४५।

लिखनेवालों की खबर ली और फीट का तो समर्थन सभी अंग्रेजी पढ़े हिन्दी-सेवकों ने किया।

वाजपेयी जी ने समझाया कि हिन्दी में दम्पति ही स्त्री-पुरुष के जोड़े को कहते हैं। जाया और पति—'दम्पति'। चूँकि दम्पति में जाया और पति दोनों का ग्रहण है, इसलिए वहाँ द्विवचन प्रयोग दम्पती होता है—'राजदम्पती समागतौ' राजा रानी आ गए। परन्तु कहीं वहाँ दम्पति ही रहता है—'राज दम्पतिभ्यां दत्तोऽयमुपहारः—राजदम्पति का दिया हुआ यह उपहार है। यहाँ राजदम्पतीभ्याम् न होगा क्योंकि प्रातिपदिक है 'दम्पति'। जैसे कविभ्याम् वैसे ही दम्पतिभ्याम् तथा प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन में दम्पती चलता है जैसे 'कवी'। कवी समागतौ—दो कवि आए। हिन्दी में द्विवचन 'कवी' नहीं चलता और न दम्पति का द्विवचन 'दम्पती' ही। जो लोग संस्कृत का वैसा पक्षपात करते हैं, उन्हें भी उस कवि का बहुवचन भी कवयः लिखना बोलना होगा। कवयः यहाँ आ गए। तब तो बढ़िया काम हो जाएगा।

परन्तु यह ढोंग हिन्दी स्वीकार करेगी क्या? हिन्दी ही क्यों? कोई भाषा ऐसा तमाशा न बनेगी। हिन्दी का धोती शब्द अंग्रेजी में गया—चलता है, किन्तु हिन्दी की वचन-पद्धति वहाँ थोड़े ही चलेगी। प्रातिपदिक मात्र ('धोती' शब्द) अंग्रेजी ने लिया है, उसका बहुवचन वहाँ धोतीज़' होगा 'धोतियाँ' नहीं। 'ब्रिंग माई धोतीज़' प्रयोग अंग्रेजी में होते हैं 'ब्रिंग माई धोतियाँ' नहीं। 'कैप्टन' जैसे कश्मीरी भाषा के शब्द संस्कृत में अपनी विभक्तियों के साथ चलते हैं—यत्तु कैप्टनेनोक्तम्? 'कैप्टेन' की जगह काश्मीरी भाषा की प्रयोग पद्धति नहीं चल सकती। इसी तरह हिन्दी ने संस्कृत प्रातिपदिक 'दम्पति' लिया है, वहाँ का द्विवचन-विन्यास नहीं लिया है। फलतः हिन्दी में 'दम्पति' शुद्ध है 'दम्पती' गलत।

इसी तरह 'दो फीट', 'तीन फीट' को वाजपेयी जी ने गलत बतलाकर 'दो फुट' 'तीन फुट' आदि को शुद्ध बतलाया। हिन्दी ने अंग्रेजी का 'फुट' शब्द लिया है उसका बहुवचन रूप नहीं। यहाँ जैसे 'दो हाथ लम्बा' वैसे 'दो फुट लम्बा'। फुट का बहुवचन फीट अंग्रेजी में चलता है हिन्दी को उससे मतलब नहीं है। जो लोग फीट पर फिदा हैं उन्हें फिर हिन्दी में 'हमारे चारो कोट ले आओ' की जगह 'चारो कोट्स ले आओ' लिखना बोलना होगा और तब शुद्ध हिन्दी लिखने-बोलने के लिए सब को अंग्रेजी पढ़नी होगी। तो भी हिन्दी अपनी जगह पर चलती रहेगी 'हमारे कोट लाओ'। अंग्रेजी वालों की हिन्दी अलग हो जाएगी, जैसे फारसी वालों की अलग हो गई थी उर्दू नाम से 'हमारे मकानात ज्यादह ख़राब हो गए हैं—हिन्दी अपनी राह पर रही—हमारे मकान ज्यादा खराब हो गए हैं। सो 'फीट' का समर्थन 'बबुआनी' हिन्दी का कुछ और नाम रखकर उसके लिए कोई भले ही करे, पर हिन्दी के लिए यह आदेश उपदेश व्यर्थ जाएगा।

आपकी आज्ञानुसार, अपनी इच्छानुसार या आपके आज्ञानुसार, अपने इच्छानुसार

हिन्दी में प्रयोग होते हैं आपकी आज्ञानुसार सब काम किया जाएगा, कुछ काम अपनी इच्छानुसार भी करने हैं, इत्यादि। परन्तु काशी के विद्वानों ने सोचा कि अनुसार

तो पुंवर्गीय शब्द है जैसे कि विकार, विहार, विचार, विलास आदि और तत्पुरुष समास में अन्तिम शब्द के अनुसार भेदक की स्थिति रहती है 'आपकी स्वर्ण-घंटिका कहाँ गई।' भेदक तथा क्रिया का स्त्रीवर्ग में प्रयोग है—आपकी गई। इसी प्रकार 'उद्यान के सब लता पुष्प मुरझा गए', पुष्प के अनुसार उद्यान के भेदक तथा मुरझा गए क्रियारूप हैं। तब शुद्ध प्रयोग होना चाहिए—आपके आज्ञानुसार, अपने इच्छानुसार आदि। अनुसार पुंवर्गीय शब्द है और इसलिए उसकी ही प्रधानता में भेदक तथा क्रिया में पुंवर्गीयता अपेक्षित।

काशी के विद्वानों के इस आदेश उपदेश से वैसे ही प्रयोग लोग करने लगे 'आपके आज्ञानुसार'। परन्तु ऐसे प्रयोग कानों को अच्छे न लगते थे, क्योंकि चलन के विरुद्ध थे। तो भी शुद्धता का ध्यान था।

आपने यह कैसे समझा कि 'अनुसार' शब्द हिन्दी में पुंवर्गीय है? अनुस्वार तो संज्ञा है, एक वर्णध्वनि का नाम है और प्रयोग होते हैं—अनुस्वार लगता है—यहाँ अनुस्वार ठीक नहीं लगता इत्यादि। इसी तरह 'विचार अच्छा है, अनुचित विचार बुरा समझा जाता है, आपका विचार गलत था 'राजाओं का विलास सीमा को पार कर गया था' इत्यादि प्रयोग होते हैं। इनसे स्पष्ट है कि ये शब्द पुंवर्गीय हैं। परन्तु अनुसार के तो वैसे प्रयोग होते नहीं क्योंकि यह संज्ञा शब्द नहीं है।

अनुसार अच्छा है, अनुसार बुरा है, अनुसार पैदा हुआ इस प्रकार के प्रयोग सुनने में नहीं आए। तब यह कैसे समझ लिया गया यह शब्द पुंवर्गीय है।

वाजपेयी जी ने बतलाया कि हिन्दी में अनुसार शब्द का प्रयोग अव्यय रूप में होता है—यथाशक्ति–शक्ति के अनुसार, समास में अनुसार का पर-प्रयोग होता है। 'यथा-देशं सर्वं कृतम्' आदेशानुसार सब किया गया। संस्कृत में 'यथा' अव्यय का पूर्व प्रयोग है और तदर्थक अनुसार का हिन्दी में पर प्रयोग है। यथादेशम् की तरह 'आदेशानुसार' भी अव्ययीभाव समास में है। यानी आदेशानुसार में 'को' 'से' 'ने' 'में' आदि कोई विभक्ति न लगेगी। आदेशानुसार, आज्ञानुसार, इच्छानुसार आदि का प्रयोग अव्यय रूप से होता है। अव्ययीभाव है शब्दों का।

यहाँ पुंवर्ग-स्त्रीवर्ग की कोई बात ही नहीं। भेदक पुंवर्ग-स्त्रीवर्ग प्रयोग पूर्वपद के अनुसार होता है—आप के आदेशानुसार और आपकी इच्छानुसार इत्यादि। हिन्दी में अव्ययों के साथ सदा 'के' का प्रयोग होता है 'राम के ऊपर, 'नदी के ऊपर, लड़कों के ऊपर, लड़कियों के ऊपर'। इसी तरह राम के नीचे, लता के नीचे, वृक्षों के नीचे इत्यादि। इसी तरह ऋषि के अनुसार, माँ के अनुसार, बहनों के अनुसार आदि। समास में भेदक पूर्वपद के अनुसार रहेगा ऋषि की आज्ञानुसार, आपके आदेशानुसार। विग्रह ऋषि की आज्ञा के अनुसार, ऋषियों का अनुसरण अच्छा। सो, ऋषि की आज्ञानुसार आदि हिन्दी के टकसाली प्रयोग हैं और इनके समझाने के लिए ही व्याकरण बनेगा, इन्हें उलटने पलटने के लिए नहीं। भाषा में जैसे प्रयोग होते हैं, उन्हीं के यथास्थित रूपों का विश्लेषण-

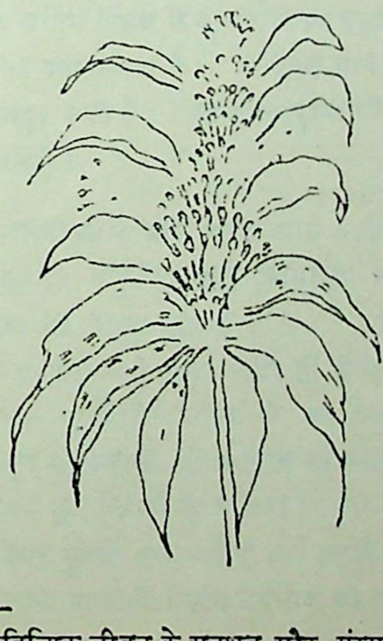
वर्णन व्याकरण है। यानी व्याकरण भाषा के शब्द प्रयोगों का अन्वाख्यान करता है, नई भाषा नहीं बनाता। यदि हिन्दी में 'आपकी आज्ञानुसार' 'अपनी इच्छानुसार जैसे प्रयोग शिष्ट परम्परा से प्राप्त हैं और निर्बाध प्रचलित हैं, तो इन्हें कोई हटा नहीं सकता, इन्हें गलत बतलाकर भाषा से निकाल नहीं सकता।

वाजपेयी जी के प्रत्याख्यान से उन विद्वानों का वह परिष्कार दब गया।

ऐसे बहुत से परिष्कार लोगों ने किए, भाषा में गड़बड़ी पैदा करने की चेष्टा की, किसी दुर्भावना से नहीं, हिन्दी को शुद्ध करने की इच्छा से। परन्तु वह सब भाषा की प्रकृति को पहचाने बिना ही प्रयास किया गया था। उसका प्रत्याख्यान करने में आचार्य वाजपेयी का बहुत समय लग गया। एक जगह वाजपेयी जी ने अपने बारे में कहा है—

सोचा मैंने उषःकाल में
मा का भवन सजाऊँ।
अभिनव अर्थ उपार्जित करके
मैं भी भेंट चढ़ाऊँ।
किन्तु भक्तपद, प्रक्षेपों से
धूल यहाँ भर आई।
रहा बुहार उसी को तब से
यों सब उम्र गँवाई।[1]

सन् १९२५ से १९६० तक और इससे भी आगे तक यही काम वाजपेयी जी को करना पड़ा। इसका पूरा विवरण उनकी पुस्तकों में तथा पत्र-पत्रिकाओं के लेखों में मिलेगा।



१. आचार्य वाजपेयी—साहित्यिक जीवन के अनुभव और संस्मरण, पृष्ठ २५९–२६०।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी जी के मौलिक विचार

डा० प्रभाकर माचवे,
हरिद्वार

हिन्दी के ऐसे वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध सेवक गिने-चुने ही हैं, जिन्होंने राष्ट्रभाषा के विकास और अध्ययन में, त्याग और तपस्यापूर्ण जीवन बिताया। ऐसे विद्वान् जो न सत्ता के आगे झुके, न संपत्ति के, और जो किसी संस्था-विशेष से नहीं बँधे; जिनकी प्राचीन मूल्यों में निष्ठा, 'सनातनो इव नित्य नूतनः' वाले यास्क-प्रणीत आदर्श पर चलती रही, जिन्होंने विवेक को ही अंतिम कसौटी माना, अब सारे भारत में बहुत थोड़े हैं। ऐसे विद्वानों में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी जी का स्थान सर्वोपरि है। भाषाविज्ञान, व्याकरण और ब्रजभाषा के अनुसंधान में उनकी देन अद्वितीय है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन उन्हें बहुत आदर से देखते थे। उनकी सभा-गोष्ठी में राहुल जी कलकत्ते में कई सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर पहुँचे, और उनको पहला बेहोशी का चक्कर आया था।

वाजपेयी जी के अन्य गुणों के साथ साथ उनका खरापन, प्राचीन ग्रंथों की नवीन व्याख्या करने की शैली और इतिहास को भौतिक दृष्टि से देखने की विशेषता उनके छोटे से निबंधसंग्रह 'मेरे कुछ मौलिक विचार' में बहुत निखरे हुए रूप में उभरते हैं। इस निबंध-संग्रह में छह निबंध संगृहीत हैं : रामचरित के तीन गायक; काव्य और काव्यशास्त्र; आर्य और द्रविड़—ऋग्वेद के पंचजनाः; धर्म; धर्म और संप्रदाय; उत्सर्ग और अपवाद। इनमें दो साहित्य-समीक्षा प्रधान निबंध हैं; एक सांस्कृतिक इतिहासपरक; दो दर्शन और समाजशास्त्र विषयक; और अंतिम निबंध में ये सब विषय एकाकार होकर आ गये हैं। इन्हें पढ़कर कई नई बातों का पता चलता है। न केवल ज्ञान में वृद्धि होती है; परन्तु ये निबंध सोचने के लिए मजबूर करते हैं। आधुनिक दृष्टि और आस्थावाले मुझ जैसे लेखक को भी वे झकझोरते हैं।

पहले ही निबंध में वाजपेयी जी ने 'आदि काव्य' और मानस के साथ साथ 'पौलस्त्य-वध' नाटक का प्रसंग उठाया है। और एक बहुत 'आधुनिक' बात शब्द-शक्ति के संदर्भ में कही है कि "लिखना-पढ़ना भी कहना-बोलना ही है।" आधुनिकतम भाषा-विषयक विचारक यही तो पश्चिम में कहते हैं, चाहे सुसान लैंगर हों, सेपीर हों या चाम्स्की। बोले हुए शब्द और लिखित शब्द, 'श्रुति' और 'स्मृति' में कहाँ अंतर है? कुशीलव और कुशलव की बात, क्रौंच मिथुन की कहानी, सीता-त्याग का प्रसंग—क्या बहुत से मिथक बाद में जोड़े गये हैं? इनमें मूल कितना है, प्रक्षिप्त कितना? इन बातों को वाज-पेयी जी आधुनिक दृष्टांत देकर सुनाते चले जाते हैं। उनकी लेखन-शैली और कथन-शैली एक सी है। वह उनके पारदर्शी निर्मल स्वभाव को दरसाती है। 'कल्प-भेद हरि-चरित सुहाए'—एक चौपाई पर भाष्य करते हुए वे ठीक ही बात कह जाते हैं जो

टी० एस० एलीयट ने कही थी कि 'युगानुसार नव-नवीन व्याख्या और अनुवाद महाकाव्य का होना चाहिए।'

वही मौलिकता वाजपेयी जी ने 'काव्य के उद्भव और विकास' के विचारों में व्यक्त की है। "वाणी के उस रूप को सर्वाधिक महत्व देना चाहिए, जिससे हम असुरों का पराभव कर सकें" काव्य 'संजीवनी विद्या' है। ऋग्वेद के प्रथम शब्द 'अग्निम्' को लेकर वे अन्यत्र 'यज्ञ' संस्था का नया अर्थ देते हैं। आदिवासियों की आग-पानी की पूजा जीवन के लिए आवश्यक प्राकृत तत्त्वों की पूजा है। वे इस पद्धति का बुद्धिनिष्ठ अर्थ बताते हैं। 'वाक्य' और 'काव्य' का परस्पराश्रय, 'वाच्य' और 'प्रतीयमान' अर्थों के भेद बताकर 'रस-ध्वनि' का विस्तृत अर्थ देते हैं। 'भाव-ध्वनि और रस-ध्वनि भी अर्थालंकार है' कहकर वे चमत्कार के तारतम्य को समझाते हैं। ध्वनि की प्रधानता पर जोर देकर वाजपेयी जी वक्रोक्ति और रस पर नये सिरे से विचार व्यक्त करते हैं। 'सहृदय-संवेद्य' होना ही प्रधान गुण है। संगीत और कविता का अन्तर बड़ी अच्छी व्याख्या और दृष्टांतों से स्पष्ट किया है। काव्य का रस 'अलौकिक' है।

अनौचित्य ही रसाभास है। 'अहिंसा के गीत गानेवालों ने, गीत गाते-गाते बड़ी-बड़ी हिंसा की घटनाएँ की हैं'। इसके बावजूद वाजपेयी जी हमारे काव्यशास्त्र का विस्तृत विवेचन करते हैं। महिमभट्ट के 'व्यक्ति विवेक' का आधार लेकर ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद और अनुमितिवाद की धाराओं का रससमुद्र में मिलना तो सबको मान्य है। पर उस प्रक्रिया पर जो मतभेद हैं वे स्पष्ट किये हैं। 'स्वभावोक्ति' में कैसे वक्रोक्ति निहित है, यह तुलसी रामायण के प्रसंग से वे विवेचित करते हैं। अलंकार की चर्चा में उर्दू का शेर, भिखारीदास का सवैया और मानस की सूक्तियों को संस्कृत अलंकार ग्रंथों से उदाहृत करते जाते हैं। 'कवि-समय' की भी चर्चा उठाई है और कवियों की कल्पना के बेलगाम होने की बात, अपने रायपुर में रात भर खिले हुए कमल देखने के प्रसंग से, स्पष्ट की है।

यही पद्धति उन्होंने समाज और संस्कृति की कई अन्य धारणाओं पर घटित की है। काव्यार्थ न समझने से जैसे अनर्थ होता है; 'द्रविड' की उत्पत्ति 'द्रविणः' से न जानने से, समुद्र संतरणप्रिय नौकानयन विशारद निषादों की प्रकृति समझ में नहीं आती। आर्य-अनार्य संघर्ष व्यर्थ उपस्थित किया जाता है। 'कवि को सदा सतर्क रहना चाहिए। उसे क्रान्तदर्शी होना चाहिए'। यही बात ऋग्वेद के 'पंचजनाः' के अर्थ में, 'धर्म' के अनावश्यक पश्चिमी ढंग से पारलौकिक बना देने के भ्रम में, विधिनिषेध के स्थल-काल-प्रसंगपरक विचार में वे बताते हैं। मनुप्रणीत धर्म के दस लक्षणों पर व्याख्या कर वाजपेयी जी ने 'सच्चरित्रता' का महत्व बताया है। धार्मिक संस्थाओं द्वारा 'आचरण का ढोंग' कैसे बढ़ाया जाता है; सिनेमा और रेडियो में गन्दे गाने कैसे प्रचलित हो रहे हैं, इन सब बातों की वे खरी और कड़ी आलोचना करते हैं।

'नैसर्गिक कामनाओं पर अंकुश' रखना जरूरी है। 'अतिभोजन पाप है।' 'समत्व' ही योग है। पूर्वापरविवेक रखनेवाला विद्वान् ही 'महान्' है। स्त्री-सम्मान,

अतिथि-सत्कार, गृहस्थाश्रम, आदि का भारतीय संस्कृति में महत्त्व बतलाकर; 'धन संचय' करने की प्रवृत्तियाँ ही पूंजीवाद के मूल में हैं, हमारा समाजवाद 'स्वैः स्वैः कर्मभिः' होगा, यह वे स्पष्ट करते हैं। इंद्रिय-संयम, 'आयु, काम, धन, और विद्या के अनुसार' मनुष्य का वेश-विन्यास और रहन-सहन रखना, स्वाध्याय, नागरिक कर्तव्य, 'राजाश्रय विद्वान् द्विज या समाजसेवक को कभी न ग्रहण करना चाहिए' आदि नैतिक बातों के उदाहरण आज के जीवन से देकर वाजपेयी जी इन निबंधों को सुपाच्य बनाते हैं। सर्वग्राह्य और रोचक 'आचार और दुराचार' की चर्चा करते हैं।

'सर्वं परवशं दुःखं'—स्वतंत्रता ही सबसे बड़ा सुख है। अंतिम कसौटी 'आत्म-संतोष' है। संन्यास की उचित आयु कब है? इन बातों का बड़े स्पष्ट और बेलाग ढंग से विचार करके वाजपेयी जी पितृ-ऋण, देव-ऋण और ऋषि-ऋण से उऋण होने की बात बताते हैं। वस्तुतः आचार्य किशोरीदास वाजपेयी जी के प्रति अपना सुभाव व्यक्त करने का अवसर देकर, संपादक 'राकेश' जी ने हमें अंशतः 'ऋषि-ऋण' से उऋण होने का सौभाग्य प्रदान किया है।

अंतिम निबंध 'उत्सर्ग और अपवाद' सबसे लंबा है, और उसमें मौलिकता कई सूक्तियों में प्रकट हुई है, जैसे—

—'सत्य, अहिंसा तथा क्षमा का अनुचित प्रयोग अधर्म बन जाता है' (पृ० १०३)।

—'ऐसा भी हुआ है कि धर्म के किसी एक अंग का ऐसा अतिरेक कर दिया गया कि दूसरे अंग बिलकुल दब गये और समाज निर्बल हो गया' (पृ०१०५)।

—'निरपराध जन-संहार शौर्य नहीं, कसाईपन है। शूर और क्रूर में विवेक ही तो भेदक है (पृ० १०६)।

—'जब हम 'अग्नि' को साधारण अग्नि समझने लगे, तब 'पशु' को भी वही चौपाये समझने लगे। बेचारे मूक और निरपराध उपयोगी पशु काट-काट कर आग में डाले जाने लगे। प्रतिक्रिया में बुद्ध भगवान् का प्रादुर्भाव हुआ और फिर अहिंसा का अतिरेक! (पृ० १११)।

—'धर्म के नाम पर भ्रष्टाचार बढ़ रहा है; बढ़ाया जा रहा है।...अभी तक हम बचे हुए हैं। यह भगवान् की ही कृपा। अन्यथा मयूरध्वजों ने और सुदर्शनों ने तो खत्म ही कर दिया था' (पृ०११८)।

—'हमें विधवाओं के संबंध में गिरा हुआ दृष्टिकोण बदलना होगा। उन्हें सम्मान देना चाहिए। वे वन्दनीय संन्यासिनी हैं।' (पृ० १२८)।

—'तीर्थों का सुधार करना जरूरी है। नये राष्ट्रीय तीर्थों का निर्माण भी आवश्यक है' (पृ० १३२)।

कहाँ कहाँ तक उदाहरण दें, प्रत्येक पृष्ठ एक नये और तेजस्वी विचार से भरा हुआ है। वाजपेयी जी की निबंध-शैली भी जैसे वे बातचीत करते जाते हैं, वैसी ही सरल-सहज मनोहारी है। जो बात मन में उठी उसे निर्भीक रूप से स्पष्ट कह दिया।

ऐसे निबंधलेखक अब, उस आयु की कक्षावाले, हिन्दी में बहुत ही थोड़े हैं। श्री नारायण चतुर्वेदी या रायकृष्णदास जी, बनारसीदास चतुर्वेदी या लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे थोड़े से पुराने लेखक हिन्दी में शेष हैं। अन्यथा 'शतायु' की सीढ़ी छूनेवाले बहुत कम मनीषी साहित्यकार हैं। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी जी 'शतायु ही नहीं 'दीर्घायु' हों; और अपने 'शब्दानुशासन' से हिन्दी की गौरव-गरिमा को बढ़ाते रहें यही मेरी हार्दिक कामना और प्रार्थना है।



ब्रजभाषा का व्याकरण और आचार्य वाजपेयी की मान्यताएँ

डा० किशोरीलाल
अध्यक्ष हिंदी विभाग, रणजीत कालेज, नैनी (इलाहाबाद)

हिन्दी का प्राचीन वाङमय अधिकांशतः ब्रजभाषा में ही लिखा गया है, किन्तु खेद है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं मिला, जिसमें ब्रजभाषा के व्याकरण के सम्बन्ध में साङ्गोपाङ्ग उल्लेख हो। यद्यपि ब्रजभाषा के वैशद्य एवं महत्त्व का प्रतिपादन आचार्य दास जैसे कवियों द्वारा समय-समय पर होता अवश्य रहा किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टि से उसके स्वरूप और व्याकरण का वैज्ञानिक विवेचन प्रायः नगण्य रहा। वस्तुतः एक आदर्श ब्रजभाषा व्याकरण के अभाव में प्राचीन ब्रज साहित्य का भाषा की दृष्टि से जैसा निखार एवं परिष्कार अपेक्षित था वह न हो सका और बराबर ब्रजभाषा में अस्थिरता की स्थिति मौजूद रही। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी ब्रजभाषा कवियों के कारक चिह्नों एवं क्रिया के मनमाने प्रयोगों पर चिन्ता व्यक्त की है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है—'पर भाषा-संबंधी और अधिक मीमांसा न होने के कारण कवियों ने अपने को अन्य बोलियों के शब्दों तक ही परिमित नहीं रखा; उनके कारक चिह्नों और क्रिया के रूपों का भी मनमाना व्यवहार बराबर करते रहे। ऐसा वे केवल सौकर्य की दृष्टि से करते थे, किसी सिद्धांत के अनुसार नहीं। 'करना' के भूतकाल के लिए वे छन्द की आवश्यकता के अनुसार 'कियो,' कीनो', 'करयो', 'करियो', 'कीन,' यहाँ तक कि 'किय' तक रखने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा को वह स्थिरता न प्राप्त हो सकी जो किसी साहित्यक भाषा के लिये आवश्यक है।'[१]

इधर खोज में प्राप्त एक प्राचीन ब्रजभाषा व्याकरण की चर्चा श्री चन्द्रभान राधेराधे ने की है। उन्होंने तद्विषयक एक विस्तृत अनुसंधानपरक लेख 'ब्रजभारती' में प्रकाशित करवाया था और बाद में वही लेख पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ में भी मुद्रित हुआ। कहा जाता है कि यह व्याकरण औरंगजेब के पुत्र आज़मशाह ने मीरज़ाखाँ से ब्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए लिखवाया था। इस व्याकरण की रचना फारसी में हुई है—और इसके रचयिता ने इसका नाम 'तुहफ़त-उल-हिंद' रखा है जिसका हिंदी अनुवाद 'भारतवर्ष का उपहार होगा।' इस ग्रंथ का सर्वप्रथम उल्लेख सर विलियम जॉन्स ने सन् १७८४ में अपने एक लेख On the modes of Hindus में किया था। सर विलियम जॉन्स ने उक्त ब्रजभाषा व्याकरण और लेखक का परिचय अपने शब्दों में इस प्रकार दिया है—

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २३६, सं० २००३ का सं०।

[The persian book entitled, "A present from India" under the patronage of Azam shah, by the very delight and ingenious Mirza khan and Cantains minute account of Hindu literature in all or most of its branches.]

('भारतवर्ष का उपहार' नाम की यह फारसी पुस्तक मीरजा खाँ ने आज़मशाह के संरक्षण में लिखी थी, जिसमें हिन्दुओं के साहित्य का सूक्ष्म विवरण है) यह ग्रंथ अंग्रेजी भाषा में सन् १९३५ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित भी हो चुका है। ग्रंथ को पढ़ने से स्पष्ट विदित होता है कि इसका यह नाम पूर्णतया भ्रम त्मक है क्योंकि इससे प्राचीन ब्रजभाषा के स्वरूप का बोध बिल्कुल नहीं होता। इस ग्रंथ के अतिरिक्त एक पद्यबद्ध ब्रजभाषा व्याकरण का और पता चला है। इसके रचयिता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचन्द्र (श्री गिरिधर) हैं। स्व० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने इस संक्षिप्त पुस्तिका को 'पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ' में अविकल रूप से प्रकाशित भी करा दिया है। यद्यपि इस छोटी सी पुस्तिका का ऐतिहासिक महत्व तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु वैज्ञानिक विवेचन की दृष्टि से इसकी उपादेयता किसी भी रूप में ग्राह्य नहीं है। उदाहरणार्थ इन्होंने विभक्तियों का विवेचन करते समय ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का आधार न ग्रहण करके यों ही उनके चिह्नों का सामान्य संकेत भर कर दिया है। पुनः पद्य में विवेचित इस सामग्री का सामान्य पाठक पूर्णरूपेण लाभ नहीं उठा सकता। नमूने के लिए विभक्ति प्रकरण से सम्बद्ध कुछ अंश देखें—

जो, सो, जे, ते, कौ, नकौ, सों, नसों, को, कों, नकों, तें, नतें, कों, नकों, में, नमें, ए विभक्ति सात जानिऐं। करता, करम, करन, संप्रदान, अपादान, संबंधी सुअधिकरन सातों नाम मानिऐं॥ संबोधन-बीच होत है ओ, ए कथन, पूर्व कहूँ एरी विभक्ति लोप कहूँ ठाँनिऐं। अर्थलोप कहूँ जैसैं देव अरे कहें, तहाँ, देव देवन कहें हूँ अर्थ आनिऐं।[2]

कहा जाता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में पं० लल्लूलाल ने ब्रजभाषा व्याकरण की एक छोटी सी पुस्तक अंग्रेजी में लिखी थी जो फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता से सन् १८११ में मुद्रित भी हुई थी। किन्तु अब यह पुस्तिका भी दुष्प्राप्य है। केलाग के खड़ी बोली हिन्दी-व्याकरण में अन्य बोलियों की खड़ी बोली से तुलना करते समय ब्रजभाषा के भी व्याकरण की चर्चा की गई है, किन्तु यह विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त एवं सामान्य है। हाँ, कविवर जगन्नाथदास रत्नाकर ने घनानन्द और बिहारी के आधार पर ब्रजभाषा व्याकरण का एक संक्षिप्त रूप बहुत पूर्व प्रस्तुत किया था जो उनकी मृत्यु के बाद कविवर बिहारी 'नामक' ग्रंथ में प्रकाशित हुआ। इन सब फुटकर प्रयासों के बावजूद प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री स्व० डा० धीरेन्द्र वर्मा ने ब्रजभाषा व्याकरण नाम से एक पुस्तक सन् १९३१ ई०

---

१. पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ—सं० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ५२२।

२. पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ—पृ० ५२९।

में प्रकाशित करायी। यह पुस्तक बहुत सूझ-बूझ के साथ लिखी गई थी फिर भी उनकी व्याकरण-विषयक सभी मान्यताएँ निर्भ्रांत नहीं कही जा सकतीं; उन्होंने अपने इस प्रयास को अनावश्यक न मानते हुए भी बहुत पूर्ण नहीं समझा। ग्रंथ की भूमिका में डा० वर्मा का विचार द्रष्टव्य है :—

'ब्रजभाषा के व्याकरण के अध्ययन की ऐसी परिस्थिति में यह प्रयास बहुत पूर्ण न होते हुए भी अनावश्यक तो नहीं समझा जा सकता'।[1] डा० वर्मा का फ्रेंच से हिन्दी में रूपान्तरित 'ब्रजभाषा' नामक शोध प्रबन्ध सन् १९५४ ई० में प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडेमी से प्रकाशित हो चुका है। इसमें अपेक्षाकृत अधिक सामग्री का विनियोग हुआ है और विवेचन भी विस्तारपूर्वक किया गया है। इधर 'ब्रजभाषा व्याकरण की रूपरेखा' नामक एक अन्य पुस्तक भी लखनऊ से प्रकाशित हुई है। इसके लेखक स्व० डा० प्रेमनारायण टण्डन हैं। पर वैयाकरण की सजग दृष्टि के अभाव में उक्त पुस्तक में बहुत सी भ्रांतियाँ मिली हैं।

ब्रजभाषा व्याकरण ग्रंथों की परम्परा में सबसे अधिक उल्लेख्य एवं श्लाघ्य प्रयत्न हिन्दी व्याकरण के पाणिनि आचार्य किशोरीदास वाजपेयी द्वारा लिखित 'ब्रजभाषा का व्याकरण' में देखने को मिला है। आचार्य वाजपेयी हिन्दी व्याकरण की नींव रखनेवाले पं० कामताप्रसाद गुरु, आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की परम्परा के उन आचार्यों में परिगणित होते हैं जो अपने आप में अप्रतिम एवं बेजोड़ हैं। अपने स्वच्छंद एवं निर्भीक विचारों के कारण आचार्य वाजपेयी हिन्दी जगत् के गण्यमान्य विद्वानों से सदैव दूर रहे, लेकिन इसकी परवाह न करते हुए उन्होंने अपने इस व्याकरण में स्व० डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना, पं० मौलिचन्द्र शर्मा एवं डा० रसाल जैसे विद्वानों के विचारों एवं उनकी मान्यताओं के तर्क एवं वैदुष्यपूर्ण प्रत्याख्यान में किसी भी प्रकार का संकोच प्रदर्शित नहीं किया। आचार्य वाजपेयी जी की व्याकरण-विषयक अपनी मान्यताएँ हैं और उन्होंने जम कर एक वकील की भाँति नाना प्रकार के प्रमाणों द्वारा उन्हें संपुष्ट किया है। वस्तुतः आचार्य वाजपेयी के इस व्याकरण से ब्रज-भाषा के रूपों एवं उसके वाक्य-विन्यासों के समझने में कितनी सहायता मिल सकती है यह तथ्य ब्रजभाषा साहित्य के अध्येताओं से किसी भी प्रकार छिपा नहीं है।

पुराने खेवे के आचार्यों में पं० रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन एवं बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ब्रजभाषा साहित्य और उसके व्याकरण के मर्मी विद्वान् थे। यही कारण है कि ये मनीषी प्रचुर एवं पुष्कल साधन के अभाव में भी अपनी प्रखर मेधा और सूक्ष्म दृष्टि के सहारे ब्रजभाषा के पुराने पाठों से कितना जूझते रहे और कवि के अभीष्ट पाठों के संधान में कितनी दक्षता दिखाते रहे, यह हिन्दी जगत् से छिपा नहीं है। रत्नाकर जी ने यदि ब्रजभाषा की रूपरेखा तैयार न की होती तो शायद ही बिहारी रत्नाकर का ऐसा शुद्ध रूप एवं पाठ की दृष्टि से इतना परिष्कृत संस्करण लोगों को सुलभ हो पाता।

---

१. ब्रजभाषा व्याकरण, डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० २, सन् १९३१ में मुद्रित।

ब्रज के रूपों और उसके व्याकरण की उपादेयता बहुत बाद में समझी गई, जब स्व० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी सूरसागर का संपादन करने लगे तो उन्होंने देखा कि संपादन की दिशा में विशेषकर प्राचीन ब्रजभाषा के ग्रंथों के परिष्करण की दिशा में जो भी कार्य हुआ है, वह बहुत संतोषजनक नहीं है। वे अपने स्वतंत्र विचारों के कारण सदैव संघर्ष-रत रहे और अपने संपादन के सिद्धान्तों को समेटे हुए आगे बढ़ते रहे। आचार्य पं० किशोरीदास जी वाजपेयी भी ऐसे ही संघर्षशील व्यक्तियों में गिने जाते हैं। इन्होंने ब्रजभाषा के इस महत्वपूर्ण व्याकरण को बड़ी छान-बीन और बड़ी जाँच-पड़ताल के पश्चात् प्रस्तुत किया है। व्याकरणीय विवेचन को केवल शास्त्रीयता के ही निकष पर कसने का प्रयास इन्होंने नहीं किया, अपितु अध्यापक-जीवन में छात्रों को पढ़ाते समय नाना प्रकार के व्यावहारिक अनुभवों की प्रौढ़ कसौटी पर कसकर ही अपनी व्याकरण विषयक मान्यताओं पर मुहर लगाई है। हम यहाँ 'ब्रजभाषा व्याकरण' के आधार पर आचार्य वाजपेयी जी के उन स्वतंत्र एवं मौलिक विचारों का प्रतिपादन करेंगे जो परम्परया अभुक्त एवं हिन्दी पाठकों के लिए सर्वथा विचारोत्तेजक हैं। विवेच्य अंश के कुछ तथ्य प्रस्तुत किए जा रहे हैं :—

(क) **ब्रजभाषा में प्रयुक्त ऐसे शब्द जो ब्रज प्रकृति के प्रतिकूल हैं** :—आचार्य वाजपेयी जी ने ब्रजभाषा में अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग को अधिक औचित्यपूर्ण नहीं माना और इस संबंध में पं० दुलारेलाल भार्गव की दोहावली में प्रयुक्त अंग्रेजी के जिन शब्दों की लोगों ने प्रशंसा की है और ब्रजभाषा में आधुनिक प्रयोग की दुहाई दी है, आचार्य वाजपेयी जी ने उसकी कटु आलोचना की है और उसे ब्रजभाषा की प्रकृति के विरुद्ध और उसके सहज मार्दव का घातक माना है। इसी प्रकार 'उड़ि जाइगो' 'उड़ि मिलिहैं' की जगह जिन लोगों ने 'उरि जाइगो' 'उरि मिलिहैं' का प्रयोग किया है उसके संबंध में आचार्य वाजपेयी जी का कथन है कि ब्रजभाषा में 'ड' या 'ड़' प्रायः 'र' के रूप में आ जाता है, परन्तु सर्वत्र नहीं। 'उड़िबे' की जगह 'उर्यौ' कभी भी हो नहीं सकता। इसी आधार पर उन्होंने एक स्थल पर डा० धीरेन्द्र वर्मा के विचारों का खंडन करते हुए लिखा है—'धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि ब्रजभाषा में पड़ो और बुंदेलखंडी में 'परो' होता है। परन्तु डाक्टर साहब का कहना गलत है। ब्रजभाषा में 'पड़ो' नहीं 'परचो' होता है।

(ख) **कारक विषयक भ्रांतियों का निराकरण**—आचार्य वाजपेयी ने ब्रजभाषा व्याकरण के अन्तर्गत डा० धीरेन्द्र वर्मा की विभक्ति विषयक ऐसी ऐसी भूलों को पकड़ा है, जो उनकी विद्वत्ता का और भाषा एवं व्याकरण के गंभीर ज्ञान का सहज परिणाम है। नमूने के लिए एक अंश लें—"डाक्टर वर्मा ने भूतकाल की सकर्मक क्रिया के कर्ता को सब जगह 'करण' कारक समझ रखा है और ऐसा ही इस पुस्तक में सैकड़ों जगह लिखा है। 'कह्यो तिय को जिन कान कियो है' यहाँ 'जिन' को डाक्टर वर्मा ने करण कारक लिखा है और इसी तरह सर्वत्र इस प्रकार की कर्ता की दुर्गति की गई है, 'बिरादरी से खारिज करके!"

वास्तव में ब्रजभाषा की विभक्तियों को ठीक से न समझने के कारण भयंकर से भयंकर भूलें लोगों ने की हैं। आचार्य वाजपेयी का इस संबंध में कथन है कि "केवल विभक्ति

देख कर कारक का पता नहीं लग सकता, क्योंकि एक-एक विभक्ति कई-कई कारकों में और विभिन्न सम्बन्धों के प्रकट करने में काम आती है।"

वास्तव में वाजपेयी जी का उक्त कथन सर्वथा सत्य है। प्रायः देखा गया है कि प्राचीन ब्रजभाषा के काव्यों का ठीक से अनुशीलन न कर सकने के कारण उसके व्याकरण (विभक्ति, त्रियापद आदि) का सम्यक् ज्ञान न होने के कारण लोगों ने काफी भूलें की हैं। प्राचीन कवियों में 'देव' आदि ने तो बहुत से स्थानों पर बिना विभक्ति के ही कारकों का धड़ल्ले के साथ प्रयोग किया है, किन्तु ऐसे स्थलों पर किंचित् भी दृष्टि के स्खलन होने पर अर्थ का अनर्थ हो जाना सहज-स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए करण कारक में प्रायः 'सों' विभक्ति आती है, लेकिन सर्वत्र यही स्थिति नहीं है। वाजपेयी जी ने कर्म कारक में भी सों के प्रयोग को औचित्यपूर्ण ठहराया है। यथा--

'मना रे माधव सों करु प्रीति।'

किन्तु वाजपेयी जी ने सूरदास की एक पंक्ति में जहाँ विभक्ति लुप्त है—न जाने क्यों और किस आधार पर करण कारक समझ लिया है। वहाँ मेरे विचार से अधिकरण कारक होना चाहिए। उनकी उद्धृत पंक्ति यों है—

'पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह-सिवार',

इसका अर्थ तो यही होगा कि मोहरूपी सिवार (शैवाल) में उलझ जाने के कारण पैर इधर-उधर रखने नहीं पाते। 'मोह रूपी सिवार से पैर उलझे हैं।' अधिक स्पष्ट नहीं है।

(ग) वाच्य विषयक भ्रांतियाँ—प्रायः ब्रजभाषा में सकर्मक क्रियाएँ भूतकाल में प्रयुक्त होती हैं, लेकिन जिन सकर्मक क्रियाओं का अर्थ जाना आना है वे कर्त्तृवाच्य में मानी जाती हैं और अकर्मक क्रियाएँ तो कर्त्तृवाच्य में होती ही हैं। इसका ध्यान न देने के कारण हिन्दी के मान्य विद्वान् डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपनी पुस्तक ब्रजभाषा व्याकरण में उक्त ढंग की गलतियाँ की हैं। ऐसे स्थानों पर आचार्य वाजपेयी की पकड़ पर संदेह नहीं किया जा सकता। उन्होंने हिन्दी जगत् में अपनी ऐसी सुदृढ़ मान्यताओं को सगर्व स्थापित किया है और विद्वानों द्वारा की गई भूलों पर सम्यक्रूपेण प्रकाश डाला है। एक स्थान पर इस संबंध में इन्होंने लिखा है--"इसीलिए डा० वर्मा तथा डाक्टर सक्सेना जैसे विद्वान् भी भ्रम में पड़ गये हैं। इस आफत से बचने के लिए डाक्टर वर्मा अपने ब्रजभाषा व्याकरण में चुप्पी साध गये हैं। वाच्य प्रकरण में न कर्त्तृवाच्य का खुलासा किया है, न भाववाच्य का"। आचार्य वाजपेयी के अनुसार डा० वर्मा ने भाववाच्य रूप को कर्मवाच्य समझ लिया है। और 'य' लगाकर बने संयोगात्मक कर्मवाच्य रूपों का उन्होंने काफी प्रयोग किया है—

आँखी भरि देखिबे की साध मरियतु है।
ऐरावत गज सो तौ इन्द्रलोक सुनिये।
नैननि कौं तरसैयै कहाँ लौं।

उक्त पंक्तियों में प्रयुक्त 'मरियतु', 'सुनिये' और 'तरसैयै' को डा० वर्मा ने कर्मवाच्य माना है। इनकी दलील देते हुए आचार्य वाजपेयी जी का कथन है कि 'ये वास्तव में भाववाच्य

हैं। इनके रूप सदा ऐसे ही रहेंगे ! कर्म के लिंग वचन बदल जाने पर भी क्रियाएँ सदा ऐसी रहेंगी'। "उन्होंने 'मरियतु है' को कर्मवाच्य बतलाना बहुत ही बेतुका कहा है। कारण, मरना क्रिया तो बिलकुल अकर्मक है।"

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने खड़ी बोली के दीजिए, करिये, धरिये आदि आज्ञा और विधि क्रियाओं से ही ऐसी क्रियाओं के उद्भव और विकास का अनुमान लगाया है। उनका कहना है कि 'इज्ज' और 'इज्जा' प्राकृत में भी मिलते हैं—जैसे, अप० पढ़िज्जहि पढ़ीयहि = हिं० पढ़ीजै, पढ़िये। ब्रजभाषा में आज्ञा और विधि के अतिरिक्त वर्त्तमान और भविष्य में भी चाहे कोई पुरुष हो इनका प्रयोग मिलता है।

(क) पुंज कुंजर शुभ्र स्यंदन शोभिजै सुठि सूर।—केशव।

(ख) रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिहास में यों विष घोरिये जू !—घनानन्द।

'ए' निकाल कर और वर्तमान का चिह्न 'त' लगाकर भी इसका प्रयोग हुआ है—

(क) कहा चतुराई ठानियत प्राणप्यारी, तेरो मान जानियत रूखे मुँह मुसकान सों।—मतिराम।

उत्तम पुरुष के साथ संभाव्य भविष्यत् काल का उदाहरण—

ज्ञान निराश कहा लै कीजै ?—सूर[1]।

(घ) क्रियाविशेषण विषयक भ्रान्त धारणाएँ—क्रियाविशेषण के संबंध में हिन्दी में काफी भ्रांतियाँ व्याप्त हैं। हिन्दी में ऐसी भ्रांतियाँ कहाँ से आई, उनका मूल उत्स कहाँ है, यह विचारणीय है। आचार्य वाजपेयी का कथन है कि अंग्रेजी के प्रभाव से ऐसी भ्रांतियाँ कामताप्रसाद गुरु के व्याकरण से प्रारम्भ हुई और वहीं से हिन्दीवाले क्रिया-विशेषण को गलत ढंग से समझने लगे। वास्तव में डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भी गुरु जी के व्याकरण के आधार पर अपने ब्रजभाषा व्याकरण में ऐसे शब्दों को भी क्रियाविशेषण के खाते में डाल दिया जिनका उससे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। 'गुरु जी के क्रियाविशेषण' शीर्षक के अन्तर्गत आचार्य वाजपेयी के विचार अतिशय महत्व के हैं। पाठकों की जिज्ञासा के निमित्त कुछ अंश उद्धृत किया जा रहा है—

पं० कामताप्रसाद गुरु ने तथा उनके अनुसार चल कर हिन्दी के अन्यान्य सभी व्याकरणकारों ने क्रियाविशेषण के संबंध में भी बहुत गड़बड़ पैदा कर दी है। उन्होंने क्रियाविशेषण का लक्षण तो ठीक लिखा है कि 'जिससे क्रिया की विशेषता मालूम हो वह क्रियाविशेषण है' परन्तु उदाहरण देने में सब बिगाड़ दिया है।[2] डा० धीरेन्द्र वर्मा ने क्रियाविशेषण के नाम पर ब्रजभाषा व्याकरण में तब, अब, जौलौं, कौलौं, तौ, तद आदि शब्दों की लम्बी सूची पेश की है।[3] ये सभी शब्द कालवाचक हैं न कि क्रिया-

---

१. बुद्ध चरित की भूमिका—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३५।

२. ब्रजभाषा का व्याकरण—आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी, पृ० ५८।

३. ब्रजभाषा व्याकरण—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १३२।

विशेषण। आचार्य वाजपेयी ने क्रियाविशेषण और कालवाचक अव्ययों के सूक्ष्म अन्तर का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

इस तरह 'जब, तब', आदि समयसूचक अव्यय क्रियाविशेषण नहीं हैं। इनसे क्रिया में कोई विशेषता नहीं मालूम होती। तब क्रियाविशेषण इन्हें कैसे कहा जाय?

जो अव्यय हो वह क्रियाविशेषण भी जरूर हो यह कोई नियम नहीं है। यदि कोई अव्यय क्रिया की विशेषता बतलाता है तो वह अवश्य क्रियाविशेषण होगा, अन्यथा हर्गिज नहीं। आप देखिये—जब मोहन पढ़ता है, तब मैं नहाता हूँ। यहाँ 'जब' से 'पढ़ने' में और 'तब' से 'नहाने' में क्या विशेषता मालूम होती है। सिर्फ क्रिया का समय बतलाते हैं।

इसके पश्चात् आचार्य वाजपेयी ने क्रियाविशेषणों के वैशिष्ट्य के अनुसार संज्ञा-विशेषणों की भाँति उनके कई भेदों की उद्भावना भी की है, निश्चय ही ऐसी उद्भावना आचार्य जी की गहरी पैठ एवं उनके बहुत बड़े अभिनिवेश की बोधक है। आचार्य जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"हाँ, संज्ञा-विशेषणों की तरह क्रियाविशेषणों के भी प्रकार हैं। 'राम जोर से हँसा' यह परिमाणवाचक क्रियाविशेषण है। 'तोता मीठा बोलता है', यहाँ गुणवाचक क्रियाविशेषण है। क्रिया में संख्या होती नहीं; इसलिए संख्यावाचक क्रियाविशेषण कैसे हो?"

आचार्य वाजपेयी संस्कृत साहित्य एवं व्याकरण के मूर्धन्य विद्वान् हैं—फिर भी ब्रजभाषा की मिठास और उसके सहज मार्दव गुण के वे कायल हैं। उन्होंने ब्रजभाषा के माधुर्य गुणों की श्लाघा करते हुए लिखा है कि संस्कृत में भी ऐसा माधुर्य गुण हमें नहीं मिलता। वे एक आलोचक की ऐसी निष्पक्ष दृष्टि का समयानुसार उपयोग-विनियोग करते हैं जिसके कारण बहुत से लोग इनसे नाराज भी हो जाते हैं। वे इसकी चिन्ता न करते हुए अपनी मान्यताओं को आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की भाँति दृढ़तापूर्वक स्थापित करते हैं।

आज तीन दशक से भी अधिक समय हो रहा है जब मैंने मध्यमा परीक्षा में आचार्य वाजपेयी की 'लेखन कला' नामक एक छोटी सी पुस्तक पढ़ी थी। पुस्तक की सभी बातें तो स्मरण नहीं हैं; पर पुस्तक ने मेरे छात्र जीवन में जैसा प्रभाव डाला था और उस पुस्तक के कारण मेरे मानस में आचार्य वाजपेयी के प्रति परोक्षतः कितनी श्रद्धा उमड़ पड़ी थी, ये सभी बातें वाणी का विषय नहीं बन सकतीं। उस युग से आज का युग काफी बदल चुका है, हिन्दी व्याकरण और लेखन कला पर बहुत सी पुस्तकें उपलब्ध हैं, पर वाजपेयी जी की प्रांजल एवं सुबोध शैली में रचित वह पुस्तक आज भी मेरे लिए अविस्मरणीय है।

आचार्य जी के ऐसे अभिनन्दन समारोह के शुभावसर पर मैं उनके पादपद्मों पर अपनी श्रद्धा के सुमन चढ़ाते हुए उन्हें कोटिशः प्रणाम अर्पित करता हूँ।

———

हिन्दी शब्दशास्त्र के व्यवस्थापक आचार्य वाजपेयी

डा० विष्णुदत्त 'राकेश'
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

आत्मविज्ञापन और राजनीतिक दावपेंच के युग में भगवान् पाणिनि यदि अवतरित होते तो उन्हें भी पण्डित किशोरीदास वाजपेयी की तरह अपने कर्त्तृत्व पर हर रोज वक्तव्य देने पड़ते। एक ओर स्थापित व्यक्तियों का विरोध और स्वात्म प्रतिष्ठा के लिए अपनी पद-प्रतिष्ठा से पालित शुक मंडलियों से गुणावलियों का श्रवण-सुख बहुचर्चित होने का कारगर उपाय है तो दूसरी ओर घोर उपेक्षा में भी शान्त, निर्वैर और तटस्थ भाव से सर्जनारत रहना, तपना दूसरा साधन है। हिन्दी के विगत पचास वर्षों में काव्य, काव्यशास्त्र, संस्कृति—इतिहास, शब्दशास्त्र तथा हिन्दी प्रचार के लिए अपना संघर्षरत जीवन लगा देना वाजपेयी जी की जिजीविषा का अदम्य प्रमाण है जो उन्हें तपस्वी ब्रह्मऋषियों की श्रेणी में अग्रणी सिद्ध कर देता है। राष्ट्रकवि दिनकर ने उनके निरन्तर जुझारू साहित्यकार का विश्लेषण करते हुए "संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ" पुस्तक में लिखा है—"मैं मानता हूँ कि वाजपेयी जी साहित्य के डाक्टर लोहिया हैं। डाक्टर लोहिया राजनीति में धक्कामार भाषा का प्रयोग करते थे और वाजपेयी जी की भक्ति धक्कामार भाषा पर है। वाजपेयी जी साहित्याचार्य पंडित शालिगराम तथा पंडित पद्मसिंह शर्मा का विरोध करके प्रसिद्ध हुए। डाक्टर लोहिया के ही समान वाजपेयी जी भी अन्याय को नहीं सह सकते और जहाँ जहाँ कीर्ति की पूँजी जमा है, उस दिशा की ओर जरा वक्र दृष्टि से देखते हैं।" दिनकर जी के विश्लेषण में उनका निजी संवेदन मुखर हुआ है और वह इसलिए कि उनकी "संस्कृति के चार अध्याय" कृति जब साहित्य अकादमी से सम्मानित होकर उनके इतिहास बोध की बुलन्दी उठा रही थी, तब वाजपेयी जी ने "संस्कृति का पाँचवाँ अध्याय" लिखकर बहुतों का ध्यान उधर से विरत कर दिया था। वाजपेयी जी के लिए यह कोई नया काम नहीं था। उन्होंने सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के काव्यकल्पद्रुम, डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल के अलंकार पीयूष, सुप्रसिद्ध अलंकारशास्त्री लाला भगवानदीन की अलंकार मंजूषा तथा काव्य कलानिधि श्री अर्जुनदास केडिया के भारती भूषण का खण्डन जम कर किया था। दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर आयोजित प्रदर्शनी में वाजपेयी जी ने उस खण्डनवाली पुस्तक की पाण्डुलिपि रखी। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध इसके सभापति थे। डा० श्यामसुन्दरदास, बाबू गुलाबराय तथा शालिगराम शास्त्री का काव्यशास्त्र के क्षेत्र में तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना तथा डा० हेमचन्द्र जोशी की मान्यताओं का प्रत्याख्यान भाषाशास्त्र के क्षेत्र में वह कर चुके हैं। वाजपेयी जी का यह प्रयत्न स्थापित व्यक्तियों को उखाड़ने के लिए नहीं था, वह तो सारस्वत क्षेत्र में चलते हुए गड्डलिका प्रवाह को रोकना चाहते थे। इसी लिए उन्होंने कबीर का बाना पहना और सत्य कहने तथा सत्य जीने की जो सजा संसार देता आया है उसे शिरोधार्य किया। वाजपेयी जी के आडम्बरहीन व्यक्तित्व में जहाँ ६० वर्ष के अपराजेय साहित्यिक आचार्य

की वक्र दृष्टि है वहाँ क्रास पर मानवता के त्राण के लिए हँसते-हँसते चढ़ जाने की सात्विक शिशुस्मिति भी, हिमालय की ऊँचाई पाई है उन्होंने। यदि ऐसा न होता तो काशी के सुप्रसिद्ध भाषाविद बाबू रामचन्द्र वर्मा का खण्डन करके भी वाजपेयी जी हरिद्वार में उनके अभिनन्दन का आयोजन कैसे करते !

वाजपेयी जी के कठोर बुद्धिवादी चिंतक में स्पष्टवादिता, त्याग, आत्मविश्वास और परदुःख कातरता कूट कूट कर भरे हुए हैं। यह निःस्व ब्राह्मण तप की जीविका जिम्रा है, ऋत के मनोराज्य में विचरण करते हुए उसने अमृत की साधना की है। सांसारिक प्रलोभनों के सामने चट्टान की तरह अनमनीय रहते हुए दीन-दुखियों की जरा सी आँच में पानी-पानी हो जाना उनकी सहज प्रकृति है। तुलसीदास ने परहितनिरत ऐसे ही दूर्वादलोपम व्यक्तित्व को संत कहा है। वाजपेयी जी के भीतर का स्रष्टा मानवता के मानसरोवर का हंस है और बाहर का व्यक्ति तुनुक मिजाज, अनगढ़, अरोचकी तथा धक्कामार है। प्रतिद्वन्द्वी और विरोधी जब अपनी आँखें इसी अनगढ़ रूप पर टिकाते हैं तब उन्हें वाजपेयी जी उसी रूप में दिखाई देते हैं जिसका जिक्र दिनकरजी ने अपने संस्मरण में किया है।

वाजपेयी जी ने लेखन कार्य १९१६ में प्रारंभ किया। पण्डित किशोरी लाल गोस्वामी के "वैष्णव सर्वस्व" में उनका पहला लेख दशधा भक्ति शीर्षक से छपा। भारतेन्दु सखा श्री राधाचरण गोस्वामी के सम्पर्क से समाज-सुधार की प्रेरणा मिली। राजर्षि टण्डन के साथ हिन्दी साहित्य सम्मेलन की सक्रिय सदस्यता ग्रहण की तो जलियाँवाला बाग काण्ड के प्रत्यक्ष दर्शन से मातृभूमि की बलिवेदी पर न्यौछावर होने का संकल्प सम्मूर्त्तित हुआ। १९३० तक वाजपेयी जी का कार्य तीन दिशाओं में बँटा रहा तभी आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का एक पत्र आचार्य वाजपेयी को मिला जिसमें हिन्दी भाषा के परिष्कार के लिए सतत चौकसी का दायित्व अपने समर्थ उत्तराधिकारी के रूप में वाजपेयी जी को सौंपने की बात थी। हिन्दी शब्द-प्रयोग में जो अव्यवस्था उस समय हिन्दी-जगत् में फैल गई थी, उस पर साधिकार विमर्श वाजपेयी जी कर रहे थे। १९२१ से २५ तक इसी विषय पर वाजपेयी जी पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहे। आचार्य द्विवेदी सरस्वती सेवा से निवृत हो गए थे, उन्हें योग्य उत्तराधिकारी की चिन्ता थी। भाषा-परिष्कार का जो कार्य द्विवेदी जी ने प्रारंभ किया था उसे व्यापक फलक पर तत्व चिन्तन के साथ प्रतिष्ठित करने का कार्य वाजपेयी जी ने किया। आज हिन्दी जगत् में उन्हें आचार्य द्विवेदीजी की परम्परा को जीवित रखने का एकमात्र श्रेय प्राप्त है।

१९३० के लगभग वाजपेयी जी ने द्वापर की राज्यक्रान्ति नामक नाटक तथा लेखन-कला पुस्तकें लिखीं। १९१८ से १९३८ तक का समय राष्ट्रीय चेतना के नाटकों के लेखन के लिए प्रसिद्ध है। भारत में पारसी थियेटर की नाट्य प्रकृति और प्रदर्शन पद्धति से भारती, प्रसाद तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे नाटककार प्रभावित न थे। १९१८ से ३८ तक के बीस वर्षों का रंगमंचीय परिदृश्य यद्यपि नारायणप्रसाद बेताब, आगा हश्र और राधेश्याम कथावाचक के प्रयत्नों से बहुत कुछ परिवर्तित हुआ था पर रोमांस, पौरा-

णिकता, पुनरुत्थानवादी दृष्टि, ऐतिहासिक रोमांच और शौर्य का बोलबाला इनकी नाट्य कृतियों में बना हुआ रहा। उधर राजनीतिक वातावरण में राष्ट्रीय संघर्ष प्रारम्भ हो गया था। औपनिवेशिक स्वराज्य पाने का स्वप्न हर भारतीय नागरिक देख रहा था। गांधी जी ने लार्ड इरविन के कठोर रवैये के विरुद्ध सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारंभ कर दिया। १२ मार्च १९३० को गांधी-दाण्डी यात्रा प्रारंभ हुई और बम्बई, बंगाल, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रान्त आदि में नमक कानून का उल्लंघन तथा शराब विरोधी प्रदर्शन के साथ जून १९३० में आन्दोलन, अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद आदि आतंकवादी क्रान्तिकारी आन्दोलन कर्ताओं ने नृशंस साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध आवाज उठाई। पेशेवर पारसी कंपनियों द्वारा खेले जाने वाले नाटकों में इस राजनीतिक चेतना का सर्वथा अभाव था। व्यावसायिक रंगमंच के लिए आगा हश्र कश्मीरी, पण्डित राधेश्याम कथावाचक, नारायण प्रसाद बेताब, किशनचंदर, जेवा तथा तुलसीदत्त शैदा ने धार्मिक भावना के उद्बोधन तथा समाज सुधार के लिए नाटकों की रचना की। राधेश्याम जी का वीर अभिमन्यु, बेताब का कृष्ण-सुदामा, तथा आगा हश्र की भीष्म प्रतिज्ञा जैसी नाट्य कृतियों ने पारसी रंगमंच का परिष्कार भी किया। किन्तु अंगरेजी शासन के भय से पौराणिक इतिवृत्तों के सहारे तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलनों के उभारने से ये नाटककार कतराते थे। मूल पुराण कथा के समानान्तर कल्पित आख्यानों की उद्भावना भी इन्होंने की थी पर असाधारण और अस्वाभाविक कार्यों पर बल दिए जाने के कारण अथवा हल्के फुल्के हास्य व्यंग्यजनक प्रसंगों के कारण इन्हें स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। रंग कार्य और व्यवहार की अपेक्षा इन पौराणिक नाटकों में चरित्र विश्लेषण को महत्व नहीं दिया गया। इसी समय वाजपेयी जी ने सुदामा के कथानक को लेकर द्वापर की राज्यक्रान्ति शीर्षक से नाटक लिखा। हिन्दी की पाठ्यधर्मी नाट्य परम्परा में राजनीतिक चिन्तन को लेकर लिखा गया यह सशक्त पौराणिक नाटक है जिसमें संस्कृत रंगमंचीय सूत्रधार आदि की परम्परा के साथ आगा हश्र की चरित्र विधान की मौलिकतावादी पद्धति का निर्वाह हुआ है। हाँ, इस नाटक का सर्वोपरि मूल्य साहित्य है। रंगमंच अथवा नाटक नहीं। इसीलिए रंगशिल्प की दृष्टि से इसमें परिवर्तन की अपेक्षा है। १९३० के आसपास ही लक्ष्मीनारायण मिश्र के संन्यासी नाटक से समस्या प्रधान नाटकों का निर्माण हुआ। यौन-चेतना इन नाटकों की मुख्य समस्या थी। उच्चवर्गीय तथा, मध्यवर्गीय जीवन की सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं और द्वन्द्वों को नाट्य सृजन का आधार बनाना इन नाटककारों का लक्ष्य था। वाजपेयी जी ने लोकजीवन और प्रभावकारी भाषा मूल्यों के सहारे एक समन्वित नाट्य सृजन की नींव डाली। उन्होंने सुदामा नाटक की भूमिका में स्पष्ट किया है —"सुदामा का कथानक पुराना है। इसके नाम से ही जो बिदक न जायेंगे और आगे बढ़ेंगे, वे स्पष्ट देखेंगे कि यह सुदामा हमसे दूर नहीं है—यह इस युग के ही हैं। नाटक में इस बात का ध्यान रखा गया है कि स्कूल, कालेजों के छात्रों के अभिनय योग्य हो सके। इसीलिए स्त्री पात्रों की भरमार नहीं की गई है। दो-चार स्त्री पात्र हैं, बहुत आवश्यक और अत्याज्य परन्तु ये ऐसे आदर्श पात्र हैं, जिनसे छात्रों के जीवन में पवित्रता की भावना जागेगी, विलास और कामना की नहीं।

सुदामा में गीत प्रायः नहीं-से हैं। नाटक भर में केवल दो जगह एक दो गीत प्रसंग से आए हैं सो जायका बदलने के लिए उनकी जरूरत भी थी। शेष सर्वत्र स्वाभाविक बोलचाल है। स्वगत भाषण को भी आजकल लोग पसन्द नहीं करते। मैंने कठिन और एक तरह से परिहार्य अवसर पर भी स्वगत भाषण से बचने की चेष्टा की है।" इस उद्धरण से स्पष्ट हो जायेगा कि एक ओर वह गीतों की भरमार तथा स्वगत कथन विनियोग की प्रसाद-निष्ठ नाट्य-धारा से स्वयं को पृथक् कर रहे हैं तो दूसरी ओर स्त्री पात्रों की भरमार वाली पारसी थियेटर की नाट्य रचना से स्वयं को मुक्त कर रहे हैं। पारसी ड्रामे की शेक्सपीरियन शैली से मुक्त होने के लिए ही वह संस्कृत रंगमंचीय विधान को स्वीकृति दे रहे हैं। तो बोलचाल की भाषा कहकर बेताब और राधेश्याम की परम्परा का समर्थन भी कर रहे हैं। प्रगतिशील साहित्यिक विचारधारा के पोषण के लिए ही नटी के गीत में 'दलित कृषक अब इधर उधर सब करते सुख की बात' तथा 'फिर पूँजीपतियों के होंगे निर्धन वाहन प्रात' जैसी पंक्तियाँ रखी गई हैं। समस्यामूलक नाटकों की यौन-चेतना के विरुद्ध सुदामा और पत्नी के गृहस्थ जीवन का आदर्श रूप रखा गया है। राज-तंत्र प्रणाली के विरुद्ध सुदामा की प्रजातंत्र प्रणाली के समर्थन की युक्ति नाटक का मूल प्रयोजन है। किसान-मजदूरों के राज्य की कल्पना भी सर्वप्रथम इसी पौराणिक नाटक में मिलती है।—

हलधर संग गोपाल ने कियो कंस मद चूर।
मनौं कह्यौ सासक जगत हैं किसान मजदूर॥

डा० माताप्रसाद गुप्त ने हिन्दी साहित्य पुस्तक में सुदामा को उस युग का एकमात्र पौराणिक शैली का नवीन नाटक बताया था पर नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास एकादश खण्ड (नाटक १९७५ वि० से १९९५ वि० तक) में इसके योग्य सम्पादकों डा० सावित्री सिन्हा तथा डा० दशरथ ओझा ने इस नाटक का उल्लेख तक नहीं किया।

साहित्यिक परम्परा में प्राचीनों की एक धारणा रही है कि भाषाविद और वैयाकरण समालोचक हो सकता है पर ललित साहित्य की सर्जना नहीं कर सकता। यह मान्यता काव्य-कवियों के क्षेत्र-भेद की सूचना तक तो ठीक है किन्तु अपनी असाधारण सृजन शक्ति, अलंकार शास्त्रीय दक्षता और गहन पाण्डित्य के बल पर शास्त्र कवि उक्त धारणा को सदैव चुनौती देते आए हैं। आचार्य वाजपेयी ऐसे ही तत्वाभिनिवेशी आलोचक हैं जो काव्य-सेवन के अवसर पर काव्य के अन्तरंग तत्व में प्रवेश कर व्यंजित मर्म-छवियों का उद्घाटन करने की अपूर्व क्षमता तो रखते ही हैं साथ ही ऐसे सुकवि भी हैं जो उक्ति चमत्कार के साथ वस्तु-वैविध्य के कल्पना प्रसंगों की अवतारणा में ब्रजभाषा के आधुनिक कवियों में अपना जोड़ नहीं रखते। ब्रजभाषा के सुकवि के रूप में आज उन्हें नई पीढ़ी याद नहीं करती। इसका कारण है साहित्य क्षेत्र में इतिहासकारों द्वारा अपनायी गई उदासीनता। १९६७ ई० में भारती भण्डार प्रयाग से डा० सत्येन्द्र का ब्रज साहित्य का इतिहास ग्रंथ प्रकाशित हुआ पर आचार्य वाजपेयी की तरंगिणी का उल्लेख उसमें भी

नहीं है। वाजपेयी जी दत्तावसर कवि हैं, तरंगिणी उनकी निरुक्त, मुक्त क्षणों की उपलब्धि है। तरंगिणी का प्रकाशन १९३६ में हुआ था। प्रकाशन के प्रथम वर्ष में ही इसके तीन संस्करण हुए। इसकी रचना सोद्देश्य हुई थी। एक ओर खड़ी बोली समर्थक कवियों ने ब्रजभाषा को अनुपयोगी सिद्ध कर दिया था तो दूसरी ओर ब्रजभाषा के नाम पर अलंकृत तथा शृंगार की चर्चित उक्तियाँ पसारी जा रही थीं। श्री दुलारेलाल भार्गव की "दोहावली" की धूम थी। अलंकृत युग के अवशेष रूप में बड़ी सज धज के साथ निकली थी वह। ८ दोहों में परम्परागत वन्दना तथा शेष २०० दोहों में शृंगार परम्परा को मुख्य आधार बनाया गया था। बिहारी के समान शृंगार-भक्ति की कलात्मक व्यंजना इन्होंने की। कथन वक्रता के रेगिस्तान में भावस्रोत भर गया। सामयिक शब्द योजना के साथ आधुनिक बोध का प्राधान्य यदि इन दोहों में होता तो ब्रजभाषा का साहित्यिक भविष्य ही कुछ और होता। ब्रजभाषा के पक्षधरों में हरिऔध, वियोगी हरि, पं० पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र और वाजपेयी थे ही। वाजपेयी जी ने ब्रज-भाषा के उन विरोधियों का मुख बन्द करने के लिए तथा ब्रजभाषा को नवयुगबोध तथा नवचेतना के अनुकूल काव्य-सम्प्रेषण का माध्यम सिद्ध करने के लिए तरंगिणी की रचना ब्रजभाषा में की। १९३७ में 'सुधा' में वाजपेयी जी ने एक लेख प्रकाशित कराया और चुनौती दी कि ब्रजभाषा विरोधी उन भावों का नाम निर्देश करें जिनका अभिव्यंजन ब्रज-भाषा में नहीं हो सकता। यदि सफलतापूर्वक इस भाषा में उन भावों का अभिव्यंजन हो जाय तो ठीक अन्यथा फिर ब्रजभाषा आंशिक गूँगी सिद्ध हो जायेगी। इसी विश्वास के बल पर वाजपेयी जी तरंगिणी की रचना कर चुके थे। तरंगिणीकार का प्रयोजन द्विवद्ध था। भाषा का आदर्श रूप और काव्य के वस्तु वैविध्य से मोहक चमत्कार की सृष्टि उनका अभीष्ट था। तरंगिणी की भाषा पर हिन्दी जगत् के परमाचार्य पण्डित महा-वीरप्रसाद द्विवेदी की सम्मति थी—"इसकी भाषा प्रकृत ब्रजभाषा है। तोड़-मरोड़ कर बनायी हुई कृत्रिम भाषा नहीं ? तथा काव्यत्व पर आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का निर्णय था—"दोहे बहुत सुन्दर उतरे हैं इनमें सरसता भी है, और चमत्कार भी। सबसे अच्छी बात यह है कि इनका क्षेत्र विस्तृत है। एक ही रस या प्रसंग से परिमित नहीं है। जीवन के मार्मिक सामान्य तथ्यों से लेकर आजकल की विशेष-प्रवृत्तियों तक की बड़ी सुन्दर व्यंजना इनमें है।" इतना होने पर भी आर्थिक संकटों के कारण वाजपेयी जी ने तरंगिणी को १९३७ में देव पुरस्कार के लिए भेजा किन्तु किन्हीं कारणों से यह पुरस्कार रायबरेली के बछरावापुर के श्री रामनाथ ज्योतिषी को रामचंद्रोदय काव्य पर मिला। अयोध्या के राजा प्रतापनारायण के राजकवि के रूप में ज्योतिषी जी सम्मा-नित थे ही। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने इसकी भूमिका लिखी थी। छन्द-प्रयोग की बहुलता इस कृति की विशेषता थी जो रामचन्द्रिका के प्रभाव का फल कही जा सकती है। रामजन्म से अयोध्या निवास तक की कथा का सन्निवेश रीतिकाव्य चेतना के आधार पर इस कृति में हुआ है। किन्तु परिपाटीबद्ध रचना होने के कारण यह रचना भी युगानु-रूप नहीं कही जा सकती। तरंगिणी को इस कृति के मुकाबले हेय सिद्ध करने के लिए पुरस्कार काफी नहीं था। आचार्य द्विवेदी को इस निर्णय से बड़ा धक्का लगा। वाज-

पेयी जी ने तरंगिणी को युगानुरूप विषयों की तरंगों में बाँधा। उनका कहना था, विज्ञापन का सिद्ध प्राप्त विश्वामित्र भी अशक्त कृति के त्रिशंकु को साहित्यिक उत्कर्ष के स्वर्ग में सदेह प्रतिष्ठित कर सकने में असमर्थ हैं, भ्रमर को थोड़ा सा मधु चटाकर कराई गई साहित्यिक प्रशस्तियाँ न स्वयं जीवित रहती हैं न रह सकती हैं। तरंगिणी के इस अन्योक्ति के मूल में उक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि छिपी हुई है—

सुनु सरोज तू रोज क्यों भौंरनि के मुखमीत।
विज्ञापन निज करत है, घटि है, गुन परतीत।
अरै जौहरी मति करै तू अनीति निजपौर।
पर दबाव ते कनक कौ तू न कहै कछु और।
काग भलै मोतीनि चुगु बसि मानस सर माँहि।
नीर छीर बिलमाइबो तेरे बसको नाहि॥

तरंगिणी की तरंगें तीन प्रवाहों में बही हैं। प्रत्येक प्रवाह में १०० दोहे रखे गए हैं। कुल मिलाकर संपूर्ण कृति में २०० के लगभग दोहे हैं। कवित्त-सवैया की स्वतंत्र संख्या न होकर दोहे की संख्या के साथ लगा दी गई है। प्रथम प्रवाह में पराधीन भारत और रूढ़ि जर्जर भारतीय जीवन के बहुमुखी हृदय विदारक चित्र हैं अतः इस खण्ड का मंगला-चरण सोद्देश्य है। अहिंसक, सत्यनिष्ठ, स्वतंत्र चेता वीर को उत्साह की आवश्यकता है। अतः वीर रस के स्थायी उत्साह की विशेष उपयोगिता की दृष्टि से ही ग्रन्थकार ने अपने इष्टदेव के वीर रसाभिव्यंजक रूप को स्मरण किया है।—

कंस विजेता सस्त्र विनु बसौ हिये करुनेस।
कहा करौ "रनछोर" लै पराधीन जब देस।

श्री वियोगी हरि की वीर सतसई के मंगलाचरण की पंक्ति 'कब गहि हौं रनछोर के वा पटुका कौ छोर' पर 'रनछोर' शब्द की अनुपयुक्तता से बिचक कर उक्त अर्थगर्भित उक्ति कही गई है। यहाँ पर कंस विजेता और सस्त्रबिनु विशेषण साभिप्राय है। इसी प्रकार द्वितीय प्रवाह में शृंगार की उक्तियाँ रखी गई हैं। अतः मंगलाचरण में 'गौर स्याम छवि संग मिलि होति मधुर सविसेस' कहकर राधाकृष्ण युगल की माधुर्यरसनिष्ठ वंदना कराई गई है। जहाँ राधा-कृष्ण की गंगा-यमुना काव्य भारती के संयोग से कल्पना के सारस्वत प्रदेश को प्रयाग बना देती हैं, तीसरे प्रवाह में राजनीतिक प्रकीर्णक हैं जिनमें भेदनीति, बेकारी, कुमंत्रणा, संगठन, फैशन आदि पर कवि की दृष्टि गई है। अतः उसके स्तवन में कुशासन पर बैठकर कुशासन को दूर करनेवाले चाणाक्य की वंदना है। इस-प्रकार वस्तु निर्देशात्मक मंगल तथा नर-स्तवन की पद्धति तीनों प्रवाहों में कवि के इष्टार्थ की व्यंजना कराने में पूर्ण सफल कही जा सकती है।

जहाँ तक प्रतिपाद्य का प्रश्न है कलाकार पर वस्तु को भी अपनी नूतन कल्पना और भावराशि के आधार पर रम्य और रुचिकर बना देता है। इसी प्रकार जैसे रवि के आतप को लेकर चन्द्रमा उसे चाँदनी में बदल देता है। फिर छायोपजीवी कवि की महत्ता इससे कम नहीं हो जाती। उदाहरण के लिए एक तरंग देखिए—

सेत स्याम रति-काम रंग ते चख पुनि रतनार,
चित्रित चीनी चसक जनु चाह भरे गुलजार।

आँखों पर उक्ति है। आँखों में स्वभावतः दो रंग हैं—श्वेत और श्याम परन्तु जब उनमें किसी की चाह आकर भर जाती है तब तारुण्य के कारण उसमें कुछ अनुराग का आरुण्य भी आ जाता है। यह अरुणाभा रति के कारण है। श्याम काम का रंग है ही। चीनी के सफेद किन्तु कुछ-कुछ काले चित्रित प्याले में जैसे चाय भरी हो, ऐसी प्रतीति होती है रसीली, अरुणाभ, श्याम और पंखुरी सदृश बडरी अँखियों को देखकर अब रसलीन के 'अरुण हलाहल मदभरे स्वेत स्याम रतनार' पंक्ति की तुलना में उक्त दोहे के मजमून का चमत्कार देखिए। कृष्ण मथुरा क्या चले गए, ऊँची कुर्सी पाकर अपना स्वभाव भी बदल बैठे, कहाँ थे अहीर, कहाँ बन गए राजा। इस प्रकार वियोगिनी गोपी की उक्ति है—सखी, यदि उन्हें हमारी पीड़ा पर तरस नहीं आता तो यह स्वाभाविक है क्योंकि ऊँची कुर्सी से सील दूर रहती है। यहाँ कुरसी तथा सील शब्द श्लिष्ट हैं—

जाकी जेती जगत में, ऊँची कुरसी होय
ता में तेतो सील को, सखि अभाव जिय जोय।

कोई धृष्ट नायक है, अन्य नायिका से रमण कर लौट आया, प्रवंचिता नायिका के सम्मुख खड़ा हो गया, फाल्गुन का समय था ही, रंगभरी होली का अवसर भी, बहाना मिल गया। इस पृष्ठभूमि में नायक के मुख पर अंकित चन्द्र लांछन को लक्षित कर कही गई खण्डिता की उक्ति में नायक की सापराध वस्तु की व्यंजना देखिए—

होरी में थोरी लगी वदन ललन कर रेख
इहाँ चंद अंकित भयो छवि दरपन में देख।

वियोग क्या हुआ, नायिका के सुख-साज ही पहार हो गए, जो शतरंज संयोग में मन लगाने के काम आती थी वही वियोग में सौगुना रंज बढ़ा रही है। क्योंकि यह वही शतरंज है न जिसे कभी उनके साथ खेला गया था। प्रोषितपतिका की इस उक्ति में स्मृति-संचारी व्यंग्य है। व्याघात अलंकार मूलक ध्वनि का सौन्दर्य यहाँ उल्लेखनीय है—

सतसत जन रंजनि करति जो प्यारी सतरंज,
सोई अरी वियोग में करति सौगुनो रंज।

कहते हैं अकबर इलाहाबादी ने शायरी नहीं की अपने युग का इतिहास लिखा। तरंगिणी भी सामयिक राष्ट्रीय आन्दोलन, सामाजिक सुधार तथा आधुनिक जीवन मूल्यों की झलकियाँ प्रस्तुत करती है। समूची ब्रजभाषा काव्य परम्परा में तरंगिणी की मौलिकता का अवदान यहीं है। इन विनोद-वैचित्र्य मोहक व्यंग्योक्तियों के बाँकपन का नमूना लीजिए—

अखरत शासन बाहरी जदपि होय सुख सील।
देत देह नहिं दुख कहा चुभि सोने की कील।
जब लौं, साहब को दरस भयो न कोठी द्वार।
तब लौं टामी को रहे करसों करत दुलार।

४३

दलित बंधु हरिजन की कहा न उन्नति कीन,
खायो तिनि कै संग मिलि इक दिन झाड़ू दीन।
प्रिय पैरिस की प्रेयसिन पैरिस नेकु न मोहि
निरमोही छाती फटति गुनत बटोही तोहि।

अस्तु, तरंगिणी वर्तमान युग में ब्रजभाषा काव्य परम्परा में नूतन मोड़ की सूचना थी। रसानुभव के साथ लोकजीवन की धारणा का उसमें सन्निवेश था। दुलारेलाल दोहावली और वीर सतहई की परम्परा में उसका सही मूल्यांकन होना शेष है, आशा है शोधार्थियों का ध्यान इधर जायगा।

लेखनकला वाजपेयी जी की इसी समय की रचना है। हिन्दी में इस विषय पर सर्वप्रथम १९१६ ई० में श्री स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने लेखनकला नाम से पुस्तक लिखी थी। परिव्राजक जी ने अन्द्रे मारिस कृत दी आर्ट आफ राइटिंग (१९१५ ई०) तथा वाल्टर रेलेह कृत आन राइटिंग एण्ड राइटर्स (१९१६) पुस्तकों से प्रेरणा लेकर अपनी पुस्तक लिखी। हिन्दी में उस समय इस पद्धति की एक भी पुस्तक सुलभ नहीं थी। इस पुस्तक की पद्धति भी इन अंग्रेज लेखकों के अनुरूप है, स्वामी जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि मैंने इसे अमरीका की प्रसिद्ध यूनिवर्सिटी आफ शिकागो के विद्वान् अध्यापकों की पुस्तकों के सहारे पर लिखा है। लेखन कला की प्रस्तावना में उन्होंने यह सूचना दी है। अतः वाजपेयी जी की लेखनकला पुस्तक के मूल में परिव्राजक की इस दिशा में की गई पहल का भी योगदान मानना होगा। वाजपेयी जी की पुस्तक में सात अध्याय हैं। भाषा में विजातीयता, वाक्यरचना, शब्दचिन्तन, सजीव भाषा तथा भाव, भाषा की समस्या और लिपि-विन्यास, निबन्ध, कविता, कहानी आदि का लेखन तथा वाक्य में पदों के सन्निवेश पर विचार किया गया है। पारिव्राजक जी ने भी, लेखन कला का स्वरूप, रचना सामग्री, प्रस्तुतीकरण, भाषा, शैली तथा लेखन शैली के दोषों पर विचार किया है। परिव्राजक जी की पुस्तक पर रायबहादुर पंडित शुकदेवविहारी मिश्र ने सम्मति दी थी और वाजपेयी जी की लेखन कला पर डा० सम्पूर्णानन्द जी ने। वाजपेयी जी की लेखनकला ने बहुतों को अच्छी हिन्दी लिखना सिखाया।

१९३०-३१ में ही कांग्रेस के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लेने के कारण वाजपेयी जी को जोरदार कांग्रेस वर्कर का खिताब देकर बर्खास्त कर दिया गया। इसी समय वाजपेयी जी ने रस और अलंकार पुस्तक लिखी। इसमें आदि से अंत तक सबके सब उदाहरण उन्होंने स्वंय लिख कर दिये जो राष्ट्रीय आन्दोलन को उद्वेलित करने वाले थे। यह पुस्तक हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर बम्बई से छपी। महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय को समर्पित की गई थी, छपते ही इसे अंग्रेज सरकार ने जब्त कर ली, तब साहित्य की उपक्रमणिका पुस्तक लिखकर श्री नाथूराम प्रेमी जी को भेजी गई जिसका व्यवस्थित रूप जनवाणी प्रकाशन कलकत्ता से छपी 'साहित्य-निर्माण' पुस्तक में मिलता है। इस युग में संस्कृत साहित्य शास्त्र का स्थूल स्वीकरण हो रहा था अतः रस-अलंकार पर नव्य व्याख्यान की प्रवृत्ति अत्यल्प दिखाई पड़ती थी। उच्च कक्षाओं के लिए इन विषयों के पाठ्यग्रंथ तैयार

करने के उद्देश्य से बाबू श्यामसुन्दर दास, लाला भगवान दीन, डा० गुलाबराय, रामदहिन मिश्र तथा आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र जैसे कतिपय शास्त्रीय परम्परा के विद्वानों ने काव्यांगों पर ग्रंथ लिखे। इन ग्रंथों की मुख्य प्रवृत्ति लक्षण—उदाहरणों की सुबोधता तथा शास्त्ररक्षा ही दिखाई पड़ती है। आश्चर्य की बात है कि डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु के संपादन में प्रकाशित सभा के बृहत् इतिहास भाग १३ में १९२० से १९४० के मध्य प्रकाशित समीक्षा-सिद्धान्त पुस्तकों में इस पुस्तक का उल्लेख नहीं है। डा० भगीरथ मिश्र ने हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास ग्रंथ में कन्हैयालाल पोद्दार, जगन्नाथप्रसाद भानु, अर्जुनदास केडिया तथा रामदहिन मिश्र की कृतियों का उल्लेख किया है पर इस कृति का उल्लेख उन्होंने भी नहीं किया। रस और अलंकार ग्रंथ में दो प्रकरण हैं। पहला रस प्रकरण है जिसमें रसध्वनि, रसभेद, भावध्वनि तथा रसाभास और भावाभास पर विचार किया गया है। दूसरा अलंकार प्रकरण है जिसमें भेदोपभेद सहित ५ शब्दालंकारों तथा संकर, संसृष्टि सहित ७८ अर्थालंकारों के लक्षण उदाहरण दिए गए हैं, लक्षण गद्य में तथा उदाहरण स्वनिर्मित पद्यों में हैं। अन्य अलंकारवादियों के लक्षण उदाहरणों को ध्यान में रखकर विमर्श से बात साफ की गई है, लक्षण समन्वय की बात दृष्टि से ओझल नहीं होने दी गई। यह बात अलग है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे शुद्धिवादी आलोचकों के प्रभाव के कारण रसाभास प्रकरण में रीति कवियों की नाहक दुर्दशा कर दी गई है—'हिन्दी में भी कुछ काम नहीं हुआ है। अधिकांश शृंगारी कवियों ने श्रीकृष्ण और गोपियों की क्रीड़ा का बड़ा ही निन्दनीय वर्णन किया है। सामान्य नायक-नायिकाओं के वर्णन भी बड़े कुरुचिपूर्ण किये हैं। हद है नीचता की और पामरता की, मालूम होता है कि ये कवि लोग अपने विषयी आश्रयदाताओं को खुश करने के लिए ही ऐसी ऐसी भोंडी रचनाएँ किया करते थे जो कला की दृष्टि से उच्च होने पर भी औचित्य की कसौटी पर परखने से अति निकृष्ट उतरती हैं।" (रस और अलंकार—पृष्ठ २५) द्विवेदी जी का समीक्षादर्श नैतिकता और सामाजिक उपयोगिता जैसे साहित्येतर मूल्यों से निर्मित था। अतः वाजपेयी जी की समीक्षा का स्वर भी इन्हीं पूर्वाग्रहों से जकड़ा हुआ है। आचार्य शुक्ल के समान ही वह काव्य में रहस्यवाद तक की अस्वीकृति इसी दृष्टि के प्राधान्य के कारण करते हैं। आचार्य शुक्ल ने कबीर आदि में भारतीय योगमार्ग का साधनात्मक रहस्यवाद, सूफियों का भावात्मक रहस्यवाद तथा आधुनिक युग में पुराने ईसाई मतों के छायाभास का प्रभाव स्वीकार किया है, पर आधुनिक रहस्यवाद को उन्होंने पूर्णतया नकारा नहीं। शुक्लजी के शब्दों में—उसी भावात्मक रहस्य परम्परा का यह नूतन भावभंगी और लाक्षणिकता के साथ अविर्भाव है, शुक्ल जी ने अपने इतिहास के अपभ्रंश काव्य प्रकरण में सिद्ध वाणियों का विवेचन करते हुए रहस्य मार्ग का संकेत किया है। रहस्यवाद की सार्वभौम प्रवृत्ति यहाँ सांकेतिक अर्थ के ध्वनन को बताई गई है। वाजपेयी जी ने 'रहस्यवाद' पुस्तक में सिद्धों, बाउल वैष्णवों, सूफी फकीरों तथा नव रहस्यवाद का विवेचन इसी पद्धति पर किया, यहाँ भी वाजपेयी जी नैतिकतावादी मूल्य से प्रभावित हैं और इस प्रकार की उक्तियों को समाजविरोधी मानते हैं—'वस्तुतः सिद्ध लोग और उनके अनुनायी कहीं तो द्वयर्थक शब्दों का प्रयोग करते थे और मजे से 'रहस्य' प्रकट करते

थे और कभी सीधे खुले शब्दों में—एकार्थक रूढ़ शब्दों से ही मन की बात कहे जाते थे जिसे फिर अन्योक्ति बताकर या अध्यवसानात्मक सादृश्यमूलक अतिशयोक्ति बताकर लोगों को बरगलाते थे। आगे योगी लोग आए इन्होंने भी 'रण्डारमण' के गीत गाए। इन लोगों के अनाचार से अवैध संतान पैदा होती थी। कबीर भी ऐसे ही संतान थे।" (पृष्ठ ५) स्पष्ट है कि वाजपेयी जी का यह निष्कर्ष एकांगी है और संशोधन की अपेक्षा करता है। यहीं नहीं पन्त जी की पंक्तियों की लाक्षणिक व्याख्याएँ शुक्ल जी ने चिन्तामणि में की थीं। वाजपेयी जी ने इसी पुस्तक के पृष्ठ १५ पर शुक्ल जी की मान्यताओं से असहमति व्यक्त की है। इसी तरह पृष्ठ २१ पर प्रगतिवाद को रहस्य की प्रतिक्रिया बताकर वह समूचे नव्य काव्य आन्दोलनों का तिरस्कार करते हैं। यहाँ भी लगता है वह आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का पक्ष लेकर इस पद्धति के काव्य को समूल उखाड़ देना चाहते हैं। वाजपेयी जी का निष्कर्ष लीजिए—'इसके बाद जब रहस्यवाद का उन्मेष हुआ तब काशी का एक दूसरा दल द्विवेदी जी से नाराज हो गया। बात यह हुई कि प्रसाद जी ने अपनी एक कविता सरस्वती में छपने को भेजी जो द्विवेदी जी को पसंद नहीं आई और उन्होंने उसे लौटा दिया। इससे प्रसाद जी बहुत रुष्ट हो गए। सरस्वती की प्रतिद्वन्द्विता में काशी से इंदु मासिक पत्र निकाला गया। १९२५–३० में काशी विश्वविद्यालय के कारण एक समालोचक मंडल भी तैयार हो गया। हिन्दी साहित्य पर इतिहास ग्रंथ भी लिखे गए और इन इतिहास ग्रंथों में द्विवेदी जी का और उनके साथियों का साहित्यिक रूप विकृत दिखाया गया। इससे रहस्यवाद को बल मिला।" पृष्ठ २३

जैसा कि रसाभास सम्बन्धी वाजपेयी जी का मत है, उसी से प्रेरित होकर नवोत्थानवादी काव्य तथा हिन्दी की आदिकालीन और पूर्व मध्यकालीन काव्यधाराओं पर यहाँ विचार किया गया है। रस-अलंकार प्रकरण में वाजपेयी जी ने उदाहरण देते हुए सर्वत्र इस सिद्धान्त का पालन किया है। वाजपेयी जी ने ध्वन्यालोक के मंगलाचरण और उदाहरणों में तालमेल न देकर यह अनुमान किया है कि कारिकाकार और वृत्तिकार दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। उनका कथन है—"ध्वनिकार ने भगवान का स्मरण जिस रूप में किया है उससे उनकी मनोवृत्ति का पता चलता है। इसमें भगवान के मधुरिपु रूप का उल्लेख है और उनके नृसिंहावतार के उन नखों की ओर उनका ध्यान है जो बर्बर शासक का पेट फाड़कर लोकवन्द्य हुए। वह समय वैसा ही होगा। ध्वनिकार ने शृंगार की ओर कवियों का ध्यान नहीं खींचा है, वैसा होता तो गोपीवल्लभ की जनमनमोहक वेणु की वंदना वे करते-कहते। ध्वनिकार की कारिकाओं को पल्लवित करने वाले वृत्तिकार दूसरे ही रूप में प्रकट हुए। उन्होंने ध्वनि के अस्सी प्रतिशत भेदों के उदाहरण ऐसे शृंगार से सराबोर दिए हैं, जिनका प्रभाव समाज पर बहुत बुरा पड़ सकता है—पड़ा भी। यह ग्रंथ जिनका उपजीव्य रहा उन मम्मट, विश्वनाथ आदि के ग्रंथ भी उधर ही गए।" (मेरे मौलिक विचार—पृष्ठ ३२) वाजपेयी जी की 'रस और अलंकार' पुस्तक इस धारा में एकमात्र अपवाद है। शृंगार के राष्ट्रीय रंग में रँगे हुए दो उदाहरण लीजिए—

जेल ते आये जवाहर काल्हि उछाह-छके जनु केहरि छूटचौ।
आनन्द भौन पधारे तहाँ कमलादृग ते नद बेहद छूटचो।

तामैं बही सुधि बुद्धि सबै चख देखि उन्हें मख को फल लूट्यो।
औंर सबै तब भूलि परस्पर रूप-महासब सों छन घूंट्चो।

इसमें संयोग शृंगार है। जवाहरलाल नेहरू की रति का आलम्बन उनकी धर्मपत्नी श्रीं कमला नेहरू हैं। कमला जी की रति के आलम्बन नेहरू हैं। पिछला वियोग उद्दीपन हैं। परस्पर एक दूसरे को देखना अनुभाव है। स्तंभ, रोमांच, अश्रु, हर्ष आदि संचारी हैं। अब वियोग वर्णन देखिए—

देस काज लागि जनता के दुख नासिबे कौ,
पिय गये जेल हिय कैसे समुझाऊँगी।
कल न परति काल्हि उनकी नकल करि,
जैसेई बनैगो तैसे मैं हूँ चली जाऊँगी।
कंकन उतारि हाथ पहिनि कै हथकरी,
पायजेब दूरि करि बेरी मैं बजाऊँगी।
आवैंगे सुराज के मिलत घर दोऊ संग,
तेरी सौंह आली तब सब भरि पाऊँगी।

इसमें वियोग शृंगार है। नायिका की रति का आलम्बन नायक है। जेल में नायक के दुःखों का स्मरण, हथकड़ी औंर बेड़ियों का स्मरण, पुलिस की निर्दयता और जेल वालों की पाशविकता उद्दीपन है। आवेग, दैन्य आदि संचारी भाव है। रोमांच, स्वेद आदि सात्विक भाव हैं। वाजपेयी जी ने इस प्रकरण का मंगल तथा अलंकार प्रकरण का मंगल भी सोद्देश्य किया है।—

जयति श्यामसुन्दर सदय मधुसूदन गोपाल।
दनुज रक्त कर्दम करन नटवर केशीकाल।
वंदनीय भारत तिलक तिलक प्रथम सरदार।
जिनका लोहा जग विदित मान गई सरकार।

अलंकारों के उदाहरणों में विषय के औंचित्य तथा लक्षण के निर्वाह का ध्यान रखा गया है जैसे व्याजोक्ति अलंकार का निम्न उदाहरण—

सिमला अरविन तन कंपचौ सुनि सत्याग्रह बात।
पूँछे ते उत्तर दियो—आह सीत हिम बात।

सत्याग्रह संग्राम की बात सुनकर लार्ड इरविन घबरा गए हैं, उनका शरीर कँपने लगा, जिससे पास बैठे हुए लोगों को उनकी घबराहट का पता चल गया। इस दुर्बलता को भाँप कर जब उनसे कँपने का कारण पूछा गया तो बर्फानी हवा के झोंके का बहाना कर उन्होंने अपनी घबराहट को छिपा लिया। शिमला के साहचर्य से "हिमवात" का सौन्दर्य ध्यान देने योग्य है। अपह्नुति से अंतर स्पष्ट करने के लिए ही प्रश्न तथा आकार-चेष्टा से बात को गोपन रखने की योजना की गई है। तात्पर्य यह कि पूरी पुस्तक राष्ट्रीय

आन्दोलन का परिवेश प्रस्तुत करती है और इस दृष्टि से उस काल में लिखी गई रस-अलंकार विषयक पुस्तकों में यह बेजोड़ है।

वाजपेयी जी के काव्यशास्त्र सम्बन्धी विचार "मेरे कुछ मौलिक विचार" पुस्तक में संग्रहीत हैं। डा० राजबली पाण्डेय, कुलपति जबलपुर विश्वविद्यालय ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग योजना के अन्तर्गत वाजपेयी जी के काव्यशास्त्र पर तीन लम्बे व्याख्यान कराए थे। इनमें काव्य का लक्षण, वर्गीकरण, आस्वाद, अलंकार, ध्वनि, रस तथा कवि समय पर मौलिक दृष्टि से विवेचन-विश्लेषण था। हाँ वाजपेयी जी महिम भट्ट तथा कुंतक से बड़े प्रभावित हैं और इसके अतिरिक्त भी अन्य ग्रंथों में व्यावहारिक समीक्षा के प्रकरण में उन्होंने महिम भट्ट तथा कुंतक की काव्यमर्मज्ञता पर प्रकाश डाला है। शब्द और अर्थ के सामंजस्य पर प्रकाश डालते हुए अच्छी हिन्दी पृष्ठ १३५ पर उन्होंने भवभूति के मालती माधव के श्लोक पर कुंतक के वक्रोक्तिजीवित की टिप्पणी भी उद्धृत की है—

असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनम्,
निरालोकं लोकं मरणशरणं बान्धवजनम्।
अदर्पं कन्दर्पं जननयन निर्माणमफलम्
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः।

कापालिक मालती को उठाए लिए जा रहा है, बलि देने के लिए, उसी दशा में माधव उससे कहता है—अरे यह तू क्या करने जा रहा है। इसे मारकर तू इस संसार को असार करने क्यों जा रहा है फिर यहाँ रह क्या जायगा ? त्रिभुवन का रत्न नष्ट हो जाएगा और यह लोक आलोक शून्य हो जाएगा। इस रमणी के बंधु बांधवों को तो मौत ही सूझेगी इसके न रहने से कंदर्प का दर्प ही उड़ जाएगा। संसार के नेत्र निष्फल हो जाएँगे और तो और यह जगत फिर जीर्ण अरण्य ही हो जाएगा।—ठूँठ से दिखाई देंगे सब।

तुझे बलि ही देनी है तो कोटि-कोटि प्राणी भरे हैं चाहे जिसे लेजा, पर इस रत्न को क्यों नष्ट किए दे रहा है। इस पर राजानक कुन्तक ने अपने वक्रोक्तिजीवित ग्रंथ में लिखा है—यह पद्य एक ऐसा महाकाव्य है जिसमें कितने ही छोटे-छोटे वाक्य बहुत सुंदर जुड़े हुए हैं और वे सब उस रमणी के लोकोत्तर सौंदर्य को प्रकट करते हैं, परन्तु उन सब के बीच में 'मरण शरणं' 'बान्धव जनम' यह अंश बिलकुल भरती का है। इससे लावण्यातिशय का बोध नहीं होता। यहाँ विधिमपि विपन्नाद्भुतविधिम्' कर दिया जाता तो ठीक रहता।" वाजपेयी जी ने साहित्य निर्माण पुस्तक में शब्दाडम्बर और औचित्य पर प्रयोगों की दृष्टि से विचार करते हुए हिन्दी संस्कृत पद्यों की मनोहर व्याख्या की है। यहाँ उन्होंने कुन्तक के 'असक्कृत' प्रयोग के अवशम् सुझाव पर अपना सुझाव भी दिया है "एक रूप यह भी हो सकता था कि कवि अपनी ओर से कहता कि वैसी दशा में सीता जी के मन में बार बार यह आना कि पूँछूँ—कियत् गन्तव्यमस्ति—परन्तु इसके लिये उनके ओष्ठ न खुले। खैर, कुन्तक ने 'अवशम्' पाठ का ही सुझाव दिया है।" (पृष्ठ ४६) इसी पुस्तक के काव्य-विवेचन प्रसंग में (पृष्ठ ८०) उपमा, असम को लेकर अच्छा विचार किया है। काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रस गंगाधर की मान्यताओं का यहाँ खंडन हुआ है।

साहित्य निर्माण पुस्तक में चार अध्याय हैं। शब्दप्रयोग, कलाओं का वर्गीकरण, काव्य की श्रेष्ठता, हिन्दी काव्य का चतुर्धा विभाजन (चारण युग, शृंगार युग, भारतेंदु युग, द्विवेदी युग) काव्य-विवेचन, कहानी, आलोचना आदि विधाओं का परिचय तथा भाषा परिष्कार का विवेचन किया गया है। व्यावहारिक आलोचना निदर्शन की दृष्टि से प्राचीन पद्धति का प्रति संस्कार शीर्षक प्रकरण ग्रंथ का प्राण है, जहाँ हिन्दी-संस्कृत के उत्कृष्ट पद्यों की समीक्षा कर रसास्वाद ग्रहण की भारतीय पद्धति समझाई गई है।

१९२८–२९ के लगभग साहित्याचार्य शालिगराम शास्त्री की साहित्यदर्पण की विमला टीका का खण्डन करते हुए माधुरी में वाजपेयी जी ने ११ लेख लिखे। वाजपेयी जी की काव्यशास्त्रीय दृष्टि बड़ी साफ है। उदाहरण के लिए शालिगराम जी शास्त्री द्वारा प्रस्तुत महाकवि माघ के श्लोक का दोष दर्शन लें––कुट्टमित का उदाहरण है––

पल्लवोपमितिसाम्यसपक्षं दष्टवत्यधरबिम्बमभीष्टे ।
पर्यकूजि सरुजेव तरुण्यास्तार लोल वलयेन करेण ।

अर्थात् प्रियतम के द्वारा पल्लवतुल्य अधर बिम्ब के दष्ट होने पर तरुणी का मणि कंकण युक्त हाथ चंचल हो उठा, मानो वह दर्द के मारे भनभना उठा। शास्त्री जी ने यहाँ उपमित, साम्य और सपक्ष पदों को अनावश्यक और पुनरुक्त माना। (विमला टीका, पृष्ठ ८७) वाजपेयी जी ने टीका के खण्डन में मल्लिनाथ का हवाला देते हुए उक्त तीनों पदों को आवश्यक और संगत बताया। पल्लवों की उपमिति ही उनकी दृष्टि में साम्य का आधार है और समान शील होने के कारण ही वहाँ सपक्षता का सख्य भाव है अतः उसके हेतु का उल्लेख होने से वाजपेयी जी इसे माघ की कला मानते हैं, त्रुटि नहीं। अलंकारशास्त्र में वाजपेयी जी की पकड़ कितनी गहरी है, इसका नमूना एक और उदाहरण देकर प्रस्तुत करता हूँ। मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में नीचे लिखा पद उपमा अलंकार के एक भेद के रूप में उद्धृत किया है––

सअल करण परवी सामसिरिविअरणं ण सरसकव्वस्स
दीसइ अह व णि सम्मइ सरिसं अंसंसमेत्तेण।
(सकल करणपद विश्राम श्री वितरणं न सरस काव्यस्य
दृश्यतेऽथवा निशम्यते सदृशमंशांश मात्रेण)

अर्थात् सरस काव्य के समान समस्त इंद्रियों की परम विश्रान्ति श्री का वितरण (अन्यत्र कहीं) लेशमात्र भी न देखा और न सुना जाता है।" इसमें वर्णनीय होने से काव्य उपमेय है, उपमान का उपादान नहीं किया गया है। 'सकल करण परविश्राम श्री वितरण' साधारण धर्म तथा 'सदृश' उपमावाचक पद है। उसका किसी के साथ समास न होने से यह वाक्यगा आर्थी उपमान लुप्ता का उदाहरण हुआ। यदि यहाँ काव्यस्य के स्थान पर काव्यसमम् तथा 'सरिसम' के स्थान पर 'नूनं' पाठ कर दिया जाय तो आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार यही समासगा का उदाहरण भी हो सकता है। (काव्यप्रकाश–पृष्ठ ४५२) अब इस पर आचार्य वाजपेयी की टिप्पणी देखिए––"स्पष्ट ही यहाँ समता का निषेध है।

काव्य के समान सुखद कोई दूसरी चीज नहीं है। जहाँ समता का चमत्कारपूर्ण अभिधान हो, वहाँ उपमा अलंकार होता है। काव्यप्रकाश में भी कहा है—सादृश्यमुपमा। परन्तु यहाँ तो सादृश्य का अभाव बतलाया गया है और उसी में चमत्कार है। तब उपमा कैसे? मम्मट ने यहाँ उपमान का लोप बतलाया है और कहा है—उपमानलुप्ता उपमा अलंकार यहाँ है। किसी भी अलंकार के प्रकार—भेद में सामान्य लक्षण अनुस्यूत रहना चाहिए। उपमा के सभी भेदों में सादृश्य अभिधान आवश्यक है। लोप होता है पर जहाँ उस (लुप्त) की उपस्थिति स्वतः हो जाए। "प्रसक्तादर्शनं लोपः" यह शब्द शास्त्रीय स्थिति है। मृगाक्ष्यास्तद्वचोमृतम्'—मृगाक्षी का वह वचन अमृत है, यहाँ मृगाक्षी में उपमान लुप्त जरूर है। मृग के समान आँखें नहीं, मृग की आँखों के समान आँखें कहना है और मृगाक्षी शब्द से यह समझ लिया जाता है। मृग शब्द से उसकी अक्षि का बोध लक्षणा से प्राप्त हो जाता है। सो, अक्षि का लोप लुप्तोपमा है। लोप इसलिए कि दो बार अक्षि का प्रयोग ठीक नहीं। 'मृगलोचन लोचना' कहने में पुनरुक्ति की गाँठ आ जाती है पर उपमान 'नयन' तथा 'लोचन' का लोप करके 'मृग लोचना' 'हरिणनयना' जैसे प्रयोग होते हैं यदि उपमान का बोध किसी तरह भी न हो तो फिर उपमा संभव नहीं। लोप होता है—पर स्वेच्छालोप नहीं। वचोऽमृतम् में उपमान तो है "अमृतम" परन्तु सम्मान धर्म 'मधुर' जैसा कुछ नहीं कहा गया। उसकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है। अमृत की मधुरिमा ही प्रसिद्ध है और वचः के लिए वही अभिप्रेत है। जहाँ किसी भी तरह किसी उपमातत्व का बोध न हो, वहाँ उपमा कैसे? परन्तु टीका प्रदीपोद्योत में लिखा है कि काव्य के समान कुछ भी नहीं कहने से यह नहीं समझा जा सकता कि काव्य के समान और कुछ है ही नहीं। समझा यह जाता है कि हमारे देखने सुनने में वह चीज नहीं आई जिसे काव्य की उपमा दी जा सके, परन्तु कहीं न कहीं वह होगी ही। इस तरह यहाँ उपमान लुप्ता उपमा है। नागेश भट्ट वैयाकरण थे पर काव्यशास्त्र भिन्न चीज है। काव्य की प्रशंसा में उसकी समता का निषेध है, उसी में चमत्कार है (साम्य निषेध के चमत्कार को अनदेखा कर साम्य प्रतिपादन बताना ठीक नहीं) और आचार्य मम्मट ने जो बात कह दी उससे हटे कौन? साहित्य दर्पण और रस गंगाधर में भी बस साम्य निषेध की जगह साम्य-विधान मान कर उपमान लुप्ता उपमा अलंकार ही माना है। असम अलंकार को उपमा समझ लिया है। असम में साम्य निषेधवाच्य होता है और अन्वय में प्रतीयमान या अनुमेय। यानी असम की ध्वनि ही अनन्वय अलंकार है परंतु लोगों ने उसे भी अन्वयोपमा नाम दे दिया है। जब साम्य निषेधवाच्य होने पर उपमा तो फिर उसकी ध्वनि में भी उपमा सही।" (मेरे कुछ मौलिक विचार–पृष्ठ ४३–४४) मेरा विश्वास है कि वाजपेयी जी यदि काव्यशास्त्र पर बृहत् ग्रंथ लिखते तो जहाँ वह प्राचीन धारणाओं का प्रतिसंस्कार करते वहाँ हिन्दी के स्वतंत्र साहित्यालोचन की भी नींव लगा जाते, आज हम उनके तीन भाषणों से ही संतोष कर रहे हैं।

द्विवेदीकाल हिन्दी भाषा के परिष्कार का है, यद्यपि सभा से प्रकाशित बृहत् इतिहास के नवम भाग को उसके संपादक ने 'हिन्दी साहित्य का परिष्कार काल' कहा है।

इस शीर्षक से शुद्धिवादी साहित्य की झलक तो मिलती है, पर भाषा के स्थिरीकरण और टकसाली रूप निर्माण का जो कार्य व्याकरण और भाषाविज्ञान के क्षेत्र में इस युग में प्रारंभ हुआ, उसकी ओर ध्यान नहीं जाता। फिर इसमें खानखोजे जैसे विद्वान् का जिक्र तक नहीं है जिसने द्विवेदी जी से प्रभावित होकर, अमरीका से विज्ञान पर हिन्दी में लेख लिख कर दुर्लभ चित्रों के साथ सरस्वती में प्रकाशनार्थ भेजे। भाषा सम्बन्धी आलोचना का सूत्रपात द्विवेदी जी ने किया। नवम्बर १९०५ की सरस्वती में उन्होंने भाषा और व्याकरण शीर्षक लेख लिखकर लिखित भाषा की एकरूपता के लिए व्याकरण के प्रणयन की आवश्यकता ठहराई। शिष्टभाषा-प्रवाह और व्याकरणनिष्ठ भाषा के बलाबल पर बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्दनारायण मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा पंडित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने बड़ी ऊहापोह की। सैद्धांतिक मतभेद होते हुए भी द्विवेदी जी तथा बालमुकुन्द गुप्त इस बात पर एकमत थे कि हिन्दी का विकास और विचार-विश्लेषण उसकी निजी प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए यद्यपि द्विवेदी जी का आग्रह हिन्दी को संस्कृत परम्परा से सम्बद्ध करके देखने था। इसके लिए द्विवेदी जी का संस्कृत परिवेश तथा गुप्त जी का उर्दू परिवेश अन्तर्विरोध का मूल कारण था। शब्दों की वर्तनी की भिन्नता डा० ग्रियर्सन के इतिहास, हरिऔध के ठेठ हिन्दी का ठाट और मिश्रबंधु विनोद की भूमिका में देखने को मिलती है। यही नहीं, विभक्तियों को पदों से सटाकर लिखने या हटाकर लिखने की समस्या पर भी इस युग में विचार हुआ। गोविदनारायण मिश्र के 'विभक्ति विचार' लेख में हिन्दी विभक्तियों को प्राकृत विभक्तियों से उद्‌भूत मानने के कारण सटाकर लिखने का समर्थन है तो आचार्य द्विवेदी ने साहित्यालाप में विभक्तियों को हटाकर लिखने का समर्थन किया। सर्वप्रथम आचार्य वाजपेयी ने हिन्दी शब्दानुशासन में इस पर निर्णय दिया कि हिन्दी में विश्लिष्ट तथा संश्लिष्ट दो प्रकार की विभक्तियाँ हैं। हिन्दी में विभक्तियाँ प्रकृति से हटाकर लिखी जाती हैं, 'राम ने रोटी खाई', 'राम से कह दो', 'राम के लड़का हुआ' आदि। इसका प्रभाव तद्धित प्रत्यय 'क' पर भी पड़ा। यह भी पृथक् लिखा जाने लगा——राम का घर, परन्तु 'र'–'न' प्रत्यय सटाकर ही लिखे जाते हैं——'अपना घर' 'तुम्हारा घर'। 'ने' तथा 'रे' सम्बन्ध विभक्तियों का प्रभाव होगा। ये विभक्तियाँ सटाकर ही लिखी जाती हैं। 'अपने तो एक ही गाँ है' 'तेरे चार गाँएँ हैं।' 'ने' तथा 'रे' विभक्तियाँ सटाकर क्यों लिखी जाती हैं ? संभव है, राजस्थानी का प्रभाव हो। मतलब इतने से कि 'रे' तथा 'ने' विभक्तियों की ही तरह 'र'–'न' प्रत्यय भी सटाकर लिखे जाते हैं। सम्बन्ध विभक्ति 'ने' ही सटाकर लिखी जाती है। कर्ता–विभक्ति 'ने' में यह बात नहीं। कर्ता में लगनेवाली 'ने' विभक्ति प्रकृति से हटाकर लिखते हैं——आप ने भोजन किया ? सटाकर भी लिख देते हैं——आपने भोजन किया ? संभव है, इस कर्ता विभक्ति 'ने' से पृथक्त्व प्रकट करने के लिए ही सम्बन्ध विभक्ति 'ने' सटाकर लिखने लगे हों। 'रे' को तो सटाकर लिखने के कई कारण हैं। पंजाबी में 'साडे' 'थवाडे' में 'डे' सटाकर है। 'डे' और 'रे' एक ही चीज हैं। (तृतीय संस्करण, पृष्ठ १६१)। इसके अतिरिक्त वाजपेयी जी का सर्वत्र मत यह है कि हिन्दी में विभक्तियों के प्रयोग प्रकृति

से सटाकर नहीं, हटाकर होते हैं। (पृष्ठ १७२)। इसी मत का अनुगमन आज हिन्दी में हो रहा है। इसका उल्लेख वाजपेयी जी ब्रजभाषा व्याकरण में कर चुके हैं।

१९२१ में पंडित कामताप्रसाद गुरु के हिन्दी व्याकरण के प्रकाशन के साथ हिन्दी-व्याकरण-रचना का उत्कर्ष काल प्रारंभ हुआ। गुरु जी ने व्याकरण सम्बन्धी चिन्तन १९०० ई० से ही प्रारंभ कर दिया था जब वह रायपुर के नार्मल स्कूल में प्राध्यापक थे। काशी के चन्द्रप्रभा प्रेस से उनकी पहली पुस्तक भाषावाक्य पृथक्करण छपी। इसकी रचना में उन्होंने एथरिंगटन पादरी के भाषा भास्कर को अपना मुख्य आधार बनाया। गुरु जी की ख्याति तो हिन्दी व्याकरण से हुई क्योंकि आचार्य द्विवेदी, पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा बाबू श्यामसुन्दरदास ने इसे प्रामाणिक व्याकरण मान लिया। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा अब प्रसिद्ध आर्य संन्यासी डा० सत्यप्रकाश ने गुरु जी के आधार पर ही १९३३ में हिन्दी व्याकरण लिखा। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दुस्तानी एकेडेमी से इसी वर्ष हिन्दी भाषा का इतिहास पुस्तक मुद्रित कराई जिसमें हिन्दी के उपसर्ग प्रत्यय, संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि का परिचय दिया गया। १९४४ में श्री रामचन्द्र वर्मा की पुस्तक अच्छी हिन्दी तथा १९४६ में हिन्दी प्रयोग पुस्तक प्रकाशित हुई, वाजपेयी जी के व्याकरण चिन्तन को उद्भूत करने में इन ग्रंथों की भ्रांत धारणाओं ने बड़ा कार्य किया। १९४३ में ब्रजभाषा व्याकरण की भूमिका में जो लगभग १०३ पृष्ठों में लिखी गई थी, इन पुस्तकों की त्रुटियों की ओर उन्होंने ध्यान दिलाया—वाक्य, विभक्ति, संधि, वाच्य, विशेषण आदि का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन इस भूमिका में निहित है। विभक्तियों को सटाकर या हटाकर लिखने को उन्होंने विकल्प बताया। गुरु जी के व्याकरण की भ्रांतियों का निराकरण यहाँ हुआ है। डा० बाबूराम सक्सेना की इस मान्यता का खण्डन भी हुआ है कि हिन्दी में क्रिया में कर्मवाच्य के अलग रूप बिलकुल गायब हो गए हैं और 'जाना' सहायक क्रिया से उसका काम चला लिया जाता है। गुरु जी के इस सिद्धांत का कि जो अव्यय हो वह क्रिया विशेषण भी जरूर होगा का प्रबल खण्डन किया गया है। इसी पुस्तक में वाजपेयी जी ने लिंग निर्णय शीर्षक से महत्वपूर्ण निर्णय दिया था कि हिन्दी में शब्दों के लिंग प्रायः उसकी बनावट पर है जैसे ईकारान्त शब्द प्रायः स्त्रीलिंग होते हैं और आकारांत डंडा आदि प्रायः पुल्लिंग। इसके अपवाद भी हैं जो व्यवहार से झट समझ में आ जाते हैं। व्याकरण में शब्दों के लिंग निर्णय पर ज्यादा जोर नहीं दिया गया है और संस्कृत-व्याकरणकारों ने तो यहाँ तक लिख दिया है—'लिंगमशिष्यं लोकाश्रयात्वाल्लिंगस्य' (ब्रजभाषा व्याकरण–प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७९)।

१९४९ में 'राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रथम व्याकरण' लिखा। अहिन्दीभाषियों को शुद्ध हिन्दी लिखना-बोलना सिखाना ही उनका उद्देश्य था। यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गई है कि इसी पुस्तक में हिन्दी व्याकरण के मौलिक तथा आधारभूत सिद्धांतों की उद्भावना हुई। श्री डा० अमरनाथ झा ने इसकी भूमिका में लिखा था—'पंडित किशोरीदास वाजपेयी हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं। द्विवेदी जी के एकलव्य के रूप में इन्होंने अपने आरंभ का साहित्यिक जीवन व्यतीत किया। आज भी हिन्दी की

आप अनवरत सेवा कर रहे हैं। इस पुस्तक को लिखकर आपने राष्ट्रभाषा का बहुत उपकार किया है। मुझे विश्वास है कि इसको पढ़कर कम से कम गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल के निवासी हिन्दी व्याकरण के मूल नियमों से परिचित हो जाएँगे और इस पुस्तक से हिन्दी के प्रचार में बड़ी सहायता मिलेगी। इस पुस्तक के निर्माण का भी इतिहास है। ६, ७ अगस्त, १९४९ में अहिन्दी भाषाभाषी विद्वानों की राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद् का दिल्ली में अधिवेशन हुआ। वाजपेयी जी भी उसमें उपस्थित थे। हिन्दी व्याकरण संबंधी अव्यवस्थाओं की ओर इस अधिवेशन में ध्यान दिलाया गया। इसी कमी को पूर्ण करने के लिए वाजपेयी जी ने यह पुस्तक लिखी। वाजपेयी जी ने बताया कि 'प्राकृत अपभ्रंश की क्रियाएँ प्रायः तिङन्त-रूप में उपलब्ध हैं जहाँ कर्ता या कर्म के अनुसार क्रिया में लिंगभेद नहीं होता, परंतु हिन्दी की अधिकांश क्रियाएँ कृदन्त हैं, जहाँ कर्ता या कर्म के अनुसार क्रिया में लिंगभेद होता है। निःसंदेह देश की अन्यान्य भाषाओं ने क्रिया में प्रायः तिङन्त रूप ही लिए हैं और हिन्दी की भी कई बोलियों में तिङन्त रूप गृहीत है जहाँ कर्ता या कर्म के अनुसार क्रिया में लिंगभेद नहीं होता। परन्तु राष्ट्रभाषा का पद जिस बोली को मिला है, उसमें अधिकांश क्रियाएँ कृदन्त ही हैं और इसीलिए कर्ता या कर्म के अनुसार यहाँ लिंगभेद होता है। केवल सामान्य क्रिया 'है' तथा अन्यान्य क्रियाओं के आज्ञा या विधि आदि के रूप ही तिङन्त हैं, जहाँ क्रिया में वैसा लिंगभेद नहीं होता' (राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण—द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १)। पूरी पुस्तक १३ अध्यायों में विभक्त है तथा संज्ञा-विभक्तियाँ, सर्वनाम, विशेषण, अव्यय, क्रिया विशेषण, क्रिया प्रकरण, संयुक्त क्रियाएँ, प्रेरणा के रूप, कर्म-कर्तृक प्रकरण, नाम-धातु, पूर्वकालिक तथा क्रियार्थक क्रियाएँ, कृदन्त प्रकरण, तद्धित तथा संधि प्रकरण पर विचार हुआ है। हिन्दी की विकास परम्परा तथा हिन्दी शब्द निर्णय दो परिशिष्ट हैं। अन्तिम परिशिष्ट का बृहत् रूप हिन्दी शब्द मीमांसा के नाम से १९५८ में प्रकाशित हुआ। हिन्दी की प्रकृति, संस्कृत और विदेशी शब्द ग्रहण की पद्धति तथा वाक्य विन्यास पर इसमें मुख्यतया विचार किया गया। राष्ट्रभाषा व्याकरण की स्थापनाएँ बड़ी विचारोत्तेजक थीं। जैसे प्रकृति और प्रत्यय के बीच आनेवाले शब्दांशविकरण का विचार। उनका कहना था—संज्ञा या सर्वनाम से परे जब कोई विभक्ति आती है और बहुवचन प्रयोग करना होता है, तब बीच में यह 'ओं' विकरण आ जाता है। इसके आ जाने से अकारान्त (बालक आदि) तथा आकारान्त (लड़का आदि) पुल्लिग संज्ञाओं के अन्त्य स्वर का लोप हो जाता है और तब वह स्वररहित व्यंजन 'ओं' से जा मिलता है—बालक ने—बालकों ने, लड़के ने—लड़कों ने (द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १६)। इसी पुस्तक ने सर्वप्रथम हिन्दी को एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में स्थान दिलाया। उनका कहना था—'हिन्दी एक स्वतन्त्र भाषा है, संस्कृत से इसकी पृथक् तथा स्वतंत्र सत्ता है। संस्कृत में सकर्मक क्रियाओं के कर्म की उपस्थिति में भाववाच्य प्रयोग नहीं होते, पर हिन्दी में खूब होते हैं। हिन्दी ने संस्कृत का 'दीन' शब्द लिया और 'नाथ' भी लिया, परन्तु इन दोनों का समास करके ऐसा रूप बना दिया जो संस्कृत व्याकरण से भिन्न पद्धति पर है दीनानाथ। इस शब्द को हिन्दी से कोई निकाल नहीं सकता' (द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १९६)। वाजपेयी जी ने

१९२५ से १९६० तक के 'विचार विश्लेषण युग' में राष्ट्रीय, राष्ट्रिय, अन्ताराष्ट्रिय जैसे अनेक शब्दों के स्वरूप पर विचार किया तथा हिन्दी को परिष्कृत करने का अभूतपूर्व कार्य किया।

१९५८ में वाजपेयी जी का अमर ग्रंथ हिन्दी शब्दानुशासन काशी से प्रकाशित हुआ। इस पर पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भूमिका में लिखा था कि 'अभी तक जो व्याकरण लिखे गए हैं वे प्रयोग-निर्देश तक ही सीमित हैं। इस व्याकरण में पहली बार व्याकरण के तत्वदर्शन का स्वरूप स्पष्ट हुआ है।' इस व्याकरण की पूर्व पीठिका में वाजपेयी जी ने कुछ मौलिक उद्भावनाएँ प्राकृतों और हिन्दी के स्वरूप को लेकर की है। जैसे अपभ्रंश का जो रूप हमें साहित्य में दिखाई देता है बोलचाल की भाषा भी वैसी ही होगी, नहीं कहा जा सकता और यदि यह मान लिया जाए कि उपलब्ध प्राकृतकाव्यों में जो भाषा है, वही उस समय की जनभाषा थी तो कहना पड़ेगा कि वैसी किसी प्राकृत से हिन्दी का कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। उस प्राकृत की अपेक्षा तो संस्कृत ही हिन्दी के अधिक समीप है या फिर कोई और प्राकृत होगी जिसमें वर्ण-संहार वैसा न हुआ होगा। परन्तु उसका रूप आज हमारे सामने नहीं है। उस प्राकृत में साहित्य न रचा गया होगा। परन्तु गोरख आदि की वाणी में कुछ झलक जरूर मिल रही है। उसी प्राकृत से हिन्दी की उत्पत्ति समझिए। निश्चय ही वह कुरु जनपद की प्राकृत (या जनभाषा) संस्कृत से बहुत दूर न हटी होगी। उसी का विकसित रूप हिन्दी है (तृतीय संस्करण, पृष्ठ १३–१४)। वाजपेयी जी ने ही सर्वप्रथम बताया कि हिन्दी में संस्कृत जैसी प्रातिपदिक की स्थिति नहीं है, कारण यह कि यहाँ विभक्ति-प्रयोग की अनिवार्यता नहीं है यहाँ तो अर्थ-संकेतित शब्द ही पद है यदि वाक्य का अंश है, चाहे उसमें कोई विभक्ति हो या न हो। विभक्ति की अनिवार्यता नहीं है (तृतीय संस्करण, पृष्ठ १२०)। विभक्ति शब्द की सार्थकता उसके विशिलष्ट संश्लिष्ट-भेद, सम्बन्ध-विभक्ति और सम्बन्ध-प्रत्यय के भेद 'ने' 'इ' जैसी विभक्तियों का इतिहास, कारक विभक्ति तथा उपपद विभक्ति का भेद हिन्दी व्याकरणों में नवीन तथ्योपलब्धि के सूचक हैं। उनकी ऐसी ही नवीन चिंतना है कि हिन्दी में कोई भी शब्द हलन्त नहीं है। सभी स्वरान्त हैं। उनका कहना है कि हिन्दी के गठन में व्यंजनान्त जैसी कोई चीज है ही नहीं। यहाँ तक कि संस्कृत के तद्रूप शब्द जो हिन्दी में गृहीत हैं उनकी भी व्यंजनान्तता हटा दी गई। 'राजन्' न लेकर हिन्दी ने राजा लिया— 'राजा' को अपना 'प्रातिपदिक' बनाया, इसलिए कि व्यंजनान्त शब्द स्वीकार नहीं। इसी तरह चर्मन्, कर्म्मन् आदि के 'न्' अलग करके चर्म, कर्म जैसे अकारान्त रूप कर लिए। (तृतीय संस्करण, पृष्ठ ५९४)। व्याकरण और भाषाविज्ञान शीर्षक परिशिष्ट में डा० टर्नर और डा० सक्सेना जैसे भाषाविज्ञानियों की मान्यताओं का खण्डन करते हुए बताया गया है कि हिन्दी में विसर्गान्त शब्द नहीं होते। डा० रसाल ने अलंकार पीयूष में भामह के स्थान पर 'भामः' वर्तनी इसी भ्रम से स्वीकार की है। छः शुद्ध नहीं 'छह' शुद्ध है। हिन्दी में यशः, नभः, पयः, आयुः नहीं यश, नभ, पय, आयु चलते हैं। इसी तरह प्रत्ययों और अव्ययों को लेकर भी वाजपेयी जी ने नूतन मार्ग दिखाया है। विभक्तियों के लिए

परसर्ग नाम चलाने की नवीन किन्तु अशुद्ध प्रवृत्ति का भी वाजपेयी जी ने विरोध किया है (तृतीय संस्करण, पृष्ठ २६१)। यही नहीं संज्ञाओं की तरह कृदन्त विशेषण का चलन, कृदन्त शब्दों का हिन्दी में एक ही पद्धति पर न चलना तथा तद्धित विवेचन में प्रत्ययों के उद्भव और रूपान्तरण की चर्चा भी व्याकरण-परम्परा में उन्होंने ही की है। आलु, आलू, वान, वाला, आदि प्रत्ययों की चर्चा उन्होंने इसी संदर्भ में की है। समास तथा द्विरुक्ति का भेद बताकर सामासिक प्रत्यय 'आ' तथा 'इ' का सोदाहरण विवेचन भी उनका नवीन चिन्तन है। शब्दानुशासन की एक और वैज्ञानिक उपलब्धि है। क्रिया-विवेचन और उसमें भी सिद्ध और साध्य क्रियाओं का विवेचन। उद्देश्य या निश्चित क्रिया को सिद्ध तथा अज्ञात और विधेय क्रिया को साध्य कहा गया है। वाजपेयी जी कहते हैं—'क्रिया की निश्चयात्मक स्थिति में 'सिद्ध' (कृदन्त) प्रयोग—राम जाता है—पढ़ता है—राम गया था—पढ़ता था आदि। और क्रिया की साध्यावस्था में तिङन्त का प्रयोग—राम काम करे—सीता काम करे—आदि। कैसी वैज्ञानिक और कलात्मक भाषा है' (तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४०७)। हिन्दी में कृदन्त और तिङन्त क्रियाओं की अलग पद्धति की चर्चा भी उन्होंने की है। 'तात्पर्य यह कि कृदन्त क्रियाओं में लिंग के कारण विकार होता है किन्तु तिङन्त में नहीं हिन्दी की कृदन्त अधिक हैं तिङन्त कम। दोनों पद्धतियों के सम्मिलित प्रयोग भी हैं। संस्कृत में भी 'सुप्तः अस्ति' (सोया है) आदि कृदन्त—तिङन्त प्रयोग होते हैं। हिन्दी में वर्तमान काल की क्रियाए 'कृदन्त–तिङन्त' हैं। इसीलिए दो खंड स्पष्ट दिखाई देते हैं—पढ़ता है, खाता है, प्रथम खंड, कृदन्त और दूसरा तिङन्त। केवल 'है' तिङन्त है। इसके बिना काम चल नहीं सकता। राम पढ़ता, लड़की पढ़ती—कहने से काम नहीं चल सकता, क्योंकि ये शब्द साकांक्ष हैं (तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४०२)। इसी प्रकार सकर्मक क्रियाओं के अकर्मक प्रयोग की बात भी उन्होंने नई कही है (पृष्ठ ४४०)। यही नहीं कर्मकर्तृक प्रयोग और त्रिकर्मक क्रिया की चर्चा तथा पूर्ववर्ती भाषाशास्त्रियों के भ्रम का उच्छेद भी वाजपेयी जी ने किया है (पृष्ठ ४६०–४६८)। संयुक्त क्रियाओं पर तो उन्होंने स्वतंत्र अध्याय ही लिखा है। हिन्दी की एक विशेषता संयुक्त क्रियाओं की बहुलता भी है। विश्लिष्ट और संश्लिष्ट भेद-मूलक होते हुए भी हिन्दी में अधिकतर विश्लिष्ट रूपों का ही प्राधान्य है (पृष्ठ ४७७)। जा, लेना, देना, चूकना, लगना, पड़ना, बैठना, मरना, पाना जैसी सहायक क्रियाओं का प्रयोग-निर्देशपूर्वक विवेचन शब्दानुशासन की अन्य मौलिक विशेषता है। पूर्वकालिक तथा क्रियार्थक क्रियाओं को संयुक्त क्रिया प्रकरण से बाहर का सिद्ध कर पूर्ववर्ती मान्यताओं का अकाट्य खंडन किया गया है। वाजपेयी जी ने ब्रजभाषा व्याकरण में वाच्य को पहली बार स्पष्ट किया और नियम दिया कि गत्यर्थक धातुओं को छोड़ शेष सभी सकर्मक धातुओं के साधारण प्रयोग भूतकाल में कर्मवाच्य या भाववाच्य होते हैं परन्तु लाना क्रिया अपवाद में आई। यह भूतकाल में भी कर्मवाच्य रहती है—"राम खीर लाया" (पृष्ठ ४७७)। शब्दानुशासन में वाजपेयी जी ने बताया कि लाना क्रिया संश्लिष्ट है तथा संयुक्त क्रिया में अन्तिम क्रिया के अनुसार वाच्य होते हैं (पृष्ठ ४७८)। कर्मकर्तृक या अकर्तृक क्रियाओं में कर्ता जोड़कर 'कर्मवाच्य प्रयोग' की जो चर्चा अन्य भाषाशास्त्रियों

ने की थी उसका खंडन भी उन्होंने किया और समझाया कि कर्ता की उपस्थिति में हिन्दी में कर्मवाच्य प्रयोग होते ही नहीं हैं (पृष्ठ ४८६)। 'नामधातु और क्रिया की द्विरुक्ति' प्रकरण भी विचारोत्तेजक है। भावात्मक द्विरुक्ति को क्रिया-विशेषण से भिन्न बताना, आधिक्य प्रकट करने के लिए द्विरुक्ति तथा विशेषता देने के लिए भिन्न समानार्थक क्रिया लगाकर पुनरुक्ति की व्यवस्था देना—उसके सहज चिन्तन का फल है (पृष्ठ ५०८, ५११, ५१२)। परिशिष्ट में हिन्दी की बोलियों—राजस्थानी, ब्रजभाषा, पांचाली, अवधी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, में एकसूत्रता बताकर इनकी मौलिकताएँ बताई गई हैं। पांचाली की स्वतंत्र स्थिति का उत्थापन तो वाजपेयी जी ने सर्वप्रथम किया है, वह इसी क्षेत्र में जन्मे इसीलिए उन्होंने मातृऋण से उऋण होने के लिए यह मौलिक उद्भावना कर डाली। पंजाबी का विवेचन इसलिए किया कि खड़ी बोली के वह निकट है तथा कुरुजनपद, कुरुजांगल से सटा हुआ आगे का क्षेत्र पंजाबी बोली का क्षेत्र है (पृष्ठ ५८६)। राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से उनका यह विवेचन उल्लेखनीय है।

व्याकरण और भाषाविज्ञान के सम्बन्ध पर विचार करते हुए वाजपेयी जी डा० हर्नली, डा० टर्नर, डा० ग्रियर्सन, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या तथा डा० बाबूराम सक्सेना जैसे भाषा वैज्ञानिकों की मान्यताओं का भी ऊहापोह किया। फलतः १९५९ में 'भारतीय भाषा विज्ञान' ग्रंथ की रचना की। इसमें शब्द निरुक्ति की प्रक्रिया, भाषा-विकास, प्राकृतों के भेद, मेरठी का परिष्कार, हिन्दी भाषा संघ, भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण, दक्षिणी भाषाएँ, भाषा और बोलियाँ तथा परिशिष्ट (शब्द, अर्थ, ध्वनि, लोप, आगम) शीर्षक से भारतीय पद्धति पर सुचिन्तित भाषाविज्ञान की नींव डाली। भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण सर्वथा मौलिक है और इसमें हिन्दी संघ की भाषाओं का बंगला, मराठी, गढ़वाली, कुमायूनी, आदि के साथ नवीन दृष्टिकोण से अध्ययन प्रस्तावित है। हिन्दी वर्तनी पर व्यापक विचार करते हुए उन्होंने ९ अध्यायों की 'हिन्दी की वर्तनी तथा शब्द विश्लेषण' नामक एक कृति और लिखी है जो दिल्ली से इसके बाद प्रकाशित हुई। अलीगढ़ विश्वविद्यालय में डा० हरवंशलाल शर्मा ने वर्तनी की एकरूपता के लिए भारतीय स्तर पर एक सम्मेलन बुलवाया था, उसमें भारत प्रसिद्ध विद्वानों के मध्य वाजपेयी जी ने वर्तनी सम्बन्धी जिज्ञासाओं का समाधान किया था, प्रस्तुत पुस्तिका में वे सब बातें आ गई हैं। अस्तु, इस सारे प्रकरण को दृष्टि के मध्य रखकर कहा जा सकता है कि आचार्य वाजपेयी ने शब्द ब्रह्म का साक्षात्कार कर शब्दशास्त्र के साहित्य, साहित्यशास्त्र तथा भाषाशास्त्र—३ अंगों की मौलिक तथा सर्वथा नवीन पूर्ति की है। जहाँ वह उद्भावक होने के कारण आचार्य हैं वहाँ नियामक और व्यवस्थापक होने के कारण आचार्य पद की गरिमा बढ़ा रहे हैं। फिर यह क्यों न कहा जाय कि साहित्यिक हिन्दी के आदर्शीकरण की स्थितियों में वाजपेयी जी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। काशी और प्रयाग की शब्दशास्त्रीय चिन्तन-धारा को उन्होंने प्रकृतावस्था की ओर उन्मुख किया। उसका प्रतिसंस्कार किया। हिन्दी के टकसाली रूप का स्थिरीकरण उन्हीं के सतत प्रयत्नों का फल है। भारत की किसी भी जनभाषा का ऐसा प्रौढ़ शब्दशास्त्रीय चिन्तन नहीं मिलता। इस प्रकार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के बाद आचार्य वाजपेयी ही एकमात्र ऐसे शब्दशास्त्री हैं जिन्होंने साहित्य में एक युग का निर्माण किया है।

❀

आचार्य वाजपेयी की शैली का निदर्शन

'संस्कृति' है क्या, समझो !

(१)

संस्कृति है क्या चीज, इस पर पहले विचार करना है। 'संस्कार' और 'संस्कृति' सगे भाई-बहन हैं; यानी एक ही धातु से, एक ही उपसर्ग से, एक ही प्रक्रिया से ये दोनों शब्द बने हैं; पर अर्थ में किञ्चित् भेद हो गया है। अर्थ-भेद न होता, तो शब्द-भेद ही क्यों होता? 'अर्थभेदात् शब्दभेदः' या 'शब्दभेदात् अर्थभेदः'। 'दुर्गति' और 'दुर्गमन' में अन्तर है।

'संस्कार' शब्द के दो अर्थ मुख्य हैं—१–परिष्कार और २–संसर्गजन्य प्रभाव-विशेष। 'भाषा-संस्कार' का अर्थ है भाषा का परिष्कार। 'इसके संस्कार ही ऐसे हैं कि किसी की बात का असर नहीं पड़ता!' यहाँ 'संस्कार' का मतलब 'परिष्कार' नहीं; प्रत्युत किसी के संसर्गजन्य विचारों का या विकारों का प्रभावातिशय है। आप किसी वस्त्र में चमेली के फूल या छिला हुआ लहसुन अलग-अलग लपेट कर रख दें। घंटा-दो-घंटा रहने दें। फिर फूल लहसुन अलग कर दें। ये दोनों चीजें अलग होने पर भी कपड़े में चमेली की सुगन्ध और लहसुन की दुर्गन्ध बनी रहेगी। फूलों का या लहसुन का संस्कार कपड़े में रह गया। इस संस्कार को परिष्कार न कहा जाएगा। कुछ इसी अर्थ को लेकर 'संस्कृति' शब्द चला है। किसी जाति का जीवन बहुत लम्बा होता है—हजारों वर्षों का—पचास-पचास हजार वर्ष और इससे भी अधिक का। एक जाति में जनसंख्या भी बहुत होती है—लाखों, करोड़ों! तो, इतने लोग परस्पर भिन्न-वृत्ति-प्रवृत्ति के होते हुए भी कुछ बातों में एक से होते हैं—उनकी कुछ बातें एक-सी होती हैं। एक घर में बहुत से व्यक्ति होते हैं, भिन्न-प्रकृति–प्रवृत्ति के। परन्तु वे सब रहन-सहन, खान-पान आदि में एक-से होते हैं। जाति की भी यही स्थिति है। एक घर के व्यक्तियों की परस्पर जो स्थिति है, वही एक जाति के लाखों-करोड़ों जनों की भी। एक जाति के सब घर और कुटुम्ब अलग-अलग होने पर भी कुछ बातों में एक होते हैं। तभी तो एक 'जाति' होती है। इसे कुछ अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

घर का एक दायरा होता है, उसी तरह एक देश या राष्ट्र का भी। किसी घर में जो पैदा हो जाता है, वह उसकी सम्पत्ति-समृद्धि का मालिक या हिस्सेदार कुदरती तौर पर बन जाता है। इसी तरह जिस देश में जिसका जन्म होता है, उस पर उसका स्वत्व स्वतः सिद्ध है, जन्मसिद्ध अधिकार है। तभी तो लोकमान्य तिलक ने कहा था—'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'। घर पर जब विपत्ति आती है, तो सब के ऊपर पड़ती है। देश पर आई हुई विपत्ति भी सब को भोगनी पड़ती है। एक घर में पैदा हुए लोग कुटुम्बी कहलाते हैं और एक देश या राष्ट्र में पैदा हुए लोगों का समष्टि-नाम 'जाति' है। 'जाति' का सम्बन्ध जन्म से ही है। जिस धातु से 'जन्म' बना है, उसी से 'जाति' की भी निष्पत्ति

है। एक घर के लोगों में भी परस्पर कुछ भेद होता है, स्थिति में भी भेद होता है। कोई समाज में अत्यधिक सम्मान पा लेता है, ऊँचे पद पर पहुँच जाता है और कोई साधारण स्थिति में ही रह जाता है। कोई बहुत नीचे भी गिर जाता है। परन्तु सब का कुटुम्ब एक ही है। उच्च स्थिति के सदस्य से कुटुम्ब का सम्मान बढ़ता है और नीच से अपमान भोगना पड़ता है। इसी तरह राष्ट्र के—जाति के—किसी एक ही सदस्य से सबका सिर ऊँचा हो जाता है। और एक ही से नीचा भी हो जाता है। एक घर के व्यक्तियों के काम जैसे अलग-अलग होते हैं, उसी तरह जाति के लोग भी अलग-अलग काम करते हैं—अलग-अलग स्थिति भी उनकी होती है। परन्तु जाति से सब एक हैं।

उदाहरण लीजिए। हिन्दू जाति है, जिसमें हजारों वर्ग हैं, जिनका समावेश चार वर्णों में किया गया है। ब्राह्मण से लेकर भंगी तक, सब एक जाति के हैं—सबका जन्म हिन्दुस्तान में हुआ है। सब के संस्कार एक-से हैं—सबकी संस्कृति एक है। ब्राह्मण से लेकर भंगी तक, सभी वर्गों के हजारों स्त्री-पुरुष कहीं खड़े कर दीजिए और फिर किसी दूसरी जगह के व्यक्ति को सामने लाकर खड़ा कर दीजिए, जो उन्हें पहले से जानता न हो। फिर उससे कहिए कि उस समूह से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, लुहार, चमार, भंगी आदि वर्गों के व्यक्तियों को छाँट कर अलग कर दीजिए; तो वह सौ जन्मों में भी वैसा न कर सकेगा। क्यों? इसलिए कि वे सब एक जाति के हैं—सब हिन्दू हैं। सब की संस्कृति एक है। अच्छा, रूप से न सही, नाम-भेद से वह सब को पृथक् पृथक् वर्गशः पहचान सकेगा? हर्गिज नहीं। ब्राह्मण कहेगा—मेरा नाम केशव, बाप का नाम रामचन्द्र। भंगी भी कहेगा—नाम मेरा केशव, बाप का नाम रामचन्द्र। ब्राह्मण की लड़की भी सावित्री, सुशीला और भंगी की भी लड़की सावित्री, सुशीला। तब कैसे वर्ग-भेद होगा? वे सब एक जाति के लोग काम अलग-अलग करते हैं; बस! गरीब अमीर की स्थिति देखकर भी वर्ग-भेद पहचानना असम्भव है। संस्कृति की एकता ने एक जाति बना दी है। एक जाति में अनेक मत-मजहब होते हैं। उस एकत्रित समूह में वैदिक सनातनी, आर्य-समाजी, वैष्णव, शैव सभी तरह के लोग होंगे और अवैदिक, जैन, बौद्ध आदि भी। कुछ 'ला-मजहब' और नास्तिक भी होंगे। क्या कोई पहचान सकता है कि आर्यसमाजी कौन है और जैन कौन है? आस्तिक और नास्तिक (जाति में) सब एक हैं। संस्कृति की एकता उन्हें पृथक् नहीं होने देती। उनका वर्गशः या मतशः पार्थक्य जातीय एकता का बाधक नहीं हो सकता; क्योंकि एक जाति की एक ही संस्कृति होती है और सांस्कृतिक एकता सब को एक किए रहती है।

किसी जाति की संस्कृति बहुत लम्बे अरसे से चले आ रहे पुरखों के जीवन-प्रवाह के समुदित संस्कार ही हैं। वे संस्कार जाति-जीवन में इस तरह घुल-मिल जाते हैं कि उन्हें कोई अलग कर नहीं सकता। वे संस्कार विचार में, आचार में, भाषा में, वेश-विन्यास में, खान-पान में, सर्वत्र अपनी अमिट छाप रखते हैं। यही संस्कृति है। एक संस्कृति से एक जाति की पहचान हो जाती है। एक हिन्दू संसार के किसी भी भाग में चला जाए, विशेषज्ञ जन पहचान लें गे कि यह हिन्दू है। जो लोग हिन्दू जाति की संस्कृति

से परिचित नहीं, वे कुछ न समझ पाएँगे। परन्तु कोई विशेषज्ञ भी यह नहीं बता सकता कि यह जन ब्राह्मण है, या कायस्थ है, या भंगी है। कारण, ब्राह्मण-भंगी आदि पृथक् जातियाँ नहीं, वर्ग हैं। इसी तरह बढ़ई-लुहार आदि जातियाँ नहीं वर्ग हैं। लोग भूल से इन्हें पृथक्-पृथक् जाति कहते-समझते हैं। यदि ये पृथक् जातियाँ होतीं, तो इनकी संस्कृति पृथक् होती और संस्कृति पार्थक्य से वे पृथक्-पृथक् सरलता से पहचाने भी जा सकते। ऐसा है नहीं। एक जाति है, एक नेशन है। इस (जाति या नेशन) का अपना राष्ट्र है—हिन्दुस्तान, भारतवर्ष।

'हिन्दू' न सही, 'हिन्दुस्तानी' सही

ऊपर हमने बताया कि 'हिन्दू' एक जाति का नाम है, किसी मजहब या वर्ग का नहीं। परन्तु तो भी, कुछ लोग 'हिन्दू' एक मजहब समझने लगे हैं! पूछो, इस मजहब को किसने चलाया? वेदों ने? तब जैनों को क्या कहा जाएगा? कलकत्ते के बाबू पद्मचन्द्र जैन बहुत दिन हिन्दूमहासभा के मंत्री रहे। बौद्ध भी वेद नहीं मानते; परन्तु बरमा के बौद्ध 'भिक्षु उत्तमा' हिन्दूमहासभा के अध्यक्ष थे। हिन्दुओं में ला-मजहब और नास्तिक भी हैं—सदा रहे हैं। इन्हें कभी किसी ने 'गैर-हिन्दू' नहीं कहा! तब 'हिन्दू' एक मजहब कैसे? अधिक से अधिक कहा जाएगा कि—

"जो (हिन्दुस्तान न सही) भारतवर्ष से बाहर पैदा हुए ईश्वरीय दूत (पैगंबर) हजरत ईसा या मुहम्मद साहब के मत को नहीं मानते, वे सब हिन्दू हैं।"

हम निषेधात्मक परिभाषा मान लेते हैं और 'हिन्दू' तथा 'हिन्दुस्तान' की जगह 'भारत' तथा 'भारतीय' कहेंगे। भारत एक देश या राष्ट्र और 'भारतीय' एक जाति। 'भारतीय' जाति की एक संस्कृति—'भारतीय संस्कृति'। अब इस संस्कृति के कोई भेद न होंगे। बौद्ध संस्कृति, जैन संस्कृति, वैष्णव संस्कृति, नास्तिक संस्कृति जैसे काल्पनिक न होंगे। बौद्ध संस्कृति, जैन संस्कृति, वैष्णव संस्कृति, नास्तिक संस्कृति जैसे काल्पनिक भेद उपहासास्पद हैं। 'लुहार-संस्कृति' और 'बढ़ई-संस्कृति' भी मजाक है। इसी तरह 'हिन्दू संस्कृति' और 'मुस्लिम संस्कृति' के भेद न होंगे। एक 'भारतीय संस्कृति'। बंगाल के (स्वर्गीय) राज्यपाल श्री हरेन्द्र कुमार मुकर्जी ईसाई थे। उन्हें या उनकी गृहिणी को देख कर क्या कोई पहचान सकता था कि ये ईसाई हैं? असम्भव! मैं ने उनके दर्शन कलकत्ते में एक सांस्कृतिक समारोह में किए थे। सफेद चुन्नटदार धोती, कुर्ता और बस! श्रीमती मुकर्जी एक सादी साड़ी पहने थीं। परन्तु मुकर्जी साहब ईसाई पक्के थे। जन्म भर एक मिशन में काम किया था और मृत्यु पर ईसाई-पद्धति से अन्त्य-क्रिया उनकी हुई थी। बंबई के भूतपूर्व राज्यपाल श्री महाराजसिंह भी ईसाई हैं। राज-कुमारी अमृतकौर भी ईसाई हैं। इन लोगों के नाम रूप से कोई भी इन्हें हिन्दुओं से भिन्न नहीं कर सकता। ये भारतीय जाति के हैं, मजहब से ईसाई हैं। कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष श्री व्योमेशचन्द्र चक्रवर्ती भी ईसाई थे। यहाँ (गुरुकुल कांगड़ी के जलसे पर) एक बड़े

विद्वान् ईसाई पादरी आर्य-समाज का खण्डन करने आए थे—'पं० जगन्नाथ राव'। उनके लड़के का नाम 'पं० कृपानाथ राव'। "राव" मराठा ब्राह्मण होते हैं। मैं ने पं० जगन्नाथ राव से घर का हाल पूछा। ईसाई हो जाने के बाद उन का विवाह जिस स्त्री से हुआ, वह जन्मना मुसलमान थी और ईसाई हो जाने पर भी उसका पूर्व नाम ('हमीदा') बदला नहीं गया था। पं० जगन्नाथ राव ईसाई मजहब के बड़े कट्टर प्रचारक थे। हरिद्वार में भी एक मिशनरी केन्द्र है। यहीं वे बस गये थे। उनका लड़का 'कृपानाथ राव' स्कूल में मेरा शिष्य रह चुका है, अब सेना में अच्छे पद पर है। पं० जगन्नाथ राव की लड़की का नाम 'मृदुला' था। मैं ने पं० जगन्नाथ राव से पूछा—'आप ईसाई हो जाने के बाद भी 'राव' हैं? 'बोले—'मजहब बदला है, या पुरखे भी बदल दिए?' उत्तर बहुत ठीक था। ज्वालापुर गुरुकुल महाविद्यालय के आचार्य पं० नरदेव शास्त्री भी 'राव' हैं। इनका अपना असली नाम 'नरसिंह राव' है। लाहौर में इनके विद्यागुरु आर्य-विद्वान् ने 'नरदेव' नाम कर दिया था। मैं ने पं० जगन्नाथ राव से कहा—'तो फिर राव जी तो आप के ही वर्ग के हैं।' (महाविद्यालय में पं० नरदेव शास्त्री को सब लोग 'राव जी' ही कहते हैं)। मेरे प्रश्न के उत्तर में पं० जगन्नाथ राव ने कहा—"हाँ हम दोनों 'राव' तो हैं; पर ये वेदों के माया-जाल में पड़े हैं; मैं बाहर निकल कर प्रकाश में आ गया हूँ।" मैं ने पं० जगन्नाथ राव से विदेशी मिशनरियों के बारे में भी बातचीत की थी। मैं ने कहा 'ये, लोग तो अराष्ट्रीयता फैलाते हैं! आप का इनसे क्या मेल?' उन्होंने कहा—'उन लोगों की जातीयता (नेशनेलिटी) जरूर भिन्न है; पर हम तो ईसाइयत के प्रचार में साथ हैं। जातीयता में हम अलग हैं। जातीयता में हम आपके साथ हैं। मजहब में अलग हैं।'

संक्षेप यह कि 'भारत' एक राष्ट्र, 'भारतीय जाति' यानी 'भारतीयता' जाति और इस जातीयता को अभिव्यक्त करने वाली एक 'अपनी' संस्कृति है।

बाहर के लोग

जिस घर में जिसका जन्म होता है, वह उस पर स्वामित्व रखता है, और अपने कुल की मर्यादा का ध्यान रखता है, अपने पुरखों के संस्कार लेकर चलता है। परन्तु ऐसा भी देखा जाता है कि किसी दूसरे घर में पैदा हुए लड़के को लोग 'गोद' ले लेते हैं और वह इस नये घर में आकर इसका मालिक बन जाता है। परन्तु गोद आए हुए लड़के को इस नए घर को ही 'अपना' घर समझना होता है। इसी घर के पुरखों को वह अपनाता है इसी के आचार-विचार ग्रहण करता है। परन्तु इस के मन में कदाचित् यह भी रह सकता है—रहना स्वाभाविक है—कि मैं इस घर में आ गया हूँ, पर मेरा असली अपना घर तो वह है! यानी ममता उधर भी रहती है, रह सकती है। परन्तु इस (गोद आए हुए) लड़के और लड़कों के लड़के आगे उसकी ममता एकदम छोड़ देते हैं, जहाँ से उनका वह पिता या पितामह गोद आया था। वे सुनी-सुनाई बातों से इतना जानते भर हैं कि हमारे पितामह अमुक जगह से गोद आए थे। और आगे चलकर वह स्मृति भी प्रायः नहीं रहती।

इसी तरह एक जाति किसी दूसरी जाति के घर में—उसके राष्ट्र में पहुँच जाती है। वहाँ यदि पहुँच युद्ध आदि के द्वारा विजेता के रूप में है, तो कुछ दिन तक गुप्त-प्रकट संघर्ष रहता है और फिर मेल हो जाता है। धीरे-धीरे यह नई आई हुई जाति नई जगह को अपना लेती है—उसी में घुल-मिल जाती है और वह अनेकता पुनः एकता में परिणत हो जाती है। ऐसी स्थिति में 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'—बहुत्व के आधार पर नाम-रूप ग्रहण होता है। जो धारा पहले से प्रतिष्ठित है, जो आधिक्य से भी है, उसका नाम–रूप रहता है। दूसरी उसी में विलीन हो जाती है। ऐसा नहीं होता कि इस 'संगम' के बाद न 'गंगा' और न 'यमुना' नाम रहे, वरन् 'मिश्रित' नाम की कोई नई ही नदी बन जाए! यह भी नहीं कहा जाता कि प्रयाग में गंगा और यमुना दोनों समाप्त हो गई और एक तीसरी ही नदी बन गई और इस 'मिली-जुली' नई नदी का नाम 'इलाहाबादी' नदी रख दिया जाए! गंगा में प्रारंभ से लेकर समुद्र-पर्यन्त हजारों नद-झरने मिले हैं। और बीसों नदियाँ मिली हैं। दस-पाँच तो बड़ी-बड़ी नदियाँ मिली हैं। परन्तु सब की वह मिली-जुली धारा रही आखिर 'गंगा' ही।

इसी तरह भारतीय जाति में—'इंडियन नेशन' में—बाहर से आ-आ कर शक, हूण आदि न जाने कितनी जन-धाराएँ मिलीं और खप गईं। आज कौन कहता है कि हमारे पुरखे शक या हूण थे? सब भारतीय रंग में रँग गए। किसी को शकों या हूणों का वंशज कह दो, तो वह गाली समझता है! मैं ने एक बार शब्द-व्युत्पत्ति के लिहाज से 'सक्सेना' तथा 'भटनागर' जनों को शकों आदि से कह दिया, तो लोगों ने बहुत बुरा माना! बुरा मानने की बात भी थी। भारतीयता के रंग में शराबोर कोई जन-वर्ग अपने को किसी पर-राष्ट्र से अनुस्यूत कैसे कह सकता है? दूसरा कोई वैसा कहे, तो वह बुरा क्यों न माने गा? मतलब यह कि शक-हूण आदि की चर्चा केवल इतिहास में है; यद्यपि उनके बड़े-बड़े समुदाय यहाँ रहे और इस देश पर शासन किया। फिर घुल-मिल गए। किसी ने उन विजातीय जनों को भारतीय जाति' में मिलाने के लिए कोई उद्योग नहीं किया। कोई 'शुद्धि-सभा' नहीं बनाई गई। इतिहास में ऐसा कोई जरा भी संकेत नहीं है। वे सब स्वतः भारतीय बन गए। अपने बच्चों के नाम भारतीय भाषा में रखने लगे, यहाँ का रहन-सहन और आचार-विचार ग्रहण कर लिया और बस! मत-मजहब चाहे जो मानते रहो। एक जाति में सैकड़ों मत-मजहब रह सकते हैं। कोई ईश्वर को मानता है, कोई नहीं मानता; दोनों ही 'भारतीय' हैं, यदि भारतीयता उनमें है। जब तक कोई विदेशी रंग-ढंग में डूबा रहे गा, तब तक वह 'भारतीय जाति' या 'इंडियन नेशन' का न समझा जाए गा। हो नहीं सकता, कोई हजार कहता-समझता रहे!

शक और हूण आदि तो 'भारतीय' बन कर हम में मिल-खप गए; पर आगे आने वाले कई जातियों के लोग न मिल सके—न मिले! मजहब की आड़ लेकर एक पृथक् संस्कृति का निर्माण कर लिया गया। जब दो संस्कृतियाँ हैं, तो दो जातियाँ बन ही गईं! 'संस्कृति' और 'जातीयता' प्रायः एक ही चीज है! 'हिन्दूपन' और 'हिन्दू-

संस्कृति' एक चीज समझिए। 'हिन्दू' तो एक जाति, जिसमें हजारों मत-मजहब और वर्ग, या दल हैं। परन्तु 'इस्लाम' एक मजहब है, जाति नहीं। इस मजहब के आधार पर भारत में एक नई संस्कृति का निर्माण किया गया, जिसे सब लोग 'मुस्लिम-संस्कृति' कहते हैं। एक जातीय संस्कृति, या राष्ट्रीय संस्कृति और दूसरी मजहबी संस्कृति। तुर्क-संस्कृति, अरब-संस्कृति, ईरानी संस्कृति, चीनी संस्कृति, आदि की तरह ही 'हिन्दू-संस्कृति' है, राष्ट्रपरक, न कि मत-परक। 'हिन्दू संस्कृति' और 'भारतीय संस्कृति' पर्याय-शब्द हैं। दूसरे लोग जब 'हिन्दू' एक मजहब समझने लगे, तब 'भारतीय' संस्कृति' शब्द चला। परन्तु 'मुस्लिम-संस्कृति' के साथ-साथ 'हिन्दू-संस्कृति' शब्द भी चलता ही रहा, चल ही रहा है और आगे चलेगा भी। शब्द कहाँ तक छोड़े जाएँगे। 'हिन्दू' भी भारतीय जनों को विदेशी जनों ने ही कहना शुरू किया था। इस शब्द का 'सिन्धु' से सम्बन्ध है; किसी मजहब से नहीं। इसलिए हमने—भारतीयों ने—इसे ही ग्रहण कर लिया। सिन्धु (सिन्ध नदी) से लेकर सिन्धु (पूरबी-दक्षिणी समुद्र) पर्य्यन्त, समग्र भू-भाग, आगे चलकर 'हिन्द' कहलाने लगा। 'हिन्द' एक राष्ट्र और उसकी जाति 'हिन्दू' जैसे 'नहर' से 'नेहरू'। जब 'हिन्दू' शब्द को लोग मजहब में दाखिल करने लगे, तो 'हिन्दी' शब्द चला। परन्तु इस 'हिन्दी जाति' का निर्माण, या उस जाति का नया नाम होने पर भी 'वह' पृथक् ही रही! जब दो संस्कृतियाँ, तो दो जातियाँ, तब दो राष्ट्र! आगे चलकर इस भिन्न संस्कृति—मुस्लिम तहजीब—के आधार पर एक राष्ट्र के दो टुकड़े किए गए! बीच से नहीं, कहीं-कहीं से! जहाँ-जहाँ 'मुस्लिम संस्कृति' या इस्लाम की प्रधानता थी, सब को काट-जोड़ कर एक नया राष्ट्र बना—'पाकिस्तान'।

परन्तु बचे हुए भारत में अब भी वह दूसरी संस्कृति है, उस संस्कृति के अभिमानी यहाँ कितने ही करोड़ हैं! ये लोग अब भी माँग करते हैं कि इस देश की भाषा इसी देश की लिपि (नागरी) में ही नहीं, फारसी लिपि में भी लिखी जानी चाहिए और इस भाषा में संस्कृत के नहीं, अरबी-फारसी-तुर्की आदि के शब्द रहने चाहिए। भिन्न संस्कृति के अनुरूप ये लोग सभी बातों में भिन्नता बनाए हुए हैं। अभी परसों (ता० १७–८–५६) की बात है—अखबारों में छपी है कि मुहर्रम के दिन एक बहुत बड़ी मुस्लिम भीड़ ने एक मन्दिर के सामने 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' के नारे लगा-लगा कर आसमान गुँजा दिया! हैदराबाद आदि में पाकिस्तानी झंडा फहराने की कई घटनाएँ सामने आ चुकी हैं। भला इस्लाम से और 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' से क्या सम्बन्ध? कभी कोई अफगान या ईरानी मुसलमान भी 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' और 'अफगान मुर्दाबाद' के नारे लगाता है? कभी चीन के मुसलमानों ने भी, वहाँ के बौद्धों या ईसाइयों से झगड़ कर, 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' या 'अरब जिन्दाबाद' के नारे लगाए हैं? असम्भव! उन लोगों में राष्ट्रीयता है, जातीयता है और मजहब उस (राष्ट्रीयता या जातीयता) पर हावी नहीं हो सकता। राष्ट्रीयता ही आगे बढ़ेगी। चीन बौद्ध देश है; बुद्ध की मान्यता वहाँ सर्वोपरि है। परन्तु इस का मतलब यह नहीं कि बुद्ध की जन्मभूमि (भारत) के वे मानसिक गुलाम हों। वे सब चीनी पहले हैं; बौद्ध आदि बाद में। पुराणों से तो यह

भी पता चलता है कि बौद्ध चीन ने बुद्ध के इस देश (भारत) पर सैनिक आक्रमण भी एक बार किया था। और यहाँ से पराजित होकर गया था और प्रतिज्ञा की थी कि "इस तरह राजनैतिक दृष्टि से आगे चीन कभी भी इधर मुँह न करेगा।" मतलब इतने से कि मजहब से ऊँचा दर्जा राष्ट्रीयता या जातीयता का है। जाति ही नहीं, तो मजहब कहाँ रहे गा ?

जो बात भारत में है, वही पाकिस्तान में है। पश्चिमी पाकिस्तान से 'नापाक' लोगों को, तहस नहस करके, भगा खदेड़ दिया गया है और इस तरह यह भाग तो पाक हो गया है, पूरी तरह ! परन्तु पूरबी पाकिस्तान में अभी भी बहुत से भारतीय बने हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि बँगला भाषा और बँगला लिपि का यह महत्त्व है। इस्लामिक संस्कृति वाले भी अपने काम में बँगला भाषा और बँगला लिपि का प्रयोग करते हैं। यों दोनों जगह एक भाषा और एक लिपि है। इसी एकता के कारण करोड़-डेढ़ करोड़ भारतीय अभी वहाँ हैं; यद्यपि धीरे-धीरे निकाले जा रहे हैं। यानी, पाकिस्तान के भी एक भाग में अभी तक भारतीय संस्कृति है। इन दो संस्कृतियों का परिणाम वही हो सकता है, जो होता आया है ! हो सकता है कि कभी स्वतन्त्र राष्ट्र पाकिस्तान में भी राष्ट्रीयता का उदय हो और 'फजलुलहक' जैसे अरबी नामों की जगह बँगला भाषा के शब्दों में बंगाली मुसलमान अपने बच्चों के नाम रखने लगें और अरबी ईरानी रहन-सहन आदि की जगह बंगाली रहन-सहन आदि अपना लें। हो सकता है, सिन्ध और पंजाब के मुसलमान भी अरब की भाषा में नहीं अपनी (सिन्धी-पंजाबी) भाषा में अपने बच्चों के नाम रख कर सिन्धी और पंजाबी रहन-सहन अपना लें। तब तो एक राष्ट्र, एक संस्कृति ठीक। सम्भव है, भारत के मुसलमानों से पहले पाकिस्तानी मुसलमानों में राष्ट्रीयता का जागरण हो और वे 'अल्लाबख्श' की जगह 'ईश्वरदत्त' नाम से अधिक प्यार करें। मजहब तो मना नहीं करता। हजरत मुहम्मद साहब ने या दूसरे किसी पैगंबर ने तो कहीं किसी हुक्म में ऐसा कहा नहीं कि मुसलमान जहाँ पैदा हुआ हो, वहाँ की भाषा में उस का नाम न रहे और वहाँ के रीति-रिवाज वह न माने ! पाकिस्तान के मुसलमान स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं; इसलिए उनमें राष्ट्रीयता का जागरण अधिक सम्भव है ! तुर्क नेता कमालपाशा के हाथ में जब प्रभुसत्ता आई, तो उसने अपने नाम का एक अंश बदल लिया था। 'पाशा' की जगह 'अतातुर्क' कर दिया था; इसलिए कि 'पाशा' अरबी भाषा का शब्द है; 'अतातुर्क' तुर्की भाषा का है। इस जोर से राष्ट्रीयता को पकड़ने का फल यह हुआ कि तुर्क राष्ट्र ऐसा शक्तिशाली हो गया कि संसार उधर देखने लगा। कमाल अतातुर्क ने इस्लाम नहीं छोड़ा, उसकी और प्रतिष्ठा की; परन्तु राष्ट्रीयता का जय-घोष किया। इस्लाम का मतलब यह तो नहीं कि किसी दूसरे देश के मानसिक गुलाम बन जाओ !

परन्तु भारत में और पाकिस्तान में अभी बहुत संख्या उन लोगों की है, जो मजहब को राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय संस्कृति से भी ऊपर मानते समझते हैं ! हम यह भी मान लेते हैं, मजहब को सबसे ऊपर समझिए; परन्तु मजहब के नाम पर दूसरे देशों की मानसिक दासता तो मजहब नहीं है ! दोनों चीजें अलग-अलग हैं !

संस्कृति का यह पाँचवाँ युग या पाँचवाँ अध्याय भारत में चल रहा है, जिसमें पाकिस्तान भी सम्मिलित है। राजनैतिक या शासनिक दृष्टि से राष्ट्र के दो भाग हो गए हैं—संस्कृति-भेद के नाम पर। परन्तु वस्तुतः दोनों भागों की संस्कृति एक है, जिसे आगे चल कर लोग समझें गे। इस पाँचवें सांस्कृतिक युग का यह सब से बड़ा महत्त्वपूर्ण काम है कि हम लोग संस्कृति का सही रूप समझ कर मिथ्याभिमान छोड़ दें। इससे 'एक जाति' का निर्माण होगा—एक जाति का महत्त्व समझ में आए गा—और राष्ट्र एक सूत्र में बँधकर तेजस्वी होगा।

संस्कृति के प्रादेशिक तत्त्व

किसी बहुत बड़े राष्ट्र के अंग-उपांग (प्रदेश-मण्डल आदि–) इतने-इतने बड़े होते हैं कि संसार के छोटे-छोटे स्वतन्त्र राष्ट्रों को अपनी गोद में बैठा सकते हैं। ऐसे बड़े राष्ट्रों में एक भारतवर्ष भी है। ऐसी स्थिति में जीवन का रहन-सहन और बोली-भाषा आदि में अन्तर आना स्वाभाविक ही है। यही अन्तर अवान्तर संस्कृतिभेद करता है। यदि अमरीका या रूस में अपने भारत के कुछ बंगाली, कुछ पंजाबी, कुछ मराठे और कुछ तामिल जन इकट्ठे कहीं दिखाई दें, तो कोई भी कह देगा—'ये हिन्दुस्तानी हैं'। परन्तु कोई भी विदेशी यह भेद न कर सकेगा कि इनमें कौन बंगाली है, कौन गुजराती। कोई ऐसी चीज जरूर है, जो बंगाली और गुजराती आदि में समान रूप से है। यही सामान्य वस्तु जाति-तत्त्व है। वह 'हिन्दुस्तानी-पन' है, हिन्दुस्तान की जातीयता या संस्कृति है कि लोग पहचान लेते हैं। वहाँ हिन्दुस्तानी मुसलमान में भी कोई अन्तर न दिखे गा। उस में भी हिन्दुस्तानीपन है; भले ही अन्तर कुछ हो। यह तो हुई राष्ट्र की चीज।

परन्तु प्रत्येक प्रदेश अपनी विशेष स्थिति रखता है। उस स्थिति के अनुसार उसका सामाजिक जीवन ढलता-चलता है। उस विशेषता के कारण हम पहचान लेते हैं कि यह बंगाली है, पंजाबी है, या गुजराती है। परन्तु मत-मजहब या सम्प्रदाय आदि से कोई नहीं कह सकता कि यह वैदिक है, या अवैदिक; ईश्वरवादी है या अनीश्वरवादी। प्रादेशिक संस्कृति सब में एक मिलेगी।

इन विभिन्न प्रादेशिक तत्वों को एक सूत्र में गूँथने वाली चीज है—राष्ट्रीयता, जातीयता, भारतीयता या भारतीय संस्कृति। भारतीय सभी (प्रादेशिक) भाषाओं को एक सूत्र में लाने वाली है हमारी संस्कृत भाषा। पूर्व, पश्चिम और उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में जो जन-भाषाएँ हैं, किसी न किसी प्राकृत अपभ्रंश के परिवर्तित रूप हैं। सभी प्राकृत-अपभ्रंशों की उपजीव्य संस्कृत भाषा रही है और आज की सभी प्रादेशिक भाषाओं की उपजीव्य भी संस्कृत ही है। दक्षिण भारत की भाषाओं का उद्गम पृथक् है; ऐसा भाषातत्त्वविद् कहते हैं। जान भी यही पड़ता है। परन्तु आज की सभी दक्षिण प्रदेशीय भाषाओं पर संस्कृत का उतना ही प्रभाव है, जितना अन्य प्रदेशीय भाषाओं पर। यों संस्कृत की उपजीव्यता ने भारत की सभी भाषाओं में एक-सूत्रता कायम कर रखी है।

सभी प्रदेशों के पहनावे में कुछ न कुछ अन्तर मिलेगा; पर तो भी कोई ऐसी चीज है कि सब एक जना-माने जाते हैं। स्त्रियों में धोती-साड़ी के रंग-रूप प्रति प्रदेश भिन्न

हैं; पहनने का ढंग भी भिन्न है; परन्तु तो भी सब भारतीय हैं। सिन्दूर की बिन्दी तो सभी प्रदेशों की सौभाग्यवती स्त्रियाँ मस्तक पर लगाती ही हैं। कोई भी भारतीय स्त्री अरबी पहनावे में न मिलेगी! भारतीय शब्द का यहाँ तात्विक अर्थ लीजिए।

सबसे बड़ा और सुदृढ़ एकता-सूत्र है पुरखों का एक होना। सभी प्रदेशों के भारतीय अपने को याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, राम, कृष्ण आदि का वंशज मानते हैं। एक पुरखे हैं, तब ऊपरी अनेक-रूपता अलग कैसे करेगी?

कुछ जातीय प्रतीक होते हैं, जो सब को एक किए रहते हैं। उदाहरणार्थ गौ के प्रति जो भावना-विशेष है, वह भी जबर्दस्त तत्व है, एक जातीयता के निर्माण में। किसी भी प्रदेश का 'भारतीय' ऐसा न होगा, जिसकी दूसरी भावना हो। जो अभारतीय तत्व हैं, उनकी बात अलग है।

वैदिक काल से अब तक हमारी संस्कृति में बहुत कुछ परिष्कार-परिवर्तन हुए हैं बहुत मोड़ आये हैं; परन्तु धारा वही है। यह नहीं कहा जा सकता कि हमारा जो रहन-सहन आज है, वही वैदिक युग के हमारे पूर्वजों का था। उनकी भाषा में और हमारी आज की भाषाओं में कितना अन्तर है? परन्तु तो भी हमें उस परम्परा का अभिमान है और हम उन पुरखों के नाम लेकर गर्व का अनुभव करते हैं।

एक जाति या राष्ट्र में जो एक सूत्र होता है, सब को बाँध रखने वाला, वही संस्कृति है; यह कहा जा चुका है। जाति या समाज में कुछ ऐसे भी तत्त्व होते हैं जो कुछ अलग ही चलते हैं। यदि किसी देश में मजहबी कट्टरता हुई, तो ऐसे तत्त्व एकदम नष्ट कर दिए जाते हैं--नष्ट कर दिए गए हैं, या देश से निकाल दिये गए हैं। परन्तु यदि राष्ट्र में उदारता हुई, तो वे तत्त्व भी पड़े रहते हैं। वैदिक युग से ही भारत में गौ को अधिक महत्त्व मिला। ऋषियों ने कहा कि तुम्हारा शिव (कल्याण) बैल पर है। गौ को वेदों में 'अघ्न्या' कहा गया है। यानी उसी समय से गोहिंसा जघन्य अपराध घोषित है। यह जाति-तत्त्व है। परन्तु इसके विपरीत कुछ ऐसे भी कथानक हैं, जिनसे प्रकट है कि उस युग में भी ऐसे कुछ लोग थे, जो गौ को 'अघ्न्या' नहीं स्वीकार करते थे। परन्तु इन 'कुछ' लोगों से जाति नहीं बनती है। आज भी वैसे 'कुछ' लोग हैं, हमारी हिन्दू जाति में, जो गौ को 'अघ्न्या' स्वीकार नहीं करते और गो-भक्ति का मजाक उड़ाते हैं। परन्तु तेंतीस करोड़ की जन-संख्या में ऐसे लोगों की संख्या तेंतीस से भी कम होगी; तेंतीस से आधे भी न निकलेंगे। परन्तु तो भी, एक-दो ऐसे प्रभावशाली लोग इन कुछ लोगों में हैं, जिनकी विशेषता है और इतिहास में जिनका नाम रहेगा। ऐसी स्थिति में इनके गो-विषयक विचार यदि लिपिबद्ध कर दिये जाएँ, तो दो-चार सौ वर्ष बाद लोग इस भ्रम में पड़ सकते हैं कि भारत में दो-चार सौ वर्ष पहले गौ का महत्त्व ऐसा न था! इसी तरह हमारे पूर्वजों में भी कुछ वैसे खास व्यक्ति हो गए हैं। तो भी वे और ये 'कुछ' लोग किसी दूसरी जाति के न हो जाएँगे; क्योंकि जाति का संबंध जन्म से है। सब के पुरखे एक हैं। जब तक एक पुरखे हैं, उन्हें मानते हैं, तब तक विजातीय नहीं। एक जगह इधर-उधर हो जाने पर भी अन्य बातों में एक हैं। और, बहुमत की ओर लोग खिंचते ही हैं। जो

कल तक गौ के 'अघ्न्या' होने का मजाक उड़ाते थे, वे ही आज विधि-कानून बना रहे हैं कि "गौ अघ्न्या है। इसका हनन करने वाला अपराधी है और उसे सजा दी जाएगी।" यानी जातीयता नष्ट नहीं हो सकती, नष्ट नहीं की जा सकती, उसमें कुछ हेर-फेर जरूर होता है; सो भी स्वतः, धीरे-धीरे। संस्कार धीरे-धीरे बनते हैं, धीरे-धीरे बदलते हैं और धीरे-धीरे नष्ट भी होते हैं। पहले के संस्कार हटने में और दूसरे के जमने में काफी देर लग जाती है। इसी लिए किसी जाति का कोई बड़ा समुदाय जब अन्यत्र स्थायी रूप से जा बसता है, तो वहाँ की संस्कृति लेने में देर लगती है। संस्कार मन की चीज है। यदि मन उधर न हो और ऊपर-ऊपर कोई चीज ले ली जाए, तो वह चली जाएगी। टिकेगी नहीं।

विजातीयता से संघर्ष

विजातीयता से संघर्ष होता है। ऊपर हमने बतलाया कि एक जाति की एक संस्कृति होती है और एक राष्ट्र की एक 'जाति' होती है। यदि कोई अन्यजातीय जनसमुदाय किसी अन्य राष्ट्र में जा बसता है, तो वह धीरे-धीरे वहीं घुल-मिल जाता है। परन्तु अपनी संस्कृति और जातीयता उसे अत्यधिक प्रिय है, तो फिर उससे विच्छेद सम्भव नहीं। अफ्रीका तथा लंका आदि में सामूहिक रूप से भारतीय जन बसे हुए हैं। पुश्तों से बसे हुए हैं। परन्तु वे 'भारतीय' बने हुए हैं। उन्होंने अपना हिन्दुस्तानीपन नहीं छोड़ा है। इसके लिए उन्हें कष्ट सहने पड़े——सहने पड़ रहे हैं। वे वहाँ तंग किए जाते हैं, निकाले जा रहे हैं। अफ्रीका में पिछले पचास वर्षों से यही संघर्ष चल रहा है। मजहब या संप्रदाय का सवाल नहीं, राष्ट्रीयता का सवाल है। अफ्रीका या लंका के लोग यह समझ रहे हैं कि जरूरत पड़ने पर ये लोग हिन्दुस्तान का पक्ष लेंगे, यहाँ का नहीं। इसी लिए संघर्ष है। परन्तु अफ्रीका में बसे अंग्रेज लोग भारतवासियों को खदेड़ना चाहते हैं, यह देखने की बात है! जोर-जुल्म!

यदि किसी देश में इक्का-दुक्का कुछ अन्य देश के लोग जाते बसते रहते हैं, तब वैसे संघर्ष की कोई बात नहीं उठती। कोई भय नहीं, कोई खटका नहीं। जब अधिक संख्या हो जाती है और अधिकार का सवाल उठने लगता है, तब स्थिति बदलती है। भारतवर्ष में जो विभिन्न देशों से मुसलमान आए थे, वे यहाँ मिले नहीं। उनमें अपने पुराने राष्ट्रों की राष्ट्रीयता या जातीयता का उतना जोर न था, जितना मजहब या सम्प्रदाय का और 'भारतीय' न बनने का हठ। फलतः तुर्क, अरब, ईरानी आदि सभी जातियों के मुसलमान मिल गए और सबकी एक संस्कृति बन गई, जिसको 'मुस्लिम संस्कृति' नाम दिया गया। यह मुस्लिम संस्कृति न तो अरब की संस्कृति, न तुर्की या ईरान की। सब गड्डमगड्ड; और फिर उनमें हिन्दुस्तानी रंग। इस मुस्लिम संस्कृति ने संघर्ष किया और देश का बँटवारा करा लिया। यानी संस्कृति-भेद से संघर्ष प्रायः हो जाता है। यदि संस्कृति-भेद न हो, केवल मत-मजहब या सम्प्रदाय का भेद हो, तो फिर जातीय संघर्ष नहीं होता। एक ही जाति है, तब संघर्ष कैसा! इसी लिए चीन में कभी भी बौद्ध-मुस्लिम संघर्ष नहीं हुआ और जापान में शिन्तो-बौद्ध संघर्ष नहीं हुआ।

सभ्यता और संस्कृति

यहाँ तक जो कुछ कहा गया, उससे संस्कृति का रूप स्पष्ट हो गया है। सभ्यता एक पृथक् चीज है। सभ्यता सबकी एक, संस्कृति अलग-अलग। किसी को तंग करना असभ्यता है, रास्ते में कूड़ा फेंकना असभ्यता और गंदा वातावरण रखना असभ्यता है। सभी देशों में, सभी जातियों में असभ्यता का एक ही रूप है। सभी जगह यह सभ्यता का रूप एक ही है। सो, सभ्यता और संस्कृति अलग-अलग चीजें हैं। संस्कृति संस्कार से बनती है और सभ्यता नागरिकता का रूप है।

धर्म, सम्प्रदाय और संस्कृति

धारयति मानवीयम् जगत् इति धर्मः

जो मानवीय जगत् की—मानवता की आधारशिला है, जिस पर मानवता टिकी हुई है, उसे 'धर्म' कहते हैं। हमारे धर्माचार्यों ने 'धर्म' का यह लक्षण किया है और उदाहरण के तौर पर 'अहिंसा, सत्य, अक्रोध, अस्तेय' आदि की विधि बताई है। ऐसी विधियों के अपवाद भी होते हैं—सभी विधियों के अपवाद हो सकते हैं। संसार के सभी सभ्य राष्ट्रों में मानवता के आधार-स्तम्भ यही है। सहयोग-वृत्ति आदि इन्हीं के अनुसार आधार पर हैं। हमारे धर्माचार्यों ने यह कहीं नहीं बतलाया कि 'मनु ने जो कहा है, वही धर्म है' या 'राम ने जो कहा या किया, वही धर्म है।' वह तो मत, मजहब या सम्प्रदाय है, जो किसी एक व्यक्ति के पीछे आँखें बन्द कर चलना। मनु ने तो कहा है कि बुद्धि से परीक्षा करके धर्म-अधर्म का निर्णय करना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा है कि युग के अनुसार धर्म का रूप भी बदल सकता है। 'धर्म' शब्द 'कर्तव्य' के अर्थ में है। इसी लिए राजधर्म, पितृधर्म आदि की व्याख्या की गई है—राजा के कर्तव्य, पिता के कर्तव्य, पुत्र के कर्तव्य आदि। देश, काल, पात्र आदि के अनुसार कर्तव्यों में हेर-फेर हो सकता है। किस समय कैसी परिस्थिति आएगी, कौन जानता है? मनु जी को क्या पता कि आगे देश के सामने कैसी समस्याएँ आएँगी और देश किस स्थिति में पड़ जाएगा! वहाँ तो अपनी ही बुद्धि काम देगी और कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करना पड़ेगा! इसी लिए आचार्यों ने वैसी व्यवस्था दी है।

मत, मजहब या सम्प्रदाय अलग चीज है। बुद्ध के पीछे चलने वाले 'बौद्ध सम्प्रदाय' या 'बौद्ध मत' के हैं। परन्तु बुद्ध ने भी धर्माधर्म-निर्णय में अपनी बुद्धि लगाने का उपदेश दिया है। केवल दिशानिर्देश भर कर दिया है कि 'बहुजनहिताय' काम करो और दया का आधार लो। बस, इतना उनका 'मत' है। आगे बुद्धि को छूट है।

साधारणतः 'आचार' या 'आचरण' धर्म के भीतर आते हैं और प्रेरक विचार भी, जो आचार का निर्माण करें। जिन विचारों का आचार से सम्बन्ध नहीं, उनकी गिनती 'धर्म' में नहीं, 'दर्शन' में है। दर्शन-शास्त्र भिन्न-भिन्न हैं। कोई दर्शन ईश्वर की सत्ता मानता है, कोई नहीं। भारतीय मुनियों के सुप्रसिद्ध छह दर्शनों में प्रायः आधे ईश्वरवादी हैं और

आधे अनीश्वरवादी। ईश्वरवादियों में भी परस्पर मत-भेद हैं। अनीश्वरवादी भी परस्पर विवदमान हैं। कोई सृष्टि-क्रम किसी तरह मानता है, कोई किसी तरह। इन दार्शनिक तत्त्व-विचारों का 'धर्म' से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। 'चोरी करना अधर्म है।' ईश्वर-वादी यदि चोरी करेगा, तो वह भी 'अधर्मी' कहा जाएगा। ईश्वरवादी होने के कारण वह धर्मात्मा न हो जाएगा। 'जीवों पर दया करके उन्हें सुखी रखना चाहिए' धर्म है। एक अनीश्वरवादी यदि दुखियों की सेवा में अपने को लगा देता है—गला देता है, तो वह 'धर्मात्मा' कहा जाएगा। किसी भी मत-मजहब या सम्प्रदाय मानने वाला धर्मात्मा है, यदि वह धर्म का आचरण करता है। धर्म तो मानव मात्र का एक ही समझना चाहिए—सबका आचार एक है—'जियो और जीने दो।' देश-काल आदि के अनुसार थोड़ा-बहुत परिवर्तन और बात है। धर्म में सब मत-मजहब एक हो सकते हैं और एक संस्कृति में अनेक मत-मजहब या सम्प्रदाय हो सकते हैं, होते हैं। सम्प्रदाय या मत-मजहब का भेद परलोक-सम्बन्धी बातों में होता है—ईश्वर कैसा है, वह कैसे मिलता है; इत्यादि। इन बातों का संस्कृति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सो, मत-मजहब या सम्प्रदाय एक चीज है और धर्म दूसरी चीज। संस्कृति इन दोनों से भिन्न चीज है।

(२)

आदि युग - आर्यद्रविड़ सम्मिलन

हम लोगों का विश्वास यह है कि हम आर्य जन मूलतः इसी देश के निवासी हैं; परन्तु पाश्चात्य विद्वान् और कुछ 'अपने' विद्वान् भी यह कहते हैं कि आर्य जन बाहर कहीं से आए और यहाँ बस गए। वे द्रविड़ लोगों को यहाँ के मूल निवासी बतलाते हैं। यह भेद प्रायः भाषा की प्रकृति-प्रवृत्ति के अनुसार किया जाता है। भारत के पूर्व, पश्चिम, उत्तर और मध्य की भाषाएँ, 'आर्य भाषाएँ' कही जाती हैं। यानी पंजाबी, हिन्दी, बंगला; उड़िया, गुजराती, मराठी, आदि भाषाएँ आर्य प्रकृति की हैं और दक्षिण की भाषाएँ एक भिन्न प्रकृति की हैं। उन्हें लोग 'अर्येतर भाषा' की संज्ञा देते हैं। इसलिए कि 'अनार्य भाषा' शब्द खटकने वाला है। किसी दाक्षिणात्य के आचार-व्यवहार को 'अनार्य' बतला कर देखिए कि क्या कहता है! 'अनार्य' शब्द को वह एक गाली समझता है।

खैर, मतलब यह कि 'आर्य' और 'आर्य्येतर' नाम के दो वर्गों में भारतीय भाषाओं को रख कर यह निर्णय दिया गया कि आर्येतर (द्रविड़ या दक्षिणी) भाषाओं के बोलने वाले इस देश के मूल निवासी हैं और आर्य लोग बाहर से आकर यहाँ बस-जम गए। कालान्तर में आर्य और द्रविड़ लोग मिल कर एक हो गए। दोनों की संस्कृति एक हो गई। आचार-व्यवहार में तथा देवी-देवताओं की उपासना आदि में भी आदान-प्रदान हुआ। यों एक 'भारतीय संस्कृति' बन गई;—न आर्य-संस्कृति न द्रविड़-संस्कृति। परन्तु आर्य और द्रविड़ दोनों हैं भी। आर्य तो सभी हैं—सब अपने को 'आर्य' कहते हैं। आर्य जन ही बाद में 'हिन्दू' कहलाने लगे। अंग्रेजी का सबसे अच्छा पत्र मदरास से जो

निकलता है, उसका नाम 'हिन्दू' है--'द्रविड़' नहीं ! आज कल तो 'द्रविड़' शब्द इसी तरह लिया जाता है; जैसे गुर्जर, उत्कल आदि। एक पंजाबी जन पंजाबी भी है, आर्य या हिन्दू भी। यही स्थिति सब की है।

मतलब यह कि आर्य चाहे बाहर कहीं से आए हों और चाहे यहीं के मूल निवासी हों, वे द्रविड़ों में और द्रविड़ उनमें घुल-मिल गए ; यद्यपि उनकी भाषा प्रकृतितः कुछ भिन्न आज भी है। संस्कृत ने सब भाषाओं में एकसूत्रता ला दी है ।

यहाँ हमें एक बात प्रसंग से कह देनी है। वह यह कि आर्य और अनार्य (पारसी) पुरखों में जो एक बड़े युग तक संग्राम चलता रहा, उसका सुविस्तृत उल्लेख 'देवासुर-संग्राम' के नाम से वेदों में तथा पुराणों में हुआ है। परन्तु 'आर्य-द्रविड़' संघर्ष या संग्राम की चर्चा कहीं नहीं मिलती ! क्या कारण है ? क्या संघर्ष हुआ ही नहीं ? एक जाति बाहर से आए और पहले बसी हुई जाति को पीछे धकेल कर समुद्र तक ले जाए और उसका कहीं आभास भी पुराने ग्रंथों में न मिले, बड़े आश्चर्य की बात है। इससे भी बड़ा आश्चर्य यह है कि संघर्ष हुआ ही न हो !

जब इस देश में आर्य जम-बस गए और आर्य-साम्राज्य स्थापित हो गए, तब भी कोई संघर्ष नहीं ! जब राम जी दक्षिण भारत होकर लंका विजय करने गए, तब भी कोई संघर्ष नहीं ! द्रविड़ जन कुछ तो छेड़-छाड़ करते ! यह क्या बात है कि एकदम कहीं कोई चर्चा नहीं ? यह विजातीयता का लक्षण तो नहीं है !

राम जब उधर गए, तो निःसंदेह एक दूसरी स्थिति थी। 'उत्तरापथ' और 'दक्षिणापथ' शब्द प्रसिद्ध हैं। दक्षिण-प्रदेश 'दक्षिणपथ' कहलाता था। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच में बहुत बड़ा घना जंगल था। आज का 'मध्य प्रदेश' जहाँ है, वहाँ भयंकर जंगल था। इस जंगल में कोल-भील आदि वन्य जन रहते थे। उत्तर भारत के साहसी और समाज-सुधार के प्रेमी महान् ऋषि जन अपने परिवारों के साथ इन भीषण वनों में जा बसते थे और वन्य जनों को सीधे रास्ते पर लाने का प्रयत्न करते थे। वन्य जन इधर-उधर की आर्य-बस्तियों में लूट-पाट करते रहते थे। ऋषि जनों के प्रभाव में आकर सुधर भी जाते थे। जब राम जी बन गए, तो इन लोगों ने कहा--'लेहि न बासन-बसन चुराई, इहै हमारि बड़ी सेवकाई'--आपका लटा-पटा हम नहीं चुरा लेते, येही हमारी बड़ी सेवा है ! यह ऋषिजनों का प्रभाव था। 'शबर' नाम की भी एक वन्य जाति थी ! इन पर भी ऋषियों का प्रभाव पड़ा था। एक वृद्ध शबरी ने राम का कैसा आतिथ्य किया था और राम ने भी उसे किस प्रेम से ग्रहण किया था; सब जानते हैं। इस तरह उन वन्य जातियों को मानव-संस्कृति में ऋषि जन ला रहे थे; यद्यपि वे समय-समय पर बड़े-बड़े खतरे भी उठाते थे।

ऋषियों को ये खतरे वन्य जातियों से वैसे नहीं आते थे, जैसे कि राक्षसों से। समुद्र पार लंका नाम का एक बहुत बड़ा राष्ट्र उस समय था। वहाँ 'रक्ष-संस्कृति' थी। 'रक्ष' का अर्थ यही है कि रक्षा करनेवाले, केवल आत्म-रक्षा करने वाले, यानी जो दूसरों पर आक्रमण न करें। 'रक्षस्' तथा 'राक्षस' भी कहलाते थे। परन्तु ये लोग दूसरों

पर आक्रमण किया करते थे। आज कल भी एक शब्द चल रहा है। सैनिक शक्ति को 'डिफेंस' अंग्रेजी में कहते हैं—आत्म रक्षा का साधन ! परन्तु आक्रमण दूसरों पर कैसे-कैसे होते हैं, हो रहे हैं, सामने हुए हैं; सो भी देखिए ! फिर भी 'डिफेंस' है ! 'इस्लाम' का अर्थ भी 'शान्ति' है न ! इसी तरह 'रक्ष संस्कृति' थी। राक्षस जन समुद्र पार आकर भारतीय आर्य-साम्राज्य को अपने अधीन करने के मंसूबे बाँधकर उद्योग करते थे। वे लोग द्रविड़ों को नहीं छेड़ते थे। द्रविड़ों और लंका वासियों की संस्कृति मिलती-जुलती अब भी है और लंका में अब भी तमिल लोग काफी संख्या में बसे हुए हैं। बहुत संभव है कि लंका से ही कुछ शान्तिप्रिय लोग इधर आ बसे हों और इसी लिए इन (द्रविड जनों) को राक्षस लोग उदासीन दृष्टि से देखते हों। पुराणों में कहीं भी उल्लेख नहीं कि दक्षिण के साथ शेष भारत का संघर्ष कहीं हुआ सुना नहीं कि द्रविड़ों ने (शेष) भारतीयों को सताया।

हाँ, तो लंका के चतुर और साहसी राक्षस इधर आकर बस जाते थे। बीच के वन्य प्रदेशों को जैसे ऋषि जन प्रभावित करते थे, उसी तरह ये लंकावासी (और भारत-प्रवासी) राक्षस अपने कब्जे में लाने का उद्योग कर रहे थे। बीच का इतना बड़ा प्रदेश अधीन-प्रभावित कर लेने पर फिर उत्तर भारत सर करना तो बहुत सरल था। नासिक के इधर-उधर तो लंका के बड़े अधिकारी खर-दूषण ने अपने पाँव अच्छी तरह जमा लिए थे। वहीं से वे कार्य-संचालन करते थे। इन की स्त्रियाँ भी साहसी थीं, काम करती थीं। राक्षस लोग यक्ष जाति से विवाह आदि भी करते थे। यह भी एक बड़ा षड्यन्त्र था। अयोध्या से कुछ ही पूर्व एक यक्ष-जनपद था। वहाँ का शासक एक यक्ष था। उसने अपनी लड़की 'ताटका' का विवाह एक प्रभावशाली राक्षस से कर दिया था, जिससे 'मारीच' नाम के राक्षस का जन्म हुआ। मारीच में कुछ यक्ष-(भारतीय) रक्त का भी जोर था और इसी लिए इसने वैसी प्रवृत्ति पाई थी। रावण को इसने बहुत समझाया बुझाया था; परन्तु था तो राक्षस ही ! खून का बड़ा असर होता है। उस यक्ष-प्रदेश का शासक यही मारीच होता और इसका लड़का पूरा राक्षस होता। परन्तु विश्वामित्र ने पहले यही काँटा निकाला। ताटका को समाप्त करा दिया और मारीच जान बचा भागा ! नासिक पहुँच कर राक्षस-मण्डल में मिल गया ! काम भी किया, जब तक 'काम तमाम' राम ने कर दिया।

दक्षिण प्रदेश एकदम तटस्थ था ! तभी बचा रहा, नहीं तो राक्षस लोग पीस डालते। द्रविड़ प्रदेश से पश्चिम कुछ दूसरे जनपद थे, जहाँ 'हरि-संस्कृति' और 'ऋक्ष-संस्कृति' थी। आज के महाराष्ट्र तथा सौराष्ट्र समझिए। ऐसा जान पड़ता है कि 'ऋक्ष' नाम की प्रतिद्वन्द्विता में 'हरि' नाम रखा गया। 'सौराष्ट्र' 'महाराष्ट्र' नए नाम भी इसी तरह के जान पड़ते हैं। नक्षत्रों को 'ऋक्ष' कहते हैं। लंका के लोग प्रायः कृष्ण-वर्ण होते हैं और द्रविड़ भी प्रायः इसी रंग के। मराठों का रंग वैसा नहीं होता, कुछ गेहुँआ सा होता है। कदाचित् इसी वर्ण-दृष्टि से इन लोगों ने अपने को 'ऋक्ष' (नक्षत्र) कहना शुरू किया हो। इस पर पड़ोसी लोगों ने अपने को 'हरि' कहना शुरू किया होगा।

सूर्य-चन्द्र का नाम 'हरि' भी है। संस्कृत में 'ऋक्ष' और 'हरि' नाम रीछों के और बन्दरों के भी हैं। बाद में --या दूर के--लोगों ने इन दोनों शब्दों का गलत अर्थ समझा। भ्रम बढ़ा। इसी का परिणाम है नए नामों की कल्पना--महाराष्ट्र, सौराष्ट्र। जब हरि-प्रदेश और ऋक्ष-प्रदेश सुविस्तृत शेष आर्य-प्रदेश से मिल कर एक हो गए, तो 'महाराष्ट्र'-'सौराष्ट्र' नाम ठीक ही हुए। राष्ट्र से महाराष्ट्र। बहुत दिन बाद कहीं से गुर्जर और जाट आए और बस गए, ऐसा लोग कहते हैं। ये पर्वतीय जन थे। गुर्जर लोग आगे बढ़े और 'गुजरात' बनाया।

इन 'ऋक्ष' और 'हरि' प्रदेशों पर भी राक्षस लोग आक्रमण करते रहते थे। अंगद-रावण-संवाद में भी इसका जिक्र आया है। महाबली बाली ने रावण को खूब छकाया था। समय आया, जब राम जी के नेतृत्व में ऋक्षों ने और हरि जनों ने सदा के लिये काँटा दूर कर दिया। हरि-नरेश सुग्रीव और महान् हरि-सेनापति अंगद-हनुमान ने युद्ध-कौशल दिखाया, तो ऋक्ष इंजीनियरों ने अपनी कला का कौशल प्रकट किया। परन्तु लंका देश से वैर नहीं, उस व्यक्ति को मिटा दिया, उस का प्रभुत्व समाप्त कर दिया, जो बड़े-बड़े सपने देख कर संसार को तंग कर रहा था। उसके भाई को ही वहाँ का 'सर्वप्रभुता-सम्पन्न' शासक बना कर सदा के लिए मैत्री स्थापित कर दी। परन्तु हमारा यह देश सीता-हरण के उस अपमान को नहीं भूला और प्रति वर्ष हम--ब्राह्मण लोग--रावण के पुतले में आग लगा कर अपनी भावना प्रकट करते हैं।

यह आश्चर्य की बात है कि लंका में भी प्रायः वही संस्कृति उस समय थी, जो कि भारत में, आर्य-जाति में। लंका में भी वर्ण-व्यवस्था थी। रावण भी ब्राह्मण था और वेदों का मार्मिक व्याख्याता था, शिव-उपासक था। जब लंका में वेद-प्रतिष्ठा और चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था थी, तो भारत के द्रविड़ों में भी जरूर रही होगी। ऋक्ष तथा हरि जनों में भी व्यवस्था थी। उस समय संस्कृत अन्तर-राष्ट्रीय भाषा थी, जैसे आज-कल अंग्रेजी है। परन्तु अंग्रेजी की तरह--देश-देशान्तरों के एक विशिष्ट वर्ग में ही संस्कृत का पठन-पाठन था। साधारण जनों की प्रादेशिक भाषाएँ अपनी थीं। संस्कृत के अतिरिक्त, देश की एक कोई जन-भाषा भी ऐसी थी जिसे देश भर के लोग समझते बोलते थे। इसे साधारणतः 'जन-भाषा' या 'मानुषी भाषा' कहते थे। संस्कृत 'देवभाषा' कहलाती थी, जैसे अंग्रेजी 'जेंटिल मैन'--भाषा। विशिष्ट जन 'द्विजाति' कहलाते थे--सुसंस्कृत जन। जब लंका पहुँच कर छिपे-छिपे सीता से बात-चीत करने की इच्छा हनुमान ने की तो भाषा की समस्या सामने आई। हनुमान की हरि-भाषा सीता जी न समझ सकेंगी, यह निश्चय था। साथ ही न हुआ था। हनुमान जी अपनी भाषा के अतिरिक्त, देवभाषा तथा भारतीय जनभाषा भी जानते थे। उन्होंने सोचा कि संस्कृत में बात करना ठीक नहीं; क्योंकि--

'रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति'

सीता समझेंगी कि यह रावण संस्कृत में बोल रहा है और वे डर जाएँगी। रावण भारत की जनभाषा से परिचित न था और इस लिए अन्तर-राष्ट्रीय (संस्कृत) भाषा में

भारतीयों से बात करता था। भारत की उच्चकुलीन स्त्रियाँ संस्कृत से अभिज्ञ होती थीं। परन्तु हनुमान ने संस्कृत में वार्तालाप करना उचित न समझा और फिर 'मानुषं वाक्यम्' का माध्यम अपनाया।

निःसन्देह उस समय द्रविड़ों में भी वेद-सम्मान तथा वर्ण-व्यवस्था की प्रतिष्ठा रही होगी। आज भी वेदों का विधिवत् सस्वर पाठ जैसा दाक्षिणात्य करते हैं, वैसा अन्यत्र कहीं भी सुनने में नहीं आता। बौद्ध मत ने जब भारत में वैदिक धर्म और वर्णव्यवस्था की कमर तोड़ दी, तब दक्षिण प्रदेश सामने आया और शेष सम्पूर्ण भारत का गुरु बना। शंकर, विष्णुस्वामी, निम्बार्क, रामानुज आदि आधुनिक युग के प्रायः सभी धर्माचार्य दाक्षिणात्य थे। इस तरह दक्षिण भारत ने देश से आनृण्य प्राप्त किया—इधर से उधर जो कुछ कभी दिया गया था, उसका भरपूर बदला चुका दिया। देश ने दक्षिण भारत का गुरुत्व स्वीकार किया। श्री शंकराचार्य के द्वारा प्रतिष्ठित मठ-मन्दिरों में अब तक दाक्षिणात्य ब्राह्मण ही पूजा-अर्चा करते हैं। वृन्दावन के श्रीरंग-मन्दिर के पुजारी भी दाक्षिणात्य (रामानुजीय वैष्णव) ब्राह्मण ही होते हैं। द्रविणों में भी ब्राह्मणों के पाँच अवान्तर भेद उसी तरह हैं, जैसे उत्तर भारत में। 'पञ्च गौड़' 'पञ्च द्रविड़' प्रसिद्ध हैं। संस्कृत साहित्य के प्रौढ़तम विद्वान् जैसे दाक्षिणात्यों में हुए हैं, वैसे शेष भारत में अन्यत्र कहीं भी नहीं और उतने नहीं। आज भी यही स्थिति है।

परन्तु एक विचित्र बात है। इधर शेष भारत के आधुनिक किसी भी धर्माचार्य का प्रभाव दक्षिण भारत पर नहीं पड़ा! कबीर, नानक आदि संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ थे; इस लिए उधर प्रभाव न पड़ा होगा। महाराष्ट्र और गुजरात के सन्त भी साधारण जन-भाषा में ही उपदेश देते थे। बंगाल के कृष्ण चैतन्य देव आदि वैष्णव - आचार्य अवश्य संस्कृत का माध्यम रखते थे; पर इनकी भी पहुँच दक्षिण भारत में न हुई! समझा होगा कि जो वैष्णव धर्म दक्षिण से ही उधर गया, उसी की एक नई शाखा को यहाँ लाने की क्या जरूरत! आधुनिक 'आर्य-समाज' आदि से भी दक्षिण भारत प्रभावित न हुआ। स्वामी दयानन्द सरस्वती संस्कृत के विद्वान् थे, वेदों के व्याख्याता थे; परन्तु दक्षिण भारत में जो गम्भीर पाण्डित्य है, वह कुछ और चीज है। सम्भव है, इसी का अभिमान हो कि वहाँ किसी दाक्षिणात्येतर का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

अपने-अपने अन्दाजे

आर्यों और द्रविड़ों के बारे में विद्वानों के भिन्न-भिन्न अनुमान-मत हैं। पहले कह आए हैं कि कुछ लोगों का मत यह है कि आर्य जन मूलतः यहीं के निवासी हैं। कुछ लोग कहते हैं कि उत्तर की ओर से, कहीं से, आर्य लोग 'काकेसस' के रास्ते भारत में आए। बड़े-बड़े काफलों में एक के बाद एक प्रवाह आता रहा और पूर्वागत आर्यों को आगे धकेल कर उनकी जगह बसता चला गया। आगे धकेले हुए आर्य जन अपनी बस्ती के लिए यहाँ के मूल निवासियों को आगे धकेलते रहे। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि यहाँ के मूल निवासी द्रविड़ हैं, जिन्हें धकेलते-धकेलते आर्यों ने समुद्र-तट तक पहुँचा दिया; पर समुद्र में डुबाया नहीं, न समूल उच्छेद किया।

परन्तु जैसा कि हम पहले कह आए हैं—आर्य-द्रविड़ संघर्ष का कोई उल्लेख-संकेत हमें कहीं मिलता नहीं है। उलटे, सौहार्द के लक्षण दिखाई देते हैं। तब हम वैसे राजनैतिक या सांस्कृतिक संघर्ष की कल्पना को कैसे हृदय में बसा लें? हम तो देखते हैं कि द्रविड़ों ने आर्य-संस्कृति की बहुत सी बातें स्वेच्छया ग्रहण कर ली थीं। हरि और ऋक्ष जन भी आर्य-संस्कृति से प्रभावित थे। सम्भव है, यह सब अगस्त्य आदि ऋषियों के सांस्कृतिक मिशन का फल हो! लंका तक आर्य संस्कृति पहुँच गई थी; यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से संघर्ष चल रहा था। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि आर्य-द्रविड़ संघर्ष की कल्पना पाश्चात्य विद्वानों ने किसी विशेष उद्देश्य से पैदा की और उसे हमारे सिर थोप दिया।

असली चीज कुछ और जान पड़ती है। आर्य जन चाहे यहीं के मूल निवासी हों और चाहे बाहर से आए हों; पर वे चारों ओर फैले; इसमें सन्देह नहीं। कभी-कभी एक ही जाति में संस्कृत-असंस्कृत वर्ग बन जाते हैं। आज भी निरक्षर और असंस्कृत जनता की अपेक्षा शिष्ट-संस्कृत वर्ग अपने को कुछ भिन्न समझता है और बहुत से शिष्ट-संस्कृत जन ऐसी अलग बस्ती बना कर रहना पसन्द करते हैं जहाँ वैसे (साधारण या निम्न श्रेणी के) किसी भी व्यक्ति का कोई झोपड़ा न हो! इन वेचारों की बस्ती अलग पड़ जाती है। सम्भव है भारत के मूल निवासियों में ही आर्य (शिष्ट)* तथा वन्य (कोल-भील आदि) के दो भाग हो गए हों। जैसे-जैसे सांस्कृतिक विकास के कारण नगर बसते गए हों, वैसे ही वैसे वन और वन्य जन उधर हटते गए हों। हमारा आग्रह यहाँ यह नहीं है कि आर्य जन मूलतः यहीं के निवासी ही हैं; बाहर से आए ही नहीं। परन्तु एक सम्भावना भर दी है कि ऐसा भी हो सकता है। आर्य चारों ओर फैले!

उधर हरि तथा ऋक्ष नाम की जातियाँ जो बसती थीं और जिनका सामाजिक विकास भी स्वतंत्र रीति से होकर राज-व्यवस्था आदि सब कुछ अपना था, उनके बारे में भी वही कुछ कहा जा सकता है, जो कि आर्यों के एक भाग के बारे में ऊपर कहा गया है। सम्भव है, वन्य वर्ग के ही ये दो बड़े भाग सुसंस्कृत हो कर इन दो नई जातियों के रूप में आ गए हों। आर्यों की संस्कृति भी, कुछ हेर-फेर के साथ उस समय के हरि और ऋक्ष जनों में दिखाई देती है, जब कि हम रामायण आदि देखते हैं।

हरि तथा ऋक्ष जनों के प्रदेशों से पूर्व एक भिन्न प्रकृति के जनपद अवस्थित हुए। इन्हीं को इतिहासकार सामान्यतः 'द्रविड़' कहते हैं। सम्पूर्ण भारत की आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं से द्रविड़ भाषाओं की प्रकृति भिन्न है; परंतु संस्कृत के कारण वे एकदम हमारे समीप हैं। इस भाषा-भेद के कारण लोगों ने आर्यों में और द्रविड़ों में भेद किया और कल्पना की यह कि द्रविड़ यहाँ के मूल निवासी हैं और आर्य बाहर से आए। आकर इन्हें खदेड़ते-रगड़ते समुद्र-तट तक ठेल ले गए! इस कल्पना का कोई आधार नहीं है।

ऐसा जान पड़ता है कि कुछ लोग दूर-दूर से इस ओर आए—समुद्री मार्ग से। भाषाविज्ञान वाले कहते हैं कि द्रविड़ भाषाओं में कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो आस्ट्रेलिया तक की भाषा में पाए जाते हैं! सम्भव है, वहीं से साहसी लोगों के काफले चले हों और उन में

से कुछ लंका में बस गए हों, कुछ समुद्र पार आ कर इस देश में बस गए हों। ये ही द्रविड़ हैं। द्रविड़ लोग लंका की अपेक्षा भारत के इस दक्षिणी अंचल पर अधिक सुख का अनुभव करते थे। अपनी स्वतन्त्र बस्तियाँ बना ली थीं और सामाजिक जीवन का विकास कर रहे थे। लंका में भी द्रविड़ बसे हुए थे; इस परिचय या आत्मीयता के कारण लंका के राक्षस इन्हें सताते-छेड़ते न थे। यह भी ख्याल होगा कि ये तो हमारे समीप ही हैं, चाहे जैसे अधिकार में किए जा सकते हैं। सम्भव है, यह सोचा हो कि ये लोग अपने ही हैं और जरूरत पड़ने पर भारत के विरुद्ध इनसे काम लिया जा सकता है। उस समय राजनीति की ऐसी बातें चलती रहती थीं। राम जी तो पिता की आज्ञा से वन गए थे, निर्वासित होकर; परन्तु राजनीतिज्ञ राक्षसों ने समझा कि यह एक चाल है! पिता ने एक चाल चली है और वन में राक्षसों की गति-विधि समाप्त कर के लंका की ओर राजनैतिक नजर की जाने का उपक्रम है। इसी लिए खर-दूषण ने अपनी बहन (शूर्पणखा) को भेज दिया था कि जा कर विवाह कर लो और सब भेद जा कर ले आओ। राम जी भी सब समझते थे। लक्ष्मण ने नाक-कान काट कर एक चैलेंज भी दे दिया था। स्त्री को—जहाँ तक हो सके—मारना न चाहिए बस आर्य-विधि थी। रावण ने इस चैलेंज को स्वीकार कर लिया और सीता को ले जा कर एक जगह कैद कर दिया। चैलेंज था कि हिम्मत हो तो ले जाओ। और कोई बात न थी। प्रतिपक्षी को लोक-दृष्टि में गिरा कर भी अपने पक्ष में समर्थन लिया जाता है। वैसा ही कुछ हुआ हो गा, वैसा ही लिखा गया और उसी के आधार पर रावण-दाह यहाँ होने लगा।

खैर, मतलब यह है कि द्रविड़ जनों को लंका के राक्षस न छेड़ते थे; यद्यपि हरि तथा ऋक्ष जन सताए जाते थे। ये भारत के मूल निवासी समझ कर ही सताए जाते हों गे कि यदि भारत से युद्ध हुआ, तो ये लोग अपनों का ही साथ दें गे। इन दोनों उप-जातियों पर पहले अधिकार जमाकर, तब शेष भारत को छेड़ने का विचार हो गा।

परन्तु बीच के घने सुविस्तृत जंगलों में वन्य (शबर, कोल, भील आदि) भी रहते थे। यद्यपि सुसंस्कृत आर्य जनों से ये दूर पड़ गए थे, बुरा भी मानते थे, लूट-मार भी करते थे; परन्तु फिर भी अपनापन निभाते थे—राक्षस लोग इन्हें अपनी ओर करना चाहते थे—उद्योग कर रहे थे; प्रत्येक वन में अपने शिविर बना रखे थे। उधर भारतीय ऋषि जन भी इन्हें सुशिक्षित कर के सभ्य नागरिक बनाने का उद्योग कर रहे थे। इसी बीच राम जी वन पहुँच गए!

जब राम जी वन को चले, तो लोगों ने समझाया कि दक्षिण के वनों में मत जाइए! राक्षसों के उपद्रव के कारण दक्षिण दिशा को लोग 'मृत्यु की दिशा' कहने लगे थे! कहते थे उधर मुँह मत करो, उधर की ओर पाँव मत बढ़ाओ!

परन्तु खतरे से कब तक और कहाँ तक डरा जाए? खतरे को दूर करना ही अच्छा। 'निसिचर-निकर नारि नर चोरा!' राम जानते थे कि राक्षस लोग वन में आर्य स्त्री-पुरुषों का अपहरण कर ले जाते हैं। सीता जी साथ थीं। फिर भी, वे दक्षिण की ओर मुड़े! प्रयाग से कुछ आगे चित्रकूट है। यहाँ का वन कम खतरे का था।

जहाँ आजकल कटनी, जबलपुर, सागर-इटारसी आदि हैं, वहाँ भयंकर वन था। यहीं के वनवासियों में आर्य ऋषि तथा राक्षस जन अपना-अपना काम करते थे। जब राम चित्रकूट पहुँच कर कुछ दिन टिके, तो राक्षसों के उपद्रव बढ़ गए और कुछ ऋषियों ने राम जी से कहा कि जब से आप आए हैं, तब से राक्षसों के उपद्रव यहाँ बढ़ गए हैं; इसलिए हम अब अन्यत्र कहीं जाकर बसेंगे। ऐसे लोग सपरिवार चले गए थे; परन्तु साहसी ऋषि वहीं बने रहे थे। कुछ दिन बाद राम जी और आगे बढ़ गए और होते-होते (खंडवा-भुसावल आदि के भू भाग से) पंचवटी--नासिक के क्षेत्र में जा पहुँचे, जो कि राक्षस-मण्डल का प्रमुख केन्द्र था। फिर वह सब कुछ हुआ, जिसका वर्णन रामायण आदि में है।

राम जी ने वन-वासियों से मित्रता की, ऋक्ष तथा हरि लोगों को मिला कर लंका पर चढ़ाई की। लंका पर अधिकार न करके वहाँ के राक्षसों को भी मित्र बना लिया। सम्पूर्ण भारत में एकता हुई—एक संस्कृति। द्रविड़ भी मिल गए; यद्यपि भाषा उनकी आज तक अपनी ही है। न ऋक्ष संस्कृति, न हरि संस्कृति, न द्रविड़ या आर्य-संस्कृति; सब मिल कर एक। सब 'हिन्दू'। यों एक सुविशाल हिन्दू जाति का निर्माण हुआ; यद्यपि 'हिन्दू' नाम बाद में मिला। एक चीज बन गई, नाम तो बनते-बदलते रहते हैं। राम का यह काम इतना बड़ा समझा गया कि सम्पूर्ण देश ने उनके आगे सिर झुकाया और आज भी आप चाहे जहाँ --'जय राम जी की'--सुन सकते हैं। सर्वत्र राम की वन्दना है।

आर्य, द्रविड़, हरि, ऋक्ष और कोल-भील ही नहीं, पुराने समय के यक्ष, गन्धर्व, नाग आदि ने भी (राष्ट्रीयता के सूत्र में स्वेच्छया आबद्ध होकर) इस महान् हिन्दू जाति का निर्माण किया; यद्यपि अपनी उपासना तथा प्रादेशिक या वर्गीय रीति-रिवाज आदि पृथक् भी बनाए रहे।

संसार में एक-एक लाख की आबादी के भी राष्ट्र हैं और इससे भी कम के! भारत-वर्ष एक ऐसा महान् राष्ट्र है, जिसका निर्माण प्राचीन काल में विभिन्न न जाने कितने तत्त्वों से हुआ है! शासन तथा मत-संप्रदाय की दृष्टि से पृथक्-पृथक् वे सब तत्त्व सांस्कृतिक दृष्टि से एक हो गए। यों एक 'महाजाति' या 'ग्रांड नेशन' का निर्माण हुआ। कदाचित् यही सोचकर भारतीय स्वतंत्रता के प्रतिष्ठापक श्री सुभाषचन्द्र बोस ने उस राष्ट्रीय भवन का नाम 'महाजाति-सदन' रखा था, जो कि आज भी तदवस्थ रूप में खड़ा रो रहा है—श्री सुभाषचन्द्र बोस के वियोग में तड़प रहा है!

यक्ष, ऋक्ष, हरि आदि की तरह नाग आदि अन्य जनों के भी प्रदेश थे, शासन थे। 'नाग' का अर्थ है—'पहाड़ी'। 'नग' माने पहाड़, वहाँ के लोग 'नाग'। नाग-कन्याओं की सुन्दरता का जो वर्णन है, उसे आज आप भी पर्वतीय प्रदेशों में प्रत्यक्ष कर सकते हैं। नाग-जन भी सुविशाल महाजाति में घुल-मिल गए।

'नाग' से 'नागा' भिन्न हैं। 'नागा' शब्द 'नग्न' से निष्पन्न है। 'नंगा' विशेषण है और 'नागा' एक समुदाय का वाचक है। जंगल में, पहाड़ों पर रह कर वैसा ही जीवन

बिताते हैं—नग्न या अर्द्ध-नग्न अवस्था में रहते हैं, वे 'नागा'। भारत की पूर्वोत्तर सीमा पर नागा-आबादी है। अब नागा-प्रदेश में प्राचीन काल का वह वन्य-जीवन भी है, जिसकी कथाएँ हम पुराणों में पढ़ते हैं और साथ ही कुछ लोग वहाँ इतने शिक्षित भी हो गए हैं कि किसी भी सभ्य समाज में आसन पाने के अधिकारी हैं। अपने उस कदीमी रहन-सहन और रीति-रिवाज को ये गर्व के साथ अपनाए हुए हैं और इसीलिए शेष भारतीय जाति से पृथक् दिखाई देते हैं। परन्तु कभी न कभी ये भी सुसंस्कृत भारतीय बन जाएँगे।

(३)

शक-हूण आदि

हम पिछले परिच्छेद में कह आए हैं कि सांस्कृतिक एकता से एक महान् जाति का निर्माण कैसे हुआ! कहने को यह इतनी जल्दी कह दिया गया और आप दस मिनट में ही वह सब पढ़ गये होंगे; परन्तु वह उतना बड़ा और वैसा महत्त्वपूर्ण काम सैकड़ों वर्षों में नहीं, हजारों वर्षों में जाकर पूरा हुआ होगा। किसी संस्कृति का निर्माण होने में और उसका उस तरह स्वेच्छा-प्रसार होने में समय लगता है।

एक जाति में सब तरह के मत और वर्ग रहते हैं; यह सब जानते हैं। शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से अनेक जगह बिखरे हुए लोगों में भी सांस्कृतिक एकता रहती है, रह सकती है। लंका में राक्षस-राज्य और दक्षिण में द्रविड़-राज्य, उधर हरि-राज्य और ऋक्ष-राज्य, कहीं यक्ष-राज्य और कहीं नाग-राज्य। इधर उत्तर भारत में सूर्यवंशीय और चन्द्रवंशीय क्षत्रिय-राज्य। यों एक संस्कृति और एक जाति बन जाने पर भी शासनिक एकता न थी। कभी-कभी एक दूसरे पर चढ़ाई भी कर देते थे। कभी कोई पराक्रमी बहुत से राज्यों पर अपना अधिकार जमा कर छोटा-मोटा साम्राज्य बना लेता था। इस तरह तलवार के जोर से बनाए हुए साम्राज्य कभी छिन्न-भिन्न भी हो जाते थे। ऐसी स्थिति में बाहरी आक्रमण संभावित ही हैं। लोगों ने आक्रमण किए। शक-हूण आदि न जाने कितनी बाहरी जातियों ने इस देश पर आक्रमण किए। संगठित मुकाबला न हो सकने के कारण वे घुस आए और बहुतों ने यहाँ बहुत दिनों तक शासन किया। चूँकि यहाँ कोई एक ही मजहब रखने की कट्टरता न थी—मजहबीपन न था—सब लोग स्वतंत्रता से चाहे जो मत मानते थे, या नहीं मानते थे; इस लिए कोई साम्प्रदायिक संघर्ष न हुआ। बाहर से विजेता के रूप में समय-समय पर आए हुए शक-हूण आदि इसी हिन्दू जाति में खप-मिल गए। कोई क्षत्रिय, कोई ब्राह्मण, कोई वैश्य और कोई लुहार-बढ़ई आदि बन गए। उन्हें किसी ने कभी 'शुद्ध' करके किसी वैदिक या अवैदिक सम्प्रदाय में नहीं मिलाया; वे स्वयं मिल गए। कितने ही विदेशी शासक यहाँ के 'भागवत' सम्प्रदाय में मिल गए थे। प्राप्त शिलालेखों में उनके लिए 'महाभागवत' विशेषण बड़े ही गर्व से दिया मिलता है। आगे चल कर तो यह भी सब भूल गए कि हमारे पुरखे शक थे या हूण! सब हिन्दू—न कोई शक है न हूण।

अमरीकी 'नेशन' बने अभी बहुत दिन नहीं हुए हैं; इस लिए वहाँ के लोगों को मालूम है कि हम अंग्रेज पुरखों के वंशज हैं या स्पेन, जर्मन, इटली, फ्रांस आदि के रक्त से हैं। यह जानते हुए भी अपनी नई जाति का उन्हें अभिमान है यद्यपि अंग्रेजी नस्ल की प्रमुखता के कारण वहाँ अंग्रेजी भाषा और कुछ अंग्रेजियत की छाप है। यह सब को स्वीकार है। फ्रांस, स्पेन, या इटली आदि की नस्लें यह नहीं कहतीं कि हमारी (फ्रांस आदि की) भाषाएँ भी यहाँ चलनी चाहिए। उन सब ने एक पृथक् जातीयता या राष्ट्रीयता का निर्माण कर लिया है। कालान्तर में लोग भूल जाएँगे कि हम किस (दूसरे) देश के वंशज हैं। वैसा कहना समझना उन्हें सह्य भी शायद न होगा। परन्तु वहाँ के मूल निवासी (नीग्रो) लोगों को वे आज भी पृथक् समझते हैं और शायद बहुत दिनों तक समझते रहें। हमारे देश में वैसा या उतना भेद-भाव कभी नहीं रहा। रामायण आदि की कथाओं से भी स्पष्ट है। सम्भव है—जैसा कि हम पीछे कह आए हैं—भारत के कोल-भीलों को यहाँ का मूल निवासी कहना और आर्यों को बाहर से आए हुए बतलाना एक भ्रमात्मक कल्पना ही हो और इसी देश के मूल निवासी नागरिक (शिष्ट, आर्य) तथा तदितर (वन्य, जंगली); इन दो भेदों में विभक्त हो गए हों! जो नागरिक बन्धन-व्यवस्था पसंद नहीं करते, वे जंगल में रहेंगे ही और जो वन्य जन संस्कृत होंगे, वे बस्ती बसाकर एक जगह सहयोगपूर्वक रहेंगे ही। बस्तीदारी का जीवन ही संस्कृति-विकास का मूल है। नागरिकता, बस्तीदारी का जीवन, आर्यत्व एक ही चीज है। सो आदि काल में इस देश के निवासी जीवन-भेद के कारण दो भागों में बँट गए होंगे; यह आश्चर्य की बात नहीं। इसके विपरीत, यह मान लेने पर भी कि आर्य बाहर से इस देश में आए, स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं। इस देश के तथोक्त मूल निवासियों के साथ आर्यों ने वैसा हिंसात्मक बर्ताव नहीं किया, जैसा कि अमरीका में आज नीग्रो लोगों के साथ किया जाता है। जो कोल-भील नागरिक-जीवन स्वीकार कर लेते थे, उन्हें सब सिर-माथे लेते थे। सुप्रसिद्ध रानी दुर्गावती एक क्षत्रिय कन्या थी, जिसने अकबर से लोहा लिया था। उसका विवाह एक गोंड शासक से हुआ था, जिसकी राजधानी जबलपुर के पास (गढ़ा मांडला) थी। गोंड एक वन्य वर्ग, जिसे इतिहासकार भारत का मूल निवासी मानते हैं। गोंड शासक से विवाह-सम्बन्ध कर देने से किसी ने उस क्षत्रिय शासक का बहिष्कार नहीं किया था! अमरीका में कोई 'शिष्ट' किसी नीग्रो को अपनी लड़की ब्याह दे, तो उसकी दुर्दशा हो जाए!

इसी तरह ब्राह्मण, वैश्य, या अन्य वर्गों में वन्य वर्ग स्वतः खप जाते थे। इसी लिए ब्राह्मणों के, क्षत्रियों के, वैश्यों के और अन्य लोगों के वर्ग बहुत-बहुत भेदों में विभक्त हैं। इसी तरह बाहर के लोग (शक-हूण आदि) मिल गए।

यह मिलन अत्यन्त स्वारस्य से हुआ; न कोई जोर जुल्म, न कोई प्रतिबन्ध! बात बहुत स्पष्ट और विवाद-रहित है; इस लिए इसे अधिक विस्तार से कहने की जरूरत नहीं। अन्य लोगों ने बहुत विस्तार से सब लिख भी दिया है!

इस प्रकरण को हम भारतीय संस्कृति का 'द्वितीय युग' कहते हैं। बाहर से लोग शासक बन कर, तलवार के जोर से, आए और हमारी संस्कृति में मिल कर पराये न रहे —हम सब एक हो गए।

शक-हूण आदि विजातीय तत्वों ने जब भारतीय संस्कृति अपना ली, तब उनके साथ कोई भेद-भाव का बर्ताव नहीं हुआ। परन्तु जो लोग शासक के रूप में आकर विदेशी संस्कृति का ही मोह बनाए रहे, उन (विजातीय या अराष्ट्रीय) तत्त्वों का मिलन कैसे हो? कोई मनाही न पहले कभी थी, न अब है। फिर भी, हजारों वर्षों से बसे हुए लोगों ने इस देश की संस्कृति नहीं अपनाई; प्रत्युत मजहब के नाम पर इस देश के भी करोड़ों व्यक्तियों को उसी (विदेशी) रंग में रँग दिया और एक सिरदर्द सदा के लिए पैदा हो गया। इसका वर्णन अगले परिच्छेद में होगा।

जो वन्य जन लूट-मार छोड़ कर नागरिक बन जाते थे, उन्हें भी बराबर का सम्मान मिलता था। एक लुटेरे भील ने जब, ऋषियों का संग करने से, अपने संस्कार ठीक कर लिए, तो स्वयं ऋषित्व प्राप्त कर लिया। आदि-काव्य (रामायण) के रचयिता महर्षि वाल्मीकि भील ही थे और वन में रह कर लूट मार किया करते थे। बाद में उन्होंने कैसा पद प्राप्त किया? द्वापर के वाल्मीकि भंगी थे और उन्हें ऐसा सम्मान मिला कि सभी ऋषि-मुनि फीके पड़ गए! वे काम तो अपना ही करते थे; पर उनका जीवन बहुत ऊँचा था। श्रीकृष्ण ने तब तक युधिष्ठिर का 'राजसूय' यज्ञ पूर्ण घोषित नहीं किया, जब तक ससम्मान वाल्मीकि को आमंत्रित न किया गया। उन्हें राजकुल ले आने के लिए स्वयं अर्जुन को उन (वाल्मीकि) के घर जाना पड़ा था और उनके लिए विशेष रूप से खास द्रौपदी को भोजन बनाना पड़ा था। श्रीकृष्ण का निर्देश ही ऐसा था। वाल्मीकि के पधारने पर ही 'यज्ञ पूर्ण हुआ' घोषणा श्रीकृष्ण ने की।

जो लोग वन में रह कर लूट-मार करते रहते थे, वे अलग थे ही। उनके भी साधारण सामाजिक नियम थे। तीरन्दाज ऐसे थे कि गाण्डीवधारी अर्जुन को भी लूट लिया था! लुटेरों को शस्त्रधारी कौन शासक बनाना पसन्द करेगा? इसी लिए एक बहुत बड़े लुटेरे वर्ग का एक बालक जब बहुत बड़ा तीरन्दाज बन गया, तो उसका अँगूठा कटवा लिया गया था। उसे शक्तिहीन कर दिया गया था।

(४)

मुसलमानों के आक्रमण

राष्ट्र सांस्कृतिक दृष्टि से एक, परन्तु शासनिक दृष्टि से बिखरा हुआ था; यह बात हम पीछे कह आए हैं। कुछ आगे चल कर शासनिक एकता भी आने को हुई, छोटे-छोटे राजाओं पर अंकुश करके साम्राज्य बनने की स्थिति आई। बहुत दूर तक शासन एक हुआ। परन्तु साथ ही एक नई बीमारी भी घुस आई। बौद्ध मत की 'अहिंसा' का झूठा महत्त्व बढ़ा! अहिंसावाद के नाम पर देश में कायरता आ गई! लोग तलवार देख कर सिर आगे कर देने लगे—जैसी भेड़ की अहिंसा होती है! सम्राट् अशोक ने जो अहिंसा-व्रत लिया और अपनी सरकार को अहिंसा-प्रचारक मिशन बनाया, तो दूर-दूर तक बात फैल गई। किसी भी अच्छे भाव या काम का नाम लेकर ढोंग फैलता है—फैलाया जाता

है। सम्राट् के अशोक के अहिंसावाद का भी यही हुआ। आगे चलते-चलते युद्ध-भावना से एकदम वैराग्य हो गया। भय पैदा हो गया, जिसे अहिंसा तथा सहनशीलता का नाम दिया गया। किसी भी वृत्ति के अतिरेक का या अतिशय महत्त्व-ख्यापन का यही परिणाम होता है। किसी समय शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए ऋषियों ने आग की उपासना पर जोर दिया था। 'अग्निमीडे' वेद का प्रथम वाक्य है। ठंढे मत पड़ जाओ। देवासुर संग्राम का समय था। ऋषियों ने अपनी सन्तति को युद्धप्रिय बनाया--शत्रुओं का (बाहरी आक्रमण का) सामना कर के आत्म-रक्षा करने के लिए। आगे चल कर यही भावना विकृत हो गई। लोग आपस में ही लड़ने मरने लगे। छोटे-छोटे राजा लोग आपस में लड़ते-मरते रहते थे। प्रवाद था--'युद्ध में आमने-सामने कट-कट कर मर जाने से स्वर्ग मिलता है।' प्रजा को यों कटवाते रहते थे--आपसी ईर्ष्या-द्वेष के कारण। प्रजा को पशु समझ रखा था। बड़े-बड़े यज्ञ करते थे, अपना वैभव प्रदर्शित करने के लिए। धर्म के नाम पर पशु-संहार होता था। ऐसे समय में बुद्ध भगवान् पैदा हुए और उन्होंने अहिंसावाद का प्रचार किया। बुद्ध स्वयं राजकुमार थे और सब कुछ छोड़ आए थे, इसलिए बड़ा नाम था, बड़ी प्रतिष्ठा थी। नैपाल की तराई से लेकर इधर भारत के बड़े भू-भाग में छोटे-छोटे गणराज्य क्षत्रियों के थे। ये आपस में लड़ा करते थे। परन्तु बुद्ध भगवान् की सब इज्जत करते थे। 'यथा राजा तथा प्रजा'। राज-सम्मान जिसे प्राप्त हो, उसे प्रजा मानती ही है; फिर भगवान् बुद्ध तो सर्वस्व त्यागी महात्मा थे। राजा-प्रजा सब उनकी वन्दना करते थे। उस समय अहिंसावाद की जरूरत थी। उसी पर बुद्ध ने सब से ज्यादा जोर दिया। कहाँ तक अहिंसावाद की सीमा है, कब तलवार पकड़ना धर्म है; इसका जिक्र वे न करते थे। यहीं श्रीकृष्ण के कर्मयोग से भिन्नता आ गई। गीता में एकांगिता नहीं है--यथास्थिति बुद्धि का उपयोग करने का उपदेश है। खैर, भगवान् बुद्ध अपने मार्ग पर बढ़े। उन्होंने ऐहिक सुख-भोग छोड़ देने का भी उपदेश दिया, जब कि गीता में नियंत्रित और संतुलित सुख-भोग का उपदेश है। इस एकांगिता का जो परिणाम हुआ, उसकी चर्चा अभी की जाएगी। यहाँ इतना समझ लीजिए कि बुद्ध भगवान् के सामने ही, उनके परम प्रिय शिष्य, उन गणराज्यों के शासक आपस में लड़ते मरते थे--प्रजा को, सेना को गाजर-मूली की तरह कटवाते रहते थे। बुद्ध को मानते थे, उनकी अहिंसा के गीत गाते थे और व्यवहार में ऐसे थे। दूर क्यों जाते हैं, महात्मा गान्धी के युग में तो हम सब जी ही रहे हैं। उनके 'सत्य' तथा 'अहिंसा' के सिद्धांत इस देश में कितने चले ? उनके सामने ही क्या दशा थी देश की ? वह सब उनके अन्तिम भाषणों में मौजूद है। जन्म भर अहिंसा का प्रचार करके महात्मा जी ने लोगों को मरते-कटते देखा ! फिर भी सब 'महात्मा गान्धी की जय' बोलते रहे। उनकी मान्यता में कमी नहीं आई ! कैसी स्थिति है ! साक्षात् हिंसा उनके सामने आ खड़ी हुई और उसने भी हाथ जोड़ कर उन्हें प्रणाम किया, उसके बाद अपना काम ! इस हिंसा का मुकाबला हिंसा ही कर सकती थी। यदि प्रबन्ध होता, विधि-सम्पन्न शक्ति मुकाबले पर होती, तो वह दुर्घटना कैसे होती ? सभी स्थितियों में अहिंसा हिंसा को रोक लेगी, इस दृढ़ मान्यता ने धोखा दिया। सर्वत्र अहिंसा से काम नहीं चलता है। भेड़िया कभी

भी अहिंसावाद के आगे सिर न झुकाएगा। एक व्यक्ति की बात और है। भगवान् बुद्ध या महात्मा गान्धी एकान्त अहिंसावाद का पालन कर सकते हैं; परन्तु साधारण जन के लिए वह चीज वैसी नहीं है। राष्ट्र का एकदम अहिंसावादी हो जाना और भी बुरा। भेड़िया तो चाहता है कि भेड़ सदा अहिंसक रहे, आपस में भले ही पैने सींगों का उपयोग उछल-उछल कर करती रहे!

सम्राट् अशोक के बाद अहिंसा के गीत भर रह गए। सम्राट् कनिष्क बौद्ध थे, पर वैसे एकान्त-अहिंसावादी नहीं। अपना साम्राज्य दूर तक फैला लिया था। सम्राट् हर्ष ऐसे अहिंसावादी बौद्ध हुए कि व्यवहार में साक्षात् हिंसा के अवतार। एक प्रतिक्रिया थी! जनता बेबस और कायर हो गई।

मौका पाकर विदेशियों ने आक्रमण शुरू किए! सबसे पहला आक्रमण सिन्ध पर 'मुहम्मद बिन कासिम' ने किया। उस समय बौद्ध मत पंजाब और सिन्ध तक ही नहीं, आगे अफगानिस्तान तक पहुँच चुका था। सिन्ध में बौद्ध जनता ही अधिक थी। शासन एक ब्राह्मण के हाथ में था, जिसका नाम 'दाहर' था। दाहर ने बड़ी बहादुरी से आक्रमण का मुकाबला किया और वह उसी युद्ध में वीर-गति को प्राप्त हुआ। उसके कुटुम्ब ने भी अपनी आहुति दे दी। सेना शिथिल हो गई। जनता अहिंसावादिनी थी! देश के अन्य शासक तमाशा देखते रहे! सिन्ध पर विदेशी कब्जा हो गया। इसके बाद उधर से होने वाले किसी भी आक्रमण का मुकाबला सीमान्त में किसी ने नहीं किया। पंजाब को रौंदते हुए आक्रमणकारी सीधे कुरुक्षेत्र तक बेधड़क चले आते थे और देहली से कुछ दूर रोके जाते थे। जब देहली के समीप तक शत्रु घुस गया, तब मकान में घुसते कितनी देर! रोकना चाहिए था सुदूर सीमान्त से भी परे! परन्तु यहाँ तो इस लोक से कोई मतलब ही न था!

अहिंसा, दया और क्षमा का अविचारित अतिरेक तो देखिए—प्रसिद्ध है कि विदेशी आक्रमणकारी कई बार परास्त कर के पृथ्वीराज के सामने कैदी के रूप में उपस्थित किया गया और मूर्ख नरेश ने बार-बार उस आततायी को क्षमा-दान देकर वापस अपने देश चले जाने दिया! वह समझ गया था इस देश की बुद्धि को, बार-बार आक्रमण करता रहा। जानता था कि छोड़ दिया जाऊँगा और कभी तो विजय होगी ही। पृथ्वीराज तो भगाई हुई कामिनी (संयोगिता) के साथ महल में रँग-रेलियाँ करता था, सेना कटती-मरती थी। हिम्मत टूट गई! कहाँ तक मरो-मारो और क्यों? फल क्या? शत्रु को फिर छोड़ दिया जाएगा। बहाने के लिए कुछ गौएँ सामने खड़ी कर दी गईं। सेना को आड़ मिल गई। "हम गोली नहीं चलाएँगे, गौएँ मर जाएँगी।" मुहम्मद गोरी आ धमका, पृथ्वीराज को पकड़ ले गया और आँखें निकलवाकर दुर्दशा की। देश हजार वर्ष के लिए पराधीन हो गया!

सामने गौएँ खड़ी कर देने की कथा मन-गढ़न्त जान पड़ती है। वस्तुतः फौजी हार थी। गौएँ तो भगाई भी जा सकती थीं—भाग भी सकती थीं। उतनी गौएँ एक ही जगह उस तरह खड़ी कैसे रहीं? अपनी पराजय-जन्य बेइज्जती को यों कहानी

बनाकर काम किया गया। यदि घटना सच भी मान ली जाए, तो भी पृथ्वीराज दोषी है। सेना सोच सकती है कि व्यर्थ ही इतनी गाएँ और बाद में इतनी सेना काटने कटवाने से लाभ क्या, जब कि फिर शत्रु को माफ कर देना निश्चित है!

कुछ भी हो, देश पराधीन हुआ। इस पराधीनता में हमारी 'धर्मप्रियता' और 'उदारता' भी कारण हैं। बाहर वालों ने सुन रखा था कि भारत में साम्प्रदायिकता नहीं है, किसी एक सम्प्रदाय या मत-मजहब से देश बँधा हुआ नहीं है और सभी संप्रदायों के सन्त-महात्माओं को वहाँ मान्यता मिलती है। इस वृत्ति का विदेशियों ने लाभ उठाया। कहते हैं, मुहम्मद गोरी के प्रथम आक्रमण से काफी दिन पहले औलिया मुईनुद्दीन चिश्ती नाम के पहुँचे हुए फकीर ने भारत आकर अजमेर में अपना डेरा जमाया। बड़ी मान्यता हुई। चिश्ती साहब साधारण फकीर न थे। इतिहासकार बतलाते हैं कि फिर चिश्ती साहब यहाँ से चले गए थे और मुहम्मद गोरी के प्रथम आक्रमण के समय, उसी के साथ पुनः भारत आए थे। इनकी दरगाह अजमेर में बनी है, जहाँ प्रति वर्ष धूमधाम से मेला लगता है और पं० जवाहरलाल नेहरू तक उसके सामने घुटने टेकते हैं! बड़ी मान्यता है। हम यह नहीं कहते कि चिश्ती साहब ने या उनके दल के (देश में बिखरे हुए अन्य) फकीरों ने भेदियेपन का काम किया। वे तो फकीर थे! उन्हें इस दुनियादारी से मतलब क्या! परन्तु तो भी कुछ लोग कुछ और समझते हैं। इनकी समझ की काट करने को हमारे पास कोई खास तर्क-तलवार नहीं हैं। रावण ने भी महात्मा बनकर ही धोखा दिया था! कुछ परम्परा ही चली आ रही है। यदि और कुछ न समझा जाए, तो इतना तो निश्चित है कि इन मुसलमान फकीरों ने कुछ 'सांस्कृतिक' काम तो किया ही होगा। यह भी कुछ कम नहीं है!

मजहबी संस्कृति

इस देश पर भिन्न-भिन्न देशों के मुसलमानों ने आक्रमण किए और सफल होकर यहाँ अपनी ही संस्कृति के साथ बस कर राज करते रहे। इन सब देशों की संस्कृति एक नहीं, भिन्न-भिन्न है। अरब, ईरान, अफगानिस्तान आदि की अपनी-अपनी संस्कृति है; यद्यपि अरबों के आक्रमण से परास्त होकर राष्ट्र के राष्ट्र मुसलमान हो गए थे। तो भी तुर्क-संस्कृति, अरब-संस्कृति और ईरानी संस्कृति आदि रही, सर्वत्र 'मुस्लिम-संस्कृति' नहीं। परन्तु भारतवर्ष में 'मुस्लिम-संस्कृति' का निर्माण हुआ—एक मजहबी संस्कृति! इसका कारण है।

इस देश में आकर विदेशी शासक अपनी भाषा तो न भूलते थे; पर यहाँ की भाषा भी उन्हें सीखनी पड़ती थी। कालान्तर में, उनकी सन्तति-प्रसन्तति अपने उन 'मूल' देशों की भाषा भूल जाती थी। मातृभाषा के रूप में वह न रहती थी, पढ़-लिख कर सीखने से आती थी। इस देश की भाषा स्वतः सब सीख जाते थे। फिर अनेक देशों के मुसलमानों का जमघट हो गया, तो सबको एक भाषा की और अधिक जरूरत। फलतः इस देश की भाषा (हिन्दी) उन्होंने अपना ली; पर उसमें अपने मूल देशों के सांस्कृतिक शब्दों

का प्रयोग करते रहे और फारसी लिपि में लिखने लगे; जैसे कि बाद में अंग्रेजों ने इसी भाषा के लिए रोमन लिपि चला कर काम निकाला और 'रोमन हिन्दुस्तानी' नाम दिया। यह हिन्दी का मुसलमानीकरण आगे चल कर 'उर्दू' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

जैसे इस देश के लोगों को मुसलमान बनाकर उनका रंग-रूप और नाम बदल दिया जाता था वही स्थिति भाषा की भी हुई। एक ही भाषा के दो रूप हो गए; क्योंकि संस्कृति-भेद था। राष्ट्र ने सामूहिक रूप से इस्लाम ग्रहण न किया, जैसा कि ईरान आदि कर चुके थे और यहाँ आए हुए मुसलमान विजेताओं ने इस देश की संस्कृति ग्रहण न की, जैसे कि शक-हूण आदि कर चुके थे। दो धाराएँ हो गईं। एक को अपने राष्ट्र का बल और दूसरी को शासन का बल! संघर्ष सांस्कृतिक रहा और राष्ट्र ने अपनी संस्कृति छोड़ी नहीं।

'मुंशी-पण्डित' संघर्ष

शासन ने भारतीयों का एक वर्ग ऐसा बना दिया था, जो राष्ट्र तथा शासन के बीच माध्यम का काम करने लगा था। जो भारतीय फारसी आदि पढ़ कर सरकारी काम-काज में लग जाते थे, वे 'मुंशी' कहलाते थे; जैसे कि अंग्रेजी राज में अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग 'बाबू'। जो सरकारी काम नहीं करते थे, वे भी सम्मानार्थ अपने नाम के आगे 'मुंशी' शब्द लगाने लगे। यही स्थिति अंग्रेजी राज में 'बाबू' शब्द की हुई! मुंशी प्रेमचन्द और 'बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन' सरकारी नौकर न होने पर भी 'मुंशी,' 'बाबू'! आदर के लिए इन शब्दों का प्रयोग होने लगा। हम लोग तो अब तक राजर्षि टंडन को 'बाबू जी' कह कर ही सामने बात-चीत करते हैं। परन्तु, इस में सन्देह नहीं कि 'मुंशी' तथा 'बाबू' शब्दों में कोई चीज भरी है; जो अराष्ट्रीयता की गंध देती है। इसी लिए स्वराज्य प्राप्त होने पर इन शब्दों का प्रयोग एकदम बन्द हो गया और 'श्री' का चलन हुआ।

उस समय ऐसा प्रवाह ही था कि लोग सरकारी सम्मान की ओर झुकते थे, चाहे वह सरकार जैसी भी हो। 'मुंशी' शब्द में और इसके अर्थ में जो चीज भरी हुई थी, उसे राष्ट्रवादी जन समझ गए। सभी वर्गों में मुंशीपन आया था; पर एक वर्ग तो एकदम 'मुंशी' ही हो गया था! आगे थोड़ा और बढ़ने पर सब समाप्त था; परन्तु तपस्वी संस्कृतज्ञ ब्राह्मणों ने सब सँभाल लिया। मुंशी के मुकाबले इन्होंने 'पंडित' शब्द चलाया और शिक्षित ब्राह्मणों के नामों के आगे 'पंडित' शब्द लिखा जाने लगा। उर्दू-फारसी के विद्वान् ब्राह्मण भी 'मुंशी' नहीं 'पंडित'। 'उर्दू-फारसी के सुप्रसिद्ध विद्वान् 'पं० रतननाथ सरशार' को कभी किसी ने 'मुंशी रतननाथ' नहीं कहा, न उन्होंने स्वयं ही उस शब्द को पसन्द किया। परन्तु 'मुंशी' वर्ग का अपढ़ हिन्दू भी 'मुंशी'। हमने कहा कि हवा चल पड़ी थी। इससे पहले ब्राह्मणों के नामों से पहले 'पण्डित' शब्द लगाने की चाल न थी। 'मुंशी' लोगों ने अपने अभिवादन शब्द भी अलग बना लिए थे; मुसलमान आपस में 'सलामाले-'कुम' करते थे; हिन्दू आपस में 'नमस्कार' और 'जय राम जी की' करते थे; मुंशी लोग दूसरों से अपने को 'बन्दगी' करवाते थे और आपस में 'आदाबर्जी' चलता था। बड़े अफसरों को झुक कर 'आदाबर्ज' किया जाता था। यहीं से 'मुंशी पंडित' संघर्ष शुरू

हुआ। इस संघर्ष का फल अच्छा ही निकला। 'मुंशी' जी हिन्दू बने रहे। परन्तु 'पण्डित' शब्द का मजाक खूब बनाया गया। 'मुंशी' शब्द मिश्रित-संस्कृति का द्योतक 'पण्डित' शब्द विशुद्ध भारतीय संस्कृति का द्योतक। पंडितों ने बहुत जोर से कहा कि रोटियों के लिए फारसी-अरबी पढ़ कर अपनी संस्कृत भाषा का मजाक उड़ाना मृत्यु से भी बढ़कर है। प्रवाह को रोकने के लिए उन्हों ने फारसी पढ़ने को भी मना किया। फारसी पढ़ कर पेट पालने की अपेक्षा तो भूखों मर जाना अच्छा !

'न पठेद् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि'

इस दृढ़ता का आज कोई मजाक उड़ा ले, पर इसमें अपनी रक्षा हुई है। जब विदेशी कपड़ों को जला कर हम लोग अपनी भावना प्रकट करते थे, तब अंग्रेजों के 'बाबू' और 'मिस्टर' लोग हमें 'बेवकूफ' कहते थे कि नहीं ? हमें अति 'संकीर्ण बुद्धि' का कहते थे और हँसते थे। यही बात 'पंडितों' के सम्बन्ध में है, जो देश का सांस्कृतिक नेतृत्व कर रहे थे। अभी कल की ही बात है हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद दिलाने का प्रयत्न जो लोग कर रहे थे, उन्हें भी संकीर्ण मनोवृत्ति का 'साम्प्रदायिक' कहा जा रहा था। परन्तु उस संघर्ष का फल अच्छा निकला। सर्वोच्च मस्तिष्क 'स्व' की रक्षा में लग गए। जितना गंभीर संस्कृत-साहित्य इस युग में बना, उतना और कभी नहीं। इस सांस्कृतिक मूल-रक्षण का ही प्रभाव था कि आगे तुलसीदास और समर्थ स्वामी रामदास जैसे लोक-संग्रहणी महान् सन्त पैदा हुए और महाराणा प्रताप जैसे स्वाभिमानी तथा छत्रपति शिवाजी जैसे 'स्वराज्य' संस्थापक सामने आए।

एक वर्ग के अतिरिक्त अन्य किसी भी हिन्दू वर्ग ने सामूहिक रूप से मुंशीपन स्वीकार नहीं किया। क्षत्रिय लोगों के नाम के आगे सम्मानार्थ 'ठाकुर' शब्द लगने लगा। 'ठाकुर' इधर प्रभुत्व-सूचक शब्द समझा जाता है; बंगाल में सात्त्विक सम्मान के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है—'श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर'। खत्री तथा वैश्य जैसे व्यापारी वर्गों को 'लाला' शब्द पसन्द आया और ऊँची स्थिति के लिए 'सेठ'। अन्य वर्गों ने 'चौधरी' शब्द पसन्द किया। इस तरह 'मुंशी' अकेले पड़ गए।

शब्दों का महत्त्व

आप कहेंगे कि इस सांस्कृतिक पुस्तक में यह 'पण्डित'-'मुंशी' का पचड़ा इतने विस्तार से क्यों लिखा गया, जब कि इस लेखक की संक्षेपप्रियता प्रसिद्ध है। निवेदन है कि अनावश्यक एक भी शब्द नहीं। शब्दों का बड़ा महत्त्व होता है। प्रत्येक देश की अपनी भाषा होती है और भाषा के शब्दों में उस देश की संस्कृति या जातीयता भरी रहती है। अंग्रेज लोग बड़े उदार होते हैं। परन्तु कभी किसी अंग्रेज ने किसी दूसरे अंग्रेज के नाम के आगे 'श्री' या 'श्रीमान्' या 'जनाब' शब्द लगाया ? संस्कृत के परम भक्त जो अंग्रेज विद्वान् हो गए हैं, वे भी (अपने अंग्रेजों के) नाम 'मिस्टर' शब्द से ही ग्रहण करते थे—'श्री' शब्द से नहीं। यही स्थिति अन्य सभी देशों की है। परकीय भाषा का शब्द नाम के आगे लगाने से रूप भी वैसा ही बन जाने का संदेह रहता है। रूप वैसा हो ही जाता है !

४८

इसी लिए 'स्व' का महत्त्व, स्वभाषा का महत्त्व। साधारणतः—निर्विशेष रूप से—'श्री' शब्द का चलन सबके लिए उस समय हुआ। सम्भव है, हुकूमत ने इसे पसन्द न किया हो और बीच के लोगों ने भी मजाक उड़ाया हो! हो सकता है कि 'श्री' शब्द का प्रयोग करने के कारण लोगों को कुछ क्षति भी उठानी पड़ी हो! कदाचित् यही कारण हो कि लोग 'श्री' का द्विरुक्त (डबल) प्रयोग करने लगे हों। बंगाल में अब भी कहीं-कहीं 'श्री श्री अनिल भट्टाचार्य' जैसे प्रयोग सामने आते हैं। कहीं बहुत्व भी 'श्री' को देने लगे और 'श्री श्री श्री जगदीशचन्द्र' लिखने में तीन बार 'श्री' लिखने की जगह 'श्री ३ महाराज विक्रमाजीत सिंह' लिखने लगे, जैसे कि तीन मात्राएँ (प्लुत) सूचित करने के लिए 'ओ३म्' लिखा जाता है। यह जिद या सत्याग्रह यहाँ तक बढ़ा कि 'श्री १०८ महाराज विश्वानन्द' और 'श्री १००८ महाराज उद्धवानन्द' लोग लिखने लगे! करो विरोध, हम एक नहीं, एक हजार आठ बार 'श्री' शब्द का प्रयोग सम्मानार्थ करेंगे। उस समय सम्भव है, यह उत्कट संस्कृति-प्रेम दबाये न दबने पर 'पागलपन' कर के उपेक्षित कर दिया गया हो। १९२० से १९४४–४५ तक स्वराज्य-प्रेमियों को भी लोग 'पागल' ही कहा करते थे। 'पागल हो गए हैं, गूलर का फूल लेंगे।'

शासकों की (विदेशी) भाषाओं के बहुत से शब्द देश ने ग्रहण कर लिए; क्योंकि संकुचित मनोवृत्ति तो कभी इस देश में रही ही नहीं है—रूमाल, कागज, हाजत, हजामत आदि सैकड़ों शब्द हजम कर लिए गए; परन्तु जिन शब्दों में संस्कृति भरी हुई है, जिनमें विदेशी जातीयता है, उन्हें नहीं लिया गया। 'रानी' की जगह 'बेगम' शब्द ग्रहण नहीं किया गया। कारण 'रानी' शब्द में जो भारतीय शासक की पत्नी का भारतीय जीवन झलकता है, वह 'बेगम' में कहाँ है? 'बेगम' शब्द से कुछ और ही चीज प्रकट होती है। सर्वत्र ऐसे सांस्कृतिक शब्द इसी स्थिति में रहते हैं। अंग्रेज लोग बड़े उदार हैं। अंग्रेजी में 'क्वीन', 'बेगम' तथा 'रानी' आदि शब्द हैं; परन्तु अंग्रेज शासक की पत्नी के लिए सदा 'क्वीन' शब्द का ही प्रयोग होता है, 'महारानी' या 'मलका', 'बेगम' आदि का नहीं। अरब या ईरान के लोग भी 'बेगम' या 'मलका' की जगह 'रानी-'महारानी' न देंगे। यानी संस्कृति-द्योतक शब्द 'अपने' ही रहते हैं।

सो, सामान्य भाषा के हिन्दी-उर्दू ये दो रूप हो गए और शब्दों का आदान-प्रदान भी हुआ; परंतु संस्कृति-व्यंजक शब्द अलग-अलग ही रहे। 'गुरु वशिष्ठ' को उस्ताद वशिष्ठ या हजरत वशिष्ठ कहना ऐसा लगता है, जैसे कोई गाली दे रहा हो। इसी तरह 'हजरत मुहम्मद साहब' की जगह 'गुरु मुहम्मद' अच्छा नहीं लगता? मुसलमान कभी भी ऐसे प्रयोग पसन्द नहीं करेंगे। 'मिस्टर' की जगह हमने 'श्री' चला दिया, इस देश में; ठीक है; परन्तु 'श्री ईडन' या 'श्री डलेस' कहते कुछ भला नहीं लगता। 'मि० ईडन मि० डलेस से मिले' यों इन नामों के आगे हिन्दी में भी—मिस्टर ही अधिक अच्छा लगता है। परन्तु 'पंडित मदनमोहन मालवीय' को 'मि० मदनमोहन मालवीय' अच्छा नहीं लगता!. अंग्रेजी अखबार पहले 'मि० मालवीय' 'मि० गान्धी' जैसे प्रयोग ही करते थे; परन्तु मान्यता बहुत अधिक बढ़ जाने पर वे भी 'पंडित मालवीय' 'महात्मा गान्धी' लिखने

लगे थे। यानी अंग्रेजी के अखबारों ने समझा कि ऐसे महत्वपूर्ण नाम विदेशी 'मिस्टर' शब्द के साथ अच्छे नहीं लगते—सचमुच अच्छे नहीं लगते! 'श्री पुरुषोत्तमदास टंडन' में 'बाबू' की जगह 'श्री' शब्द जम गया; परन्तु 'श्री अबुलकलाम आजाद' अच्छा नहीं लगता। 'अबुलकलाम' के साथ 'मौलाना' शब्द ही भला लगता है। 'मौलाना' शब्द में जो चीज भरी हुई है, वह उस नाम के अनुरूप है। हाँ, 'मिस्टर अली जहीर' की अपेक्षा 'श्री अली जहीर' बहुत अच्छा। 'श्री' फिर भी भारत का ही शब्द है, एशियाई शब्द है, अरब-ईरान का पड़ोसी शब्द है; पर 'मिस्टर' तो बहुत दूर—योरप इंगलैण्ड—का शब्द है। एशियाई देशों का रहन-सहन कुछ समता रखता है, योरप का एकदम भिन्न पड़ जाता है। भारत के किसी मुसलमान को 'मि० अल्लाबख्श' की जगह 'श्री अल्लाबख्श' कहना अधिक अच्छा। यद्यपि 'श्री' के साथ 'अल्लाबख्श' कुछ जमता नहीं है—हिन्दी-अरबी गँठजोड़ है; पर 'मिस्टर' से फिर भी अच्छा। यदि 'अल्लाबख्श' की जगह 'ईश्वरदत्त' भारतीकरण हो जाए, तो पूरी राष्ट्रीयता आ जाए। ईश्वरदत्त ईसाई गिरजाघर में प्रार्थना करे, ईश्वरदत्त मुसलमान अपनी मस्जिद में जाकर नमाज पढ़े, ईश्वरदत्त हिन्दू यदि वैष्णव है, तो विष्णु मन्दिर में जाकर पूजा करे और शैव है, तो शिव मन्दिर में जाए। ईश्वरसिंह सिख है तो गुरुद्वारे में जाकर वन्दना करे। सब के नाम रूप एक, मत अलग-अलग। परन्तु यह सम्भव नहीं दिखाई देता। हमारे मुसलमान भाई इस देश की भाषा से घृणा करते हैं। 'सुकर्ण' भी तो मुसलमान ही हैं न? पर हमारे यहाँ कोई मुसलमान 'कर्ण' ही नहीं, 'सुकर्ण' तो दूर की बात है!

संक्षेप यह कि संस्कृति का मूल—सांस्कृतिक शब्दों का अपनाना—बहुत बड़ी चीज थी। इसके साथ ही और बहुत सी बातें हैं। भाषा के साथ लिपि आती है। मुसलमान शासकों ने इस देश की भाषा के लिए भी फारसी लिपि चलाई और प्रायः इस लिपि के कारण ही हिन्दी का 'उर्दू' नाम पड़ा! उर्दू का नाम लेकर कितने झगड़े खड़े किए गए और क्या-क्या हुआ! अब भी यह झगड़ा शान्त नहीं हुआ! उर्दू का—यानी फारसी लिपि का—आग्रह कम नहीं हुआ है! आगे चलकर यह आग्रह किस रूप में प्रकट होगा, नहीं कहा जा सकता। एक ही चीज को कृत्रिमता से दो-दो नाम-रूप देना और फिर उनके कारण पृथक् संस्कृति और पृथक् राष्ट्र!

हमें इस समस्या पर सोचना होगा। यदि समस्या न सुलझे, जैसी कि सम्भावना है तो फिर आबादी अदला-बदली कर ली जाए। सांस्कृतिक भेद का नाम लेकर ही पाकिस्तान बना है। जो लोग भारतीय संस्कृति से घृणा करते हैं, उसे हेय समझते हैं, वे सब के सब अपने सांस्कृतिक राष्ट्र (पाकिस्तान) चले जाएँ, या भेज दिए जाएँ और पाकिस्तान में जो 'भारतीय' या हिन्दू हैं, वे सब के सब इधर चले आएँ, इधर बुला लिए जाएँ। इससे झगड़ा रोज रोज का दूर हो जाएगा और पाकिस्तान हमारे अच्छे पड़ोसी की तरह रह सकेगा। हजार-दो हजार या दस-बीस हजार लोग इधर के उधर या उधर के इधर हों, रहें, तब कोई झगड़ा नहीं। अत्यधिक विजातीय जन 'अधिकार' के रूप में विजातीय संस्कृति लाने का आग्रह करते हैं और बराबर का अधिकार भी चाहते हैं, तब

झगड़ा होता है। यदि ऐसा न होगा, तो खटक बहुत दिन तक रहेगी। निकट भविष्य में यह आशा नहीं कि पाकिस्तान अरबी-ईरानी संस्कृति छोड़ कर अपने देश (सिन्ध, पंजाब, बंगाल) की मूल संस्कृति अपना लेगा और न यही आशा है कि वहाँ के सब हिन्दू मुसलमान बन जाएँगे! अब तक नहीं बने, तो अब क्या बनेंगे! इसी तरह भारत के मुसलमान भारतीय संस्कृति ग्रहण न करेंगे और न इस देश के (सब के सब) हिन्दू मुसलमान ही बनेंगे। ऐसी स्थिति में वह झगड़ा तो बना ही रहा, जिसे मिटाने के लिए राष्ट्र का विभाजन हुआ और दे-दे दर्दनाक नजारे सामने आए! यदि सांस्कृतिक एकता न हुई, तो राष्ट्र के लिए फिर भयंकर स्थिति पैदा हो सकती है।

(५)

अंग्रेजी राज और स्वराज

मुसलमान आक्रमणकारियों ने, लुटेरों ने और शासकों ने, हिन्दू भावनाओं को कुचल देने के लिए क्रूर से क्रूर कार्य किए; पर सब सह कर भी यह जाति जीवित बनी रही—'कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः'—जैसे आपत्काल में कछुआ अपने अङ्गों को समेट कर चुपचाप पड़ जाता है, वही स्थिति हिन्दू जाति ने ग्रहण की। बीच-बीच में कबीर, अकबर, नानक और गान्धी जी जैसे महापुरुषों ने प्रयत्न किए कि दोनों मिल कर एक हो जाएँ; पर सब के सब असफल रहे! 'खिलाफत' आन्दोलन के समय अपने मतलब के लिए कुछ मेलमिलाप नजर आया था; पर वह 'दूध पानी' का नहीं 'चावल दाल' का सा मेल था और क्षणिक था, स्वार्थ-प्रेरित था, कृत्रिम था। एक न हो सकने का कारण सांस्कृतिक भेद था और है; यह बात पीछे कई बार कही गई है।

मुसलमानी साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने पर योरोपीय जातियाँ इधर गीधों की तरह देखने लगीं और मँड़राने लगीं। फ्रेंच, पुर्तगाली, अंग्रेज आदि ने डेरे डाल दिए। कालान्तर में किस तरह अंग्रेजी राज इस देश में जमा और फ्रांस-पुर्तगाल जैसे मौसेरे भाइयों की मूछें ऊँची रखने के लिए नाम-मात्र के प्रदेश उन्हें देकर अंग्रेज ने विविध सन्धियाँ कर लीं और किस तरह इस देश के राजाओं ने घुटने टेक दिए; यह सब लिखने की जरूरत नहीं। सब जानते हैं।

आधुनिकता का प्रवेश

अंग्रेजी राज के साथ-साथ इस देश में आधुनिकता का प्रवेश हुआ। यह संयोग की बात है। यदि अंग्रेजी राज यहाँ न जम पाता और हम स्वतन्त्र होते, तो भी आधुनिकता इसी तरह आती। जहाँ अंग्रेजी राज नहीं, वहाँ भी तो आधुनिकता का प्रवेश-प्रसार हुआ ही है! जब हवा चलती है, तो वह सब के लगती है, चाहे उसे कोई चाहे, या न चाहे। यही बात युग-चेतना की है। कुछ भी हो, अंग्रेजी शासन-काल में इस देश ने आधुनिकता का स्पर्श किया।

'बाबू'–'मिस्टर' जमात

जैसे मुस्लिम शासन काल में 'मुंशी'-'जनाब' लोगों की जमात बन गई थी, उसी तरह अंग्रेजी राज में 'बाबू'-'मिस्टर' वर्ग बन गया था। अंग्रेजियत के मजनू और अंग्रेजी राज के भाट! कुछ लोगों को 'राय बहादुर', 'सर' आदि के खिताब देकर सर कर लिया गया था। सो, यह शासनिक तोड़-फोड़ थी। अंग्रेजों के कारण हमारे देश में कोई तीसरी संस्कृति नहीं बन पाई, यह भगवान् की दया। अन्यथा, यह एक और बखेड़ा पैदा हो जाता। अंग्रेजी राज के साथ-साथ वह 'बाबू'-'मिस्टर'-'सर' जमात भी अदृश्य हो गई! वे सब तो हैं, बबुआई आदि जाती रही—वह अराष्ट्रीयता जाती रही। कृत्रिम चीज थी—स्वार्थ मात्र आधार था!

अब राष्ट्रीयता की फिर से नींवें लग रही है। अब जरूरत है कि हिन्दू जाति को बलिष्ठ और संगठित किया जाए।

जात-पाँत और वर्णव्यवस्था का भूत

वर्णव्यवस्था का भूत बड़ा भयंकर है। सावधान होने की जरूरत है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये जातियाँ नहीं, 'वर्ण' बनाए गए थे। जाति तो सब की एक है—हिन्दू। हम सब हिन्दू हैं। 'भारतीय' तथा 'हिन्दुस्तानी' शब्द भी वही अर्थ देते हैं; पर अभारतीय भावना वाले लोग भी अपने को 'भारतीय' तथा 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं; इस लिए स्पष्ट शब्द 'हिन्दू'।

वर्णव्यवस्था से हिन्दू जाति को किसी समय लाभ भी बहुत पहुँचा है। परन्तु अब वह स्थिति नहीं है। अब इस नाम भर की वर्णव्यवस्था से और जात-पाँत के अनगिनत भेदों से हिन्दू जाति छिन्न-भिन्न हो रही है।

वस्तुतः आज वर्णव्यवस्था का नाम भर है। लाभ कुछ नहीं, हानि बहुत। सब अपने को अलग-अलग समझने लगे हैं। इस अलगाव को समाप्त कर देना चाहिए। वर्णव्यवस्था के भूत को भगाने के लिए लाल मिर्चों की धूनी भी देनी पड़े, तो घबराना न चाहिए। ब्राह्मण पंडितों को चाहिए कि वर्णव्यवस्था हटाने में सहयोग दें। 'क्षत्रियों को राज करना चाहिए', 'वैश्यों को व्यापार करना चाहिए' वर्णव्यवस्था की इस मान्यता, भावना तथा रूढ़ि ने कोटि-कोटि ब्राह्मणों को बहुत घाटे में रखा है, बहुत भौतिक हानि पहुँचाई है। इस भावना को अब हटा देना चाहिए। जो घाटा हुआ; उसकी पूर्ति तो सम्भव नहीं; पर भविष्य अच्छा रहेगा। भावना ही आगे बढ़ती है और भावना ही आगे बढ़ने से रोक देती है। सो, ब्राह्मणों को अब झूठी वर्णव्यवस्था को नमस्कार कर लेना चाहिए। तुम्हारे पुरखों ने जो (ब्राह्मणत्व के कारण) त्याग-तपस्या की, उसका फल तुम्हें क्या मिल रहा है? क्षत्रिय लोग तो अब भी राजा हैं, राज छिन जाने पर भी राजा ही हैं और ऐसी स्थिति और इतनी सम्पत्ति है कि शताब्दियों तक उनकी सन्तति राजा ही रहेगी; यदि कोई विशेष घटना न घटी। वैश्य भी अपने पुरखों की कमाई से करोड़पति और अरबपति हैं। ये लोग वर्णव्यवस्था को बनाए रखने के लिए यदि

प्रयत्नशील हों; तब तो कुछ कहा भी जा सकता है; परन्तु ब्राह्मण जब इस नाम-मात्र की चीज का समर्थन करता है; तो कुछ समझ में नहीं आता ! अपने ही लिए नहीं, सम्पूर्ण जाति के लिए यह हित की बात है कि वर्णव्यवस्था को समाप्त कर दिया जाए।

जात-पाँत का बखेड़ा

चार ही नहीं सहस्रशः 'जात-पाँत' के भेद बन गए हैं—चल रहे हैं ! 'हिन्दू जाति' है; ये सब उसी के अवयव हैं। लोहे का काम करनेवाले 'लुहार' कहलाने लगे। धीरे-धीरे वह वर्ग एक 'जाति' माना जाने लगा ! जो लोहे का कार्य न करे, वह भी लुहार, यदि उसमें पैदा हो गया है ! यदि कोई कपड़े बेचता है, तो बजाज। बजाजों का भी एक वर्ग है; पर उसने 'जाति' का रूप नहीं लिया। तेल निकाल कर बेचनेवाले लोग 'तेली'। एक 'जाति' बन गई। अब यदि वे तेल का काम नहीं करते, तो भी 'तेली' और मशीन से तेल निकाल कर बेचने का काम करनेवाले लोग 'वैश्य' तथा 'ब्राह्मण' ! विचित्र बात है ! ये सब जात-पाँत के भेद-भाव उठा देने चाहिए।

अस्पृश्यता

हिन्दू जाति में अस्पृश्यता भी एक समस्या है ! अस्पृश्य वह, जो नीच हो, दुराचारी हो, रिश्वतखोर हो, चोरबाजारिया हो, शराबी हो, घिनौना हो, संक्रामक रोग से पीड़ित हो। अन्यथा कोई अस्पृश्य कैसे ? प्रसन्नता की बात है, हिन्दू जाति से यह रोग दूर होता जा रहा है।

एक बात प्रासंगिक। अस्पृश्यता की यह समस्या मुसलमानों में भी है। मैं सन् १९१८ से १९२६ तक पंजाब में रहा। वहाँ देखा, मुसलमानों में भी अस्पृश्य वर्ग-हैं। लाहौर में मुझे पता लगा कि भंगियों के दो वर्ग हैं—हिन्दू और मुसलमान। मुसलमान भंगी 'मुसल्ली' कहलाते हैं। मुसल्ली लोग दूसरे मुसलमानों से पृथक् रहते हैं। साथ खाना नहीं खा सकते, साथ नमाज नहीं पढ़ सकते ! हिन्दू जाति का एक वर्ग 'सिख' है। सिखों में भी अस्पृश्य वर्ग है। अस्पृश्य सिखों को 'मजबी' कहा जाता है।

सो, यह केवल हिन्दुओं में ही भर्त्सना की चीज नहीं, अन्यत्र भी है। ठीक नहीं। हाँ, अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार ऊँची-नीची जगह रहेगी, यह अलग बात है। जन्मना ऊँच-नीच की भावना ठीक नहीं; पर संसार में 'जन्मना' का महत्त्व भी है। कोई बच्चा करोड़पति के घर में पैदा होते ही करोड़पति बन जाता है और दूसरा अन्यत्र जन्म लेकर हीन हो जाता है ! पं० जवाहरलाल नेहरू के बच्चा पैदा हो जाए, तो उसे (पैदा होते ही) अतुल सुख-सम्मान मिल जाएगा, जो दूसरे को नहीं मिल सकता। श्री इन्दिरा गान्धी को इसीलिए अतिशय सम्मान प्राप्त है कि वे पं० जवाहरलाल नेहरू की पुत्री हैं। वैसे उन्हों ने कोई ऐसा त्याग-तपस्या का काम नहीं किया कि वैसे सम्मान की हकदार हों। इंगलैण्ड के सम्राट् के यहाँ जन्म लेने के कारण ही कोई बच्चा सम्राट् बन जाता है, चाहे जैसा हो। यही स्थिति सर्वत्र है। जन्मना ऊँच-नीच की भावना और जन्मना अधिकार विचारणीय समस्याएँ हैं।

पर कुछ भी हो, हमें अपनी वर्णव्यवस्था, जात-पाँत भेद तथा छुआछूत की समस्या पर पुनः विचार करना है। महर्षि मालवीय आज होते, तो शायद नई हिन्दू-संहिता का निर्माण होता, युगानुरूप धर्मशास्त्र बनता। इधर केन्द्रीय सरकार के द्वारा जो हिन्दू-विधिविधान बन कर आएँ गे, वे निष्कलंक होंगे; इसमें सन्देह है। कारण, संसद में अहिन्दू जन भी हैं और हिन्दू-विधि के निर्माण में उनका भी हाथ रहता है।

ब्राह्मण-अब्राह्मण और बनिया-कायस्थ आदि कृत्रिम भेद आज ईर्ष्या-द्वेष के कारण बन रहे हैं। चुनाव के दिनों में इस भेद-भाव का नंगा नाच देखने को सब जगह मिल जाता है। बड़े-बड़े लोग भी इस चक्कर में आ जाते हैं। सन् १९४० में बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने ब्राह्मणों के बारे में एक निबन्ध लिख कर काशी के 'आज' में छपाया था। वही निबंध फिर पुस्तकाकार छप कर काशी के 'ज्ञान-मण्डल' से प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिका कानपुर के सुप्रसिद्ध पूँजीपति श्री रामरतन गुप्त ने लिखी थी। इस छोटे से निबन्ध को इतना महत्व दिया गया! मैं ने भी पढ़ा और फिर एक निबन्ध लिख कर लखनऊ की सुप्रतिष्ठित पत्रिका 'माधुरी' में छपाया। फिर मैं ने भी इस निबन्ध को पुस्तकाकार छपाया। बाबू संपूर्णानन्द जी मेरे प्रशंसक थे—मेरी पुस्तकों की प्रशंसा करते हुए उन्हों ने कलम तोड़ दी है। परन्तु उपर्युक्त निबन्ध छपने के बाद मुझ से इतने नाराज हो गए जिसकी कुछ हद नहीं! वे इस समय हमारे प्रदेश के मुख्य मंत्री हैं। इस वाक्-संघर्ष का फल यह हुआ कि मेरा बहिष्कार किया गया! मैं ने प्रतिज्ञा कर ली है कि कभी भी पुरस्कार की प्रतियोगिता में, अपनी कोई भी पुस्तक न भेजूंगा। क्या इससे मन नहीं मर जाता? कोई अच्छा काम कैसे करेगा? राष्ट्र के लिए यह हितकर है क्या?

हाँ, वह निबन्ध चर्चा रही जाती है। वह एक नमूना है कि विद्वान् और त्यागी नेता भी जात-पाँत के भेद-भाव से झुलस जाते हैं! मैं कभी ऐसी बातों में न पड़ा था; पर मुझे भी कुछ लिखना पड़ा। मैं यहाँ अपने उस निबन्ध को उद्धृत करना चाहता हूँ। श्री सम्पूर्णानन्द जी के निबन्ध में क्या है; इसी मेरे निबन्ध से अन्दाजा लग जाए गा। जो लोग उनका पूरा निबन्ध पढ़ना चाहें, 'ज्ञान-मण्डल, काशी' से मंगा लें। निबन्ध का शीर्षक है 'ब्राह्मण! सावधान!' आगे के लोग इन निबन्धों से समझ सकेंगे कि बीसवीं शताब्दी के मध्य में भी हिन्दू जाति की जात-पाँत की व्यवस्था किस तरह गड़बड़ी मचा रही थी। मैं तभी से अनुभव करने लगा कि यह वर्णव्यवस्था या जात-पाँत की लकीर मिटनी चाहिए। यह साँप बन रही है।

सो, मेरा वह निबन्ध यह है:—

"काशी के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय पत्र 'आज' में विद्वद्वर बाबू सम्पूर्णानन्द जी का एक सामाजिक तथा सांस्कृतिक महत्त्वपूर्ण लेख कई अंकों में निकला था—'ब्राह्मण! सावधान' शीर्षक से। 'काशी ज्ञान-मण्डल' ने उक्त लेखमाला को बहुत उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण समझकर पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित करा दिया। इस पुस्तक को पढ़ कर इस विषय पर कुछ लिखने की प्रेरणा मुझे मिली। फलतः यह निबन्ध लिखा गया।

मेरा विचार था कि इसे 'आज' में ही प्रकाशित कराया जाए। परन्तु जब मुझे उसके सम्पादकीय विभाग के प्रमुख बाबू परमेश्वरी लाल गुप्त का स्पष्ट उत्तर मिल गया

कि अब 'आज' में इस विषय पर कोई लेख न छपेगा, तब 'माधुरी' को भेजना पड़ा। यह निबन्ध बाबू सम्पूर्णानन्द जी के उस निबन्ध का न तो उत्तर है, न उत्तर में लिखा गया है। एक स्वतन्त्र चीज है। हाँ, उसे देखने के बाद ही इसके लिखने की इच्छा हुई। तो भी, कहीं कुछ उत्तर-सा ज्ञान पड़े, तो यह स्वाभाविक ही है। कहीं नामोल्लेख भी हुआ है।

इस प्रकार के सामाजिक तथा सांस्कृतिक निबंध लिखना बड़ी जिम्मेदारी का काम है। 'रग पर नश्तर' लग जाने का डर रहता है। जो लोग दोनों निबंधों को पढ़ेंगे, वे समझेंगे कि इनके लिखने में भावना की कितनी निर्मलता है। बाबू जी के उस निबंध को पढ़ कर कुछ ब्राह्मण चिढ़े थे। मेरे इस निबंध को पढ़कर, सम्भव है, उसी तरह कुछ दूसरे लोग बुरा मानें! परन्तु इसमें लेखक का दोष नहीं। तत्त्व-विवेचन से बुरा मानने की प्रवृत्ति अच्छी नहीं। इससे समाज को चेतना मिलती है।

आर्य-संस्कृति विश्व-विश्रुत है। जितनी यह प्राचीन है, उतनी ही सुन्दर और महत्वपूर्ण। परन्तु प्राचीन, सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण चीजें भी देखते-देखते नष्ट हो जाती हैं। गुलाब के फूल को मसल कर पावों के नीचे कुचल देने वाले क्या कम हैं? देखते-देखते संसार के न जाने कितने राष्ट्रों की संस्कृतियाँ जनमीं, बढ़ीं और सदा के लिए विलीन हो गईं! केवल इतिहास में उनका नाम भर मिलता है। उन (नष्ट हो जाने वाली) संस्कृतियों में कई तो इतनी उत्तम सुनी जाती हैं कि उनकी तुलना आर्य-संस्कृति से की जा सकती है! फिर भी वे नष्ट हो गईं! बड़े-बड़े राष्ट्रों की अपनी भाषा तथा लिपि तक नष्ट हो गई। विजेताओं की भाषा और लिपि वहाँ अपना ली गई। उन देशों का अपना प्राचीन साहित्य एकदम लुप्त हो गया। संस्कृतियों का यह महाप्रलय प्रायः राज्यपरिवर्तन से होता है, कभी अन्य कारणों से भी। यह जोरदार धक्का है, जिसे सहन करने में बड़ी-बड़ी संस्कृतियाँ असमर्थ देखी गई हैं। कुछ संघर्ष के बाद, धीरे-धीरे सब लोग अपने विजेता की ही सभ्यता ग्रहण कर लेते हैं—वही भाषा, वही लिपि, वही वेश-भूषा और वही रहन-सहन। अपना सब कुछ लुप्त हो जाता है। यही संस्कृति का विनाश है।

संसार के विचारकों को इस बात का आश्चर्य है कि संसार की सबसे पुरानी यह आर्य संस्कृति अब तक जीवित कैसे रही! इतने आघात सह कर भी आज यह ऊँचा सिर किये खड़ी कैसे है! वस्तुतः आश्चर्य की बात है। परन्तु यह अकारण नहीं है। बिना कारण के ही कोई चीज नहीं हो जाती। आर्य संस्कृति की इस अमरता का कोई-न कोई कारण अवश्य होना चाहिए; भले ही उस ओर किसी का ध्यान न गया हो। इस संस्कृति के मूल में अवश्य ही कोई ऐसा तत्त्व है, जिसने इसे इतने दिन जीवित रखा। संसार की सबसे पुरानी वेद-भाषा आज भी विद्यमान है। संसार का सबसे पुराना साहित्य—हमारे वेद—ज्यों के त्यों सब लोग देख रहे हैं। उनके पठन-पाठन का तथा उच्चारण आदि तक का वही क्रम आप इस समय भी देख सकते हैं। सहस्रों कंठों से नित्य प्रातःकाल उसी स्वर में 'अग्निमीले पुरोहितम्' की ध्वनि आज भी निकलती है, जिसमें उस युग के ऋषि बोलते थे। क्या यह थोड़ी बात है? हमारी अपनी लिपि और अपनी भाषा है, जिनमें समय-क्रम से विकास हुआ है। सारांश यह कि ऊपरी नूतनता की स्वीकृति हमारे

यहाँ आवश्यकतानुसार हुई है; परन्तु मूलतः संस्कृति अपनी सुरक्षित है। उस युग से अब तक वह अटल है। हिमालय से निकलनेवाली गंगा ही सागर तक है, भले ही बीच में वह कुछ विरूप दिखाई दे।

हाँ, तो सोचने की बात यह है कि हमारी यह संस्कृति इतने दिन जीवित कैसे रही! इसका कारण क्या है?

मेधा और त्याग

आप जरा-सा भी ध्यान देकर देखेंगे तो संस्कृति-जीवन का मुख्य कारण मेधा और त्याग में मिलेगा। जिस कुटुम्ब का संचालक बुद्धिमान् और स्वार्थ-रहित होगा, वह समृद्ध होगा, उसे जीवन मिलेगा। यदि कुटुम्ब का मुखिया स्वार्थी अथवा बुद्धिरहित हो, तो सब खेल बिगड़ जाएगा। कुटुम्ब छिन्न-भिन्न हो जाएगा। यदि उसमें बुद्धि नहीं है, तो निःस्वार्थ होने पर भी कुटुम्ब-सञ्चालन न हो सकेगा। बुद्धि होने पर भी यदि स्वार्थ है, तो भी कुटुम्ब न चलेगा। कुटुम्ब के सभी अवयव भीतर-ही भीतर कुढ़ेंगे और पुराने मुखिया या सञ्चालक से बुरा मानने लगेंगे। आगे चलकर संघर्ष और सब खेल खतम! सब अपने-अपने राग में मस्त हो जाएँगे, सब अलग। कुटुम्ब समाप्त!

समाज या राष्ट्र भी एक कुटुम्ब ही है, बड़ा कुटुम्ब। बिना सञ्चालक के यह कैसे चल सकता है? समाज के सञ्चालक में भी वही चीज चाहिए, जो कुटुम्ब के मुखिया में—मेधा और त्याग।

जब आर्य-संस्कृति ने जन्म लिया, तो उसके साथ ही मेधा और त्याग का प्रादुर्भाव हुआ। ये दोनों चीजें ऐसी नहीं हैं कि जो किसी को दी जा सकें, या किसी से ली जा सकें। इनकी स्वतः प्रवृत्ति होती है। आर्यों का एक वर्ग सामने प्रकट हुआ, जो बुद्धि का धनी था। बुद्धि से ही समाज में सब कुछ होता है। इसे चाहे जहाँ लगा दो। उस मेधावी आर्य-वर्ग ने स्वार्थ का बलिदान किया। सर्वथा समर्थ होने पर भी सांसारिक प्रलोभनों से वह दूर रहा। उसने समस्त आर्य जाति के अभ्युदय को ही अपने जीवन का उद्देश्य बनाया। उसने अपने से कम बुद्धि रखने वाले (अपने समाज के) एक वर्ग को राजसत्ता सौंपी और स्वयं उसकी सहायता की। उससे भी कम प्रतिभा रखनेवाले वर्ग को व्यापार आदि समृद्धिजनक कार्य सौंपे। उसने इस वर्ग को भी अपना साहाय्य-शिक्षण दिया। शेष जनता को विविध कला-कौशल तथा परिचर्या में नियुक्त किया गया। चाहे यह श्रम-विभाग स्वेच्छया हो गया हो, चाहे प्रेरणा या अनुशासन के द्वारा इसकी स्थापना हुई हो; पर हुआ ऐसा। इस व्यवस्था से एक लाभ हुआ। परम्परागत कार्य-पद्धति के कारण विविध तत्वों का अच्छा विकास हुआ।

देखने से स्पष्ट पता चलता है कि इस वर्ग-विन्यास या वर्ण-व्यवस्था में एक वर्ग या वर्ण ऐसा है, जो आज तक बुद्धि-प्रधान प्रसिद्ध है; जिसके द्वारा समाज सदा सञ्चालित होता रहा; परन्तु जिसने अपने लौकिक सुख-साधन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

सुख-समृद्धि का कोई साधन नहीं अपनाया; सब कुछ बाँट दिया—तुम राज्य करो, तुम व्यापार करके धन कमाओ और तुम कला-कौशल के द्वारा आनन्द करो। अपने लिए क्या रखा? सुख की बात जाने दो, साधारण जीवन-निर्वाह के लिए भी कुछ न रखा!

यह त्यागी और मेधावी वर्ग समस्त आर्य-संस्कृति का सञ्चालन करता था। सबको सब कुछ देकर स्वतः निःस्पृह था। इसी लिए मनु जी ने लिखा है कि 'ब्राह्मण का दिया हुआ सब खाते हैं और ब्राह्मण अपना खाता है।' मनु जी के इस कथन में तथ्य है।

इसे यों समझिए—आपके कालेज में प्रिंसिपल तीन हजार रुपये मासिक वेतन लेता है और घंटा-दो घंटा काम करता है। शेष सब प्रोफेसर भी पाँच-पाँच सौ या अधिक लेते हैं और तीन-तीन घंटे काम करते हैं। आपके राजमंत्री चार हजार रुपये लेते हैं और दो-चार घंटे कुछ देख-सुन लेते हैं। इसी तरह और खर्च हैं। ये समाज के लिए करते हैं; पर इनके खर्च के लिए जो वेतन दिये जाते हैं, उनसे समाज चुस जाता है। वह सब रुपया आपकी जेबों से जाता है। फलतः समाज में उतना शोषण होगा।

अब कल्पना कीजिए—यह प्रिंसिपल, वे प्रोफसर, वह राजमंत्री और दूसरे बुद्धि-हीन अफसर यदि वेतन लेना बिल्कुल बन्द कर दें और काम दिन-रात तन-मन-से करने लगें, तो कैसा रहेगा? समाज का सुख बढ़ेगा कि नहीं? उस अवस्था में उन (प्रिंसिपल आदि) को या उनके घर वालों को आप अपने घर से ले जाकर रोटी-दाल दे आयें, तो वह आपने उनको दिया, या वे आपको दे रहे हैं? आपको वे रोटी दे रहे हैं, या आप उन्हें दे रहे हैं? मनु जी के उस वाक्य का यही मतलब है। परन्तु उस त्यागी वर्ग की एक और पद्धति भी आगे आई। वे समाज की सेवा करते थे और इधर-उधर बिखरे पड़े अन्न-कण उठा लाते थे। शाक-पात नोच लाते थे। उसी से जीवन-निर्वाह करते थे। ये मतलब न रखते थे। इसका मानसिक क्षितिज ही कुछ ऐसा था, जहाँ लिखा था—

आठ गाँठ कौपीन में, अरु भाजी बिनु लौन।
तुलसी जो सन्तोष है, इन्द्र बापुरो कौन?

और यह संतोष त्याग-मूलक था। चीज प्राप्त होने पर भी उसे ग्रहण न करना त्याग है। चाणाक्य के इंगित पर सम्राटों के सिंहासन बनते-बिगड़ते थे। चन्द्रगुप्त उसका खिलौना था। परन्तु वह राज-वैभव से दूर रहता था, सुख-समृद्धि से अलग। फूस की कुटिया में चटाई पर बैठा हुआ देश की राजनीति का सञ्चालन करता था। यह उसी त्यागमय मेधावी जीवन का प्रवाह था।

यह त्याग की परम्परा लाखों-करोड़ों वर्षों तक चली। संसार भर में भारत-वर्ष ही एक ऐसा देश मिलेगा, जहाँ एक वर्ग ने त्याग और तपस्या का उत्तराधिकार इतने दिन तक चलाया हो। राज्य और धन-समृद्धि का उत्तराधिकार चलता है, कष्टमय जीवन का नहीं। यदि कहीं कोई त्यागी जन-सेवक हो गया, तो यह आशा नहीं की जा सकती कि उसका पुत्र तथा पौत्र भी वैसा ही होगा। त्याग की वसीयत कौन ग्रहण करे! परन्तु इस देश में एक बहुत बड़े मेधावी वर्ग ने लाखों वर्षों तक अपनी सन्तान को त्याग और

बलिदान का उत्तराधिकार दिया, जिसे उसने सहर्ष ग्रहण किया। इस प्रकार आर्य-संस्कृति को एक ऐसा वर्ग मिला, जो सदा उसके रक्षण और विकास में ही संतुष्ट रहा। सब आपदाएँ उठाकर, अनेक तपस्याएँ करके, उसने इस संस्कृति की रक्षा की। इतिहास इसका साक्षी है।

जब-जब किसी संघर्ष के कारण आर्य-संस्कृति पर आघात हुआ है, इस कर्मठ वर्ग ने आगे अपनी छाती अड़ाकर इसकी रक्षा की है। इस संस्कृति को पिछला सबसे बड़ा धक्का विदेशी विजेताओं द्वारा लगा। वे अरब, ईरान, न जाने कहाँ-कहाँ की सभ्यता अपने साथ लाए। दोनों धाराएँ टकराईं; पर हमारी धारा की विजय हुई। वह अब भी अपने रूप में है। परन्तु संघर्ष बहुत बड़ा हुआ।

उस मुसलिम काल में

आर्य-संस्कृति को बहुत बड़ा खतरा उपस्थित हो गया था। इस देश में ब्राह्मणों के अतिरिक्त आर्य जाति का दूसरा वर्ग भी बुद्धि और विद्या में कुछ-कुछ आगे था; परन्तु त्याग और तपस्या का उसमें अभाव था। अपनी कलम से लौकिक सुख-साधन करना ही उसका उद्देश्य था। विदेशी शासकों का काम चल ही नहीं सकता, जबतक विजित देश के एक ऐसे वर्ग को अपने में न मिला लें, जो बुद्धिप्रधान हो। उन्होंने उद्योग किया और यह 'कलमजीवी' वर्ग उनसे मिल गया। भाषा, भेष, सभ्यता आदि सभी बातों में हमारे इस वर्ग ने विजेताओं का पक्ष ग्रहण किया। अब हमारी संस्कृति को अधिक खतरा बढ़ा। मौलवी की कुल्हाड़ी उसे काटने में असमर्थ थी, यदि 'मुंशी' का बेंट उससे न मिलता। इस समय ब्राह्मणों ने इन मुंशियों की निन्दा करनी शुरू की, जो फारसी पढ़ लिखकर बड़े-बड़े अफसर और उर्दू पढ़ कर साधारण मुंशी बने हुए थे। उस समय संस्कृति पद्यों में इस वर्ग की जो भर्त्सना हुई आज भी 'सुभाषितरत्न-भाण्डागार' आदि सुभाषित ग्रन्थों में देखने को मिल सकती है। इस वर्ग के लोगों को 'शूद्र' कहा गया, जो हमारे यहाँ सबसे बड़ी गाली है। विदेशी शासकों से मिलकर उनकी सभ्यता ग्रहण कर लेना शूद्रता से भी परे की चीज है जब किसी वर्ग को विदेशी शासकों का बल प्राप्त हो जाय, तो इसी प्रकार के अधिक्षेप आदि से जनता उनके प्रति अपने भाव प्रकट करती है। आजकल जैसे हम लोग राय-बहादुरों को और 'सर' आदि पदवीधारियों को तथा सरकारी मशीन के पुर्ज़ों को हीन दृष्टि से देखते हैं। इसी तरह उस समय उस वर्ग की बात समझिए।

इधर ब्राह्मण-वर्ग में कड़ी प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने कहा—'न पठेत् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैपि।' चाहे जितना कष्ट उठाना पड़े, विदेशियों की भाषा मत पढ़ो। अर्थात् सब कुछ सह कर भी 'स्व' मत छोड़ो—अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, 'स्व' की रक्षा के लिए ही उन्होंने पर-भाषा की वैसी उपेक्षा की थी। तभी 'स्व' की रक्षा हो सकी। अन्यथा, उस प्रवाह में सब बह जाता।

इस प्रकार जब यह राष्ट्रवादी (मेधावी और तपस्वी) वर्ग 'स्व' की रक्षा के लिए कटिबद्ध होकर सामने आ खड़ा हुआ और उस अवसरवादी (विजेताबोध्य) बुद्धिजीवी

दल की उस ढंग से आलोचना करके जनता को उधर से हटाने लगा, तो एक आपसी संघर्ष शुरू हो गया। उस समय राजसत्ता के बल पर उस अवसरवादी वर्ग ने राष्ट्रवादी वर्ग को तंग करना प्रारंभ किया, जैसा कि स्वाभाविक था। परन्तु इस दृढ़ता और तपस्या का फल यह हुआ कि साधारण जनता ने इस (राष्ट्रवादी) दल का अनुवर्तन किया, इसका साथ दिया। कर्मणा साथ न दे सकने पर भी मनसा इसका समर्थन किया। वह (अवसर-वादी) दल यों अकेला पड़ गया, या एक प्रकार से समाज द्वारा बहिष्कार सा हो गया। उसे लोग 'आधा मुसलमान' तक कहने लगे थे। इस प्रकार जब उस दल की उपेक्षा हो गई और इस राष्ट्रवादी बुद्धि-प्रधान वर्ग का पक्ष ग्रहण किया गया, तो 'स्व' की विजय हो गई। चाहे जैसे भी, अपनी संस्कृति बची रही। आगे चलकर जब अंग्रेजी राज्य आया, तब फिर एक बड़े जोर का धक्का लगा, जिसका प्रभाव अभी तक कम नहीं हुआ है। अब भी अपनी संस्कृति के लिए वैसे ही ब्राह्मणों की जरूरत है। इसी ओर संकेत करने के लिए यह उपक्रम है। इसका विस्तार से निर्देश आगे किया जायगा।

उदार भाव

समाज का नेतृत्व करने के लिए बुद्धि और त्याग की जरूरत है, पीछे कहा गया है और यह भी बतलाया गया है कि विशाल आर्य जाति के एक प्रभावशाली वर्ग ने अपने आपको पूर्णतः इसमें खपा दिया था। त्याग की एक परम्परा ही चल पड़ी थी। परन्तु इन तत्वों के साथ कुछ और बातें भी जरूरी हैं, जिनके बिना समाज का सञ्चालन सम्भव नहीं है। उनमें से उदारता और तेजस्विता मुख्य हैं। ये दोनों गुण भी ब्राह्मण में सदा रहे हैं। यदि ऐसा न होता, तो कभी भी समाज इनके पीछे न चलता।

ब्राह्मण ने कभी स्वार्थ को प्रश्रय नहीं दिया, न अपने लिए, न अपने कुटुम्ब के लिए, न अपने वर्ग के लिए। जिस ब्राह्मण ने अनुचित काम किया, उसकी खुलकर निन्दा की। अपने वर्ग का कोई पक्षपात नहीं। रावण को राम ने दण्ड दिया। ब्राह्मणों ने इसका समर्थन किया और अब तक प्रति वर्ष, पाप का प्रतीक वह (रावण) इनके द्वारा जलाया जाता है। प्रति वर्ष ब्राह्मण ही रावण के पुतले में आग लगाते हैं। समाज के प्रति इससे बढ़कर निष्ठा और क्या हो सकती है? दूसरी ओर देखिए, कंस और दुर्योधन आदि वे अत्याचारी हैं, जिन्होंने रावण को भी मात कर दिया था। रावण ने किसी माँ की गोद से छीनकर उसके बच्चे को, उसके सामने ही, शिला पर पटक-पटक कर कभी न मारा था। उसने किसी की स्त्री को भरी सभा में नग्न करके अपनी जाँघ पर बैठाने का दुष्कृत्य कभी न किया था! रावण से बहुत बढ़कर इन सब के कुकृत्य हैं। परन्तु इनमें से किसका पुतला हर साल जलाया जाता है? एक रावण ही तो वैसा न था! इसमें वही तो रहस्य है। ब्राह्मणों ने उदारता दिखलाई। रावण-दाह प्रति वर्ष होता है। मतलब यह कि ब्राह्मण को पतित न होना चाहिए, सब ठीक हो जायगा। सिर न डूबे, चाहे सब शरीर डूब जाय। वह कभी डूबा न कहा जायगा। सब सुरक्षित है। सिर गया, तो सब गया। ब्राह्मणत्व की रक्षा इसीलिए; सम्पूर्ण आर्य जाति तथा आर्य-संस्कृति की रक्षा के लिए।

जैसे ब्राह्मणों ने अपने वर्ग के किसी पतित व्यक्ति को दण्ड देने का समर्थन किया, उसी तरह वर्ग प्रशंसा से भी दूर रहे। राम ने एक पतित दस्यु को संसार से दूर किया, जिसके लिए उनकी पूजा होती है; परन्तु परशुराम ने न जाने कितने दस्युओं को अपने परशु के बल पर दमन किया, उन नर-पिशाचों से मातृभूमि की रक्षा की, जो यहाँ पैदा होकर यहीं के लोगों को चूस रहे थे, अपने-आपको 'राजा' कहकर। उस निरंकुशता को उन्होंने अपनी शक्ति से मिटाया। इस प्रकार स्पष्ट है कि परशुराम संसार में राज्यक्रान्ति के प्रथम महापुरुष थे। उनमें ब्राह्मणत्व था। दुष्टदमन करके भी स्वयं राज-सत्ता कभी ग्रहण न की। वही कौपीन और कमंडलु! राज्य के मेधावी ब्राह्मणों को तब तक के लिए वे विजित राज्य सौंप देते थे, जब तक उस राजवंश के उत्तराधिकारी वयस्क होकर सब सँभाल न लें। वे सात्त्विक ब्राह्मण भी कर्त्तव्य समझ कर तब तक राज-सत्ता सँभालते थे, जब तक राज-वंश के अधिकारी सँभालने योग्य न हो जाते थे। फिर उन्हें वह थाती सौंप कर आप अलग हो जाते थे। एक प्रकार का 'कोर्ट आफ़ वार्ड।' इस प्रकार परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी-प्रदक्षिण की और भू-भार उतारा। कभी कहीं ब्राह्मणों का क्षत्रियों के साथ राज-सत्ता के लिए झगड़ा नहीं हुआ। परशुराम के द्वारा प्रदत्त राज्य-श्री पुनः प्राप्त करने के लिए कभी किसी राज-वंश के परम्परागत अधिकारी को किसी ब्राह्मण से झगड़ना नहीं पड़ा। यह ब्राह्मणों की सात्विक वृत्ति का प्रबल उदाहरण है।

ऐसे महापुरुषों ने जब देखा कि राम के रूप में एक योग्य शासक का प्रादुर्भाव हो गया है, जो सबको भलीभाँति ठीक मार्ग पर चला सकते हैं, तब उन्हें वह सब काम सौंप कर अपनी तपस्या के लिए वन का मार्ग ग्रहण किया। वह राजनीति का काम तो उन्हें करना पड़ा था, किसी वैसे क्षत्रिय के अभाव में। अधिकारी मिलते ही अपना धनुष-बाण आदि सब अलग रख दिया, सौंप दिया। तुम्हारा काम जाने, तुम जानो! इस तरह के अप्रतिम महापुरुष का भी मन्दिर है? कहीं अर्चना होती है? यह इसीलिए कि ब्राह्मणों ने ऐसा उचित नहीं समझा। वैसी उदारता सब में सम्भव नहीं। सम्भव था, परशुराम की पूजा प्रचलित होने से क्षत्रिय समाज को बुरा लगता और दो प्रधान वर्गों में अनबन हो जाती। बुद्धि का शस्त्र के साथ सहयोग न हो, कृष्ण अर्जुन से अलग हो जायँ, तो क्या होगा? सर्वत्र पराजय! तब आर्य-जाति और संस्कृति का क्या होता यही सब सोचकर ब्राह्मणों ने परशुराम-पूजा का विधान न किया, यद्यपि बाद में बुद्ध-पूजा का स्वागत किया। इसी उदारता का फल है कि आज तक हम सब एक जाति के अंग हैं।

परशुराम के प्रसङ्ग से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्राह्मणों ने आवश्यकता पड़ने पर राजनीति में शस्त्र-ग्रहण भी किया है; पर विशेष स्थिति में। जब हमारे शासक (क्षत्रिय) वर्ग में कोई त्रुटि या शिथिलता आई है, तभी ऐसा हुआ है। झाँसी की ब्राह्मण-कन्या और ब्राह्मण-वधू (महारानी लक्ष्मीबाई) ने तब तलवार उठाई, जब क्षत्रियों की मर्दानगी ओजहीन हो चुकी थी। उसी समय अनेक अन्य ब्राह्मणों ने भी शस्त्र ग्रहण किया। इसका मतलब यह हुआ कि चार वर्णों की कर्म-व्यवस्था साधरण तौर पर है। विशेष परिस्थिति में सबको सबके काम करने चाहिए। हमारे घर में कल्लू कहार पानी भरता है।

हम सब लोग पीते हैं। परन्तु घर में आग लग जाने पर भी हम उसी के भरोसे बैठे रहें और सोचें कि पानी भरकर लाना हमारा काम नहीं, तो हमारा घर जलकर खाक हो जायगा। कर्म अथवा वर्ण-व्यवस्था का यह मतलब नहीं।

खैर, जो कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि ब्राह्मणों में कभी भी अपने वर्ग के प्रति पक्षपात नहीं रहा है, उचित भी नहीं, अनुचित की कौन कहे। उनकी इस विशाल-हृदयता ने ही उन्हें समाज का नेतृत्व दिया।

अँग्रेजी राज्य

जब देश में अँग्रेजी राज्य आया, तो एक नई हलचल उत्पन्न हुई। तब तक मुसलमानी राज्य के प्रभाव से हमारी समाज-व्यवस्था में शिथिलता आ गई थी। मूलतः अपनी संस्कृति सुरक्षित रहने पर भी ऊपरी ढाँचे में कुछ साधारण परिवर्तन आ गए थे। ऊपर कह आए हैं कि दो बुद्धि-प्रधान (राष्ट्रवादी तथा अवसरवादी) वर्गों में संघर्ष शुरू हो गया था——'पण्डित जी' में और 'मुंशी' जी में झगड़ा चल रहा था। इसका फल यह हुआ कि राजसत्ता तो राष्ट्रवादी दल के विरुद्ध थी ही, समाज में भी कुछ भाव-परिवर्तन हो गए। उस अवसरवादी दल ने ऊपर से विदेशी शासकों की सभ्यता स्वीकार करके भी अपना 'धर्म' न छोड़ा, हिन्दुत्व न छोड़ा। इसमें दृढ़ता दिखलाई। ब्राह्मणों के साथ संघर्ष करके भी हिन्दुत्व न छोड़ना एक विशेष बात थी। यह भी कहा कि हिन्दुत्व का ठेका ब्राह्मणों पर ही नहीं है, हम भी उसी जाति के अंग हैं, जिसके ब्राह्मण। इस प्रकार की भावना ने हिन्दू-जाति को बचाया, बल दिया। साम्य-भावना में शक्ति है। परन्तु धीरे-धीरे इसका फल यह हुआ कि साधारण जनता में भी यह भाव जाग्रत हुआ। लोग हिन्दुत्व में पक्के थे, ब्राह्मणों का सम्मान भी करते थे, पर उनकी 'सेवा' करने में शिथिलता आ गई। अमावस-पूनो आदि के सीधे-सामान भी बन्द होने लगे। जो लोग रूखा-सूखा खाकर जन-शिक्षण का काम किया करते थे, वे भी चिन्तित हुए। राजसत्ता से सहयोग न था। उर्दू-फारसी पढ़े बिना (हिन्दी-संस्कृत वाले को) सरकारी नौकरी कौन देता? भूमि भी पास न थी। वैसी परम्परा में ही ये न थे। जो उस परम्परा में थे वे राजा, तालुकेदार और जमींदार बने मजे में थे, भले ही तलवार पकड़ने का शऊर न हो! ब्राह्मण लोग व्यापार भी न कर सकते थे। पूँजी कहाँ से लाते? उनकी तो परम्परा ही दूसरे ढंग की थी। पूँजी एक दिन में इकट्ठा नहीं हो जाया करती। बिड़ला और डाल मिया आदि पर लक्ष्मी जी ने एक ही पुश्त में इतनी कृपा नहीं कर दी है। ब्राह्मणों के बच्चे जब रोटियों के लिए भी तरसने लगे, तब ये डगमगाए। ऐसी परिस्थिति में महाराणाप्रताप जैसे फौलादी को भी पिघलते देखा गया है। ब्राह्मणों ने युगों तक कष्ट का जीवन बिताया था; पर जनता का बल था। विदेशी शासन से उसमें शिथिलता आ गई। कष्ट-सहन की भी कोई सीमा होती है। ब्राह्मण कुछ विचलित हुए।

अंग्रेजी राज्य आने पर जब नए युग का आरम्भ हुआ और प्रत्यक्षः संस्कृति और सभ्यता की रक्षा की दुहाई दी जाने लगी, तब ब्राह्मण समाज ने भी अँग्रेजी पढ़-लिख कर राज-काज में भाग लेने की सोची। ब्राह्मण भी अँगरेजी पढ़ने लगे और सरकारी

नौकरियों में जाने लगे। वह अवसरवादी वर्ग तो पहले से ही राज-दरबार में डटा था। इस नये और प्रभावशाली वर्ग को वहाँ आते देख चौंका, गुर्राया। 'सेवा श्ववृत्तिराख्याता'। नौकरी एक कुत्ते का-सा काम है। दूसरे को आता देख गुर्राना स्वाभाविक है।

दोनों दलों में भीतर ही भीतर संघर्ष चला। अब तक प्रतिस्पर्धा चल रही है, विशेषतः युक्तप्रान्त में। यहाँ तक कि कांग्रेसी हलके भी इस हलकेपन से खाली नहीं हैं। जब सन् १९३७ में देश के विभिन्न प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बने, तो स्वभावतः सर्वत्र ब्राह्मणों का प्राधान्य रहा। जनसत्तात्मक शासन में यह सम्भव ही है। जिस वर्ग ने अपने अधिक आदमनी त्याग और तपस्या के जीवन में लगाये थे, उसी की प्रधानता होनी ही थी। सब मन्त्रि-मण्डलों में ब्राह्मणों की प्रधानता देखकर युक्त प्रान्त के प्रतिद्वन्द्वी दल से एक आवाज उठी—'ब्राह्मण-राज्य! ब्राह्मण-राज्य!' कांग्रेस-विरोधी 'लीडर' आदि अखबारों ने इस आवाज को ऊँचा उठाया। हंगामा खड़ा कर दिया गया। आखिर किसे मन्त्रि-मण्डल में लें? किसे अलग करें? अन्ततः पं० प्यारेलाल शर्मा को समझाकर शिक्षा-मन्त्री के पद से त्याग-पत्र दिलाया गया और बाबू सम्पूर्णानन्द जी को उनकी जगह लाकर बैठाया गया। तब वह 'आन्दोलन' शान्त हुआ। कहने का मतलब यह कि मुसलमानी शासन काल में आर्य-जाति के जिन दो बुद्धि-प्रधान वर्गों में संघर्ष चल पड़ा था, वह अब तक चल ही रहा है। अभी हाल की ही बात है, बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने एक बहुत अच्छी पुस्तक लिखी—

ब्राह्मण! सावधान

इस में ब्राह्मणत्व को पुनः जागृत करने के लिए एक चेतावनी थी। लिखा था कि ब्राह्मण पहले कैसे थे और अब कैसे हो गए हैं। समाज की रक्षा के लिए इन्हें फिर सजग होना चाहिए।

चूँकि वह संघर्ष की भावना विद्यमान थी, इस चेतावनी से भी ब्राह्मणों ने बुरा माना; उसी तरह जैसे श्री सहगल के ('चाँद' के) 'मारवाड़ी अङ्क' से मारवाड़ी समाज ने और मिस मेयो की 'मदर इण्डिया' से भारतीय समाज ने कभी बुरा माना था। यदि मन में कुछ वैसी भावना न होती, तो उस पुस्तक में कोई वैसी बात न थी। एक विद्वान् कायस्थ ने ब्राह्मण-समाज के उत्थान के लिए कुछ लिखा, तो क्या बुरा किया? क्या कायस्थ अपने नहीं हैं? इस प्रकार की भावना अच्छी नहीं। आर्य-जाति के सब अंग हैं, सब समान हैं। एक-दूसरे को चेतावनी देकर उठावें, तो बुरा क्या है? संकुचित मनोवृत्ति छोड़नी चाहिए। वही उदारता अपनाओ, तब कुछ होगा। जो संघर्ष किसी समय चल पड़ा था, उसे समाप्त समझना चाहिए। अब ब्राह्मण भी राज-काज में भाग लेने के लिए अँगरेजी पढ़ते हैं और उसी सभ्यता को अपनाते हैं। तब फर्क क्या रहा? दूसरे लोगों को भी समझना चाहिए कि ब्राह्मण लोग प्रतिद्वन्द्विता करने के लिए इस निषिद्ध मार्ग में नहीं आए हैं; उन्हें इस ओर आने के लिए परिस्थितियों ने विवश किया है।

हाँ, अँगरेजी राज्य आने पर ब्राह्मणत्व की वह धारा—वह सरस्वती—लुप्त हो गई। नाम भर बाकी है।

मृग-मरीचिका

जब ब्राह्मणों ने दूसरा मार्ग पकड़ा, तो मानसिक भाव भी बदले। जो त्याग और तपस्या से अपना उत्कर्ष समझते थे, वे 'पैसे' को ही सब कुछ समझने लगे। वस्तुतः यह पैसे का युग है। इसने उस महत्त्वशाली वर्ग पर जादू फेंका। बिना पैसे के कोई किसी को पूछता जो नहीं !

परन्तु यहाँ मैं ब्राह्मणों को एक चेतावनी देना चाहता हूँ। वे मृग-मरीचिका के पीछे न दौड़ें। वे जैसी परम्परा में आए हैं, कभी भी जयपुर, जोधपुर, ग्वालियर या बड़ोदा जैसे राज्यों के राजा नहीं हो सकते। न वे बिड़ला डालमिया का मुकाबला व्यापार में कर सकते हैं, चाहे जितनी प्रतिभा हो। व्यापार में लगाने के लिए सम्पत्ति कहाँ से लाएँगे ? फलतः अपने विशेष उत्कर्ष के लिए त्याग और तपस्या की ओर देखना चाहिए—'जैसे उड़ि जहाज को पंछी, पुनि जहाज पै आवै।' और कोई उपाय नहीं है। ब्राह्मण चाहे तो 'महर्षि मालवीय' बन सकता है, जिसके चरणों पर ग्वालियर-नरेश तथा बिड़ला लोटते हैं; परन्तु ग्वालियर-नरेश तथा बिड़ला बनना सम्भव नहीं। यह हमारी परम्परा का प्रभाव है। हमारे पुरखों ने हमें इसी योग्य बनाया है। हम इसी ओर चल कर उत्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं। हाँ, साधारण जीविका के लिए आप दुकान या खेती भले ही करें, करते ही हैं और करनी ही चाहिए। समय ही ऐसा है। परन्तु इसे उत्कर्ष का साधन समझने की गल्ती न करें। दूसरों के लिए वह सब उत्कर्ष का साधन है, तुम्हारे लिए नहीं। इस सम्बन्ध में हमें जो कुछ अधिक कहना है, आगे कहेंगे। यहाँ तो इतना प्रसंगवश ही कह दिया।

इस तरह हमने संक्षेप से एक धारा के दर्शन किए। इसका कैसे उद्गम हुआ, कैसे इसने राष्ट्र और समाज को जीवन दिया और किस तरह नाममात्र को रह गई, यह स्पष्ट हुआ।

दान-वृत्ति

दान-वृत्ति के लिए ब्राह्मणों की विगर्हणा होती है। जिन्होंने सबको सब कुछ देकर अथवा हाड़-मांस तक समाज-सेवा में गला दिया, जिन्हें परम्परागत गरीबी मिली, उनकी निन्दा होती है , दान लेने के कारण ! इस प्रवाद की जितनी कुत्सा की जाय, थोड़ी है। ब्राह्मण ने कभी किसी से 'दान' लिया नहीं, सदा सबको दिया है ! इसी का फल परम्परागत गरीबी है। इसीलिए मनु ने बड़ी कृतज्ञता के साथ स्पष्ट लिखा है—

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ।।

अर्थात् राष्ट्र में जो कुछ भी सम्पदा - ऐश्वर्य या प्रभुत्व है, वह सब वस्तुतः ब्राह्मण का है। क्षत्रिय को राज्य और वैश्य को लक्ष्मीपतित्व उसी का दिया हुआ है। वस्तुतः वह (ब्राह्मण) अपनी बुद्धि, तपस्या तथा उदारता आदि की श्रेष्ठता के कारण तथा शानदार तेजस्वी परम्परा के कारण यह सब कुछ प्राप्त करने का अधिकारी है।

इसके अगले ही श्लोक में फिर उन्होंने स्पष्ट किया है—

स्वमेव ब्राह्मणो भुंक्ते, स्वं वस्ते, स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जंते हीतरे जनाः।

ब्राह्मण अपना खाता है, अपना पहनता है, अपना ही (दूसरों को) दान करता है। दूसरे लोग उसी की कृपा से सब उपभोग करते हैं।

वस्तुतः यह उस समय की वस्तुस्थिति का वर्णन है। जिन्हें हमारे पुरखों ने वह सब देकर इस लायक बनाया था, वे ही अब, इस पैसे के युग में, हमारी गरीबी पर हँसते हैं! कृतज्ञता तो दूर, उलटे यह मनोवृत्ति! हमारी बिल्ली हमसे ही म्याऊँ! खैर, समय का फेर है। हमारे पुरखों ने उत्तराधिकार में हमें गरीबी दी, कुछ कमाकर न धर गए, न जमीन, न पूँजी,! फिर भी हमें सन्तोष है। गर्व है कि हम उस परम्परा के हैं। किसी तरह अपना काम चलाते हैं। परन्तु तो भी चैन नहीं! सुनने को वह बोली! वैसी ठठोली! ब्राह्मण को 'मँगता कौम' तक कहने की धृष्टता की जाती है! हमें इस पर आज विचार करना है।

इसमें सन्देह नहीं कि माँगना बहुत बुरा काम है। यदि किसी अंश में यह दुर्वृत्ति हो, तो अविलम्ब छोड़ने योग्य है। देखें, कहाँ यह है!

किसी भी शहर, कस्बे या गाँव में आप देखें, अधिकांश ब्राह्मण समयानुसार खेती, नौकरी या दूकान आदि के द्वारा अपना काम चलाते नजर आएँगे। कहीं कोई 'माँगनेवाला' न दिखाई देगा।

तीर्थों में कुछ पंडे-पुरोहित रहते हैं। इन्हें लोग 'दान' लेनेवाले कहते हैं। परन्तु यह बात गलत हैं। तीर्थों के पंडे 'दान' नहीं लेते, कड़ा परिश्रम करके खाते हैं। उन्हें उनकी मेहनत के बदले जो स्वेच्छा से लोग देते हैं, उसे ही 'दान' समझा जाता है, जो गलत है। किसी भी तीर्थ के पंडे रात-बिरात, वर्षा और धूप में, कड़ाके की सर्दी में, घर से निकल कर रेलवे स्टेशन जाते हैं। वहाँ से यात्री को ले जाकर यथास्थान ठहराते हैं। उसकी सुख-सुविधा का पूरा प्रबन्ध करते हैं। फिर उसे साथ ले जाकर सब दिखाते हैं, दर्शन और स्नानादि कराते हैं। यों यात्री को वह सब कुछ एकत्र मिल जाता है, जो उसे जरूरी है। होटल के आदमी ऐसा आराम नहीं दे सकते और कोई दूसरा 'गाइड' इस सतर्कता से सब दिखा नहीं सकता। फिर भी, पारिश्रमिक का कुछ ठहराव नहीं! चलते समय यात्री ने जो कुछ दे दिया, ले लिया और उसे आशीर्वाद दिया। जिसने कुछ न दिया, न दो! इसीलिए लोगों ने उसे 'दान' समझ लिया! यदि ये पंडे अपनी निश्चित फीस बाँध दें और जबरदस्ती उसे वसूल करें, तब 'दान' न रहेगा! कैसा बुद्धि-भ्रम है! इनके पारिश्रमिक को 'दान' कहना गलती है।

कुछ ब्राह्मण पौरोहित्य करते हैं। उनके पारिश्रमिक को भी लोग 'दान' कहते हैं! यह भी विडम्बना है। 'दान' तो वह है जो बिना कुछ किए घर में पहुँच जाय। निःसंदेह ऐसा 'दान' साधु-महन्तों को मिलता है, जिनमें नब्बे प्रतिशत से भी अधिक संख्या

गैरब्राह्मणों की है। तब 'दान' कौन ग्रहण करता है? सोचकर देखने की बात है! ब्राह्मणों को 'दान' लेनेवाला कहकर चिढ़ाना एक अक्षम्य सामाजिक अपराध है और बड़ी भारी कृतघ्नता है। फिर भी, मैं ब्राह्मणों से निवेदन करूँगा कि यदि कहीं कोई ऐसी बात हो तो छोड़ देना चाहिए। 'दान' लेना हमारे लिए शोभा की चीज नहीं।

हमारा उत्कर्ष

यदि आप अपना उत्कर्ष चाहते हैं तो अपने रूप को पहचानना होगा, राष्ट्र के लिए त्याग और तपस्या को अपनाना होगा। क्षत्रिय अब भी अपने राज्यवैभव का प्रदर्शन कर सकते हैं। वैश्य अब भी करोड़ों की थैलियाँ उछाल सकते हैं। तुम्हारे पास क्या है? इन सांसारिक चीजों से तुम किसी का मुकाबिला कर सकते हो? सबसे नीचे रहोगे। तुम्हारे गाँव के सेठजी ने जितना रुपया लड़की के विवाह में खर्च किया, उतना तुम भी करो, क्या यह सम्भव और ठीक है? हो सकता है? तुम इसके उलटे एक नारियल भेंट करके लड़की का विवाह करो, उसे सर्वथा योग्य बनाकर। उसे त्याग और तपस्या का उपदेश दो। इससे तुम्हारी शोभा होगी। दूसरों की नकल करने से काम न चलेगा। वह हमारी परम्परा के अनुकूल नहीं है। हाँ, त्याग और तपस्या में तुम उनसे आगे बढ़ सकते हो। बुद्धि तुम्हें अब भी प्राप्त है। इस गिरी दशा में भी प्रतिभा ने तुम्हारा साथ नहीं छोड़ा है। उसके बल पर आगे बढ़ो, राष्ट्र तथा धर्म की सेवा करो। यदि ऐसा नहीं कर सकते, तो चुपचाप जीवन-निर्वाह करो। उत्कर्ष प्राप्त करके सबके सिरमौर बनने की कल्पना छोड़ दो। यह एक पुश्त में संभव नहीं कि तुम वैसे बन जाओ, धनकुबेर या कहीं के नरेश बन जाओ। कहीं कोई भाग्य से कुछ बन जाय, वह और बात है।

ब्राह्मण की अग्रगामिता

अच्छी तरह सब लोग जानते हैं कि ब्राह्मण जिधर भी जायगा, अग्रगामी रहेगा। समाज-सुधार की आजकल धूम है और वर्ण-व्यवस्था को तोड़ देना ही इसके लिए अमोघ औषध समझी गई है! जहाँ-तहाँ 'जात-पाँत तोड़क मण्डल' भी कायम हुए हैं। परन्तु यह कील इतनी मजबूत गढ़ी है कि उखाड़े नहीं उखड़ती। इसके लिए लोग ब्राह्मणों को दोषी ठहराते हैं और मंच पर चढ़ कर गालियाँ देते हैं। परन्तु आप देखें, दोष किसका है? ब्राह्मणों को वर्ण-व्यवस्था के कारण अब तक क्या लाभ हुआ है और आगे क्या होने की आशा है, सब जानते हैं! उलटे, कुछ ब्राह्मण तो अग्रगामी हुए हैं यद्यपि उनकी यह 'अग्रगामिता' हम लोगों को कतई पसन्द नहीं। छोटे-मोटे नहीं, चोटी के ब्राह्मणों ने अपनी लड़कियाँ वैश्यों को दे दीं। चक्रवर्ती श्री राजगोपालाचार्य ने अपनी लड़की महात्मा गांधी के लड़के श्री देवदास गांधी को व्याह दी, जो दिल्ली के एक अखबार के डायरेक्टर हैं। पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी छोटी बहन एक दूसरे सेठ—श्रीहठी भाई को व्याह दी, जिनका नाम पहले कोई जानता ही न था। एक बंगाली ब्राह्मण कन्या से महात्मा गांधी के पौत्र श्री कनु गांधी का विवाह हो गया। पं० जवाहरलाल नेहरू की लड़की (श्री इन्दिरा) का विवाह एक पारसी युवक से हुआ। यह सब इसलिए कि ब्राह्मण

भीतर-बाहर एक होता है। जो कुछ कहता है, करता भी है। दूसरे लोगों में यह बात नहीं देखी गई। यदि महात्मा गांधी या श्रीहठी भाई के परिवार की कोई लड़की किसी दलितवर्गीय (हरिजन) युवक से ब्याही जाती, तो हम समझते कि ठीक है। परन्तु ऐसा कहीं देखने में नहीं आया। इससे तो मेरे जैसे छोटे लोगों को भ्रम होता है कि ब्राह्मण की जो प्रतिष्ठा समाज में उसके परम्परागत त्याग आदि के कारण है, उसे धक्का लगाने के उद्देश्य से ही यह एक संगठित षड्यंत्र रचा गया है। निःसंदेह इससे हम लोगों को बहुत बुरा मालूम हुआ है। यही नहीं, अमर शहीद श्री स्वामी श्रद्धानन्द के सुयोग्य पुत्र श्री इन्द्रजी का विवाह भी एक ब्राह्मण-कन्या से ही हुआ है। परन्तु किसी भी खत्री ने किसी चमार को अपनी लड़की देकर आदर्श उपस्थित नहीं किया। इसे हम ब्राह्मणों की अग्रगामिता कहें, या दूसरों की धोखेबाजी ?

हम वर्ण-व्यवस्था तोड़ देने से विचलित नहीं। समाज को इसकी जरूरत नहीं, तो आज तोड़ दे। टूट ही जायगी, यदि आवश्यकता नहीं। इसमें हम बाधक नहीं। इससे हमारा कोई भौतिक लाभ नहीं, सिवा हानि के। परन्तु हम अपने को 'ब्राह्मण' कहना न छोड़ेंगे और अपनी विशेषता की रक्षा करना भी चाहेंगे! यही तो हमारे गर्व तथा संतोष की चीज है। इधर देखने से हमारी गरीबी हमें खलती नहीं है। हम समझते हैं, हमारे पुरखों ने समाज-सेवा का फल गरीबी के रूप में हमें दिया है। यह हमारी बुद्धि-हीनता या अकर्मण्यता का परिणाम नहीं है। परन्तु यदि हम अपने को 'ब्राह्मण' कहना छोड़ दें, तो फिर वह बात ही उड़ जाती है! तब हमारे उत्कर्ष का आधार क्या ?

झूठा उत्कर्ष ?

आप कहेंगे कि यह तुम्हारा झूठा उत्कर्ष है। जो वैसे त्यागी-तपस्वी विद्वान् थे, उनका वह सम्मान था। तुममें वह बात नहीं, तब तुम्हारा सम्मान किस लिए ?

ठीक है। हम मानते हैं। परन्तु सम्मान भी परम्परा से मिलता है। 'लार्डों' का खानदान चलता है। आपके पिता कर्मठ व्यापारी थे। उन्होंने करोड़ों रुपये कमाये ? वह सब सम्पत्ति आपको मिली; यद्यपि आप बिलकुल नालायक हैं और वह सब सम्पत्ति नष्ट किये देते हैं! देश में सैकड़ों नरेश हैं, जिन्हें तलवार पकड़ने का भी शऊर नहीं, शत्रु से लड़ना तो दूर की बात है। उन्हें वह राज्य केवल इसलिए मिला है; क्योंकि वे उस परम्परा में हैं। सो सब ठीक! परन्तु हमारे पिता ने जन्म भर समाज की सेवा की, हमारे लिए कुछ कमाकर न छोड़ गए! हम गरीब हैं, बुद्धिहीन हैं, समाज की सेवा भी नहीं करते, फिर भी लोग हमें कुछ सम्मान देते हैं, केवल इसलिए कि हम उन त्यागी महापुरुषों की सन्तान हैं। तो, परम्परा के कारण, उत्तराधिकार में मिला हुआ हमारा यह सम्मान आपकी आँखों में खटकता क्यों है ? हम तो आपके अतुल ऐश्वर्य तथा राज्य-वैभव को देखकर जलते नहीं, उलटे प्रसन्न होते हैं, अपना ही समझकर— 'ज्यों बड़री अँखियाँ निरखि, अँखियन कौं सुख होत।' तब आप हमारी इस साधारण सी चीज को क्यों नहीं देख सकते ? हमारे पुरखों के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए,

कोई हमें नमस्कार कर लेता है, तो आपको बुरा क्यों लगता है ? हम तो आपके उस महान् उत्तराधिकार को मानते हैं और आप हमारे इस ऊपरी सम्मान को भी नहीं देख सकते ! यह तो अपने आप उठा जा रहा है ! संसार की गति ऐसी ही है । तब आप हमें चिढ़ाकर क्या फल चाहते हैं ? यह क्या अच्छा है ? हम भी आपके ही हैं, आपके सदा काम आए हैं और आपके लिए ही हैं । हमारी विशेषता नष्ट न करोगे, तो कभी-न-कभी हम समाज की सेवा में उसी तरह काम आएँगे ; क्योंकि तब हमें भान रहेगा—

'ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते'

ब्राह्मण का यह शरीर क्षुद्र कामनाओं की पूत्ति के लिए नहीं है, इसका महान् उद्देश्य है ।

अब भी कुछ है

समय की गति से देश का ह्रास हुआ ! इस देश के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज ने अनेक बार विदेशी आक्रमणकारी को परास्त करने में देश के असंख्य योद्धा कटवा दिये और फिर बार-बार उसे 'माफ' कर देने की 'उदारता' प्रकट की ! यह 'उदारता' देश के लिए बहुत महँगी पड़ी ! हम मुद्दत के लिए पराधीन हो गए ! हमारा सब कुछ नष्ट हो गया । हम सर्वथा हीन हो गए । न राज्य रहा, न व्यापार रहा और न वैसी प्रज्ञा ही रह गई ! ब्राह्मण भी गिरे ! परन्तु इस गिरी दशा में भी अभी बहुत कुछ हैं ! राजनीति में लोकमान्य तिलक, कविता में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, संगीत को पुनरुज्जीवन देने में श्री विष्णु दिगम्बर, समाज-सुधार में स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि रत्न अपना अप्रतिम स्थान रखते हैं । आज भी देश के अधिकांश विश्व-विद्यालयों का संचालन ब्राह्मणों के ही हाथों हो रहा है । ब्राह्मण ऐसे गिरे हुए इस समय भी नहीं हैं । परन्तु हमें अपनी इस अवस्था से सन्तोष नहीं है । हाँ, दूसरे हँसें, यह ठीक नहीं । बस, इतना ही निवेदन करना था ।"

मेरे इस निबन्ध ने काम किया और शान्ति हुई । परन्तु कुछ दिन बाद फिर वही हवा चली ! लोगों ने समाज-सुधार के नाम पर दूसरों को बुरा-भला कहना एक फैशन बना रखा है ! इससे क्या भला होगा ?

संस्कृति शब्द का गलत अर्थ में प्रयोग

कुछ दिनों से संस्कृति का प्रयोग एक बहुत गलत अर्थ में हो रहा है ! जैसे 'देव' शब्द का प्रयोग 'राक्षस' के अर्थ में और 'हजरत' शब्द का प्रयोग 'चालाक' के अर्थ में किया जाता है । एक जगह भावना-विशेष काम करती है, दूसरी जगह लक्षण । संस्कृति का अर्थ स्पष्ट है—संस्कारजन्य भावनाएँ और तत्तदनुकूल आचार-व्यवहार, रहन-सहन, वेश-भूषा आदि । परन्तु नाचने-गाने वालों की मंडली को जब 'सांस्कृतिक शिष्ट मण्डल' कहा जाता है, तब क्या समझा जाए ? 'संगीत-मण्डल' बना-बनाया शब्द है । यह और बात है कि प्रत्येक देश में—प्रत्येक जाति में—नृत्य-गायन आदि के स्वरूप में भेद है । इसे जाति भेद से, या संस्कृति-भेद से संगीत-विशेष ही तो कहेंगे ? 'संगीत' ही संस्कृति कैसे हो जाए गी ? हाँ, संस्कार का दूसरा अर्थ लेकर—परिष्कार का समकक्ष समझकर—

'संस्कृति' का तदर्थ प्रयोग किया जाए तो बात दूसरी है। महर्षि मालवीय हमारे सांस्कृतिक नेता थे। राजर्षि टंडन तथा आचार्य विनोबा भावे हमारे सांस्कृतिक नेता हैं। परन्तु सुप्रसिद्ध कलाकार श्री उदयशंकर जी को हम 'सांस्कृतिक' नेता कैसे कहेंगे ?

पिछले दिनों की बात है, वर्धा में अ० भा० हिन्दी सम्मेलन था। राजर्षि टंडन, महापंडित राहुल सांकृत्यायन आदि बड़े-बड़े लोग पहुँचे थे। पं० रविशंकर शुक्ल ने उद्-घाटन किया था और पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र अध्यक्ष थे। दो दिन का पूरा कार्यक्रम समाप्त हो जाने पर पं० रामेश्वरदयाल दुबे ने एक सूचना उद्घोषित की—

"सम्मेलन का सब कार्यक्रम पूरा हो चुका है; अब रात्रि में केवल सांस्कृतिक कार्य-क्रम होना बाकी है।"

मैं समीप ही मंच पर बैठा था। जोर से मैंने कहा—

"क्या अभी तक का सम्पूर्ण कार्यक्रम असांस्कृतिक था ?"

लोग हँस पड़े। दुबे जी ने कहा—'मेरा मतलब मनोरंजक कार्यक्रम से है।'

अच्छा—तो फिर, मनोरंजक 'कार्य-क्रम' कहिए न ! अभी पिछले दिनों तक यही तो कहा जाता था। जब देश स्वतन्त्र हुआ और सांस्कृतिक चर्चा आगे बढ़ी, तो यार लोगों ने 'संस्कृति' शब्द का यों अर्थान्तर में प्रयोग करना शुरू किया। बात यों भी उड़ाई जाती है। यह भी एक तरीका है। परन्तु जो लोग समझ-बूझ कर शब्द-प्रयोग करते हैं, उन्हे तो सोचना ही होगा। वैसे आज कल शब्द-प्रयोग में जो लबड़-धोंधो चल रही है, सामने है ही ! 'सुरक्षा' को 'प्रतिरक्षा' कहा जा रहा है ! रक्षा के मुकाबले 'प्रतिरक्षा' ! 'आक्रमण' पर 'प्रत्याक्रमण' तो सुना था; अब किसी की अपनी 'रक्षा' से भी हमें मुकाबला करना होता है—'प्रतिरक्षा'। उपसर्गों से बहुत प्रेम है, तो 'परिरक्षा' कर लेते—'परितःरक्षा'। खैर, बात दूसरी है। नाचने-गाने को 'संस्कृति' कहना भी ऐसा ही समझिए।



प्रमुख साहित्यिकों के पत्र

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

दौलतपुर – रायबरेली
१७-११-३३

श्रीमान्,

मुद्रांकित कार्ड के साथ स्फुट को जवाब भूल गये। हिन्दी के जो विद्वान् उसे फुटकर के अर्थ में लिखते हैं।

जिसने लघुकौमुदी के भी दर्शन नहीं किये उसे वाक्यों का तारतम्य जवाब सिखलाना चाहते हैं!

आपके लेख देखकर मुझे बड़ी खुशी होती है। जवाब खूब लिखते हैं।

खेद है, मैं बहुत ही कम पढ़ सकता हूँ। मेरा उन्निद्र रोग आजकल बहुत बढ़ गया है। व्याकुल रहता हूँ। एक कार्ड लिखने से भी गश आ जाता है। स्मृति का यह हाल है कि आपका पता भूल गया।

शुभैषी म० प्र० द्विवेदी

पंडित अंबिका प्रसाद वाजपेयी

ओं.

१०२ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट,
कलकत्ता, ११/२/४०

प्रिय किशोरीदासजी,

आशीर्वाद। कई दिनों से हम 'मराल' के लिये कुछ लिखने की सोच रहे थे, पर कल आपके साथी दीक्षितजी का पत्र आ गया और उसमें लेख के लिये तकाजा था। आप उन्हें लिख दें कि हम यथासाध्य शीघ्र ही 'मराल' के लिये लेख तैयार करेंगे।

'मराल' जैसे पत्र की बड़ी आवश्यकता थी और यह आपके द्वारा पूरी हुई है इसके लिये हमें बड़ा गौरव है। वास्तव में हिन्दी में लेखकों की वृद्धि के साथ उनकी योग्यता—यथास्थान उपयुक्त शब्द रखने की क्षमता की वृद्धि नहीं हुई और इस लिये ऐसे पत्र की आवश्यकता थी, जो उन्हें उनकी त्रुटियां दिखाता चले। गुलाबरायजी की अनधिकार

चेखवके विषयमें 'मराल'में जो लिखा
गया है, उससे हम सहमत हैं। अपनी
पहुँच विचारके करतब करिये दौर?
से हितकर उपदेशकी इसी लिये उपेक्षा
करना उचित नहीं है कि नामके पीछे
कुछ अक्षर जोड़नेका अधिकार मिल गया है।
स्वर्गीय पं. पद्मसिंह शर्मासे ऐसे पत्रके
प्रकाशनके सम्बन्धमें चर्चा होती थी, पर
वह चर्चा ही रह गयी। अब आपके प्रयत्न
से हमें जैसा सन्तोष हुआ है, वैसा ही उनकी
आत्माको भी होगा। भवदीय, कि. वाजपेयी



आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

दुर्गाकुंड
बनारस सिटी
१७-२-३६

प्रिय वाजपेयी जी,

नमस्कार। आपका एक पत्र इधर आया था; पर मैं इधर महीनों से ज्वर और श्वास का रोग लिए पड़ा हूँ। उत्तर भी इसीसे ठीक समय पर न दे सका। क्षमा कीजिएगा।

यदि मैं स्वस्थ होता तो आपकी पुस्तक के लिए 'परिचय' के रूप में अवश्य कुछ लिखता। पर इस समय तो मुझसे कोई काम नहीं हो सकता। एक पत्र लिखना भी मेरे लिए कठिन हो रहा है। आशा है मेरी दशा का विचार करके आप क्षमा करेंगे।

दोनों की हस्त-लिखित प्रति यदि आवश्यक हो तो शीघ्र भेज दूँ, नहीं तो स्वस्थ हो जाने पर भेज दूंगा।

भवदीय
रामचन्द्र शुक्ल

❀

पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

३१

बनारस
२१-४-३१

श्री यतन पाण्डेयजी!

नमस्ते।

कृपा और स्मरण के लिये धन्यवाद! मेरे पुरस्कृत होने पर आप का आनंदित होना स्वाभाविक है। मैं इस के लिये अनुगृहीत हूं। आशा है आप सपरिवार सानन्द होंगे। मैं आप का [illegible]। अपने पत्र में आपने मेरे विषय में जो विचार प्रकट किये हैं, उनके लिये विशेष धन्यवाद!

भवदीय
हरिऔध

❀

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त

श्रीरामः।

चिरगाँव (झाँसी)
१०-४-३६

प्रिय शास्त्रीजी, प्रणाम।

'तरंगिणी' की कुछ तरंगें पहुँचीं। अनुगृहीत हुआ। धन्यवाद।

आपके अलौकिक वैदुष्य से चमत्कृत हुआ। आश्चर्य है ये तरंगें किस नई गति से किलोलें करती होंगी और काव्यप्रेमियों को किस प्रकार विनोद प्राप्त होता होगा।

विनीत
मैथिलीशरण

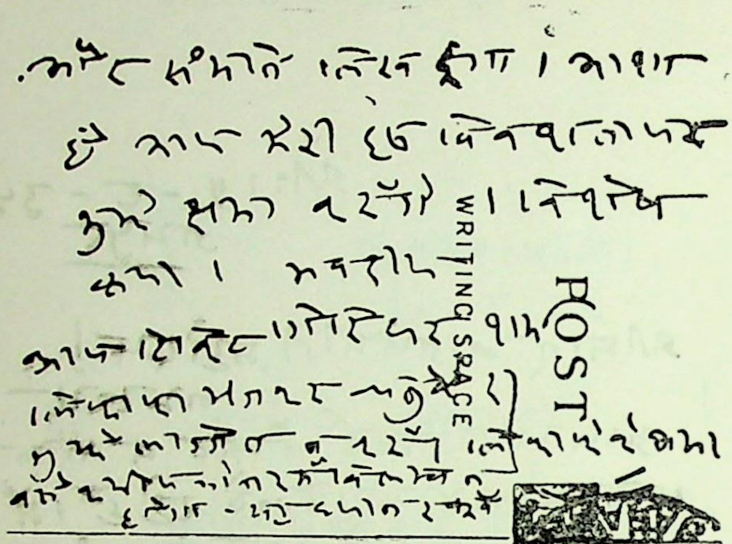
❀

पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

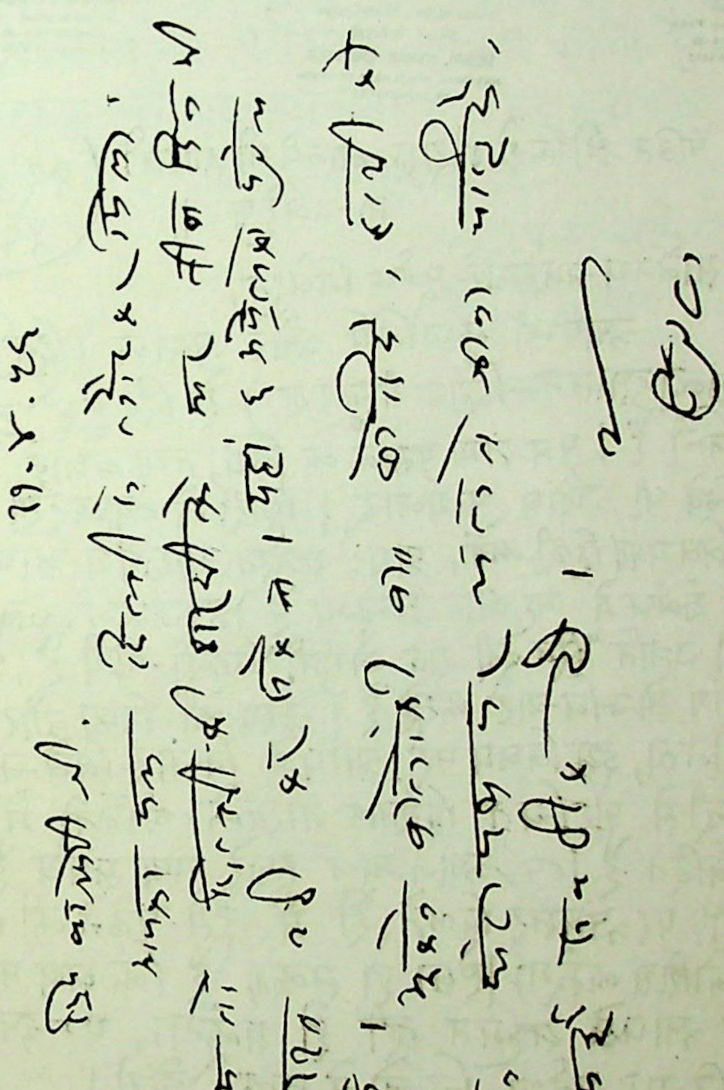
श्रा॰ १५-६-३५
जयपुर

श्रीमान् वाजपेयीजी महोदय!
नमस्कार।

आपका रजिस्टर्ड पैकेट व अनुग्रह पत्र आज मिल गये हैं। मैं इधर ३-४ मास से रुग्ण हूं - संग्रहणी का आक्रमण है। हरिद्वार गया था [illegible] आराम न होकर उल्टा बढ़ गया। अब [illegible] मास से अन्न छोड़कर तक्र का कल्प व पथ्य सेवन चल रहा है। इसका [illegible] होगा। [illegible] चल नहीं सकता था - इसीसे आपके अनुग्रह पत्रों का उत्तर नहीं गया। अब दो-चार दिनों से कुछ स्वास्थ्य ठीक हो रहा है, न कोई पुरानी [illegible] उत्तर दे रहा हूँ। मैं आपकी आज्ञा का पालन सहर्ष करूंगा, किन्तु कुछ दिन आपको प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। स्वास्थ्य ठीक होते ही मैं उसे देखूंगा


WRITING SPACE
POST

महापंडित राहुल सांकृत्यायन



डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

॥श्रीः॥

RESIDENCE:
"SUDHARMĀ"
16 HINDUSTHAN PARK
CALCUTTA-29
PHONE: 46-1121

//āvír āvír ma ēdhi//
mānavikīṣu *bhāratasya
jātiya ācāryaḥ
SUNITI KUMAR CHATTERJI
NATIONAL PROFESSOR OF INDIA
IN HUMANITIES

OFFICE:
NATIONAL LIBRARY CAMPUS
BELVEDERE
CALCUTTA-27
PHONE: 45-5319

पंडित श्री किशोरीदास बाजपेयी शास्त्री
मान्यवरेषु ॥ (१३ अगस्त १९६६ ई०)

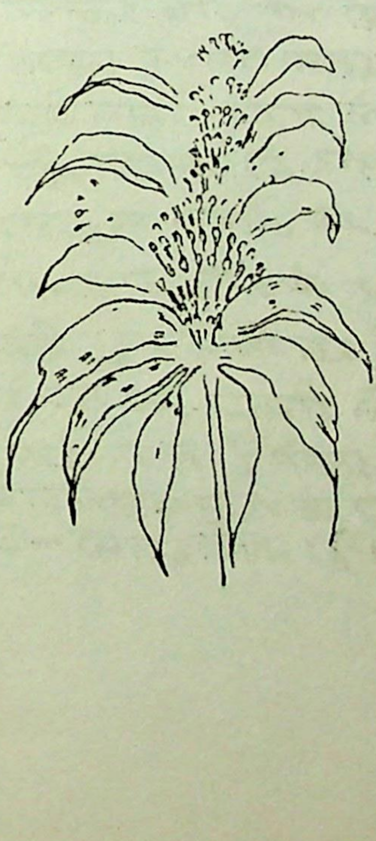
सविनय-नमस्कार-पूर्वक निवेदन,

आपकी कृपालिपि और पुस्तक (हिंदी-शब्दानुशासन-द्वितीय संस्करण) दो दिन हुए मुझे मिली हैं। पत्र तथा पुस्तक के लिये, तथा बधाई के लिये भी, अशेष धन्यवाद। हिन्दी के व्याकरण के विषय पर (हिंदी क्यों, प्राय: समस्त भारतीय भाषाओं के संबंध में यह बात प्रयोज्य है) आजकल, जब हिंदी की उन्नति "दिन दूनी रात चौगुनी" बढ़ती जाती है, थोड़े ही लोग सोच-विचार करते हैं। आप की निष्ठा और चिन्ताशीलता, इस विषय पर आपके विचार-विवेचन, इन्हीं से परिचित निखिल भारत के पंडितों में सुविदित है। — आज कल हमारे हाथ समय है ही नहीं, पर अवसर मिलते ही मैं इसे पढ़ने की कोशिश करूंगा। ऐसा हो सकता है कि सब मामलों में आपसे सहमत नहीं हो सकूंगा, पर आपके विचार सर्वथा चिन्तोत्तेजक होंगे।

आशा है कि आप कुशल में हैं। मेरे समाचार अच्छे हैं। आगामी कार्त्तिकी पूर्णिमा के दिन

७९ वर्ष पूरा करके ८० में पहुंचूंगा। स्वास्थ्य ईश्वर की कृपा से अभीतक ठीक ही है, परंतु कामकाजों का परिमाण बढ़ता जाता है। विश्राम की आवश्यकता है, पर छुटकारा कहां है? सादर नमस्कार॥

आपका वशंवद
सुनीति कुमार चाटुर्ज्या॥



श्री सम्पूर्णानन्द

बनारस
१२. ७. ५८

प्रिय वाजपेयी जी,

पुस्तक मिली। देख डाला। यह पुस्तक उन लोगों के लिये तो उपयोगी है ही जो व्रजभाषा के काव्य का आनन्द करना चाहते हैं परन्तु ऐसे लोगों के लिये और भी उपादेय है जो व्रजभाषा में रचना करना चाहते हैं। इस बात का डर है कि ऐसे नये कवि नये ढंग की व्रजभाषा भी गढ़ डालेंगे। आपने इतना लिख दिया है कि व्रजभाषा में शब्द तोड़ मरोड़ कर लिये जाते हैं और वे अशुद्ध नहीं माने जाते। बहुत से नये लेखक यह समझते हैं किंतु उर्दू में र की जगह ल का अधिक प्रयोग होता है इस लिये वह दीवार जैसे शब्दों को दीवाल जैसा रूप देकर ऐसा प्रयोग कर डालते हैं जो न हिन्दी है न उर्दू। इसी प्रकार की भूल व्रजभाषा के लिखने में भी हो जाती है। मेरा इसका अनुभव है

इस लिये प्रायः साहित्यकारों के मुँह से
शुद्ध प्रयोग सुनने का अवसर कम
मिलता है। इसलिये यह होना स्वाभाविक
है। ऐसी दशा में इस प्रकार की पुस्तकों की
बड़ी आवश्यकता है। मैं स्वयं इस विषय को
बहुत नहीं जानता। सम्भव है आपके कुछ
मन्तव्य विवादास्पद हों, फिर भी पुस्तक
के संग्रहणीय होने में सन्देह नहीं होना
चाहिये।

भव०
रामचन्द्र वर्मा



सेठ गोविन्ददास

संसद सदस्य
(लोक सभा)

राजा गोकुल-दास महल,
जबलपुर.
दिनांक ११।३।जून। ६३.

श्रद्धेय वाजपेयी जी,

आपका ८ जून ६३ का कृपापत्र और आपके व्यक्तित्व और कृतित्व संबन्धी ग्रंथ प्राप्त हुआ, अनेक धन्यवाद।

ग्रंथ सचमुच बहुत ही सुन्दर है। आपके व्यक्तित्व और कृतित्व की बहुत अच्छी व्याख्या की गई है। इस व्याख्या में आपके जो जीवन प्रसंग आये हैं तथा इन प्रसंगों पर आपका जो दृष्टिकोण आया है वह बहुत ही स्वाभाविक है। फिर आपकी शैली के निर्देशन अध्याय में तो आपकी जो प्रमुखतः शैली है, उसका बड़ा अच्छा निर्देशन किया गया है। आपके साहित्यिक जीवन के संस्मरण अध्याय में भी बड़ी बारीकी से काम लिया गया है।

ग्रंथ इतना रोचक है कि इसके मिलते ही मैं इसके सरसरी तौर पर अध्ययन के अपने लोभ का संवरण नहीं कर पाया और मैंने इसे सरसरी तौर पर पढ़ ही डाला।

आप जिस महामंत्र का जप करते हैं वह भी सुन्दर है। आप जानते होंगे कि मैं तो वल्लभ सम्प्रदाय का एक वैष्णव हूं और मेरा मंत्र है 'श्री कृष्णः शरणम् मम'।

आप मुझ पर जैसी कृपा रखते हैं वैसी ही बनाये रहिए। विश्वास है आप पूर्ण रूपेण स्वस्थ एवं प्रसन्न हैं।

विनीत
गोविन्ददास

डा० अमरनाथ झा

मसूरी
३.७.४२

प्रिय वाजपेयी जी,

"अच्छी हिन्दी" के लिये अनेक धन्यवाद।

आपने इसे लिख कर बड़ा काम किया। हिन्दी लिखने में हम सभी बहुत अशुद्धियाँ करते हैं, कुछ तो संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण, और कुछ इस कारण कि हम व्याकरण के नियमों का पालन नहीं करते हैं। मेरे जैसे बुड्ढे तोते तो अब क्या सीख सकते हैं परन्तु विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक बड़े महत्व की है।

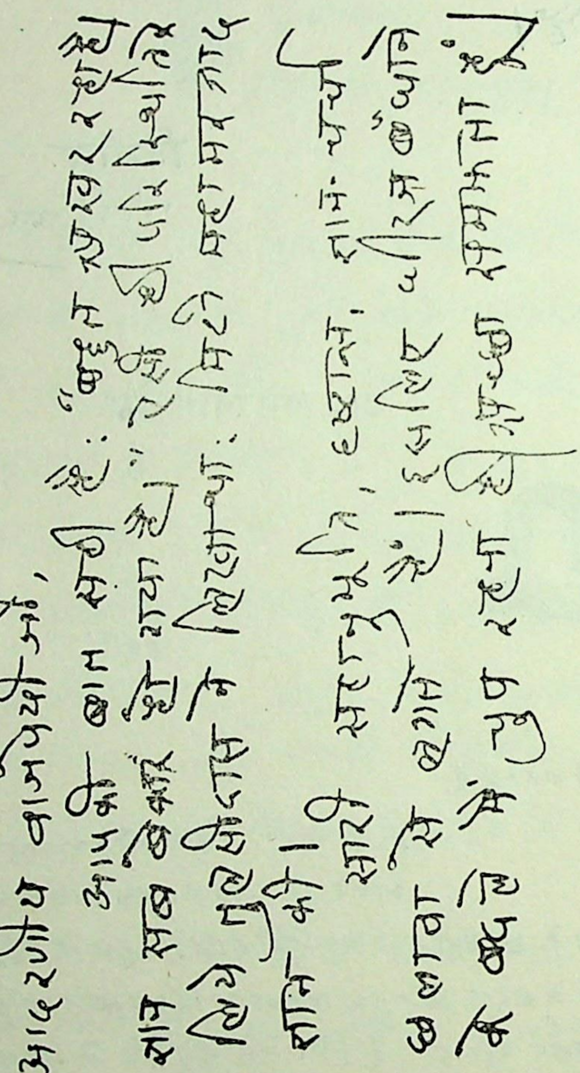
मैं ६ को देहरे से चलूँगा — ७.४२ की गाड़ी से।

आशा है आप स्वस्थ हैं।

भवदीय,
अमरनाथ झा

❀

डा० रामविलास शर्मा

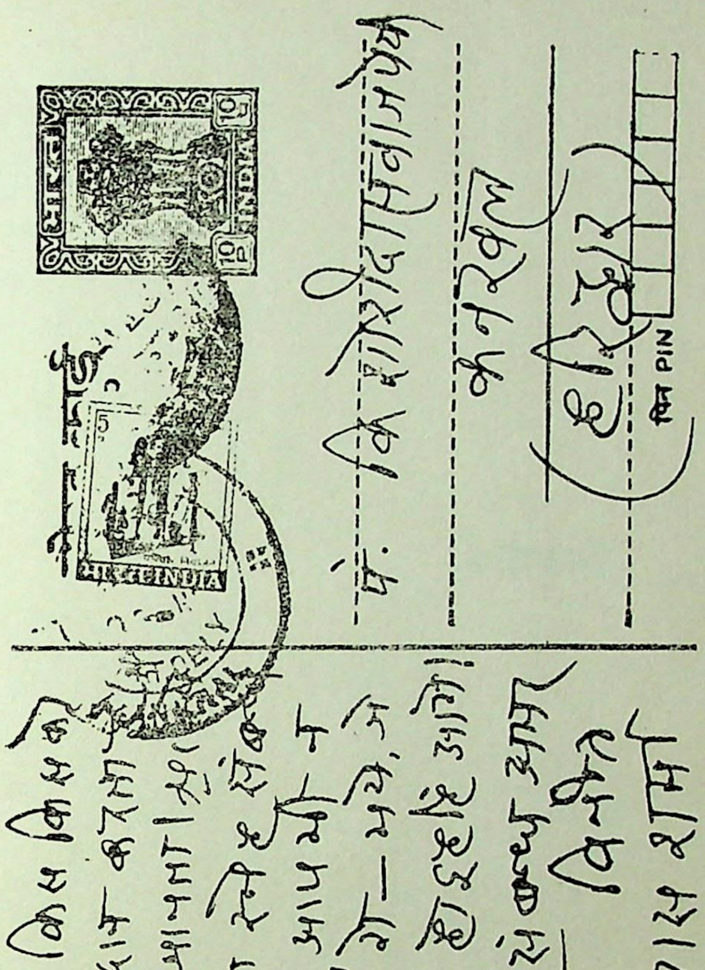


२३.८.६४

आदरणीय वाजपेयी जी,

आपकी बात सही है: "बहुत [illegible] रहा है। आज सब बेकार हो गया है।" ऐसी ही परिस्थिति के लिये तुलसीदास ने लिखा था: मिटै महा मरजाद ज्ञान की।

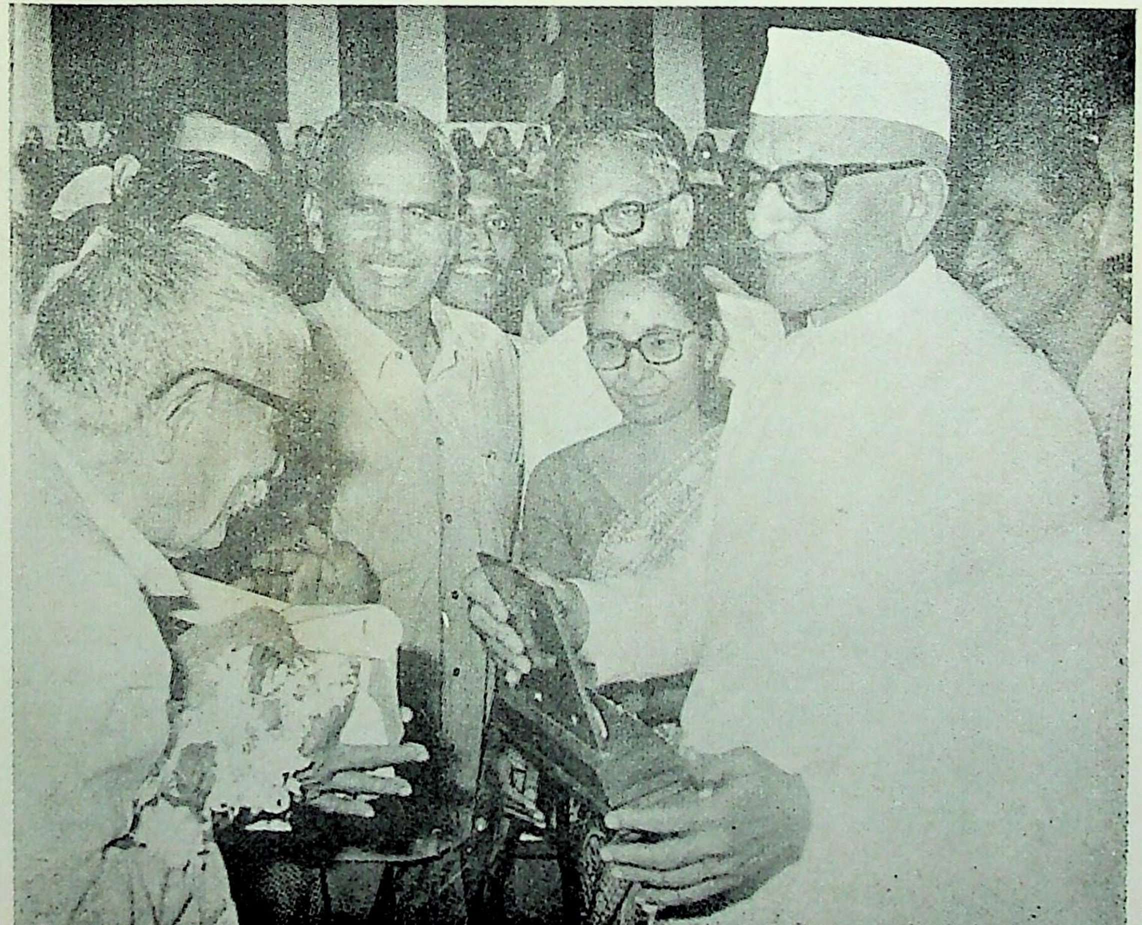
सारी सहानुभूति, दृष्टान्त, ज्ञान-चर्चा छलावा से लगते हैं। इसलिए धीरज बँधाने के बदले में चुप रहना ही अच्छा समझता हूँ।



चन्द्रमा किस किसको
शीतलता प्रदान करता है
स्वयं नहीं जानता। और
कितने लोग स्नेह संबन्ध
से जुड़े हैं, आप भी न
जानते होंगे — भये, जे
अहहिं, जे होइहहिं आगे!
यह स्नेह संबन्ध अमर
हो। विनीत
रामविलास शर्मा

पं. किशोरीदास वाजपेयी
कनखल
(हरिद्वार)

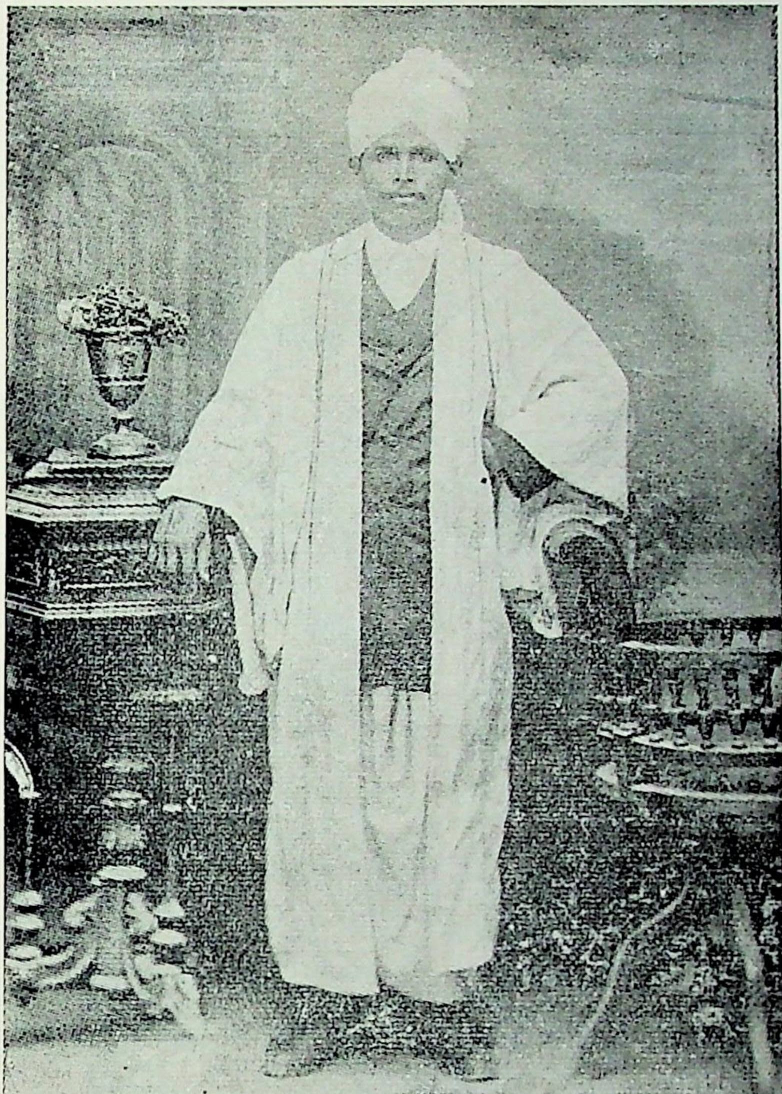
चित्रावली



राष्ट्र की ओर से आचार्य वाजपेयी का संमान

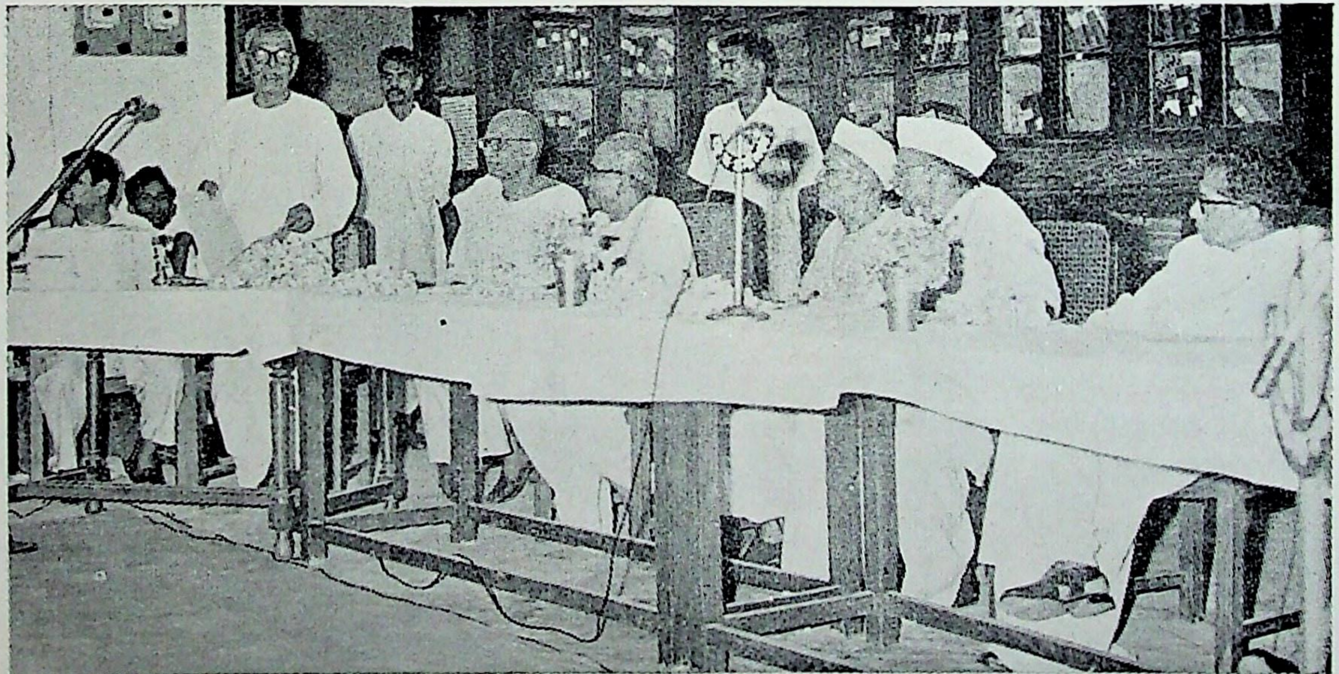
१८ सितंबर, १९७७ को हिंदी संस्थान उत्तरप्रदेश द्वारा आयोजित विशेष हिंदी समारोह में आचार्य पंडित किशोरीदास वाजपेयी को राष्ट्र की ओर से संमानित करने के लिये माननीय श्री मोरारजी देसाई, प्रधान मंत्री, भारत सरकार, स्वयं मंच से उतरकर नीचे आए। श्रोताओं में बैठे हुए आचार्य वाजपेयी भावविभोर हो गए। त्यागमूर्ति आचार्य वाजपेयी तथा परम विद्यानुरागी प्रधानमंत्री सात्विक आनंद मुद्रा में।

पंजाब विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह के अवसर पर स्नातक आचार्य वाजपेयी जी



आचार्य वाजपेयी का यह चित्र सन् १९२० ई० का है। सन् १९१९ ई० में वाजपेयी जी ने पंजाब विश्वविद्यालय की सर्वोच्च संस्कृत परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया था। उपाधि 'शास्त्री' मिली थी। तब तक भारतवर्ष में 'शास्त्री' उपाधि केवल पंजाब विश्वविद्यालय ही देता था। दीक्षांत समारोह के अवसर पर सन् १९२० ई० के इस चित्र में आचार्य वाजपेयी विश्वविद्यालय के निर्धारित 'गाउन' में हैं। विश्वविद्यालय का नियम पैंट या पाजामा पहनने का था जिसे आचार्य वाजपेयी ने स्वीकार नहीं किया और इसका तीव्र विरोध किया। अंततः अधिकारियों को आचार्य वाजपेयी के सामने झुकना पड़ा और उनकी बात माननी पड़ी। चित्र में गाउन और धोती पहने हुए आचार्य किशोरीदास वाजपेयी।

आचार्य रामचन्द्र वर्मा अभिनंदन समारोह

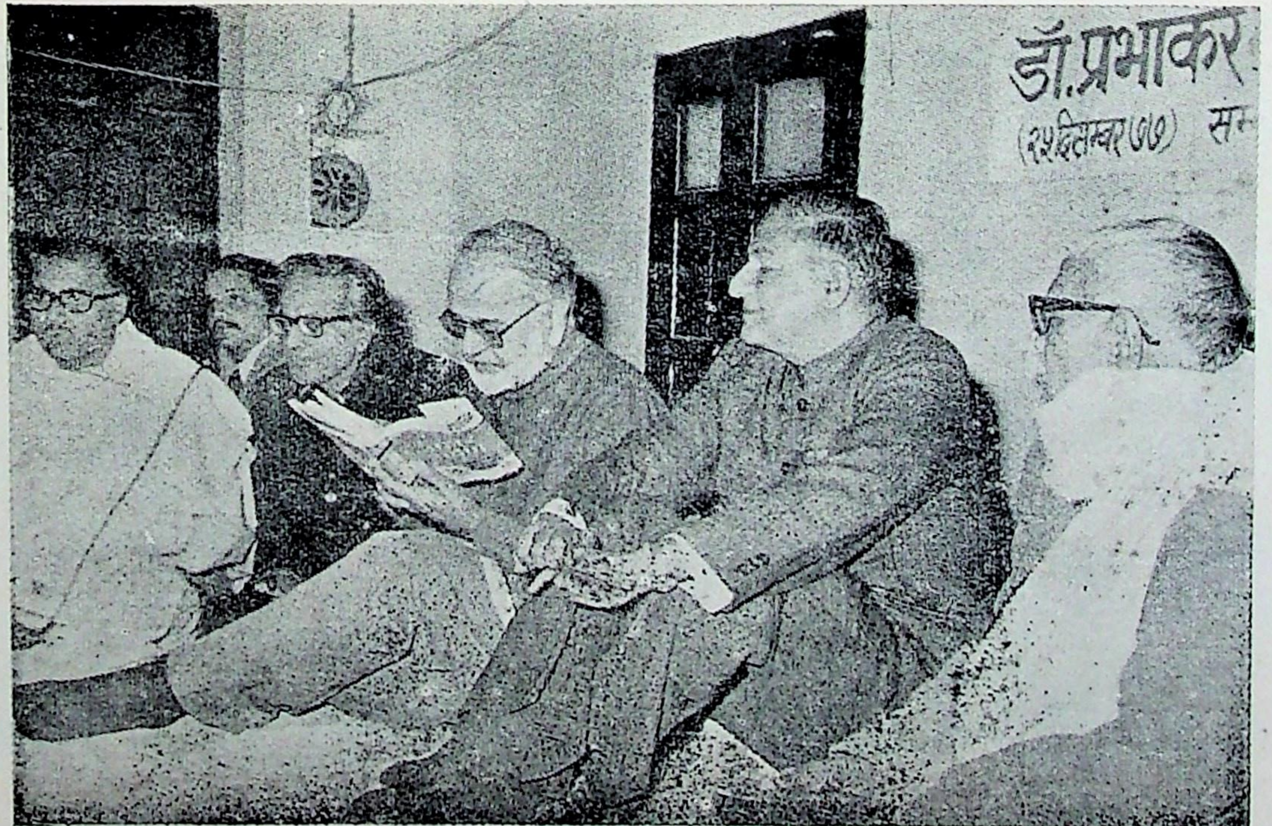


हरिद्वार में आचार्य रामचंद्र वर्मा के अभिनंदन समारोह में संयोजकीय भाषण करते हुए आचार्य वाजपेयी जी, चित्र में—श्री पारस कुमार जैन (स्वागताध्यक्ष), आचार्य वाजपेयी जी, स्वामी निगमानंद परमहंस, आचार्य वियोगी हरि, आचार्य रामचंद्र वर्मा, श्री श्रीप्रकाश जी तथा महाकवि डा० हरिवंश राय बच्चन।

ठलुआ परशुराम आचार्य वाजपेयी जी



ठलुआ क्लब वाराणसी द्वारा हरिद्वार में आयोजित आचार्य वाजपेयी अभिनंदन समारोह में आचार्य वाजपेयी जी को 'ठलुआ परशुराम' की उपाधि प्रदान करते हुए आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी। चित्र में (दाएँ) आचार्य वाजपेयी जी (कंधे पर परशु रखे हुए) और आचार्य सीताराम चतुर्वेदी।



माचवे षष्ठिपूर्ति समारोह

डा० प्रभाकर माचवे षष्ठिपूर्ति समारोह की अध्यक्षता आचार्य वाजपेयी जी ने की। चित्र में बाएँ से डा० विष्णुदत्त राकेश, श्री शमशेर बहादुर सिंह, श्री सच्चिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय, डा० प्रभाकर माचवे तथा आचार्य वाजपेयी जी।



आचार्य वाजपेयी अभिनंदन समारोह, कलकत्ता (सन् १९६१)

कलकत्ता में अभिनंदन समारोह के अवसर पर चित्र में वाजपेयी जी के दाहिने हाथ दिनकर जी बैठे किसी से बात कर रहे हैं। काला कोट और सफेद टोपी लगाए पं० रामदयाल जोशी (अभिनंदन समिति के अध्यक्ष) और उनके पीछे उनके अनुज वैद्य रामनारायण शर्मा बैठे हैं। वाजपेयी जी के बाएँ हाथ पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल (सभापति) और महापंडित राहुल सांकृत्यायन बैठे हैं।